

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना

आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, शास्त्राचार्य हिन्दी के श्रेष्ठ कवि, आलोचक और कहानी लेखक हैं। अपनी प्रतिभा, विद्वत्ता, लेखन कौशल और दिव्य व्यवहार से उन्होंने अनेक बार मुझ पर अपनी गहरी छाप छोड़ी है।

- निराला

मैं आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री को हिन्दी का एकमात्र वश्यवाक् कवि मानता हूँ।

हिन्दी में ही नहीं, समस्त भारतीय वाङ्मय में राधा अन्वर्थनामा महाकाव्य है।

शताब्दियों बाद हिन्दी में शब्द—ब्रह्म अपनी सहज शक्तिमत्ता प्राप्त कर चरितार्थ हुआ है।

- आचार्य सत्यव्रत

एक अकेले आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को देखते हुए आज भी कालिदास और जयदेव झूठे नहीं लगते।

प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद मुझसे हठात् पाँचवाँ नाम लेने को कहा जाय तो वह नाम आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री का ही होगा। बहुत माथा खुजलाने के बाद भी पाँचवाँ नाम यही रहेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

× × × × × × × × × × × ×

आपका एक एक निबन्ध अलग अलग ग्रन्थ है।

मैं समझता था, पण्डितराज जैसा गद्य हिन्दी में नहीं लिखा जा सकता, आपने असम्भव को सम्भव कर दिखाने का जो प्रयास बराबर किया है, वह परिपूर्णता प्राप्त कर चुका ।

- नलिनविलोचन शर्मा

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

की

साहित्य-साधना





प्रकाशकीय

आज जब राम-कृष्ण धाम के बारे में कुछ कहने बैठा हूँ तो पूज्यवर आचार्यश्री की वह बात कहे बिना नहीं रहा जाता- "हरिश्चन्द्र, बम्बई में पहले से ही बहुत प्रकाश है। वहां हजार वाट का भी बल्ब जलाओगे तो तुम्हारा प्रकाश उस महाप्रकाश में गुल हो जाएगा। परंतु जहां अंधकार है वहाँ तुम्हारा एक छोटा दीपक भी पथ प्रदर्शक सिद्ध होगा।"

मुझे उनकी बात इतना छू गई थी कि मैं राम-कृष्ण धाम को उनके नाम का सम्बल देकर एक नया अलंकरण दिए बिना नहीं रह सका;फलस्वरूप राम-कृष्ण धाम के नाम-पट्ट पर "आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रशस्ति सदन" सुशोभित हो गया।

आज राम-कृष्ण धाम निर्माण की प्रक्रिया से गुजर रहा है। सचमुच इसका निर्माण वहाँ हो रहा है जहाँ अंधकार ही अंधकार है। प्रकाश पैदा करने का दृढ संकल्प लिए हम ईंट-गारे के झमेलों में उलझे हैं। इसकी भावी योजनाओं में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री साहित्य-संग्रहालय, निःशुल्क चिकित्सा इकाई, कीर्तन-भवन एवं राम-कृष्ण गर्भ-गृह निर्माण आदि प्रमुख हैं।

संस्थान का भूमि-पूजन आचार्य श्री के कर-कमलों द्वारा दिनांक ४-११-९० को कतिपय गण्यमान्य व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ था। अब तो निर्माण-कार्य काफी प्रगति पर है। ----- मुझे पूरा भरोसा हो आया है कि इस ग्राम्य वन स्थली का यह सम्भाग आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रशस्ति सदन की चहल-पहल से गूंज उठेगा और साहित्य, संगीत एवं प्रकृति प्रेमियों का सम्मेलन-स्थल बनेगा।

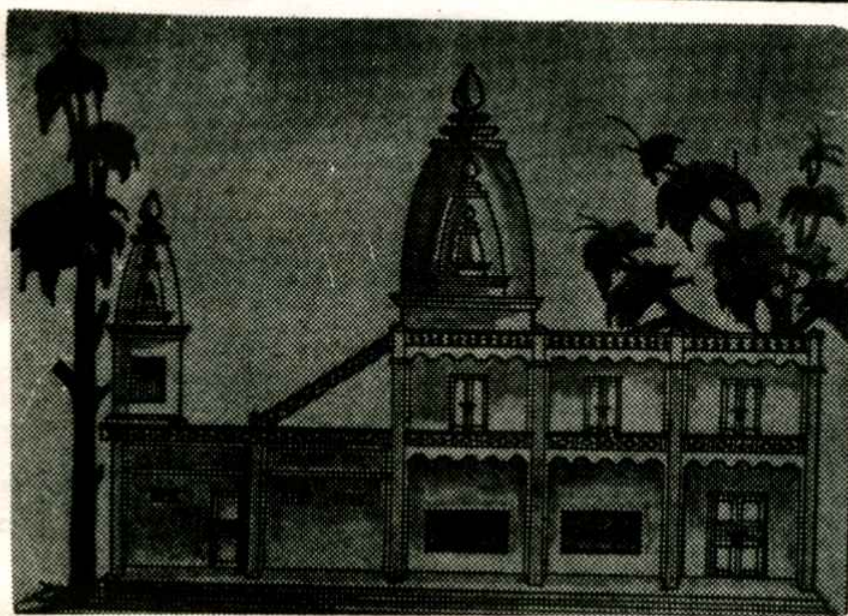
निर्माण प्रक्रिया के दौर में ही आचार्य श्री का पचहत्तरवां जन्म दिवस आन पड़ा है। इस अवसर पर राम-कृष्ण धाम की प्रथम किरण के रूप में "आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना" प्रकाशित कर हम गौरवान्वित हैं।

डा. सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, डा. राम प्रवेश सिंह एवं डा. राजेश्वर प्रसाद सिंह ने यदि कृपापूर्वक अपना सम्पादकीय सहयोग न दिया होता तो इतनी जल्दी यह कठिन कार्य सम्भव ही न हो पाता। हम उनके विशेष आभारी हैं।

हर्ष की बात तो यह भी है कि उक्त पुस्तक के माध्यम से "राम-कृष्ण धाम" के निर्माण की सूचना भी आप तक पहुँचेगी तथा इसकी प्रकाश-किरणें भविष्य में भी हमारा पथ आलोकित करेंगी।

विनीत:

हरिश्चन्द्र आर. दास



राम-कृष्ण धाम

कीर्तन भवन एवं गर्भ-गृह सम्भाग

संस्थापक, राम–कृष्ण धामः
हरिश्चन्द्र आर. दास

वितरक : प्रीति मंदिर प्रकाशन
शाहदरा, दिल्ली

प्रथम संस्करण
१९९२

मूल्य : दो सौ रूपये
(२००.००)

प्रकाशक :
राम-कृष्ण धाम
रामपुर जयपाल, पत्रालय : बोचहां–८४३१०३,
मुजफ्फरपुर (बिहार)

समर्पण



विद्या-वारिधि, पुण्यश्लोक

पण्डित श्री रामानुग्रह शर्मा

की पावन स्मृति को समर्पित



प्रस्तुति

साहित्याकाश के समुज्ज्वल नक्षत्र : आचार्य श्री जानकीवल्लभ जी शास्त्री

□ श्री ब्रह्मदेव शास्त्री

पक्षियों का मधुर कलरव, मृग-नृगियों की बड़ी आँखें, किसी शिशु की अटपटी तुतली बोली क्या विशुद्ध व्याकरण नहीं ?

समीक्षा जिन अर्थों में ली जाती है, वह उसका भ्रमित रूप तो नहीं! एक सुरभित खिले पुष्प के आगे कोई खड़ा होकर उसके रूप-गन्ध की स्निग्धता में खो जाये; कोई किसी कमल-तडाग के तट पर खड़ा होकर विस्मित अवाक् रह जाये, कोई किसी संगीत की मूर्च्छना में डूब जाये, तो क्या यह समीक्षा नहीं है ? कोई भगवान बुद्ध की प्रशान्त मुख-मुद्रा के आगे ध्यानस्थ हो जाये या शिव की तांडव-भंगिमा के आगे आवेग-कम्पित हो जाये, तो क्या यह समीक्षा नहीं है ! समीक्षा की संविहित परिभाषाओं की परिधि में कुछ लिखना तो कुछ हट कर, अध्ययन का विषय बन जाता है। समीक्षा एक सहज दृष्टि, एक सहज प्रतिक्रिया, एक सहज संवेदना के रूप में ही अधिक सार्थक है।

किन्तु उक्त सरल बाल-बोध महर्षि पाणिनि और समीक्षा-शास्त्रियों की साधना का पर्याय नहीं बन सकता। किसी अभिव्यक्ति का समुचित संस्कार ही व्याकरण है। उस संस्कार से संस्कृत भूमि का ही साहित्य बनता है और उसका सम्यक् दर्शन-परीक्षण ही समीक्षा है।

सूर्य उदय होता है, उससे अपसरित रात्रि और निद्रा के देश का भी बोध बना रहता है तथा नीलिमा में उगे चन्द्रमा और नक्षत्र-राजि के संवरण की स्मृति भी जुड़ी रहती है। फिर प्रभासित आकाश, सुनील सागर और स्वर्णिम धरती के चित्र स्फुट हो आते हैं।

कवि-हृदय में इसी प्रकार कभी सूर्योदय होता है। वह अतीत, वर्तमान और अनागत का एक समवेत सामगान होता है। काव्य कहीं से कटता नहीं है, उसका कोई अन्तरिम काल नहीं होता, वह कालातीत होता है। हम जिसे मृत्यु-लोक कहते हैं, वह किसी अमृत-सागर का एक बुलबुला है। किसी ऋषि की वाणी अमृत-पुत्रों को सम्बोधित करती है।

काव्य स्वयं एक उपसंहार रूप है। फिर भी उसका एक अति मनोज्ञ, सुन्दर और सान्द्र रूप गीत विधा है। खण्ड-काव्य, महा-काव्य उपसंहार ढूँढ़ने की एक लय-गतिमय प्रलम्बित प्रक्रिया है। गीत जैसे सारभूत वेदना हो, काव्य जैसे इन्द्रधनुषी चित्र !

जीवन के सत्य की व्याख्या ही जैसे साहित्य है, वहाँ जीवन के कोमल स्वप्न काव्य। साहित्य जैसे धरित्री का तल हो, काव्य के पंख होते हैं। मृत्यु का दर्शन ही अमृत का संधान है। और जैसे केवल अँधकार ही प्रकाश के रूप में जल रहा है। विजन में खिला कोई पुष्प भी विश्व-काव्य है, उससे अनन्त आकाश, दिगन्तधावी समीर और नक्षत्रों की सुरभित धूलि लिपटी हुई है। जीवन-मृत्यु के इस निभृत चित्र और संगीत को देखने-सुनने के लिए एक सम्यक् दृष्टि चाहिए। समीक्षा का व्यापार कदाचित् यहाँ तक जाता है।

शब्द और अर्थ की परिक्रमा हमें समीक्षा और काव्य दोनों प्रदान करती है। शब्द का कंठ ही वस्तुतः समीक्षा है और अर्थ का हृदय ही काव्य, जो अन्वेष्य है।

प्राच्य-पाश्चात्य साहित्य-शास्त्रियों ने सहस्राब्दियों से इस पर चिन्तन-मनन किया है। कुछ पंक्तियों की ओट उनका आकलन नहीं किया सकता। किन्तु प्रकाश का प्रवाह पूर्व से ही है, पाश्चात्य समीक्षक अब वैसे कुछ निष्कर्षों का आविष्कार कर रहे हैं, जो शताब्दियों पूर्व यहाँ सम्पादित हो चुका था।

आज के इस नक्षत्र-युग में सत्यशोधक ब्रह्माण्ड की यात्रा पर हैं। साहित्य के आकाश के यात्री भी समुद्र-मंथन कर रहे हैं—शब्द मात्र क्या काव्य है ! क्या शब्द से अर्थ का सम्बन्ध है भी !

पार्वती-शिव की भाँति वागर्थ की संहति (कालिदास), ननु न अर्थं शब्दाः स्पृशन्ति—अर्थ को शब्द नहीं छू पाते (धर्म-कीर्ति), कहीं

शब्द अर्थों के पीछे भागते हैं (भवभूति) तथा शब्दशून्या अर्थमात्रभासा निर्वितर्का समापत्तिः (योग), इनके परिप्रेक्ष्य में इधर पाश्चात्य विद्वान् ज्याक देरीदा आदि के सिद्धान्त भी सम्मुख आये हैं (डा० नामवर सिंह)।

तो ये सारी मीमांसाएँ कहीं एक ही अद्वैत-भाव में विलीन नहीं होंगी! काव्य, कला अथवा साहित्य एक अद्वैत-बोध की ही प्रक्रिया हैं। समस्त वैश्विक विचारधाराओं का विनिमय इसी अद्वैत की ओर प्रधावित है। साहित्य की परम रसानुभूति इसी एक तट पर है।

काव्य उन्मुक्त है, किन्तु वह तो सभी हृदयों से बँधा है। समीक्षा उन्मुक्त है, किन्तु काव्य के आकर्षण से मुक्त कहाँ! समीक्षा काव्य की एक प्रतिध्वनि है, एक प्रतिकाव्य है। उसी प्रकार कविता किसी सागर-तल से कढ़ी उर्वशी है। कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाएँ जहाँ से शृंगार बटोरती हैं, वह एक प्रलय का अव्याकृत देश है।

काव्य केवल लक्षणा-व्यंजना का कुतूहल नहीं है, वह एक वेदना है। उसके वाह्य पथ पर विलास हो, उसके द्वार चित्रित हों, किन्तु उसका अन्तर्गृह गंभीर है, उसका देवता एकाकी है। हम प्रायः काव्य के वाहरी द्वार पर ही विस्मय-विमुग्ध रह जाते हैं। उसका अश्रुधौत मुख हमें नहीं दिखायी पड़ता। क्या गंभीर वेदना से भी बड़ा कोई सुख है! क्या आत्मा के प्रलय से भी बड़ा कोई आनन्द है! अश्रु के सिन्धु पर ही नारायण लेटा हुआ है!

काव्य साहित्य का यह धूमिल आकलन समीक्षा-शास्त्र का अध्ययन नहीं है। मुँदी आँखों में भी कुछ दीख सकता है यदि वहाँ वाह्य परिदृश्य की छाया और अपनी अनुभूतियों का दर्पण विद्यमान हो।

आचार्य श्री जानकीवल्लभ जी का साहित्य, जिसमें सभी विधाएँ समाहित हैं और नवनिर्मित भी, तथा जिसकी विपुलता और अगाधता गहन अध्ययन-मनन की अपेक्षा रखती है, उसका अवगाहन सहज नहीं है। उनसे, उनके साहित्य से परिचित रहा हूँ। किन्तु समीक्षा-सामर्थ्य से उन्हें विश्लेषित करने की क्षमता मैं नहीं रखता, यह तो उन्हें भी ज्ञात है।

जब मैं उनपर, उनके साहित्य पर आलोचनाएँ पढ़ता हूँ तो चकित रह जाता हूँ। लोगों ने उनका जितना गंभीर अध्ययन किया है। मैंने

तो उनकी बाल्य-काल से लेकर अबतक की रचनाओं को अतिसहज भाव से ही पढ़ा है और लगा है कि उनकी प्रतिभा कभी शिथिल नहीं पड़ी है और अब तो उनका काव्य-प्रवाह सिन्धु की अगाधता बन चुका है। विगत साठ वर्षों में जिस विपुल साहित्य का निर्माण उनके द्वारा हुआ है, उसपर तो वर्षों के प्रयास से कुछ प्रकाश डाला जा सकता है।

श्री जानकीवल्लभ जी स्वतः ही प्रकाशित रहे हैं। आधुनिक साहित्य-सर्जकों में शायद कोई ऐसा विरल व्यक्तित्व होगा, जिसने अपने जीवन को इतनी काव्यानुभूतियों में, इतने परिप्रेक्ष्यों में चित्रित-अनूदित किया हो।

जब वे दस-बारह बरस के थे, तब भी बाल कवि थे। तारुण्य आते ही कवि रूप में ख्यात हो गये थे। अब वे महाकवियों की श्रेणी में हैं। बचपन में ही उन्हें वाल्मीकि-व्यास, भास-कालिदास, भवभूति, वाण, हर्ष, माघ, भारवि, पंडितराज और कवि जयदेव तथा संस्कृत के अनेक आलंकारिकों की रचनाओं की परिचिति प्राप्त हो चुकी थी। कोश और व्याकरण के भी पंडित हो गये थे। उनकी स्मृति शक्ति इतनी स्वच्छ रही है कि वे अपना कोई पूरा काव्य-ग्रन्थ, महाकाव्य के सर्ग के सर्ग या अन्य किसी क्लासिक या समसामयिक कवि की रचनाएँ भी सुनाने में सक्षम हैं। उन्हें काव्य-रचना या साहित्य-सृजन के लिए अन्यों की भाँति विशेष आयासित नहीं होना पड़ता। उनकी जिह्वा पर सरस्वती विराजती हैं। उनकी काव्योक्तियों का तूणीर अक्षय्य है।

उनका महाकाव्य 'राधा' प्रमाण है कि उनकी रचना-क्षमता कितनी अगाध है। महाकाव्य की पंक्तियाँ स्वतःस्फूर्त और अनिरुद्ध धारा के समान हैं। इस विशाल-काय महाकाव्य के खंडित दर्शन से इसकी पूर्णता का आकलन असंगत है। केवल इस एक कृति में ही श्री जानकीवल्लभ जी की समस्त प्रतिभा प्रतिष्ठित जान पड़ती है। महाकाव्य के निष्कर्ष का प्रतिपादन सिद्ध समीक्षकों का विषय है।

जब इसका लिखा जाना प्रारम्भ हुआ था तो इसके कुछ पृष्ठ दिल्ली के 'लोकमान्य' साप्ताहिक में छापे थे (१९४३-४४)। कवि के साथ पत्राचार में भी विचार की एकता न थी। मैंने उन्हें व्यास के परिप्रेक्ष्य में रखकर देखा ही था कि प्रतिध्वनि आयी—मैंने किसी के घर से दीपक लेकर अपना दीप नहीं जलाया है।' विनत रूप से मैंने

लिखा था, संभव है मुझसे भूल हुई हो, पर क्या वही दीप घर-घर नहीं जल रहा है!

किन्तु लगता है, सचमुच यह दीप व्यास के घर का नहीं है। गीता में श्रीकृष्ण के मुख से कहाया गया है—मुनियों में मैं व्यास हूँ। व्यास ने भी कृष्ण को आत्मसात् करके ही गीता लिखी होगी। किन्तु इस राधाकार में व्यास के कृष्ण हैं या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हाँ, एक सद्यः अग्रगति से जान पड़ा—यह काव्य तो एक नये युग की भूमिका है, एक नयी लोकायत विश्व-संस्कृति की घोषणा है। यह गाँधीवाद की एक स्निग्ध छाया है। महाकाल को एक दिव्य आयाम से संवारने वाली 'सावित्री' है, यह 'कामायिनी' के आत्मप्रत्यय और आरोह के समानान्तर खिंची विश्व-बोध की अवतरणिका है।

श्री जानकीवल्लभ जी बचपन से परिचित रहे हैं, किन्तु हम दोनों के प्रस्थान में अन्तर था।

वे पिता से अनुशासित जब साहित्य की निधियाँ बटोर रहे थे, मैं पिता का अनुशासन भंग कर जेल में क्रमशः मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा था। मृत्यु से पहले विमुक्त हो गया। उन दिनों १६३०-३१ में उनकी हिन्दी की कविताएं अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छप रही थीं। संस्कृत की रचनाएँ भी प्रकाश में आ रही थीं। जबकि मेरे जैसे असमर्थ रचनाकार केवल कुछ तुकबन्दियाँ जोड़कर स्वराज्य आन्दोलन को स्वर देने की चेष्टा कर रहे थे। मेरी कविता तो जाकर १६३४ में प्रकाशित हुई। उसमें छायावाद की छाया पाकर उन्होंने कहा था—ऐसी कविता ब्रह्मदेव की ही होनी चाहिए। वे प्रसन्न हुए थे।

१६३५ में 'काकली' का प्रकाशन हुआ था। यह उनकी प्रथम काव्य-पुस्तिका संस्कृत में थी। इसमें उनके बाल-लालित्य में भी श्री जयदेव की प्रतिभा के दर्शन हुए। गुरुओं द्वारा वह बहु प्रशंसित हुई। उन्हीं दिनों मेरा 'क्रन्दन' भी प्रकाशित हुआ था। किन्तु 'काकली' और 'क्रन्दन' में अन्तर था। (संभवतः वही श्री जानकीवल्लभ और ब्रह्मदेव की एक पहिचान है)

'इस मरु-तट पर यह अरे कौन। कब से बैठा रो रहा मौन।' इसमें जो एक नीरसता है, नीरवता है, जो एक अछोर शून्य व्याप्त है, जो एक अनसुना रुदन है, वह सम्भवतः एक ही जीवन की कथा नहीं है।

दूसरी ओर 'काकली' केवल इस एक शब्द में ही वसंत का सम्पूर्ण वैभव भरा हुआ है—आम्र-बौर से छका कोई बाल-कोकिल कूक उठा है। उद्यान का परिवेश, समीपवर्ती वापी, तडाग या नदी का तट, वासंती परिधान में रंगा कोई ग्राम या चाँदनी के देश राग में भींगा कोई स्वप्न-प्रासाद !

'काकली' की प्रेरणा जयदेव की मधुर पदावली रही होगी। किन्तु जयदेव ने जिस परा-माधुर्य में अपने गीतों की रचना की होगी, तबतक उसका अनुमान बाल-कवि श्री जानकीवल्लभ में नहीं रहा होगा—यह मेरा अनुमान है। अनुरणन अवश्य था, उनकी मान्यता है। किन्तु कितना सुन्दर गाया था उस दिव्य बालक ने ! इसके अतिरिक्त यह भी सच है कि उसमें उनका किसी सुर-नदी के तट पर छोटा-सा साहित्य-निकुंज अपना भी था, सप्त-सुरों में सधा, नूपुर-मृदंग की मूर्च्छना से भींगा स्वर-माधुर्य अपना भी था, कल्पनाओं की कमल-वापी अपनी भी थी, अनागत राधा का लवंग-लता-वन और मलय-समीर से सुरभित नन्दन-कानन अपना भी था और श्रुतियों पर झंकार भरती वीणावादिनी का साक्ष्य अपना भी था।

उनका अनुरणन भी बालक तानसेन के समान ही था जो सिंहनाद का प्रतिनाद से उत्तर दे रहा हो। बालक तानसेन की ही भाँति वे साहित्य के सिंहों को ललकार रहे थे—'सुप्त सिंहों को जगा कर देख लूँ।' उनकी प्रतिभा को पहचानने वाले श्री निराला तबतक उनके जीवन में आ चुके थे।

उन दिनों कारा-संगीत, यात्री और निशा की मेरी कुछ कविताएँ हिन्दू विश्वविद्यालय के कवि-सम्मेलनों में चाव से सुनी गयी थीं। प्रारम्भ के एक कवि-सम्मेलन में एक साधुवेश तरुण से प्रसाद जी के छन्द में और रवीन्द्र की रहस्य-भावना से लिपटी एक कविता सुनकर श्री हरिऔध जी बड़े प्रसन्न हुए थे और थपकी देकर कहा था, आप अच्छे कवि होंगे। उनका वह आशीर्वाद कदाचित् अभी उप-संहृत नहीं हुआ है।

इन्हीं दिनों श्री जानकीवल्लभ जी हि० वि० वि० तथा काशी के प्रायः सभी कवि-सम्मेलनों में अपनी हिन्दी और संस्कृत की कविताएँ पढ़ते, तो उनका कोई प्रतिद्वन्द्वी दिखायी नहीं पड़ता। गुरुओं से उन्हें

बड़ा आशीर्वाद मिलता। वे सबको आश्चर्य-चकित कर देते। छात्रावास में कविश्री नाम से पुकारे जाते। फिर तो रायगढ़ राज्य के छायावाद के प्रथम कवि श्री मुकुटधर पांडेय जी उन्हें राजकवि के रूप में रायगढ़ लिवा ले गये थे। बीच में निराला जी उन्हें खोजते काशी आये थे। मैं वहाँ उनके साथ था। यहाँ उक्त प्रसंग अप्रासंगिक नहीं होगा—

श्री निराला जी को विश्वविद्यालय के गेट से कुछ इधर ही ताँगे पर बिठाकर बड़े विनत भाव से पूछा —आप जिस भाव-भूमि पर कविता लिखते हैं, क्या वहाँ सदा विद्यमान रहते हैं ? उन दिनों उनकी किसी भी कविता को मैं आध्यात्मिक अर्थ ही देता था।

मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए बोले—नहीं, हम कभी-कभी ही उस मनोदशा में पहुँचते हैं। कवीन्द्र रवीन्द्र वहाँ सतत विद्यमान हैं। वे सौ कवियों के बल से लिख रहे हैं। आज होते तो श्री जानकीवल्लभ जी के लिए भी कुछ ऐसा ही नहीं कहते ?

श्री जानकीवल्लभ जी की कविता और गद्य की भाषा तथा भाव-भूमि साठ वर्षों की पगडंडियाँ लाँघती आज जहाँ पहुँची है और उसका जो उच्च-स्तर निर्मित हुआ है, वह एक आह्लाद का विषय है। वह सामान्य छात्र से लेकर मर्मज्ञ विद्वानों को उनका अपना अभीष्ट आस्वाद प्रदान करने में सर्वथा सक्षम है। उसके आगे विद्वत्ता का अहंकार टूट जाता है, कोमलता और मधुरता भी किसी तपोवन में अपनी आकृतियाँ गढ़ती हैं, वेदना निर्वेद के तट पर अपना अपर रूप सँवारती है और शब्द, वाक्य तथा ध्वनियाँ, वीणा, संघर्ष के कुरूक्षेत्र में पाँचजन्य का अभ्रभेदी स्वर और अस्मिता की हंसबलाका बनकर धरती निहारती आकाश से आकाश लांघती है। निश्चय ही यहाँ हंस वकपंक्ति के ऊपर तिर रहा होता है।

उनके गीतों-कविताओं में एक विरल तरलता है, एक आद्यता है, एक दार्शनिक दृष्टि है। ये एक सिद्ध कवि की मूर्त सिद्धियाँ हैं। उनकी दृष्टि में धूलिकण, तृणलतागुल्म, पादप-प्रसून, पशु-पक्षी, धरती-आकाश और मानव जीवन की समस्त संगति-विसंगति, राग-विराग, वासना-विभ्रम, करुणा-मैत्री और श्रद्धा-भक्ति का समवेत चित्रण है। वे महाकाव्य की भूमि में विचरण कर रहे हैं। उनकी भाषा बदल

गयी है। उनके एक-एक शब्द में अर्थों के स्फुलिंग गुम्फित हो गये हैं। सम-सामयिक हिन्दी के कवि, आलोचक, निबन्धकार आदि उनके आगे बौने पड़ गये हैं।

'बेला' के कुछ अंकों में प्रकाशित कुछ घटनाओं से उनकी दिव्य अनुभूतियों और योग की विक्षिप्त भूमियों का भी प्रमाण मिलता है। यह उनके किसी सायास योग-साधना का फल प्रतीत नहीं होता। जो भी व्यक्ति अपने इष्ट के प्रति शुभ-संकल्पों के साथ इस प्रकार आत्मार्पित होगा, उसे ये अनुभूतियाँ प्राप्त होंगी ही। वे अपने निकटतम आदर्श श्री निराला के आदर्श बने। अब वे उनका प्रतिबिम्ब ही नहीं, उनकी काव्य-सीमा से बढ़कर आगे की भूमिका में कार्य कर रहे हैं।

महादेवी, अज्ञेय और बच्चन के उपशमित देश में श्री जानकीवल्लभ निस्सन्देह इस समय हिन्दी के अन्यतम प्रतिनिधि कवि हैं। वे अन्य भाषाओं के किसी भी प्रशंसित कवि से न्यून नहीं हैं। यह ठीक है कि अनेक भाषाओं के कवियों, लेखकों, उपन्यासकारों, नाटककारों आदि को उनकी कृतियों के लिए बड़े-बड़े सम्मानों से विभूषित किया गया है। किन्तु एक श्री जानकीवल्लभ जी में ही उन सभी विधाओं की एकत्र संहति आश्चयजनक है। उनकी यह साधना ही एक बड़ी उपलब्धि है, यही उनका पुरस्कार भी है। मात्र पुरस्कार ही किसी प्रतिभा का अन्तिम प्रमाता नहीं। यों उन्हें 'राजेन्द्र शिखर' सम्मान जैसे अनेक पुरस्कारों से सम्मानित भी किया जा चुका है।

इधर अनेक परिप्रेक्ष्यों में अनेक समालोचकों ने उनपर पर्याप्त प्रकाश डाला है। कई लोगों ने उनके कृतित्व पर अनेक शोध-ग्रन्थ भी लिखे हैं और भी लिख रहे हैं। उनकी कृतियों की आलोचनाएं नये आलोचकों को जन्म दे रही हैं। मेरा अनुमान है, वर्तमान में किसी विरल साहित्यकार को ही अपनी कृतियों की इतनी व्यापक और सार्थक प्रतिध्वनियाँ सुनने को मिली हों। श्री जानकीवल्लभ जी की कृतियाँ क्लासिक बन चुकी हैं और इनकी प्रासंगिकता बनी रहेगी। ये विपुल रूप से व्याख्यात भी हो चुकी हैं।

अकस्मात् शरीर से कुछ अशक्त हो जाने के कारण अब वे यात्रा के लिए अक्षम से हैं। कदाचित् वे भी अपने तारुण्य में जर्मनी, इग्लैण्ड या अमेरिका की यात्रा पर जा पाते तो एक किसी अन्य विवेकानन्द, कवीन्द्र रवीन्द्र या अरविन्द का आविष्कार होता।

उनकी लेखिनी अभी रुकी नहीं है। वे कालिदास (उपन्यास) के साथ यात्रा पर हैं। काश्मीर, उज्जयिनी, पाटलिपुत्र से चलकर केरल के कन्या-कुमारी-तट पर हिमालय के दिव्य अंचल और कस्तूरी-गंध से आमादित अपनी अलका की स्मृति सँवार रहे हैं। इस कालिदासीय यात्रा का एक विराम उस मरीचि तीर्थ पर होना है, जहाँ कालिदास केवल चन्दन-गंध ही बाँटकर नहीं, किसी नाग-कन्या को अपनी छाया ही अर्पित कर नहीं संतृप्त होता, प्रत्युत किसी दिव्य-लोक से परावर्तित किसी दुष्यन्त को फूल और फल भी अर्पित करता है। उसकी यात्रा अक्षुण्ण है। लगता है अब तीन सिन्धुओं के संगम से वह किसी नयी दिशा का मेघ बनेगा।

किन्तु यह मेरी कल्पना का प्रपत्र है। काश, इसपर ब्रह्म-कमल भी फूट आता। किन्तु नहीं, ऐसी मेरी साधना नहीं। कीच की गंध भी किसी दिव्यता में दिगन्त को सुरभित करनेवाले कमलदल की शोभा बन जाती है। वह सारस्वत प्रकाश फिर किसी की वीणा-झंकार के लिए तपता है। वह वेला कितनी दूर है मुझसे!

श्री जानकीवल्लभ जी का 'श्यामा-संगीत' इसी भूमि की परिणत स्निग्ध झंकार है। लगता है, हिन्दी में भी सौन्दर्यलहरी, आनन्दलहरी ओर गंगालहरी अवतरित हो आयी हैं। इसकी तान्त्रिक-मान्त्रिक व्याख्याएँ जो हों, निश्छल प्रार्थना, स्तुति, श्रद्धा, भक्ति और प्रेम स्वयं सिद्ध मन्त्र, तन्त्र होते हैं। भले ही पीछे उनका शास्त्र भी बन जाये छात्रों के लिए।

श्री जानकीवल्लभ का हिन्दी काव्य-कमल प्रथमतः 'रूप-अरूप' के नाम से खिला था। श्री निराला ने कहा था—'वे समकालीन अनेक कवियों को पीछे छोड़ गये हैं।' वह उनके तारुण्य का प्रथम उन्मेष था।

रायगढ़ से लौटकर वे कुछ दिन काशी साथ रहे थे। मैं फिर कलकत्ता की ओर बह गया, वे मुजफ्फरपुर के तट से जा लगे। इस अन्तराल में मैं एक बार ५१ वर्ष पूर्व, अपनी विपन्नता में दरभंगा नरेश से मिलने जा रहा था तो मुजफ्फरपुर उतरा था। नगर की प्राकृतिक शोभा उस सन्ध्या में और रहस्यमयी हो गयी थी। लगा—यह तो किसी ऋषि का तपोवन है। वर्ड्सवर्थ की कविताओं का

प्राकृत प्रदेश-सा जान पड़ा। आम्र और लीचियों का वन, निस्तब्ध खड़े ताल-वृक्ष—एक चित्रित कविता। उनके लिए ली गयी मिठाई मुझे ही खानी पड़ी थी। दरभंगा से लौटकर उनके साथ एक दो दिन ठहरा था—उनके आतिथ्य और स्नेह से आप्लावित।

इन्हीं दिनों फिर वे नगर के एक श्रेष्ठ व्यक्ति से समादृत होकर, गुणियों-संगीतज्ञों के परिवेश में, अध्ययन-अध्यापन की ज्योत्स्ना में 'गाथा' जैसी चरित्र-गाथाओं की, 'कानन' जैसी कहानियों की और 'साहित्य-दर्शन' जैसे निबन्धों की रचना करते रहे। ये सब उनके विकच तारुण्य के सुरभित पुष्प थे।

१९४३ के आरम्भ में ही मैं दिल्ली आ गया था। एक दिन मेरा कोई खोया स्वप्न आकार बनकर आया। १९३३ की जेल-यात्रा समाप्त कर तथा शान्ति-निकेतन की पैदल यात्रा से लौटकर एक प्रशीत रात्रि में ज्योत्स्ना-कुहर में मैंने सुना, जैसे 'राका' गा रही थी–'पाया है आलोक क्षणिक, बोलो कैसे इठलाऊँ? यही अधिक है प्रिय, तेरे पथ में पग भर बढ़ जाऊँ।' आगे उसे कई अंकों में सचित्र रूपों में सँवारा था। वह हस्तलिखित पत्रिका पीछे पुरस्कृत भी हुई थी। प्रायः १० वर्षों के पश्चात् वही 'राका' सहसा एक दिन नूपुर बाँध कर आयी और मैं एक प्रलय पर नाचता रहा। किसी की वंशी बजती रही, सुधि मीरा की थी, व्यथा राधा की। इसे श्री जानकीवल्लभ जी ने एक अपरूप सुन्दरता प्रदान की थी।

तब से लगभग ५० वर्ष श्री जानकीवल्लभ जी के पत्रकारिता के भी बीते हैं। 'बेला' श्री निराला जी का एक स्नेहोपहार था—प्रकाश का समुज्ज्वल रूप-सौन्दर्य, पृथ्वी की पवित्र गंध। इसके भी शताधिक अंक वे निकाल चुके हैं। पत्रों के फलदार पेड़ उद्यमियों के बगीचों में हैं। क्या हिन्दी साहित्यिक पत्रकारिता में उनका भी कोई युग नहीं माना जायेगा!

इस शती का अर्द्धांश दो विश्व-युद्धों की विभीषिकाओं और भारत की स्वतन्त्रता के संघर्ष की कथा बन कर पार हो गया। विश्व ने एक करवट ली। लहरों पर उतरानेवाली नौकाएँ अपनी विजय-पताकाएँ समेट कर अपने-अपने तट पर जा लगीं।

लाखों लोगों की बहती रक्त-धारा पर, महात्मा गाँधी के चिता-भस्म पर भारत, एक नव प्रसून का, खिल उठा। एक दुःस्वप्न जैसे

पार हो गया हो। देश का सिंहासन वीरों से दीप्त हो उठा और भारत का माल एकबार फिर विश्व में चमचमा उठा।

इन्हीं दिनों अपनी छोटी बहन स्वराज्य की चिता को अश्रु का अर्घ्य देकर लौटा ही था कि अप्रत्याशित रूप से एक अर्द्धपरिचित स्वर-लहरी सुनायी पड़ी—जैसे नोआखाली (मिदनापुर) की एक चाँदनी रात के शेष में कोई भींगे कंठ से गा रहा हो—रजनी एखनो बाकी…………। मैं फिर जैसे बंगाल के उस तट पर लौट गया और अपरिचित बंगला में गाने लगा। उस रागिमा में स्वप्नों के इन्द्रधनुष खिंच आये। कविता की विक्षिप्तता में मैं अपने एक सहयात्री के साथ हो लिया। वह अपनी रागिमा का मानसरोवर में धोने जा रहा था, कैलाश के दर्पण में अपना मुख देखने जा रहा था। षोड़षी, विसर्जन, प्रतिध्वनि, श्वेता, बलाका, उदीची, अन्तरिक्ष के गद्य-गीत उसी से मिले थे।

इस बीच श्री निराला मुजफ्फरपुर हो आये थे। श्री जानकीवल्लभ जी द्वारा निराला-निकेतन की स्थापना हो चुकी थी। उनकी एक से बढ़कर एक सुन्दर रचनाएँ आने लगी थीं—शिप्रा, अवन्तिका, पाषाणी, त्रयी, लीलापद्म, प्राच्यसाहित्य आदि अनेकों काव्य, गीतिनाट्य, निबन्ध और आलोचना-ग्रन्थ प्रकाशित होते रहे, जो सभी उनकी विदग्धता से तपी स्वर्ण-राशि के समान थे। उनके गाये मधुर गीत आकाशवाणी के दिल्ली, पटना तथा अन्य केन्द्रों से प्रसारित हो रहे थे।

श्री जानकीवल्लभ जी का दिल्ली में भी साथ रहा। १९४० से कई दशकों तक उनके आल इण्डिया रेडियो के कार्यक्रमों तथा लाल किले में काव्य-पाठ का साक्ष्य उपलब्ध था। दिल्ली में श्री निराला जी का भी कई दिनों का साथ एक विरल संस्मरण छोड़ गया। संस्मरण जब पुराने पड़ जाते हैं तो कितने भास्वर हो उठते हैं।

एक रात में अपना सुन्दर कम्बल मुझे उढ़ा कर जब पागल निराला एक फटे कम्बल में पड़ गये तो थोड़ी देर बाद उन्हें निद्रित समझकर मैं धीरे से उठा, और उनपर कम्बल तान ही रहा था कि एक जबर्दस्त झटका लगा……'यह क्या………है।' निराला को निद्रित समझने वाला यह एक दूसरा पागल था।

× × ×

यहाँ एक सहज प्रतिभास के बल कहना चाहता हूँ कि हिन्दी में छायावाद न तो कवीन्द्र रवीन्द्र से, न पंत, प्रसाद, निराला या महादेवी से और न शेली, कीट्स से आया है, यह सीधे वाल्मीकि से आया है, यह छान्दस भी है। प्रकृति और प्रसुप्त वन-राजि का जैसा प्राणवन्त चित्रण वाल्मीकि ने किया है, वह एक प्रकाशित छाया है।

किसी कवि की मौलिकता उसकी आत्मानुभूति, परिकल्पना और अनुकरण की दक्षता में निहित है। यह कवि, महाकवि, विश्व कवि तक समान रूप से संगत है। वेदों की परावाणी जिसे अपौरुषेय कहा गया है, वह भी किसी दिव्यानुभूति, भद्र कल्पना और परा प्रकृति के तट से ही आहृत है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री इसी भारतीय जीवन-धारा को जीवन्त आकृति प्रदान करनेवाले कवि हैं।

उनकी जन्मभूमि मैगरा के उत्तर में शिव-पार्वती पहाड़ियाँ हैं। दक्षिण में हिरणी-खजुरा हैं। पूर्वोत्तर में प्राणचक्रा शिखर पर बुद्ध मन्दिर का अवशेष है और पश्चिम में दो नदियों के संगम पर कालिय दह। ग्राम-तट से लगा पार्वत नद सुरहर। मैगरा भी संस्कृतियों का एक संगम-तीर्थ है। इसका संस्कार श्री जानकीवल्लभ जी में एक काव्य, एक चित्र, एक संगीत बनकर समाया हुआ है।

मैं दुःखी और सन्तप्त हूँ कि श्री जानकीवल्लभ जी की रचनाओं पर परिश्रमपूर्वक गंभीर अध्ययन कर कुछ नहीं लिख सका। मेरे अन्तर का रुद्ध वेग उन्हें प्राप्त हो, जो अश्रु-सा तरल है, वाष्प-सा तप्त है और आकाश की नीलिमा में खोये एक नक्षत्र के समान है।

ओ प्रातःसमीर, निद्रित समुद्र को तरंगित कर, वह अपनी रत्न-राशि तट पर फेंक आयेगा।

ओ उदीयमान आलोक, तुम्हारे अरुणाभ अधरों के लिए दिशाएँ साम-गान प्रस्तुत करें!

●

२५ मलकागंज रोड,
जवाहरनगर, दिल्ली–७

।। जयति जानकीवल्लभः ।।

□ डॉ० रामकरण शर्मा

स्मरामि न, पुरा कदाप्यरसयं सुधां भूतले
ऽथवा निरविशं दिवः सुमनसां परां चारुताम् ।
असंशयमिहोभयीं सुघटितां भजे सर्जनां
यतः, स सुमनाः सुधीर्जयति जानकीवल्लभः ।।

न येन नमितं शिरोऽनयभृतां पुरः श्रीमतां
नयेन सुखमेधते गुणगणैर्वलक्षैश्च यः ।
न जातु विजहाति य विबुधभारती सैन्धवी
स मोदफलपत्तने जयति जानकीवल्लभः ।।

न यस्य सुरभारती धरणिभावनानिः स्पृहा
न यस्य, गगनप्रभां भुवि, रुणद्धि सा सैन्धवी ।
महामहिमशालिनी दधदनाविलां माधुरीं
स एष कविकोकिलो जयति जानकीवल्लभः ।।

अकृत्रिमलया मुखात् क्वणति यस्य "सा" "काकली"
यतः सरसि मानसे लसति लीलया पद्मिनी ।
यदीयरसमन्दिरे सुमनसोऽनिशं नूतनाः
स एष गुणसागरो जयति जानकीवल्लभः ।।

सदासमरसः शमाशमजयाजयोपेक्षकः
स्वतन्त्रधिषणः स्वराट् स्वगमितः स्वतो द्योतितः ।
स एष कवितावनी हरिपतिर्मुहुर्गर्जितै-
र्जयन् सहृदयान् स्वय जयति जानकीवल्लभः ।।

लोकं पश्यति निखिलं
तं पश्येद्वा न वा कृपणलोकः ।
पवन इव यः स्वतन्त्रः
स्पृशति स बुधवल्लभो जयतात् ।।

●

पूर्व कुलपति :
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी ।

।। श्री जानकीवल्लभो विजयते ।।

□ पद्मश्री डॉ० कपिलदेव द्विवेदी

श्री जानकी-वल्लभ-शास्त्रिवर्यः
सद्भाव-भूषा-भरितान्तरात्मा,
अधीत्य भाषा विविधा वरेण्यः,
स्वकाव्यग्रन्थैर्गरिमाणमाप्तः ।।१।।

राधा-महाकाव्यमसौ विधाय
प्रासारयत् प्रातिभ-ज्योतिरग्र्यम् ।
कथादि-साहित्य-विधान-दक्षो
समस्त राष्ट्रेऽप्रतिमो यशस्वी ।।२।।

शास्त्रीय-वैदुष्य-वशादवाप्य
पुरस्कृतिं लक्षमितां प्रदेशे ।
गीर्वाणवाण्यामपि काव्यग्रन्थान्
व्यधात् सुधीनां मनसोऽनुरक्त्यै ।।३।।

विद्वद्वरेण्यो महनीयकीर्तिः
गद्ये च पद्ये ह्यनवद्यरूपे ।
विलिख्य ग्रन्थान् रुचिरान् विधत्ते
साहित्य-सेवां जनता-हिताय ।।४।।

स काकली-बाललतादि-काव्यैः
तनोति कीर्तिं विदुषां समाजे ।
लभेत कीर्तिं सुख-शान्तिमिष्टां
चकास्तु शश्वद् भुवनेऽभिरामे ।।५।।



कुलपति :
गुरुकुल महाविद्यालय,
ज्वालापुर (हरिद्वार)

प्रस्तावना

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री आधुनिक हिन्दी कविता के गौरव-शिखर हैं। यह एक निर्विवाद तथ्य है, और यह इससे भी बड़ा और प्रबल सत्य है कि छायावादोत्तर काल में हिन्दी कविता की जमीन पर पश्चिम में पनपते विचारों और वादों के प्रभाव में प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता, अकविता, नवगीत और जनवादी कविता आदि अल्पायु के अभिशाप से ग्रस्त अनेक वाद अंकुरे, उभरे और जीवन की कड़ी धूप में तपते-मिटते चले गए हैं। कविता के पथ पर इतिहास की गहरी रेखाएँ न खींच सकेंगे। उसका कारण है कि सन् ३२ से लेकर अब तक पिछले साठ वर्षों में हिन्दी कविता जिन वादों की छाया में पनपी, उस पर अनुकरण-प्रियता का गहरा प्रभाव था, दूसरे अपनी कविता की व्यापक, विश्वजनीन भावधारा से जोड़ने के नाम पर जो कुछ भी स्वस्थ और अस्वस्थ, सुन्दर और असुन्दर मिला उससे अपनी कविता को सँवारने की लगातार कोशिशों में आँख मूँद कर हम जुटे रहे हैं।

पाँच-छह दशक की पूरी हिन्दी कविता पर नजर डालते हैं तो ऐसा महसूस होता है कि साहित्य-चिंतन और सृजन के क्षेत्र में अंधानुकरणप्रियता हमारी रचनात्मक संस्कृति और सोच का अंग बन गई। उसका घातक परिणाम यह हुआ है कि हमने अपनी परम्परा की गहरी जड़ों को, सनातन जीवन-मूल्यों को इनकार कर उन्हें बार-बार झकझोरा है, उखाड़ने में जुटे और जुड़े रहे हैं। हम इस बात से

अनजान बने रहे हैं कि जीवन और साहित्य का, कला का संस्कार बनता है वहाँ की मिट्टी की सोंधी गंध से, वहाँ की हवा, आँधी-पानी, पेड़-पौधों, हिममंडित, रत्नजटित पर्वतमालाओं, समुद्र के गर्जन और अपने पुरखों के चिंतन और सृजन से। वे मनुष्य के रूप-रंग को गढ़ते हैं, मानसिकता की रचना करते हैं और अन्तर के संस्कारों को तराशते हैं। जीवनधारा की इन्हीं दुर्गम घाटियों में साहित्य, कला, संस्कृति और दर्शन का जो उन्मेष होता है, वही परम्परा होती है। वह पूरे परिवेश से उद्भूत होती है, महत्तर जीवन-मूल्यों पर टिकती है, वही किसी राष्ट्र की अस्मिता होती है। उधार ली हुई संस्कृति और सोच से जो परम्परा बनती है, वह सतही होती है, हमारे जीवन की गहराइयों को छूती नहीं। और इसीलिए उसकी प्रेरक, प्रभावी किरणें समय की सीमा में चुक जाती हैं, बुझ जाती हैं। दिक्, कालातीतता का दिव्य प्रकाश उनसे नहीं फैलता जो वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, कबीर, तुलसीदास और रवीन्द्र की वाणी में समय की अदृश्य दीवार को, दिशाओं के बन्धन को तोड़ने की, आत्मप्रसार की जो अदम्य शक्ति है, वह क्यों नहीं आज की कविता में उद्भूत हो पाती !

शास्त्री जी ने अपने साहित्य-चिंतन और पूरी रचना-प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए इस मूल विचार-बिंदु पर बल डाला है कि वे 'कला–कला के लिए' की अपेक्षा 'कला जीवन के लिए' इस विचार तत्व को प्रश्रय देते हैं। यही एक सूत्र है जो शास्त्री जी के समस्त बहुरंगी कलासृजन को समकालीनता की सोंधी धरती से जोड़ देता है, प्रकृत जीवन धारा से, मनुष्य के सुख-दुख से जोड़ देता है, वह नितांत वायवीय और काल्पनिक नहीं होता है। हम जीवन के जिन द्वन्द्वों से जूझते हैं अपने दैनन्दिन जीवन में, परिवेश के क्रूर थपेड़ों को साहस के साथ सहते हैं और हमारा आज का जीवन जितने रूपों में ढलता, टूटता, सँवरता है, उसकी ईमानदार अभिव्यक्ति ही तो सच्ची कविता है, वह गद्य में हो या राग-रागिनी के सुरों में उच्छ्वसित हो या 'छंद-बंध तोड़कर' जीवन और रचना में विप्लव का आह्वान ही क्यों न करती हो ! कुछ भी हो, उसमें जीवन की, 'आंतर' की रागयुक्त लय तो होनी ही चाहिए। समकालीनता की प्रतिध्वनि केवल कंठ से नहीं, उसमें हमारी अंतरात्मा का राग भी तो झंकृत हो, पर वह तभी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को

उत्पन्न होता है जब स्वस्थ परम्परा से, उदात्त संस्कारों से, शाश्वत जीवन मूल्यों से प्रेरणा ले, प्रकाश ले !

शास्त्री जी की साहित्य-साधना सबसे निराली है । वादों के संकीर्ण दायरों में बाँधकर उनकी रचनाओं का मूल्यांकन संभव ही नहीं है । जिनका रचना-संसार परम्परा से जुड़ा है, आधुनिक मानव-बोध से उत्प्रेरित है, कला की बारीक छेनी से निरन्तर तराशा जाता रहा है, कला दृष्टि से नितांत सम्पन्न और जीवन्त है, उसके लिए आलोचना की वैसी ही कसौटी और वैसे ही स्थायी मूल्य के औजार होने चाहिए, जिनमें कला को, उसकी अन्तर्धारा को पहचानने की अन्तर्भेदी क्षमता हो । नहीं तो सोना को पीतल करने में और पीतल को सोना मान लेने में भला किसी पूर्वग्रह ग्रस्त आलोचक को जरा भी संकोच नहीं होता है ! आज की आलोचना का बाजार प्रचार, खरीद-फरोख्त के ऐसे सस्ते साधनों और खरीदे गए आलोचकों से ठसाठस भरा पड़ा है। गलत फतवा देते उनके दिलों में जरा भी खरोंच नहीं पड़ती । वे एकदम जड़ और निष्ठुर हैं ।

ऐसे वरेण्य महाकवियों में भी 'शिखर पुरुष', 'काव्य-पुरुष' आचार्य शास्त्री जी ने भारतीय ज़ीवन की समग्रता और विश्व के बदलते मानव बोध की संश्लिष्टता को उन्होंने बड़ी ही सूक्ष्मता और कलात्मक संस्पर्श के साथ अपने जीवन-बोध को संवेदना में अनुस्यूत कर दिया है । शास्त्री जी की रचनाओं में युगबोध की चेतना की लौ प्रदीप्त है तो परम्परा का सनातन राग का मंद्र मधुर झंकार भी सुनाई पड़ता है । शास्त्री जी सच्चे अर्थों में प्राच्य और नव्य की संधि वेला पर खड़ सामंजस्य के विधाता इस युग के भारतेन्दु लगते हैं । शास्त्री जी ने अपने समय की सीमा को उन्होंने न केवल वर्तमान का सच स्वीकारा है । अपितु भविष्य में होनेवाली घटनाओं और उसके परिणाय के रूप में साहित्य और कला का एक विलक्षण बोध दिया है । शास्त्री जी वर्तमान की भूमि पर खड़े होकर भी अतीत से प्रेरणा ग्रहण कर भविष्य की ओर लक्ष्य किये रहते हैं। इस तरह वे काव्य-पुरुष ही नहीं, वे कालजयी काल पुरुष भी हैं, जो काल की सम्पूर्ण चेतना को एक कोमल सूत्र में पीरोकर वाणी देने की अद्भुत क्षमता रखते हैं ।

मेरी दृष्टि से शास्त्री जी आधुनिक हिन्दी-साहित्य के शिखर पुरुष हैं। उनका बहुआयामी साहित्य जिस विशाल, व्यापक भावभूमि पर आज गौरवपूर्वक खड़ा है, उसकी परख पूरे भारतीय साहित्य के संदर्भ में की जानी चाहिए। क्योंकि उनके साहित्य में भारतीय जीवन, उसका सुख-दुख, संवेदना और संस्कारों का जीवन्त स्पंदन हमें सुनाई देता है। शास्त्री जी और उनकी श्रेष्ठतर महत्तर रचनाएँ हिन्दी की ही महत्वपूर्ण उपलब्धि नहीं, अपितु समस्त भारतीय साहित्य की सुदीर्घ परम्परा का अद्भुत, अनुपम दाय है। शास्त्री जी के समृद्ध साहित्य पर इधर कुछ वर्षों में आलोचना और शोध के अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है; जैसे—कविर्मनीषी जानकीवल्लभ शास्त्री (सम्पादक : राधे अज्ञानी) आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : व्यक्तित्व और कर्तृत्व (डॉ० आशनारायण शर्मा), आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री: समकालीनों की दृष्टि में (सम्पादक डॉ० मारुतिनन्दन पाठक), आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : व्यक्ति और शक्ति (प्रो० बिहारी-लाल मिश्र) इत्यादि, परन्तु 'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना'—शीर्षक इस ग्रन्थ के संकलन और सम्पादन के क्रम में शास्त्री जी के अस्तित्व और कर्तृत्व को भिन्न संदर्भों में आँकने और उकेरने का ईमानदार प्रयास किया गया है विद्वान् सुधी लेखकों द्वारा। इसलिए इस ग्रंथ में शामिल किये गए लेखों के लिए मेरा हृदय आभार से भरा है कि स्तुति-निंदा शैली की तथाकथित परख मार्ग से सर्वथा भिन्न रूप-गुण-दोषों को अपनी आलोचना का आधार बनाकर बहुत ही पारदर्शी शैली में विचार और विवेचन किया है। निःसंदेह अपने आप में आलोचना का यह मौलिक साहित्य बन पड़ा है। रचनाधर्मी आलोचना का नूतन पथ-निर्माण के लिए लेखकों को मेरी हार्दिक बधाई!

इस संदर्भ में ध्यान आकर्षित करना सर्वथा संगत मालूम पड़ता है कि इन महत्वपूर्ण आलोचनात्मक लेखों में इतिहास-बोध की अपेक्षा मूल्य-बोध को अधिक महत्व दिया गया है और वह आलोचना को किस पैमाने पर अपने प्रचलित चरित्र और संस्कृति से भिन्न आकृति और प्रकृति को सजीव रूप में सक्षमता के साथ प्रस्तुत किया जा सका है, इसके निर्णय का मूल्यवान् दायित्व सुधी पाठकों पर छोड़ता हूँ।

समय की सीमा के कारण बहुत से महत्वपूर्ण लेखों का समावेश इस ग्रन्थ में नहीं किया जा सका। शीघ्र ही प्रकाश्य इस ग्रन्थ के दूस रे

भाग में उनके लेखों का सादर समावेश कर हम प्रसन्नता और गौरव का अनुभव करेंगे ।

अपने दो प्रतिभासम्पन्न शिष्य-प्रवरों—श्रीयुत डॉ० रामप्रवेश सिंह तथा श्रीयुत डॉ० राजेश्वर प्रसाद सिंह को विशेष रूप से धन्यवाद अर्पित करता हूँ कि उन्होंने इस ग्रन्थ के तैयार करने, संपादन करने में दिन-रात एक कर असम्भव को सम्भव बना दिया । शास्त्रीजी के पाठक भली भाँति यह जानते हैं कि उनकी कालजयी कृति 'राधा' पर सर्वप्रथम डा० रामप्रवेश सिंह के ही कई महत्वपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित हुए हैं । भारतीय मनोविज्ञान और सौन्दर्य-शास्त्र की दृष्टि से उनके लेखन का काफी महत्व है । उसी प्रकार मानववादी अस्तित्ववादी मनोविज्ञान को आधार मानकर डा० राजेश्वर प्रसाद सिंह ने सराहनीय कार्य किया है ।

इस यज्ञ में अध्वर्यु की भूमिका हरिश्चन्द्र जी ने निभायी । यदि उनका उत्साह और प्रकाशकीय सम्बल हमें न मिला होता, तो हम अभी गौरव का अनुभव नहीं कर पाते ।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में जैसी तत्परता, जागरूकता जानकी प्रेस (रामबाग रोड, मुजफ्फरपुर) के श्री मिथिलेश्वर प्रसाद एवं कर्मचारी-गण ने दिखलायी उसके लिए मैं उनका आभारी हूँ ।

□ सुरेन्द्रनाथ दीक्षित



अनुक्रम

काव्य-पुरुष :

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

● पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

● मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् शिखरकवि बुद्धिर्व्यवसिता ।।

□ डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

काव्य-पुरुष :
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

● पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति ।

● मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः
पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् शिखरकवि बुद्धिर्व्यवसिता ।।

□ डा० सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

काव्य-पुरुष
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

□ डा0 सुरेन्द्रनाथ दीक्षित

'मैंने अपने लिए श्रेय चुना। प्रेय को मैंनेक भी प्रश्रय नहीं दिया। प्रेय ने बार-बार मेरे आगे अंधकार का अम्बार लगाया। इधर मैंने आत्मदीप क्या जलाया, वह घबरा कर पीछे हट गया। श्रेय ने अंधेरा दूर करने में बेशक मेरा हाथ बँटाया, दीप मैंने स्वयं जलाया था।'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की जीवन-साधना साहित्य-साधना से कहीं कठिन है। उनकी जीवन-यात्रा आँकी-बाँकी पगडंडियों, ऊबड़-खाबड़ राहों, फिसलन-भरी नुकीली चट्टानों से होकर गुजरी है। आज जब हम उन्हें देश के महान् मेधावी, मनीषी साहित्यकारों की अग्रिम पंक्ति में पूर्ण गौरव के साथ प्रतिष्ठित रूप में देखते हैं तो किस साहित्यानुरागी देशवासी का हृदय आनंदित और उत्फुल्ल नहीं हो जाता! बिहार प्रतिभा की उर्वर भूमि रही है, हर दृष्टि से। महावीर वर्द्धमान और गौतमबुद्ध की ज्ञानभूमि और कर्मभूमि होने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। यदि चन्द्रगुप्त मौर्य, आचार्य चाणक्य और देवानां प्रिय अशोक इसी महिमामयी भूमि की संतान हैं तो सारिपुत्र, मोग्गलायन और महाकाश्यप जैसे स्थविरों को जन्म देने का भी गौरव इसी भूमि को-मगध को प्राप्त है। पर क्या महज संयोग है कि

तथागत को निरंजना नदी के तट पर बोधिवृक्ष की शीतल सघन स्निग्ध छाया में बोध का, चार आर्य सत्यों और अष्टांगिक मार्ग का–प्रकाश हुआ। और फिर वहीं लगभग एक हजार वर्षों बाद बुद्ध के एक और अवतार बुद्धघोष ने गया की, श्रद्धा की इस पावन भूमि में जन्म लिया, बिखरते मूल बौद्ध चिंतन को पुनरुज्जीवित किया।

सदियों का काल–प्रवाह यों ससरता हुआ आगे बढ़ता जाता है। महास्थविर बृद्धघोष के पुन: पन्द्रह सौ वर्षों बाद गया की पहाड़ियों, घने जंगलों, झाड़-झंखाड़ के बीच बहती सुरहर नदी के तट पर बसा नन्हा-सा गाँव मैंगरा, जहाँ न जाने कब से शाकद्वीपीय ब्राह्मण भी बसते चले आ रहे थे। वे पारंपरिक पेशे से चिकित्सा जो भी करते रहे हों, अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यता के बढ़ते प्रभाव के बावजूद संस्कृत भाषा और साहित्य, श्रुति और स्मृति को बड़ी कठिनाई से जीवित रखे हुए थे। ऐसे ही सामवेदी माध्यंदिनी शाखा, भारद्वाज गोत्र, त्रिप्रवर वाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण कुल में माघ शुक्ल द्वितीया संवत् १९७३ तदनुसार ६ जनवरी, बुधवार १९१६ को अहले सुबह घने कुहासे को फाड़ते 'अरुण मधुमय' आभा का प्रसार करते 'बालसूर्य' की तरह नवजात शिशु का अवतरण हुआ—गया की उस मंत्रपूत प्रिय भूमि पर। बालक का नाम रखा गया–जानकीवल्लभ। क्योंकि माँ अनुपमा को राम सबसे प्रिय थे। और सीतापति राम ने जीवन में सब असंभव को अपने तप, त्याग, शौर्य और साहस के बल पर संभव जो कर दिया था। मानो राम के अनुग्रह से पिता रामानुग्रह शर्मा को 'जानकी-वल्लभ' मिले। जैसे 'राम' ने अपने जीवन में 'प्रेय' के घने मोह तम को त्याग 'श्रेय' को ही अपने जीवन का श्रेष्ठतर/उच्चतर लक्ष्य बनाया। जीवन का वह राजमार्ग न था, जिस पर सरपट दौड़ जायें, न ही जीवन की राह कठिन दुर्गम घाटियों से गुजरी, उन पर अपनी अस्थियों का दीप भी बालना पड़ा। आज जिन्हें हम 'आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री' कह कर गौरव का बोध करते हैं, जिन्हें कीर्ति के दीप्त शिखर पर देख उनकी महत्ता से अभिभूत नहीं, अनुप्रेरित होते हैं; **वहाँ तक की यात्रा करने में कठिनाइयों के कौन से दुर्लंघ्य पहाड़ मार्ग में खड़े न हो गए, कब झंझावात और वर्षा की झड़ियों ने चुनौती न दी! पर अपने लक्ष्य के प्रति अविचल निष्ठा ने आजीवन उसे झेलने की, प्रलय के थपेड़ों को भी सहने की अटूट शक्ति दी। आखिर कौन-सा इस्पाती धातु है। कौन-सी स्थायी विद्युत् तरंग है इस**

विलक्षण व्यक्ति में कि इस बढ़ती आयु में भी साहित्य सृजन की, सारस्वत साधना की वह मधुज्योति अहर्निश निराला-निकेतन में जल रही है। अन्तरात्मा में तीव्र मेधा का, सविता देवता का जो दिव्य आलोक है, वह इस अवस्था में भी शक्ति के स्फुलिंगों से रचनाधर्मिता के लिए उत्प्रेरित और उद्वेलित करता रहता है। शायद, नहीं, निश्चय ही यह '**राम की ही शक्ति है**' जो आचार्य जी की प्रतिभा का, ज्योति का अक्षय स्रोत है, जो अपने अन्तर्नाद से, कलकल स्वन से 'स्वात्मानंद में निमग्न है और दूसरों को भी, जिनमें थोड़ा भी मनुष्यत्व का संवेदन है, उन्हें वह कोमल भावों, उदात्त विचारों, ऊँचे जीवन-मूल्यों के लिए समर्पण के भाव से आंदोलित नहीं करते।

एकबार जब मैं आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कठिन जीवन साधना के लम्बे जीवन-पथ पर दृष्टि डालता हूँ, उनकी रपटीली राह को देखता हूँ तो सहसा विश्वास नहीं होता कि अत्यन्त निर्धन ब्राह्मण परिवार में जन्मे, बाल्यावस्था में ही माता के वात्सल्य से वंचित, क्रोधी प्रकृति के पिता के ताडन से तापित 'जानकीवल्लभ, दधपा, डालटेनगंज, गया की यात्रा करता सारस्वत साधना की भूमि, भगवान् शिव की नगरी काशी में पहुँचकर इतने अल्पवय में अपनी कविता–कीर्ति की कौमुदी से अपने विदुषां वरेण्य गुरुओं को आह्लादित और चमत्कृत भी कर देगा। तब सचमुच शास्त्री जी की जीवन–गाथा किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास के वस्तु-विन्यास से भी कहीं अधिक कौतूहलवर्द्धक, प्रेरक और सत्य की अनुभूति से कहीं अधिक समृद्ध और कवित्व से उदीप्त लगती है। उनके जीवन के हर पड़ाव पर उनकी प्रतिभा का दीप और साधना का सौरभ मन को, हृदय को, नये प्रकाश से आन्दोलित और सुवासित किये चलता है। **जीवन पथ पर निर्भीक हो, अप्रतिहत गति हो, बढ़ते चलने का निर्देश चाहे जिन गुरुओं से मिला हो, पर राह पर दीप तो उन्होंने खुद ही जलाया है। एक साधक के लिए दीप जलाना अपने यात्रा-पथ पर खुद को जलाना होता है। आत्म दीप्ति से अप्प दीपो भव !**

पारिवारिक परिवेश, सांस्कृतिक परंपरा और भौगोलिक संस्कृति ने भी इस महान् साहित्य साधक के इस्पाती व्यक्तित्व को गढने, रचने और सँवारने में अहम् भूमिका निभायी है ! पिता स्व० रामानुग्रह शर्मा बालपन में ही माता-पिता के कोमल प्यार से वंचित क्या हुए, अनाथ हो गए। एक लंबा बेसहारा जीवन ! नाम मात्र की संपत्ति ! दायादों की लोभी दृष्टि उस पर पड़ी।

ऊपर से सहानुभूति, भीतर से डाह से जलते लोग, सब कुछ हड़प लेने का घृणित षड्यंत्र। बालपन में रामानुग्रह शर्मा पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा। ऐसे निर्दय भाग्य की बेला में पचमह के दयालु बाबा ने सहायता के लिए हाथ थाम लिया और सस्कृत के अध्ययन के लिए अनुप्रेरित किया। विदावेला में उन्होंने इस विप्र सुदामा को कुछ नगद के साथ सत्तू और भूने हुए चने की पोटली 'पाथेय' के रूप में थमा दी। रात एक एकांत मंदिर में भयभीत बालक ने रोते-रोते गुजारी। इस झिकटिया ब्रह्मस्थान के चबूतरे पर ब्राह्म मुहुर्त्त की पवित्र वेला में १५ वर्ष का किशोर रामानुग्रह चल पड़ा जीवन की अछोर राह पर जंगल–जंगल पार करता। इसी अल्प वयस् में पूर्व संस्कार वश सारस्वत चन्द्रिका, वाग्भट्ट और भर्तृहरि को कण्ठस्थ कर लिया था। शेरघाटी जब पहुंचे तो वहाँ धुनी रमाये साधु के दर्शन ने कृतकृत्य कर दिया। वे देवभाषा संस्कृत में पूछते और किशोर, जिज्ञासु, यायावर का उत्तर भी धारा प्रवाह संस्कृत में होता और उसमें वचन वक्रता नहीं, शालीन विनम्रता की, दृढ़ आत्मविश्वास की कौंध फूटती लगती। इस सरल निर्मल दर्पण से इस किशोर पर वह भी प्रसन्न हुए और एक जड़ी यंत्र दिया। यह यंत्र क्या था, स्फूर्तिदायक और साहस का संचार करनेवाला सिद्धिदायक विलक्षण यंत्र। जब तक उनके पास रहा, रामानुग्रह शर्मा कभी अस्वस्थ न हुए। साधु के निर्देश से अपने समय के महावैयाकरण पं० चन्द्रशेखर भट्ट के प्रिय छात्र बन सके। वे तारा के उग्र साधक थे। उन्होंने भुवनेश्वरी सिद्ध सारस्वत स्तोत्र दिया। बीज मंत्र तथा अनुष्ठान की साध्यविधि की शिक्षा दी। उसके प्रभाव के फलस्वरूप अगले बारह वर्षों में सिद्धांत कौमुदी, प्रौढ़ मनोरमा, शब्देन्दु शेखर, परिभाषेन्दु शेखर; वैयाकरण मंजूषा और पातंजल महाभाष्य जैसे व्याकरण के आकर ग्रंथों को पढ़ा। चिरैली (टिकारी) निवासी प० उमादत्त जी से पारम्परिक शिक्षा के अतिरिक्त न्याय सिद्धान्त मुक्तावली. लघुत्रयी, बृहत्त्रयी के अलावा कादम्बरी, कालिदास, शूद्रक, भवभूति और विशाखदत्त की गौरवशाली नाट्यकृतियों को जमकर पढ़ा। अपने समय के प्रखर विद्यासूर्य महामहोपाध्याय पं० शिवकुमार शास्त्री रामानुग्रह शर्मा जी के परीक्षक रह चुके थे।

काशी नगरी में युवा हो रहे रामानुग्रह शर्मा विद्योपार्जन में प्रौढ़ होते गए उत्तरोत्तर। घर-परिवार था ही क्या, फिर भी अपने गाँव और आसपास के विद्वत्-समाज से दूर, काशी की गोद में अपने अंतर की "अतुल गंध से भरकर, जीवन की कँटीली डाल पर खिलते रहे, खिलते रहे।" उनके

मन में एक अमिट प्यास थी अधिक से अधिक विषयों को जानने की ही नहीं, 'हृदयंगम करने की भी, उसके प्रकाश में जीवन पथ पर बढ़ते जाने की यह अदम्य चाह उन्हें ज्योतिष और तंत्र विद्या की व्यावहारिक साधना की सिद्धि के लिए हिमालय की घाटियों में कई वर्षों तक साधकों की तलाश अविराम कराती ही रही। अंततः पश्चिम बंगाल की प्रसिद्ध विद्यास्थली नादिया के महान् साधक अक्षय कुमार भट्टाचार्य उनके दीक्षागुरु हुए। काशी और जगन्नाथपुरी के सिद्ध साधकों का गहरा प्रभाव पड़ा शर्मा जी के मन पर। इनके संबंध में और भी एक विलक्षण बात यह है कि अपने समय के महान् साधक श्यामाचरण लाहिड़ी से अद्भुत आकृति साम्य था इनका। जो भी इन्हें देखता विस्मय-विमुग्ध हो जाता इस अतिशय एकरूपता पर। हाँ, प्रकृति तो दोनों की भिन्न थी ही।

रामानुग्रह शर्मा शास्त्र और साधना के पथ पर सब कुछ भूल अप्रतिहत गति से बढ़ ही रहे थे कि सहसा सब कुछ उलट-पुलट गया। अपने ही गाँव के यायावर संत से प्रेरित हो हरिद्वार से अपने गाँव में आ उपस्थित हुए, लौकिक जीवन के सहभागी होने और पितृऋण से उऋण होने के लिए। ऐसा अचिंतित ही कभी-कभी मनुष्य के जीवन में घट जाया करता है—

यत् चिंतितं तत् इह दूरतरं प्रयाति
यत्-चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति ॥

ऐसी अचिंतित घटनाओं के मूल में कुछ ऐसी अनहोनी हो जाती है, जिसकी सहज व्याख्या तो नहीं हो सकती। कहाँ परमार्थ, सत्य की जोत की तलाश में शर्मा जी समर्पित थे और कहाँ उस यायावर ग्रामीण संत की दैवी प्रेरणा उन्हें ले आयी लौकिक, भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए जीवन की, यथार्थ की सपाट जमीन पर। इस घटना को हुए अस्सी-पचासी वर्ष से भी ऊपर हो गए। आज जब मैं सोचता हूँ तो नियति नटी की इस अद्भुत लीला को देख मेरा मन मुसकरा उठता है। न शर्मा जी हिमालय की साधनास्थली 'हर की पैड़ी' से नीचे उतरते और न जानकीवल्लभ जी का अवतरण यों होता! कालांतर में न तो यह साहित्य-देवता 'ललित-ललाम' ऐसा 'काव्य प्रकाश' भारत की धरती पर विकीर्ण करता और न 'सविता-देवता' की सुनहली किरणें फूटती जीवन पर छायी, मंडराती विपत्ति की सघन मेघपंक्ति को तार-तार करती! पिता अपने ही अस्तित्व और कर्तृत्व से ही कृतार्थ नहीं होता, हाँ, पुत्र पिता के धर्म से, पुण्य से, तप से

बढ़ता है, पर पुत्र भी कभी-कभी अपने जीवन के तप और त्याग से, प्रतिभा से केवल पिता को ही धन्य नहीं करता, पीढ़ियाँ उपकृत हो जाती है। 'दशरथ' को 'राम' ने अपने उज्जवल, पावन चरित से कितनी गरिमा प्रदान की थी ! आचार्य जानकीवल्लभ ने अपने गरिमामय व्यक्तित्व, सृजनधर्मी चेतना, सारस्वत साधना, सर्वतोमुखी मेधा से पिताश्री का माथा ऊँचा किया। अध्यात्म के सौंध शिखर से उतरे रामानुग्रह शर्मा ने अपने इस लोक-जीवन में अपनी आँखों देखा इस अपने अद्वितीय सुपूत को, जीवन, साहित्य और कला के क्षेत्र में 'कमाल' करते, कीर्ति के, महत्तर उपलब्धि के रश्मि मंडित शिखरों पर आरोहण करते।

जीवन एक अविराम यात्रा है। पिता और पुत्र की जो अटूट शृंखला है, उसमें आरोह और अवरोह का उदात्त अनुदात्त का योग होने से ही आनंदवाही 'स्वर' की सृष्टि होती है। सो रामानुग्रह शर्मा का अवतरण लोकभूमि पर और आचार्य जानकीवल्लभ का अलोक सामान्य भूमि पर आरोहण जीवन की साधना है, साधारण नहीं, ऋत-अमृत, सत्य और प्रकाश की उपलब्धि के लिए एक अविचल तपस्या है। बिना कठोर तपस्या के सिद्धि का ऐसा सूर्य अन्तरात्मा के केन्द्र में उद्भासित नहीं होता ! यह वह सूर्य ही था, मेधा का तीव्र आलोक।

रामानुग्रह शर्मा जी लोक जीवन की खुरदुरी जमीन पर उतरे तो उम्र एकतीस पर पहुंच चुकी थी। उजड़े घर को बसाना आसान न था। बिना गृहलक्ष्मी के कहीं घर बसता है ! सो सगे-संबंधियों ने शर्मा जी का विवाह रचाया और दीपशिखर वासी नववधू 'अनुपमा' घर की शोभा और समृद्धि लिये उतरी। टूटा-फूटा उजाड़-सा घर। सब को सहेज कर, संयत कर, सँवार कर कुछ ऐसा बदल दिया कि घर चहकता सा लगता !

गृही रामानुग्रह शर्मा अपने जीवन-साधन की तलाश में महीनों बाहर रहते। पौरोहित्य और कर्मकाण्ड का काम संपन्न करने छोटानागपुर के पहाड़ों, जंगलों को पार करते दूर-दूर तक के गाँवों में निकल जाते और महीनों बाद उपार्जित जीवन साधन लेकर लौटते। पत्नी को अपेक्षित सुविधा देना कठिन होता। दो वर्षों के बाद शास्त्री जी की बड़ी बहन ने जन्म लिया और फिर उसके बाद एक पुत्र और पुत्री। दोनों ही प्रभु को प्यारे हो गए। माता अनुपमा का मन टूट गया पुत्र शोक से। किसी तरह ढाढ़स बाँधकर जीती रही। किस देवी-देवता की आराधना न की, उसकी

कोख को एक पुत्र उजागर कर दे कि कबीर का वंश बूडे नहीं, वह उबरे ! ऐसा हो जिसके जन्म से, कर्मनय जीवन से वंश का नाम ऊँचा हो, जीवन और जगत् के विराट् नीलाकाश में अपने कर्तृत्व की यशोरश्मि से प्रतिभासित करे। वर्षों तक कठोर साधना और आराधना चलती रही। पूर्ण बुद्ध होने के लिए बोधिसत्त्वों को ५५० बार जन्म ग्रहण करना पड़ा तब कपिलवस्तु की पुण्य भूमि में सिद्धार्थ कुमार ने जन्म लिया। गया में बोध हुआ जीवन के चरम सत्य का। सो मैंगरा-मायाग्राम-में, जहाँ अब भी बुद्ध और बोधिसत्त्वों की पूर्ण और खंडित मूर्तियाँ मिल जाया करती थीं, कौशल्या को राम की तरह और मायावती को सिद्धार्थ कुमार की तरह माता अनुपमा को एक नन्हा सा दुलारा बेटा बड़ी लंबी प्रतीक्षा के बाद मिला। तब चिरायु होने के लिए नवजात शिशु को चमारिन के हाथों बेच दिया गया और नाक भी छेद दी गई। माता अनुपमा असह वेदना सह कर भी कितनी प्रसन्न और उत्फुल्ल थीं ! देवताओं ने अपना आसीस दे उसकी कठिन तपस्या को आज सार्थक कर दिया ! नारी की चरम सार्थकता ने अनुपमा के हृदय को आनंद की मधु गूंज से अनुरंजित कर दिया। वह निहाल हो उठीं अपने नन्हे नौनिहाल को देखकर।

आचार्य जी की निकट की दादी कहा करती—जब से तू अनुपमा की कोख में आया, तेरी माँ का तन दूध-सा फेनिल हो गया। उसके अंग-प्रत्यंग में सौन्दर्य उभर उठा। वैसा तब भी नहीं हुआ था, जब वह इस गृह की लक्ष्मी बनी नववधू के रूप में आई थी। शास्त्री जी की माँ का अंगरंग गेहुआँ। चाँद-से चेहरे पर शीतला के दो-एक दाग। अपनी सलज्जता, मीठी बोली और मृदु व्यवहार से आस-पास, पड़ोस के लोगों का मन मोह लेतीं। एक प्रभावी आभा उनके चतुर्दिक फूटती रहती ! पर ये सुख-सौभाग्य के दिन अत्यल्प भी न रहे। माता अनुपमा प्राय: अपने जीवन से आशंकित रहतीं, अपने एकमात्र पुत्र की उम्र और भविष्य के प्रति चिंतित रहतीं। मैंगरा गाँव भी कुछ ऐसा, जहाँ डायनों और भूतप्रेत की बाधा से शायद ही कोई बचा हो ! माता अनुपमा को ऐसे आतंकित करने वाली घटनाएँ परेशान करतीं। अंततः जब शास्त्रीजी मात्र चार वर्ष के थे, तभी उनकी माँ अकाल काल कवलित हो गई। नन्हा सा अबोध शिशु सहसा अनाथ हो गया। वात्सल्य की करुण स्निग्ध छाया माथे पर से उठ गई सदा के लिए ! तब भी आज तक शास्त्रीजी अपनी दिवंगता माँ की आकृति-प्रकृति का छायाभास स्मृतियों में संजोये हुए हैं। जब उनकी बहन का विवाह

ही रहा था तो माता अनुपमा की 'रूपरेखा की एक किरण पहले पहल उनके नयनों की हृदयपटी पर प्रतिबिंबित हुई थी।' और वह किरण रह-रह कर शास्त्रीजी के मन को बालपन से आज तक वेधती रही है, गहरी पीड़ा को स्पर्श देती रही है। जीवन की यह प्रभात वेला मातृप्रेम से वंचित बालक जानकीवल्लभ के लिए दुर्भाग्य की जलती दोपहरी बन गयी!

अब रामानुग्रह शर्मा जी पिता और माता दोनों की भूमिका में थे। दो छोटे दूधमुँहे बच्चों की देखभाल, पालन-पोषण की भारी जिम्मेदारी आ गई माथे पर। वे थे घुमंतु। और बच्चों की माता अनुपमा की अकाल मृत्यु ने एकदम अशांत और अव्यवस्थित बना दिया। बाहर जाकर कुछ उपार्जन करने का सवाल ही कहाँ था? बस गृहस्थी के खूँटे ने उन्हें कस कर बाँध दिया, जाएँ तो कैसे?

उसी गाँव में, पड़ोस में ही एक पुत्रहीन बाल विधवा का वात्सल्य, ममता भरा उमड़ता हृदय और आँसू भरे सजल नयन बालक जानकीवल्लभ को देख कितना जुड़ा जाता! बालपन की यह मीठी स्मृति मानस पट पर आज भी यूँ ही रह-रह कर उभरती है।

माता अनुपमा की करुण स्मृति और वात्सल्य के अभाव ने शास्त्री के रचनाधर्मी व्यक्तित्व को गढ़ा है, आँसुओं से और कठोरता से जीने की कला का अभ्यासी भी बनाया है। तभी तो अपने अतीत और वर्तमान को याद कर उनके जीवन का सत्य फूट पड़ता है :—

मेरी बेल प्यार की मुस्कानों और दुलार के आँसुओं से कभी नहीं सींची गयी। चढ़ी तो काँटों पर, मुरझाई तो वीराने में।

जीवन एक सरिता है। एक तट पर जीवन दूसरे पर मृत्यु। दोनों से टकराती, बल खाती आगे बढ़ती जाती है लहर पर लहर उठाती हुई, आगे की ओर ठेलती हुई। बालक जानकीवल्लभ भी माता के बिना, पिता की देखरेख में उम्र के डग भरते बढ़ चले मंद गति से। पर उनकी मेधा कितनी तेजी से दीप्त हो रही है। बचपन से संगीत के प्रति गहरा लगाव एक अप्रतिरोधी आकर्षण! कभी भी संगीत की कोई विधिवत् शिक्षा नहीं मिली। आज भी उनके मोहक स्वर को, उसकी ताजगी को महसूस कर लगता है कोई दैव-प्रदत्त शक्ति है जो इनके कंठ में प्राणमोहिनी शक्ति का संचार करती है। संगीत किशोर जानकीवल्लभ का अंतरंग संगी था और आज भी उनके स्वरों में प्राणोन्मादक शक्ति का संचार करता है। पिता

विद्यावारिधि रामानुग्रह शर्मा ने अपने वैदुष्य का दाय, उसका चरम रहस्य' 'चिंतामणि' मंत्र चंद्रग्रहण की रात में दिया और गायत्री मंत्र की दीक्षा दिन के उजाले में सब के समक्ष। शायद उसका ही प्रभाव था, या भुवनेश्वरी सिद्ध सारस्वत स्तोत्र के सस्वर पाठ का कि आचार्य जानकीवल्लभ जी अल्पआयु में ही काव्य-रचना की ओर प्रवृत्त हो गए।

जीवन-सरिता का प्रवाह थमता नहीं, वह उलझता-पुलझता, हिचकोले खाता बढ़ता जाता है। थमा कि मौत हाथ थाम लेती है। शास्त्री जी के परिवार में घोर गरीबी थी, ऐसी भी सुविधा नहीं कि उस समय प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से पढ़ लेते। निदान, पिता जी की ही पाठशाला में संस्कृत की पढ़ाई और घोखाई शुरू हो गई। **आद्य गुरु पिताजी ही बने।** बालक की प्रतिभा निखर जाय, इसलिए पिता कभी-कभी रौद्र रूप भी धारण कर वचन-वाण और बाँस की छड़ी से प्रहार भी करते। लक्ष्य यह होता कि चंदन की तरह घिसकर, रगड़ कर बालक की प्रतिभा के सौरभ को और भी निखारा जाय! सो वह निखरता रहा काल-प्रवाह के साथ। आयु आगे की ओर ससरी, पिताश्री की क्रोधी प्रकृति के बावजूद अकाल **मृत्यु में मुँदने वाला माँ का प्यार जितने दिन भी शास्त्री जी की आँखों में खिलता रहा उसकी अमंद सुगंध चारों ओर फैलती ही रही। उस किशोर वय में कुलांचे भरते नित नए हौसले सजाने की ताजगी को रफ्तार देने वाला माता अनुपमा का अमृत सा छलकता प्यार ही था।**

प्रथम श्रेणी में प्रथम होकर अत्यल्प वय में ही किशोर जानकीवल्लभ अपार यश प्राप्त कर चुके थे, पर इस पर छलकनेवाला था कौन? जिसकी छाती गज भर ऊँची हो जाती वह माँ कहाँ थी? मन मसोस कर रह जाता! पिता की अनुमति से दधपा गए जानकीवल्लभ जी। वहाँ का व्यवहार अजीब! एक पांत में चार प्रकार का भोजन! पर क्या करें! उस अपमान का जहर पीते रहे। मन उचाट हो जाता। दीवाली के दिन पैदल ही चल पड़े, पहाड़-जंगल को लांघते, कूदते-फाँदते, पसीने से लथपथ! देखा वयोवृद्ध पिता चूल्हे की आँच के निकट बैठे बाटी सेक रहे हैं और पास में छोटी बहन सहयोग दे रही है भोजन पकाने में। दूर एक ढिबरी मंद-मंद जलती, चारों ओर धुआँ उगल रही है। न कोई उमंग की लहर थी न मन में उछाह! काश! माता अनुपमा होती तो प्रकाश पर्व ऐसा उदास, दुखदायी होता? बहन ने भैया जानकीवल्लभ को देखा तो किलक उठी और पिता ने देखा तो संयम रखने पर भी भावावेश फूट पड़ा—बोल में, आँखों में। पर क्षण भर

में मिलन का यह अपूर्व आनन्दोल्लास एक झटके में भय और दुःख के उमड़ते सागर के रूप में बदल गया। कोई नहीं जानता अगले क्षण क्या घटित हो जायगा! प्यार-दुलार के प्यासे किशोर जानकीवल्लभ मुँह हाथ धो ही रहे थे। अल्पवय और जंगल-झाड़ होते, पथरीली राह को लांघते कितना थक चुके थे, उस थकावट को हरनेवाला इस मातृहीन, पर माता की विदा वेला की साक्षी घर में, पिता और बहन का कितना आर्द्र स्नेह मिल रहा था कि क्रूर नियति के भेजे विच्छू ने डंक मार दिया, मानो अग्निवाण ने मर्मभेदी प्रहार से वेंध दिया। आग की लहर उछल-उछल कर रेंगने लगी अंग-अंग में। कैसा विषभरा, बेचैन करनेवाला ताप! सारी रात झाड़-फूंक और उपचार! बेचारे पिता कैसे खाते और बहना धरती की गोद में लुढ़क गयी थी, कौन थी जो उसे अपने अँकवार में सुलाती! बस यही इस घर की दीवाली थी, जहाँ सुख सौभाग्य की रोशनी फूटती ही न थी, अंधकार एकदम घना था।

नियति कितना क्रूर खेल खेला करती है मनुष्य से। लगता है हतभाग्य मनुष्य कैसे करे उसका प्रतिकार! प्रतिकार करने की दृढ़ इच्छा शक्ति आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की रग-रग में बालपन से, नहीं नहीं, जन्मघूंटी से ही थी। पिता का कठोर साधनापूरित जीवन, जीवन-व्यापी दुख के पहाड़ को भी उठाते चलने का अथाह साहस, दिवंगता माँ अनुपमा की ममता, कोमलता, उमड़ते प्यार की कसक, मीठी यादों ने दी। भावी शास्त्री और आचार्य को विपरीत परिस्थितियों से वीरशिरोमणि हनुमान की तरह जूझने की अदम्य शक्ति पिता की परंपरा से मिली, कठोरता से जीवन जीने की और कोमल प्रकृति की, सौन्दर्य की, प्रकृति की मनभावन रूप माधुरी को हृदयंगम करने की, मानवीय रूप-सुधा का निष्पाप, पवित्र रूप का अंतर में अनुभावन और उस रमणीय रूप की छलकती आनंदानुभूति को शब्दकर्म के सहारे सुख-दुख की मिट्टी और जल से सुघर रूप में गढ़ना बस यह जीवन की साधना बनी, यही राह भी बनी रही, नियति भी। उसी राह पर पिता-माता की कठोरता और कोमल कमनीयता से रसा-बसा यह 'वाग्देवता' पिछली आधी सदी से भी अधिक समय से भारतीय साहित्य, संस्कृत और हिन्दी कविता, साहित्य-दर्शन, समीक्षा, गीतिनाट्य, कहानी, उपन्यास और संस्मरण के माध्यम से जीवन-काव्य का मधुवर्षी गान गाए जा रहा है, नहीं, ऋत-अमृत की आनन्दवाही वर्षा किये जा रहा है। अंतरतम के देवता के इस 'प्रसाद' को काश, हम हृदयंगम कर पाते!

किसी भी सत् कवि का, महान् विचारक का, साधक का जीवन-पथ सीधा-सपाट नहीं होता, उसमें अनेक टेढ़े-मेढ़े मोड़ और ऊँची-नीची पगडंडियाँ होती हैं। उनके अंतर और बाह्य के संतुलन का अध्ययन, उनकी अन्तरात्मा में बनती-टूटती दुनिया को, छायाचित्रों को, बारीकी से जानना, समझना और बूझना भी असाधारण संवेदना और पैनी दृष्टि से ही संभव है। किसी लेखक के साहित्य को पढ़ना, उसका रसास्वाद लेना एक बात है और उसमें अन्तर्निहित सत्यों, संवेदनाओं और संघर्षों को परखना, रेखांकित करना, जीवन मूल्यों की पहचान दूसरी बात। एक विलक्षण विशिष्ट 'शब्द-कर्म' है जिसके लिए बौद्धिक क्षमता ही नहीं संवेदनशील, पूर्वाग्रह-मुक्त, उदार हृदय भी चाहिए जो जीवन की सुगम-दुर्गम घाटियों का स्पंदन, धड़कन सुन सके। यह 'शब्द-कर्म' सहज कला-रचना और जीवन-रचना में भी बिना डूबे संभव नहीं हो पाता। हिमालयी ऊँचाई के शास्त्री जी कद में ही नहीं; मन से भी उतने ही ऊँचे उठे हुए हैं। उन्हें समझना और परखना आसान कभी भी नहीं रहा और न आज भी है। कभी-कभी उनके साहित्य-सृजन में विद्युत-तरंगों की-सी झलक झलमल-झलमल करने लगती है जो एक प्रकार से उनके साहित्य और उनके प्रेरक स्रोत की छविग्राही आभा होती है। मैं इस कविता को शास्त्री जी के कर्तृत्व, व्यक्तित्व और उसके 'आन्तर' में उतर कर झाँकने की 'मास्टर की' जरूर मानता हूँ, तब भी कुछ, नहीं, बहुत कुछ अनबूझा, अनचीन्हा ही रह जाता है। ऐसे ही अनजानी राहों से होकर अपनी राह बनानी पड़ती है, उन तक, सत्य की तलाश के लिए, पर उस राह पर चलना भी कम प्रेरक, स्फूर्तिदायी और आनंदमय नहीं होता। जरा उन सीढ़ियों पर उतर कर तो देखें :—

> दुःख यदि इतने दिये, दो शक्ति मेरा मन न हारे
> पालने पौढ़ा, मुझे मां ने न हलराया, झुलाया,
> धूलि-धूसर रह निरंतर, मलिन अंतर कठिन काया
> बाल्य से वात्सल्य का अनुभव किया न कभी, पढ़ा ही
> प्यार इस संसार में पाया नहीं; मन में गढ़ा ही।

इन पंक्तियों में शाश्वत जीवन-संगीत है, जो मनुष्य में मनुष्यत्व के, ऊर्जस्विता के, प्रवल प्राण-शक्ति के जागरण के उद्बोधन का आह्वान करता है। आज से बारह सौ वर्ष पहले इस महाकवि के समानधर्मा भवभूति की वाणी श्री राम को, उनके जीवन को कैसी मर्मतुंद भाषा में उकेरती है!

"दुखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमर्पितम्"

एक पंक्ति का यह काव्यात्मक वाक्य कितना रसात्मक है । रस केवल कवित्व के सौन्दर्य का, अभिव्यञ्जना का नहीं, सम्पूर्ण जीवन का ! 'दुख ही जीवन की कथा रही,' वह व्यथा रही । 'सब सुखी हों, कोई दुखी न हो—' यह याचना तो आदिकाल से हमारे पूर्वज ऋषि करते आए हैं । पर शास्त्री **जी की प्रज्ञा का, मनुष्य की अस्मिता का यह उद्घोष कि—दुख तुमने इतने दिये, दो ; पर प्रार्थना उनसे मुक्ति के लिए की** नहीं, अन्तर के देवता से एक ही आर्त्त निवेदन है कवि का कि जो प्रण मन ठाने उसे पूरा करने में मन हारे नहीं । यह हारे राही का रुदन गीत नहीं, नहीं, वह जीवन के अंतिम रक्त की बूंद तक, प्राणों के आखिरी श्वास चलने तक पूर्णता की ओर हर कदम बढ़ता चले । यही प्रण है, यही प्रतिज्ञा है जो मनुष्य में मनुष्यत्व की ऊँचाइयों की ओर अप्रतिहत गति से बढ़ने का संकल्प प्रदीप्त करती है ! जीवन-पथ पर निराश नहीं, रुदन भी नहीं, वह तो अल्हड़ प्राणों का अविचल हठ है :—

मैंने मृत्यु के मध्य भी जीवन की ही जयघोषणा की है।

ऐसा नहीं कि उनकी जीवन-कविता में औदात्य उनके प्रौढ़त्व को उनके अनुभवों की परिपक्वता के कारण है, नहीं, यह अहम्, आत्मविश्वास तो उनकी जीवन-वीणा की अमृत रागिनी है ।

माँ के वात्सल्य का अभाव वे कभी भूल न सके । उसकी वेदना ने, अन्तःपीड़ा ने अश्रुजल से जीवन-पथ को चाहे जितना भी गीला किया हो पर उनकी कविता तो करुण भावों से आर्द्र ही हुई है । यहाँ से वहाँ तक संवेदना के कोमल सूत्रों ने भावों की रंग-विरंगी सुरभित मालाएँ पिरोयी हैं ।' 'रूप - अरूप' से उस यात्रा का जो शुभारम्भ हुआ, वह 'राधा' जैसे जीवन-मूल्य के शाश्वत महाकाव्य में पूर्णता के पद पर प्रतिष्ठित हो रही है । माँ के अभाव की वेदना उन्हें कितना तड़पाती है ! वस्तुतः बालपन में ही माँ के बिछोह ने शास्त्री जी की पूरी चेतना को आंदोलित, उन्मथित किया है । अतीत की उस वेदना को भूल जाना चाहते हैं पर कैसे ? 'अतीत के बंद मंदिर में' उनकी ममता की मूर्त्ति माताजी जो विराजमान हैं । उन्हें बार-बार विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की यह वाणी उत्प्रेरित करती रही—

यदि आलस्यवश नींद में डूबा हूँ तब भी मनमें यह बात जमी रहे कि अभी तम पार करने के लिए लम्बा रास्ता है। ऐसा न हो कि मैं उसे भूल जाऊँ, इसके लिए सोते-जागते तड़पता रहूँ। और शास्त्री जी की कविता में अभाव की वह वेदना और भी घनीभूत होकर बरसने लगती है :—

दु:ख जलधि में डूब रहा मैं, पीर एक हो तो पहचानूं !
काली—काली छाँह फैलती, किसकी बाँह इसे मैं मानूं !
कब की जली हुई ये स्मृतियाँ लगी सुलगने, लगी धुआँने।
नगर-डगर में जी न कहीं भी, ये मचली हैं उसको पाने।

● ●

अङ्गण वेदी वसुधा, कुल्या जलधि:, स्थली च पातालम् ।
वल्मीकश्च सुमेरु: कृतप्रतिज्ञस्य वीरस्य ।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी की माँ अपने एकमात्र तनय को चाहतीं–कब राजा बेटा काशी जाकर अपने पिताश्री से कहीं बड़ा 'महापंडित' हो कर आए, मेरे नयन जुड़ाए। सो हर साँझ को तुलसी चौरा के पास आँगन में बने चबूतरे पर बालक जानकीवल्लभ को दुलारती, खेलाती हुई उसे उतनी ही दूर में काशी भेजती और वापस लातीं। यह 'नाट्याभिनय' मन बहलाव की नहीं, ख्वाहिशों, खुशियों की नित्य की सांध्य क्रिया थी। इसलिए उस जमाने में भी महज तीन बरस की अल्पायु में अक्षरारंभ तो करवा दिया, पर उसे यों तेजी से सारस्वत मार्ग पर सरपट दौड़ते, सफलता के ऊँचे सौधों पर एक के बाद दूसरे पर चढ़ते कहाँ देख सकीं वे ? आह !

जिन्हें हमको जगाना चाहिए था–कयामत है कि वे खुद सो गए हैं।

सात वर्ष की उम्र में अपर पास। बचपन माता के बिना अनाथ-सा उपेक्षित रहता। मास्टरों की नजरों में ऊँचे उठ नहीं पाए। उस पर तुतलाहट और 'क' को 'त' का उच्चारण करने की लत अलग। पिता ने ही संस्कृत मनोयोगपूर्वक पढ़ाया। प्रथमा की परीक्षा में बंगाल, बिहार और उड़ीसा में प्रथम श्रेणी में प्रथम और छात्रवृत्ति की उपलब्धि ने आत्मविश्वास, अपनी मेधा पर भरोसा पैदा कर दिया। ज्यों-ज्यों उम्र की डगर पर बढते गए माँ की स्मृति बेचैन करती और काशी का आकर्षण मन में बढ़ता। मानो देवाधिदेव भगवान् विश्वनाथ मन्दिर की घंटियाँ गूंजती अन्तर्मन में। माँ न थी अब, पर उसकी अन्तश्चेतना अदृश्य रूप से उत्प्रेरित करती। हो भी क्यों न ऐसा ?

बारहा आँधियों ने दस्तक दी–तेरी खूशबू नहीं गई घर से, (दिल से) ।

दधपा, डाल्टेनगंज और गया की विद्यानदियों के जल से वह कैसे तृप्त होता ! लगता काशी की गंगा, और उसके पवित्र तट पर बसा, महामना पं० मदन मोहन मालवीय जी का काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जैसे पुकार रहा हो, उसके हृदय–द्वार पर दस्तक देता अधीर आवाज दे रहा हो—भूल जा अतीत की दुख गाथा को, जीवन की बड़ी चुनौतियाँ तुझ से उत्तर माँग रही हैं, तू उसे अनसुना क्यों कर रहा? तुम दिवंगता माँ की एकमात्र आखिरी तमन्ना को पूरा कर पूरे हौसले से, बुलंदी से !

काशी विश्वविद्यालय में प्रवेश पाने से पूर्व धुन के धनी किशोर जानकीवल्लभ को पं० दामोदर मिश्र जैसे साधक गुरु ने बीज रूप में गुरुमंत्र दिया, वह उनकी रूह को हमेशा रौशन करता रहा —

अपने अटूट संकल्प से स्वाभिमान को, आत्मतेज को, प्रतिभा को उत्तरोत्तर प्रदीप्त करो । कीचड़ में कमल की तरह तपते सूरज के तीव्र आलोक में खूब खिलो । निर्भीक हो बढ़ो । झूठे ठाठ-बाट, तड़क–भड़क से दूर रह विडम्बना-विहीन उच्चतर लक्ष्य की ओर मौन भाव से बढ़ो । याद रखो, कोटि-कोटि जतन करके भी संसार में सबसे धनवान् नहीं हो सकते, पर उतना ही श्रम करके ज्ञान-विज्ञान की किसी शाखा में शिखर पुरुष तो हो ही सकते हो । अपनी सतत साधना से बहुत बड़े मानव समुदाय को आनन्द से आप्लावित करने की क्षमता का विकास तो कर ही सकते हो ।

ये उदात्त विचार आचार्यजी के मार्ग–दर्शक बने रहे । वे उस आलोक में जीवन की डगर पर चलते रहे । साहस ने कभी साथ न छोड़ा । तन और मन उन महान् लक्ष्यों के प्रति सर्वात्मना समर्पित हो गए । कहाँ दस से चौदह की कच्ची उम्र और कहाँ सिद्धान्त कौमुदी, मनुस्मृति, सुन्दर कांड रामायण जैसे आकर ग्रंथों को कंठाग्र करना, शिवमहिम्न स्तोत्र और भुवनेश्वरी सिद्ध सारस्वत का भक्तिभाव के साथ सस्वर गायन । कलकंठ से गूंजता मधुर लयपूर्ण गायन । शास्त्री जी के अंतर्मन में गुरु ने एक और मनोभूमि तैयार कर दी धीरे-धीरे कि तुम विद्या में, वाणी के विलास में सबसे भिन्न हो, अद्वितीय हो । इस मनोवृत्ति ने शास्त्री जी के उस किशोर-व्यक्तित्व को ऊँचाइयों पर छलांग लगाने की अदम्य शक्ति का बीज अंकुरित कर दिया ।

यही कारण था कि काशी की पवित्र धरती पर महादेव की छाया में पहुँचने से पहले ही १९२७ में ही प्रथमा और ३२ आते-आते सोलह वर्ष की अल्पायु में शास्त्री और ३४ में अट्ठारह वर्ष की आयु में स्वर्णपदक के साथ प्रथम श्रेणी में प्रथम साहित्याचार्य की पदवी पायी समूचे बिहार, बंगाल और उड़ीसा प्रान्तों में। इन्टर तक अंग्रेजी और बंगला साहित्य का गहन अध्ययन किया। सरस्वती की उपासना उत्तरोत्तर उच्चतर भारतीय विद्या में निष्णात होने की तृषा जगाती रही। १९३५ में साहित्यरत्न की परीक्षा में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया। १९४०-४१ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वेदांत शास्त्री और वेदांताचार्य की परीक्षाओं में सफल होने पर दोनों में स्वर्णपदक ! पर इन सफलताओं को देख जिसका दिल जुड़ाता वह माँ कहाँ थी ? बस उसका प्यार भर था, उसकी मीठी कसक भरी स्मृति जीवन में कुछ अच्छा कर गुजरने का उमंग पैदा करती थी। इस सन्दर्भ में यह उल्लेख करना सर्वथा प्रासंगिक लगता है कि शास्त्री जी ने प्राच्य भारतीय विद्या के गहन और व्यापक अध्ययन में जो ऐसी सिद्धि हासिल की उसमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागर द्वारा संपादित कालिदास और भवभूति के ग्रंथों की ठोस नींव पर शास्त्री जी ने प्राच्य भारतीय विद्या का 'हवाई महल' तैयार किया वह कितना जीवंत था। उसी ने महाकवि कालिदास के लालित्य और जीवन सौरभ के मादक संस्कारों से शास्त्री जी में कवित्व के प्रति, जीवन-छंद के गायन के प्रति प्राणों में झंकार भर दिया, जो आज तक उनके अंतर को 'अनहद नाद' से, अजर-अमर रस से आप्लावित किये रहता है। उस पर क्या संयोग कि काशी विश्वविद्यालय के पवित्र प्राङ्गण में, नहीं-नहीं उस तपोभूमि में उन्नीसवीं-बीसवीं सदी के महर्षि, युगद्रष्टा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पचहत्तर वर्ष की ढलती आयु में चिर यौवन की दिव्य रूपाभा, आंखों में पीड़ित-दलित मानव मात्र के लिए छलकता असीम प्यार, कवित्व के, सौन्दर्य के साक्षात् प्रतिमान के अमृतोपम प्रेरक वचनों को सुनकर जीवन के प्रति, कविता के प्रति एक नयी दृष्टि का उन्मेष हुआ। वह आज तक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के कवि व्यक्तित्व की रचना में, भाषा के विधान में, छंदों की तान में, शैली के परिष्कार में, संगीत के झंकार में अभिव्यक्ति के कौशल में और सर्वोपरि मनुष्यत्व की तलाश में, संवेदन के गायन में समर्पित है।

यह तो बहुत बाद की बात है। सारस्वत साधना की नगरी वाराणसी में महान् गुरुजनों के पावन चरणों में बैठ कर शास्त्र की शिक्षा लेने से

पूर्व शास्त्री जी ने वह शिक्षा ही नहीं ली, वह तप किया जिससे मनुष्य की अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। बचपन से ही उनकी चेतना सुरहर नदी की कलकल चंचल धारा, पहाड़ी के झूमते जंगल, वन-वीथियों पर फुदकते पक्षियों का कलरव, उनका अविराम गीत, उनके दुखी उदास मन में एक अजीब उत्कंठा का भाव जगाते, सो उन्होंने अनुभव किया कि माता के बिना शास्त्री जी का 'अनादि गुरु वह वन प्रांतर ही रहा और आदि गुरु पिताश्री, जो जीवन के घोर अंधकार के क्षणों में भी अपनी सीख की जोत से मार्ग-दर्शन करते और प्रोत्साहित करते—

कभी भी न काम, न भय, न लोभ और यहाँ तक कि जीवन के लिए भी धर्म (सत् कर्त्तव्य) का त्याग न करे। धर्म ही एक नित्य है, सुख-दुख तो अनित्य है,। जीवात्मा नित्य है, इसके दूसरे करण-कारण अनित्य हैं।

यह ऊँची शिक्षा ही नहीं मिली। वस्तुतः शास्त्री जी के पिताश्री ने केवल 'अक्षर-ज्ञान' ही नहीं कराया उन्हें, अपितु अक्षर (ब्रह्म) शिक्षा के नाते भी उनके आदि गुरु थे और सबसे बड़ी बात यह कि वे जिस स्मार्त जीवन संस्कारों के साँचे में ढलते रहे, वह जीवन में अनुशासन और तपस्या का पंचाग्नि तप है। शास्त्री जी वंशानुगत इन्हीं उच्च संस्कारों के ताप में पलते, तपते बढ़े जिसकी सबसे बड़ी सीख थी। जो काम और क्रोध के प्रबल आवेग पर काबू पा ले, इस शरीर-मुक्ति से पहले ही वह योगी और सुखी हो जाता है। यही कारण है कि छोटे-बड़े प्रलोभनों की 'महाठगिनी माया' शास्त्री जी के चलते पाँवों में सुखोपभोग की कोमल जंजीरें न बाँध सकी। किसी मुकाम पर पहुँच कर विश्राम के लिए वे रुके नहीं। आगे की ओर चलते रहना 'असंप्रज्ञात समाधि में डूबने के समान था।' पर वहाँ उनके गतिशील तन और आत्मा रुके नहीं। उनके ही शब्दों में—"प्रत्येक अवसान को आरभ में बदलता रहा।" उन्हें जीवन की निरन्तरता की अनुभूति सतत गतिशील जीवन साधना से, आत्मानुभव से हुई थी न कि किसी प्रवचन और उपदेश से। उनके पिताश्री के कठोर तपोमय चरित्र ने शास्त्री जी की अंतरात्मा में पवित्र शक्ति मंत्र को प्रदीप्त किया था, वह था—प्रमाद रहित होकर अपने कर्त्तव्य का अनुष्ठान पूरा करते जाओ निष्काम भाव से। यही वह प्राणों में ज्योति भरने वाला मंत्र का उद्घोष था, जिसके सहारे शास्त्री जी "भवसागर की

लहरों के पीछे के थपेड़े और थपेड़े के आगे के भँवर बेझिझक पार करने की अमित, अमिट ऊर्जा प्राप्त करते रहे।"

मेरी दृष्टि में शास्त्री जी के पिताश्री की प्रकृति में रौद्र रूप का जो भी प्रकट आभास रहा हो, नारिकेल फल की-सी बाहरी पर्त पर कठोरता जो रही हो, पर वह अंतर से वात्सल्य और करुणा से ओतप्रोत थे। माता-पिता की दोहरी भूमिका ने एक ओर वात्सल्य से उन्हें ओतप्रोत किये रखा और पत्नी-वियोग एवं बच्चों की मृत्यु ने उन्हें करुणाप्लावित कर दिया, वह प्रकट भले न हो, पर उनका अंतर तो अवसर-अवसर पर आंदोलित हो जाता। शास्त्री जी के पिताश्री ने अपने संयम और तप की जीवन-शैली से शास्त्री जी के जीवन को कठोरता से अनुशासित ही नहीं किया, अपितु उनकी समग्र कला-साधना को अनुशासित कर उत्कर्ष की ओर अग्रसर होने की क्षमता का विकास किया। पूर्व जन्मों के ऊँचे संस्कारों के कारण शास्त्री जी में जन्मजात प्रतिभा का रंगबिरंगा कोमल उन्मेष हुआ, उसको जीवन और कला के अनुशासन ने तराश कर स्पंदित किया, प्राणवत्ता प्रदान की।

शास्त्री जी की सारस्वत यात्रा में अनेक विद्यावर्तंस ज्योतिर्मय मील के पत्थर थे, जिनकी प्रेरणा-किरणों की ऊष्मा अब भी उनकी यादों में तिरती रहती है। मैगरा के ही निवासी विद्वद्वर गौरीनाथ पाठक वहाँ के आदिकवि और दधपा के प्रवास काल में ऋषिकल्प दामोदर मिश्र ने शास्त्री जी के प्राणों में विद्यानुराग की लालसा को और भी उद्दीप्त किये रखा। दधपा प्रवास में ही संस्कृत के धुरंधर विद्वान् हरिशंकर पाण्डेय ने शास्त्री जी की काव्यमय वाक्य रचना सुनकर तब १९३० में भविष्यवाणी की—यह किशोर जानकीवल्लभ महान् कवि होगा। इसके ललित वाग्विलास और उद्दीप्त प्रशस्त ललाट से इसी स्वर्ण विहान की झलक मिल रही है। मैं आज उस घोषणा के साठ वर्ष बाद सोचता हूँ उस क्रांत द्रष्टा, ऋषितुल्य हरिशंकर पाण्डेय की वाणी कितनी सच निकली! इस कठोर धरती के परत दर परत फोड़ कर उगते इस वाग्देवता के अंकुर की परख कैसे हो गई?

शास्त्री जी की यह अविराम यात्रा उन्हें एक नये पड़ाव पर ले आयी—वह था गया का शारदा निवास विद्यालय। विद्यालय के चारों ओर के पसरे खेतों में लहराती हरियाली, उनकी टहनियों पर झूमते रंगबिरंगे फूल, बगल में पहाड़ों पर लताओं, पेड़-पौधों के झुरमुट और कुंजों में

चिड़ियों का चहकना कितना मनभावन लगता था ! प्रकृति की सहज नयनाभिराम छवि ने अनमने मन के तारों को सहसा झंकृत कर दिया। वर्षों से जो भावनाएँ धुंधुआ रही थीं, अचानक लहक उठीं मीठी आग से और भाव लहरियों के साथ फूट उठीं कवि की सजल वाणी आर्यासप्तशती की शैली में—

स जयति रतिमिव नगपति-तनयां प्रणयागतां त्यक्त्वा
तपसा भृशं कृशांतां कांतां विदधान इशिग्नः ॥

वहीं थे सर्वशास्त्र विशारद पं० रामप्रसाद मिश्र, काशीवासी महामहोपाध्याय पं० देवी प्रसाद चक्रवर्ती जैसे विदुषामपि वरेण्य के समकक्ष और समानधर्मा, कुशल एवं मर्मी अध्यापक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी के। वे आभिजात्य संभ्रांत जीवन शैली के मूर्तरूप थे। जो भी साहित्य वे पढ़ाते सारे भाव और विचार एक साथ उनकी आँखों, रसोद्दीप्त मुखमंडल और रसनाग्र पर एक साथ शैलूषी की तरह समग्रता के साथ जीवंत रूप में रूपायित हो जाते। इन्हीं के चरणों में युवा होते शास्त्री जी ने महाकवि कालिदास की रचनाओं में लालित्य को, उच्चतर जीवन-लक्ष्यों की ध्वनि को हृदयंगम किया था। उन्हें यह अहसास पहले-पहल यहीं हुआ कि **'महाकवि कालिदास स्वयं काल प्रवाह में चिर-स्थिर संवेदनाओं के प्रामाणिक इतिहास हैं।'**

इन्हीं दिनों जब शास्त्री जी की सर्वतोग्राही प्रतिभा अपनी पंखुड़ियों को खोल रही थी कि वह परिवेश से ग्राह्य को परिपाक कर कुछ नया रूप दे सकें, डॉ० ईश्वरदत्त, दौर्गादत्ति शास्त्री जैसे तेजस्वी प्रेरक वाग्देवता का इनके काव्य-यात्रा-पथ पर अवतरण हुआ। वे शास्त्री जी की प्रतिभा से पहले भी प्रभावित हो चुके थे। पर आज तो जब उन्होंने कालिदास के एक श्लोक पर रस की चर्चा के प्रसंग में संस्कृत भाषा में ही धारा प्रवाह बोलते हुए अपनी विलक्षण भावयित्री प्रतिभा से दौर्गादत्ति शास्त्री को आह्लादित ही नहीं, विस्मय-विमुग्ध कर दिया तो लगा कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी की तब **'उनींदी काव्यचेतना'** अपने भविष्य के प्रति आश्वस्त ही नहीं, आस्थावान् भी हुई। वरना उसके मन में 'पोएटिक जर्म्स' तो बहुत पहले से रेंगते रहते ही थे। और जब 'शिवराज भूषण' पढ़ा तो एक प्रबल विश्वास की लौ लहक उठी कि 'अनछुए शिखर को छू लेना

मुमकिन न भी हो, तब भी एक चट्टान से दूसरी चट्टान पर कूद फाँद जारी रखना चाहिए।'

वह जागरण की अद्भुत प्रभात वेला थी राष्ट्रीय जीवन में। हर क्षेत्र में तुमुल कोलाहल था अतीत के अनुसंधान और पुनर्मूल्यांकन, वर्तमान के पुनर्निर्माण और संगठन तथा भविष्य के स्वर्णिम काल्पनिक विहान को लेकर। शास्त्री जी का प्रातिभ मन नवजागरण के मंत्रोद्घोष से आकुल था। उस युग की हिन्दी की माधुरी, सुकवि, शिक्षा, गृहस्थ, नवभारत और संस्कृत के सूर्योदय, सुप्रभातम् आदि सम्मानित पत्रिकाओं में अपनी रचनाओं द्वारा तेजी से प्रतिष्ठित होते गए 'मंदाक्रांता' की शैली में नहीं, शिखरिणी की सी द्रुत गति में। तब यहाँ के और काशी के भी कुछ गुरु नव्य काव्य की शैली में इतनी परिपक्व कल्पना की सरस वाणी-वीणा का 'तान' तानते देख, वह भी इस कच्ची उम्र में, विस्मयावेश में भौंचके ही नहीं, एकदम 'जड़' हो गए। इतना ही नहीं ईर्ष्या की आग भी सुगबुगाने लगी उनके दिलों में। पर उनकी यह कसक, यह अन्तर्दाह से न जाने कैसे शास्त्री जी की आन्तर प्रतिभा और भी धधक उठी! और आज भी जब ७६ की उम्र की डगर पर भारी कदम रखते अछोर मंजिल की सीढ़ियों पर चढ़ते जाते हैं, शान और आन से! तो भी उनकी रचनाओं में, वह कविता हो या साहित्य, कला की छिटकती चांदनी का कोई कोमल-सा जादुई स्पर्श से जीवंत सौम्य किरण, वह ईर्ष्या और डाह के आगे से किसी के दिल को जलाती नहीं, मुहब्बत और प्यार का, संवेदना और सौन्दर्य का पैगाम देती है। शास्त्री जी मनुष्य को मनुष्य के करीब लाने के रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के महान् मिशन ही नहीं, अपनी अंतरात्मा की उस आवाज को, रूह की रोशनी को अपनी शब्द-साधना से, पूरी शक्ति से उजागर कर रहे हैं। मैं कभी-कभी नहीं, प्रायः सोचता-सोचता केवल विस्मय-विमुग्ध ही नहीं होता, बल्कि उस तत्त्व की, उस विलक्षण धातु की खोज करना चाहता हूँ, नहीं, बेचैनी से तलाशता रहा हूँ—इस एक व्यक्ति को विधाता ने कद का जितना ऊँचा बनाया, दिल का उतना ही उदार भी। सविता देवता की सहस्र किरणों-सी इनकी प्रतिभा भी क्या सहस्रमुखी नहीं है? एक आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी ने अस्त होती संस्कृत कविता के नीलाकाश में 'काकली' के मधुर स्वरों के साथ प्रभात की विहाग रागिनी को झंकृत कर दिया। वे कवि हैं शिखर पर चमकते, वे संगीत के साधक हैं, वे जीवन स्वर के आरोह-अवरोह के प्रत्यक्ष भोक्ता,

व उपन्यास, कहानी, संस्मरण, गीतिनाट्यों के सिद्ध रचनाकार, साहित्य-सिद्धांत और समीक्षा के प्रौढ़त्व के प्रवर्तक, प्राच्य भारतीय विद्या में निष्णात महान् प्रवक्ता—यह सब एक ही 'नररत्न' में दिल की गहराई में उतरने वाली चमकती खूबियाँ हैं, पर दिल को छूने वाली उस जीवन-कविता की अनुगूंज को किन शब्दों में बयान करें, जिसको महसूस तो करते हैं हर क्षण, हमारे पास उस वजन का अंदाजे बयां कहाँ है कि उसको कलम पर उतार सकें। बिहारी ने कहा है कि चित्रकार किसी रूप लावण्य को अपनी तूलिका का स्पर्श दे कर हू-ब-हू उतारना चाहता है तो दूसरे क्षण उसमें और भी शोभा द्विगुणित हो जाती है। एक गुणगरिमा का रेखाचित्र अंकन करें, दूसरी मन को और मोहती ही चली जाती है तो मेरी वाणी मौन हो जाती है। ऐसे में मेरे मन में सरदार पूर्ण सिंह की वाणी बार-बार गूँजती है कि **आचरण की भाषा सदा मौन होती है।**

Lead him, O pray, not in the path of ease and comfort, but under the stress and spur of difficulties and challenges. Here let him learn to stand upto the stow; here let him learn compassion for those who fail.

शास्त्री जी उस कच्ची उम्र में बनारस आये, जो परिवेश और हिमालयी ऊँचे कदों से प्रभावित और अनुप्रेरित होती है। यों इससे (१९२८-३०) पहले वे दो बार क्वीन्स कालिज की परीक्षाएँ दे चुके थे, पर अब तो उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य भारतीय विद्या के महाविद्यालय में विधिवत् अध्ययन करना था। अन्नपूर्णा मंदिर के ब्रह्मचर्याश्रम में अस्थायी जगह मिली। उन ब्रह्मचारियों के बीच शास्त्री जी को रहना कुछ अजीब-सा लगता। ब्रह्मचर्य के तप का तेज जो किसी के समग्र व्यक्तित्व में चुम्बकीय आकर्षण पैदा करता है, वह उनमें कहीं शतांश भी नहीं था। हाँ, भिक्षाटन-वृत्ति के कारण दीनता का भाव उन्हें हमेशा धूमिल किये रहता।

ऐसे ही उहापोह में दशाश्वमेध घाट की सीढ़ियों पर शास्त्रीजी ने देखा एक संन्यासी को, अन्तर के दिव्य प्रभामंडल से दीप्त एक विलक्षण शांत, सौम्य मनुष्य। बरबस माथा चरणों में झुक गया शास्त्री जी का। पूछने पर कहा—मैं तो आपको जन्म-जन्मांतर से जानता हूँ। और वे थे अनिल वरण राय, अरविंद के जीवन-दर्शन के व्याख्याता। फिर तो शास्त्री जी उनके प्रेम पाश में बंधे उनके आवास पर गए। वहीं गीता की

'गहना कर्मण्वे गति' की घंटों गम्भीर चर्चा चली। अपनी मुफ़लिसी के, परेशानियों के इन दिनों में मार्ग-दर्शन चाहा। कैसे झेलें शास्त्री जी इस उदास जीवन को?

"अंजलि में प्राण रख कर आर्द्र स्वर में उनकी घनी पुकार सुनकर पसीजे और फूलों की घाटी जैसे महमह कर उठी।" आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी का काशी-प्रवास उनके जीवन-निर्माण, ज्ञान-क्षेत्र के प्रसार, ऊँचे कद के विद्वानों और चरित्रवान् महापुरुषों के प्रभाव और प्रेरणा की दृष्टि मामूली अहमियत नहीं रखता। यह कुछ ही वर्षों का प्रवास समूचे लंबे जीवन को गहराई तक प्रभावित करता चला गया है। इस बार जब वे काशी आए तो उससे पहले वे प्रसाद जी की 'स्वर्ग के खंडहर में' और प्रेमचंद की 'सोहाग का शव' शीर्षक कहानियाँ पढ़ चुके थे। हमेशा मन में द्वन्द्व उठता रहता कि वे अतीत की गुहार करें अपनी कलम से या मौजूदा जिंदगी के छींटों से अपने सृजनधर्मी मन रंग दें। प्रसाद और प्रेमचंद को रू-ब-रू देखने, बतियाने, सुनने और सुनाने का योग तो बाद में घटित हुआ। **लेकिन इन दोनों महान् कलाकारों के नाम-स्मरण और दूरदर्शन ने मन में संकल्प का दीप प्रज्वलित कर दिया कि अपनी कलम से हिन्दी को समृद्ध अवश्य करेंगे।** मातृभाषा हिन्दी के उत्थान का जो महायज्ञ चल रहा है, उससे अपनी रचनाओं की समिधाएँ ही नहीं, प्रतिभा का अमृत डालकर दीप्त और सुरभित करेंगे। **यह था एक महान् व्रत—एक युवा होते शास्त्री जी के अन्तर के प्राज्ञ कवि का। जमाने को देखना है कि इस शिव संकल्प को कहाँ तक चरितार्थ किया?**

शास्त्रीजी का प्राच्य भारतीय महाविद्यालय में प्रवेश हो गया और रुइया छात्रावास के चार सीटों वाले बड़े से कक्ष में जगह भी मिल गई। चाहे जिंदगी मुफलिसी की हो, गरीबी की हो, संघर्ष की हो, पहनने का एक कुर्ता भर हो और खाने को चना-चबेना और सोने को तख्त पर एक चटाई ही क्यों न हो! पर इन दुर्लंघ्य परिस्थितियों में भी युवा आचार्य जानकीवल्लभ का मन टूटा नहीं, वह शक्ति को संजोता रहा। काशी की अगाध विद्वद्मंडली की **'सुदीर्घ परंपरा के बीच अपने लिए स्वतंत्र और सही राह निकालना कठिन था,** शास्त्रीजी ने **इसी 'कठिन' कर्म की सतत साधना की।** उसके प्रति अपनी दृढ़ इच्छा शक्ति के साथ समर्पित हो कदम-दर-कदम अविराम उठाते रहे। तभी जीवन में वह शुभ मुहूर्त

उत्तरा जो कठोर साधना और तप के फलस्वरूप प्राप्त होता है। विश्वविद्यालय परिसर में रहते कुछ ही दिन गुजरे थे। शास्त्री जी को जो विद्वान् संबंधी काशी लाये थे, उनके मन में धर्म और अध्यात्म की तपोमूर्त्ति, प्राचीन और नवीन के पावन संगम, भारतीय संस्कृति के देवता स्वरूप पं० मदन मोहन मालवीयजी के पुण्यदर्शन के लिए उत्सुकता थी। उनका छोटा सा बंगला रुइया छात्रावास के निकट ही था। युवा होते शास्त्री जी के मन में भी उस युग के 'महापुरुषों में माउन्ट एवरेस्ट'-से, इस कवि मनीषी के रूप में ऐसे अमृतधर्मा काव्य की, सारस्वत साधना के पवित्र मंदिर का निर्माण किया। गंगा के पावन तट पर वेदों की ऋचाओं का भी गायन होगा, वेदों की ध्वनि दशो दिशाओं में गूंजेगी, अतीत का गौरवशाली भारत फिर जाग उठेगा। भारत के पुनर्जागरण की इस वेला में हरिद्वार (गुरुकुल कांगड़ी) से कलकत्ता (विश्वभारती शांतिनिकेतन) तक अनेक जगह विद्यामंदिरों में ज्ञान के दीप प्रज्वलित हो उठे। श्रेय-प्रेय की घंटियों की मधुर ध्वनि देश के पूरे परिवेश को प्रेरणा से अनुगूंजित और तरंगित करने लगी। पर मालवीयजी का यह विश्वविद्यालय तो सब से निराला था, अद्भुत था। यहाँ तो महामना मालवीय जी के चुम्बकीय आकर्षण से सारे भारत से प्राच्य और पाश्चात्य ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं के मूर्धन्य विद्वान खींचे चले आये थे। अध्ययन - अध्यापन, शोध अनुसंधान के क्षेत्र में जो प्रतिमान गढ़ रहे थे उनकी प्रेरणा के ज्योति-स्रोत तपोमूर्त्ति मालवीय जी ही थे। सो, शास्त्रीजी चल पड़े अपने संबंधियों के साथ उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त करने ही नहीं, जीवन की 'कठिन साधना' की इस संकटपूर्ण घड़ी में उनसे प्रकाश और प्रेरणा पाने की अमिट प्यास लिये।

महामना मालवीय जी के बंगले पर पहुँचे अहले सुबह। चारों ओर सूरज की सुनहली किरणें पेड़-पौधों, फूलों पर विभोर हो जैसे नृत्य करतीं। उधर मालवीय जी संध्या पूजा से तुरत उठे ही थे। बाहर सेठ जुगल किशोर बिड़ला प्रतीक्षा कर रहे थे और कमरे के भीतर भागवत चर्चा चल रही थी। वे उसमें एकदम डूबे हुए थे! अद्भुत था यह दृश्य! सहसा मालवीयजी की परखभरी दृष्टि प्रियदर्शी शास्त्री जी पर पड़ी और श्रीमद्भागवत का कोई श्लोक सुनाने को कहा। शास्त्री जी का मातृवात्सल्य-वंचित कोमल हृदय एक श्लोक के साथ छलक पड़ा—

क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं
पुत्रस्नेह स्नुत कुचयुगं जातकम्पञ्च सुभ्रू
रज्ज्वाकर्ष श्रम भुज चलत् कंकणौ कुण्डले च
स्विन्नं वक्रं कवर विगलन्मालती निर्ममन्थ ॥

[करधनी से कसा हुआ रेशमी लहंगा, दूध छलकाता उमगता आंचल । नेती खींचते, खनकते कंगन और डोलते कुण्डल । पसीने से भरा चेहरा । वेणी से खिसकते फूल । दही मथती हुई माता यशोदा ।]

यह मनभावन चित्र भारत के मध्यवर्गीय परिवारों में तब भी जीवित था । शास्त्रीजी ने बचपन में अपनी माँ का यह जीवंत चित्र देखा था । उसी छायाभास का कोमल भाव पुनः उनकी रसना पर हृदय को छूता हुआ उतर पड़ा । मालवीय जी श्लोक का भाव, शास्त्री जी की भाव विह्वल स्वर माधुरी को सुनकर मंत्रमुग्ध हो पूछ बैठे—यही श्लोक तुमने क्यों सुनाया ? शास्त्री जी ने रुंधे हुए स्वर में कहा—इसमें मेरी माँ की छवि दिख जाती है और आँखों से आँसू ढल-ढल गिरने लगे । बस, मालवीय जी शास्त्री जी की करुण मुखमुद्रा को अपलक निहारते ही रहे ।

तभी उस सन्नाटे को तोड़ते हुए लक्ष्मण पंडित जी ने कहा–इनकी माँ नहीं हैं । जब थी तो मथानी का यह काम नित दिन किया करती थी । सो वही 'छवि' इनकी रसना पर उतर आयी । पुज्य मालवीय जी भावार्द्र हो उठे ।

महामहोपाध्याय पं० रामावतार शर्मा की विद्वत्ता की चर्चा करते हुए कहा–पढ़ने आए हो तो एम० ए० और आचार्य दोनों की डिग्रियाँ ले जाना । मुझे लगता है, तुम में प्रतिभा और दृढ़ इच्छा शक्ति भी है । तभी मालवीय जी ने सावधान करते हुए कहा–देखो अभी शादी न करना । शास्त्री जी यह चेतावनी सुन रो पड़े । लक्ष्मण पंडित जी ने कहा—शादी तो चार साल पहले हो चुकी । मेरे ही दामाद होते हैं । फिर तो महामना एकदम विषादमग्न हो बोले—It's a pity । और शास्त्री जी की ओर देख कर बोले—It does not matter. Don't worry. लगा जैसे सारे स्वप्नों पर तब परिस्थिति व्यंग्यपूर्ण बौछार के साथ खिलखिला रही थी । दुखी हो शास्त्री जी उठे और महामना के चरणों में माथा टेक दिया । उन्होंने असीसते हुए कहा–'ऐसे नहीं, भागवत का एक और श्लोक सुना कर जाओ ।'

भागवत शास्त्री जी का परम प्रिय ग्रंथ तो न था, पर अपने पिताश्री से भागवत कथा सुनते-सुनते उनके श्लोक तो जिह्वा पर रहते ही थे, सो भागवत का एक और चित्र शास्त्री जी के मधुर कंठ से स्वर यों फूट उठा—

> मल्लानामशनिः नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
> गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
> मृत्यु भोजयते विराड विदुषां तत्त्वं परं योगिनां
> वृष्णीनां परदेवनेति विदितो रंगं गतः साग्रजः ।

'श्याम' जब 'बलराम' के साथ कंस के दरबार में 'एकोऽहं बहु स्याम' की भूमि की भूमिका में रंगमंच पर पहुँचे तो उपस्थित जन समुदाय ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार देखा उन्हें। यही भावभूमि इस श्लोक की कितनी प्रासंगिक हो गई, जब स्वयं मालवीय जी स्वाधीनता के संघर्ष में अपने को गहराई से जोड़े हुए थे १८८५ से ही। और तब तो सत्याग्रह में जेल भी हो आए थे। **'मालवीय जी के दाडिम के दानों से चमकते दांत मीठी मुसकान में आशिष का 'अमृत वरदान, घोल रहे थे।' मालवीय जी ने माथा छुआ । पीठ थपकी !**

साथ के पंडितों ने मालवीय जी के चरणों में श्रद्धा-सुमनों की मालाएँ अर्पित कीं और जीवन की सही राह की, लक्ष्य की तलाश के लिए दृढ़ हृदय युवा शास्त्री ने काशी में तपोलीन कश्यप ऋषि के चरणों में आँसुओं का अर्घ्य अर्पित किया आगे अनेक बार।

शास्त्री जी का अंतर्मन एक संकल्प से प्रतिभासित हुआ—वह पढ़ें तो ऐसा कि जो रक्तमज्जा में घुलमिल जाय। विद्या रसनाग्र नर्तकी ही न रहे, भावों और विचारों का सौरभ हर प्राणोच्छ्वास से अहर्निश उठता रहे। वे चाहते थे कि खिले-अधखिले फूल उनके मन के वन में हर पहर लहरते रहें। शास्त्रीजी बहुत ही कठिन परिस्थितियों से जूझते, सघन अंधेरे को चीड़ते हुए अपने जीवन पर बढ़ने के लिए कृतसंकल्प बने रहे हैं। कभी उन्होंने अंधकार को, हार को स्वीकार नहीं किया।

यों शास्त्री जी का काशी-प्रवास उनके जीवन-निर्माण का, जीवन-दृष्टि के विकास का महत्त्वपूर्ण कालबिंदु है। यहीं इस अल्प अवधि में महामना पं० मदन मोहन मालवीयजी महाराज, प्रसाद, प्रेमचंद, निराला और

नंददुलारे वाजपेयी जैसे कृतविद्य एक ओर तो दूसरी ओर वामदेव मिश्र, महादेव शास्त्री, गोस्वामी दामोदर शास्त्री, महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र, महामहोपाध्याय पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण भट्टाचार्य प्रभृति जैसे उस युग के प्रकांड पण्डितों के श्री चरणों में बैठ कर उनके वाग् वैभव के तार को हृदय ने सुना, गुना और तब पचा कर, रसा कर उस मूँछ उठावन उम्र में ही 'काकली' जैसी अपनी पहली काव्यकृति देवभाषा में वे प्रस्तुत कर सके। उस बीते युग और शास्त्री जी के समग्र व्यक्तित्व के निर्माण और विकास की पगडंडियों की छानबीन करते हैं तो ऐसा लगता है—इन महान् आचार्यों में से किसी ने शब्द-विद्या, किसी ने साहित्य-विद्या, किसी ने वेदांत के गहन चिंतन, किसी ने काव्य सृजन की चेतना, किसी ने कविता के लालित्य तो किसी ने वाग्वैदग्ध्य के रंग, अपनी-अपनी सोच-समझ, अपनी तात्त्विक दृष्टि और किसी ने अपनी भाषा के परिष्कार तो किसी ने अपनी गहन ज्ञान-किरणों से इस व्यक्तित्व को गढ़ने, वैलक्षण्य को मँढ़ने, प्रतिभा को निखारने, कल्पना को सँवारने में अहम् भूमिका निभायी, जैसे प्रजापति देवता पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश के अद्भुत योग और अलग से प्राणों का संस्कार शिशु की रचना में करता है। सो इन गुरुओं, नहीं परम गुरुओं ने शास्त्री जी जैसे निराले व्यक्तित्व को विकसित होने में, उनकी प्रतिभा को और भी चमत्कृत करने, अनुभूति को संपन्न करने में अवदान दिया, इस युग के संस्कृत और हिन्दी भारती को, चिंतन और दर्शन को उसके विराट् दाय का मूल्यांकन क्या शब्दों से संभव है ? नहीं, उस महान् अवदान के सामने मेरी वाणी मूक हो जाती है। शास्त्री जी कवि तार्किक चक्रवर्ती पं० महादेव शास्त्री के चरणों में वर्षों आते-जाते रहे पर उनकी विद्वता की उन्हें थाह नहीं लगी। हाँ, उनकी 'अमृत छाया' में बार-बार जाने पर लाभान्वित तो हुए, पर वह लाभ पद, धन और यश का नहीं, अपितु उस लाभ का, जिसे पाने पर कुछ भी पाना नहीं रह जाता, भूमा का, मधुमती भूमि की आनन्दमयी अनुभूति ही संपूर्ण जीवन को अभिभूत कर लेता है। पण्डित महादेव शास्त्री जी स्वयं मर्मी कवि थे, उन्होंने जब 'काकली' पढ़ी तो उनकी उल्लसित वाणी फूट पड़ी, जिसमें 'नील कंठ' जैसे महाकवि से शास्त्री जी की काव्य प्रतिभा की तुलना वाग् वैदग्ध्य पूर्ण शैली में की गयी थी—

"गोविंदो गोर्नविद: कविरकविरसौ नील कंठोपकंठ:
सत्काव्योल्लास लीला कलित कलकले 'काकली' कोकिलेऽस्मिन्"

शास्त्री जी ने छह वर्षों तक काशी में साहित्य, वेदांत और व्याकरण आदि जैसे गूढ़ विषयों को पढ़ा, समर्पण भाव से पढ़ा। पहले से तो पढ़ते ही आ रहे थे। बारह वर्षों के अध्ययन ने, गुरु चरणों की भक्ति ने एक अजीब व्यक्तित्व को तराश-तराश कर परवान चढ़ाया। असीम साहस का संचार किया जिंदगी के तूफानों में, ऊँची लहरों में भी वे हिम्मत न हारे !

गोस्वामी दामोदर शास्त्री तो उद्भट विद्वान् थे अत्यन्त समृद्ध जीवन शैली में जीने वाले विद्यावतार। वहाँ प्रवेश मिल नहीं रहा था। सीधी-सादी वेशभूषा के बल पर दो पंक्तियों की आशु कविता भेजी तो वे दौड़े हुए आए जिज्ञासु कवि का स्वागत करने। वे पाठ्य पुस्तक देख कर नहीं पढ़ाया करते थे। शास्त्री जी इस शैली से बहुत प्रभावित हुए और जब मुजफ्फरपुर के संस्कृत कालेज में पढ़ाने आए तो इसी उत्कृष्ट शैली में पढ़ाते रहे। शास्त्री जी के पढ़ाने का अर्थ ही कुछ और अनिर्वचनीय होता है। उसमें अपनी समस्त साधना और वैसे महामहोपाध्याय पं० बालकृष्ण मिश्र, पं० प्रमथनाथ तर्कभूषण आदि जैसे भारत विख्यात् विद्वानों के प्रसाद का प्रकाश होता जो अन्तरात्मा को आलोकित करता ! शास्त्री जी के गुरुओं की पुण्य कथा के क्रम में कवि गुरु रवीन्द्रनाथ ठाकुर का वह आर्ष वाक्य बार-बार मेरे स्मृति-पट पर कौंध-कौंध जाता है—

A teacher can never truely teach unless he is still learning himself. A lamp can never light another lamp unless it continues to burn its own flame.

कैसे थे वे प्रज्ञा से प्रभासित वंदनीय गुरुजन, जिन्होंने अपने आत्मतेज को, उदात्त वाग्वैभव के संस्कारों को, युवा शास्त्री जी के अन्तर्मन की लौ को सतत प्रदीप्त किये रखा—केवल शास्त्र-ज्ञान की अग्नि से ही नहीं, जीवन-पथ पर आती चुनौतियों का सदा सामना करने की अदम्य प्रवृत्ति और जाग्रत शक्ति का। और उनके चरित्र में यह कैसा सौरभ था कि प्रतिभा का उन्मेष जब वे अपने अन्तर्वासी की तीव्र मेधा में देखते तो सराहना करते, प्रोत्साहना करते उनकी वाणी विराम न लेती। महापण्डित कालिप्रसाद मिश्र रुइया छात्रावास के अध्यक्ष थे। 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित नयी रचना पर मुग्ध हो बुला कर पीठ थपथपायी और कहा—अरे कितना अनवद्य है पद्य तुम्हारा ? अद्भुत गति है इसमें ! वह यों है—

अपि कालिदासस्य कलयेयम् ।
किं कलयेयं किं कलयेयम् ?

श्रव्यं लोचन रोचन काव्यम्
दृश्यं प्राणाञ्जलि पुटपेयम्
किं कलयेयम् ? किं कलयेयम् ?
× × ×
तिमिर विलोकय रक्तालोकम्
मधुकर कुलमिव रक्ता शोकम् ।

इस छंद की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा—यह सब तो 'गंगवारि मनोहारि' है, पर तुम्हारा तीसरा पद्य 'इंदिन्दिर, विंदसि मकरंदम्' के प्रयोग पर अपनी शंका की बात जब कही और इस युवा अध्येता कवि ने स्पष्टीकरण किया तो मिश्र जी हर्ष-गद्गद् हो उठे। वास्तव में शास्त्री जी का काशी प्रवास कुछ ऐसा ही था। जिस नीर क्षीर विवेकी विद्वान् गुरु की सेवा में प्रस्तुत होते, वहाँ से अतिशय विश्वस्त प्रशस्तियों की गुदगुदी लिये लौटते ! **अभी तो अनुपमा माँ का बिरवा दो पत्ते का हुआ नहीं कि देखने वाले उसमें रंगारंग फूल और अमीय भरे फल देखने लगे और युवा कवि की वाग्-बागवानी की सराहना में वचनामृत बूंदों का प्यार और आशीर्वाद की वर्षा शुरू कर दी।** ऐसे ही एक गुरु थे शास्त्री जी के प्रो० सीताराम जयराम जोशी 'जिनकी वरदानी दृष्टि से चंदन-चर्चित अर्चियां निकलीं', उन्होंने शास्त्री जी के सृजनधर्मा प्राणों को बार-बार आशंसा कर प्रदीप्त किये रखा। जोशी जी के अनुरोध पर शास्त्री जी ने यह कविता सुनायी—

वृन्दाव नेऽ वाऽ दिऽ ताऽ वंऽ शीऽ
गता ऽत दाऽनीम् दूऽरतरमहम् ।

इसे सुनकर भावविभोर हो जो आशंसा मदुमंद स्वरों में जोशी जी ने की, वह अब भी जब शास्त्री जी हर दृष्टि से प्रौढ़त्व के प्रकर्ष-शिखर पर हैं तो भी 'अब तक असीम-विस्मय के क्षणों में गूंजती रहती है।' शास्त्री जी कभी-कभी सोचते हैं—**वे उनकी आशा के अनुरूप अपना साँचा न तलाश सके। अमंगल पर विजय पाने में ही सब के सब मांगलिक शब्द चुक गए। नहीं, शास्त्री जी की शब्द-साधना जब से आरंभ हुई और अविराम भाव से आज भी जारी है कि वह सत्य की तलाश करते, शिव**

की साधना करते और चिरसौन्दर्य के शाश्वत मधुसंगीत से जीवन के तारों को झंकृत करने में ही सहज भाव से समर्पित रही है। वह भला चुकेगी कैसे ? वह तो बहुत पहले ही अपने आदि गुरु पिता–से 'अनादि निधन, ब्रह्म, अक्षर, शब्द, तत्त्व के चिन्मय प्रकाश के प्रति समर्पित रहे। यह जो साधना है शास्त्री जी उसमें नाद के माधुर्य के साथ आत्मतेज का गौरव भी कम नहीं है।

कच्ची उम्र में भी शास्त्री जी महत्त्वाकांक्षाओं के बवंडर में यहाँ-वहाँ प्यासे भटकते न फिरे। देश के मूर्धन्य विद्वानों के चरणों में रह कर उनकी बौद्धिक क्षमता उत्तरोत्तर विकसित होती गई। यह समझदारी बढ़ती गयी कि कहाँ प्रतिभा का विलास है, कहाँ मनीषा की गहनता है और कहाँ अथाह वैदुष्य है। जब दुर्गम विषय सुगम हो जाते तो भौतिक जीवन की कठिनाइयों की जरा भी चिंता न होती। यही इस काल की महत्तर उपलब्धि थी।

महत्तर विद्यासाधना का तप जहाँ उत्तरोत्तर उग्र होता चला है, शिव की नगरी काशी में वहीं-कहीं हृदय के कोमल मधुर सपने भी अंगराइयाँ लेते दिखाई देते हैं शास्त्री जी के उन दिनों के जीवन-काल में। अन्तर्मन में द्वन्द्वों की लहरें उठतीं-गिरतीं और आकुल हो ओठों पर फूट पड़ती गीत के रूप में—

ऐसे में कैसे कोई, बांधे आँखों की पांखे।
जाने कब स्वन बन जाएँ साँसे बाँसों के मन में॥

शास्त्री जी के अंतर्मन की ध्वनि की अनुगूँज 'काकली' में बहुत साफ सुनाई देती है। इसके रूप और प्रकार का निर्धारण भी एक चुनौती ही है। उसे गीतगोविंद की भक्ति-शृंगार परक काव्यधारा के समानांतर माना जा सकता था, क्योंकि शास्त्री जी के आत्मपरक इस गीतिकाव्य का संगीत कुछ अपनी विशिष्ट प्रकृति के कारण उससे भिन्न और स्वतंत्र भी था। पारंपरिक रसवाद की सीमाओं में उसकी गीत-लहरियों को बांधा नहीं जा सकता था। छायावाद की कुहेलिका अभी पूरी तरह साफ नहीं हुई थी। इसलिए प्राचीन और नवीन गीत प्रवृत्तियों से भिन्न काव्य सरणि थी शास्त्री जी की, जो काकली के मर्मर स्वरों से उठ रही थी। यह स्वर एकदम उनका अपना था। संस्कृत में, छायावादी शैली में रचित काकली का पंचम राग मानो 'प्रथम रश्मि' का रंगारंग

उदय था। इस काव्य-चेतना की रश्मि का प्रसार हो ही रहा था कि शास्त्री जी का अंतर स्वाधीनता के आंदोलन से भी उन्मथित हो एक और प्रशस्त काव्य-कृति की रचना की ओर प्रवृत्त हो गया। नाम था **बंदी मदिरम्। एक देशभक्त की हृदय-द्रावक करुण कथा।** मेघदूत के मंदाक्रांता छंद में एक सौ इक्यावन सरस श्लोकों के इस काव्य में समकालीनता की, देश के दुखदर्द की बड़ी प्राञ्जल अभिव्यक्ति हुई है। यही नहीं, देश में ही नहीं, समस्त विश्व में तब क्लासिक, रोमांटिक और लिरिक काव्य रूपों की मिलीजुली लहरें उठ रही थीं, उनका प्रतिफलन अनजाने अनायास ही हो गया इन ताजा टटके काव्यों में। वह तो शास्त्री जी के वय के अनुरूप उनके कोमल करुण भावों का गुञ्जन था कितना उन्मन !

स्वर्गे नृत्यन् नयन पशवः प्रेष्यमाणाः पुरस्तात्
आशांसंते सर लघुतरं साध्वेनाधुनेति ।

मनीषी गुरुजन ऐसी मधुर गिरा को सुन कर अपना हर्षोल्लास प्रकट करते थे, तब यह कविकर्म खुद को फीका कैसे लगता ?

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के जीवन की अन्तर्धारा में एक बड़ी हलचल की भूमि तैयार हो रही थी। संस्कृत में कविता कर के ही आत्मतृप्ति का बोध नहीं हो पा रहा था। उन्हें लगा कि उनकी प्रतिभा का विराट् क्षेत्र उनकी अहम् भूमिका की प्रतिक्षा में है। यह सोच उनके मन में उभर रहा था। काशी में रहते हुए प्रसाद और प्रेमचंद-से विराट् व्यक्तियों के दर्शन की मंगल भावना, इस साहित्य-साधना के महातीर्थ के देवाधिदेवों के निकट जाकर प्रेरणा-किरणों से अपने को स्पंदित करने की तमन्ना थी। रुइया होस्टल में प्रवेश से पहले ही प्रसाद जी के पुण्यदर्शन के लिए शास्त्री जी निकले थे। दर्शन भी हुए पर दूर से। 'आँसू' के कुछ अंशों का भावविभोर हो पाठ करने, देखने-सुनने का संयोग भी मिला था, उस युग के रससिद्ध कवीश्वर जगन्नाथ दास रत्नाकर जी के श्राद्ध में। पर एक पल्लवित-पुष्पित होते कवि की इतने से ही साध कैसे पूरी होती ? मन में मथन चल ही रहा था कि इस काशी-प्रवास के तीसरे वर्ष (१९३५) में यह शुभ संयोग उपस्थित हो ही तो गया। वे प्रसाद जी से मिल कर प्रेरणा पाने के लिए अपनी प्रतिभा की पंखुड़ियाँ खोले आकुल प्रतिक्षा कर ही रहे थे कि अघटित घटना घट गई।

रुइया होस्टल के चार सीटों वाले एक कक्ष में एक सीट पर शास्त्री जी तब रहा करते थे। तख्तों पर चटाई बिछी थी। शास्त्री जी उनमें से एक चौकी पर बैठे चने के दाने मस्ती से अपने मुँह में डाले जा रहे थे। एक ओर एक टिनही टूटी-सी कुर्सी पड़ी थी। इतने में दो जनों ने कमरे में प्रवेश किया। साधारण डील डौल के स्वर्ण-वर्ण-से दीपते, रक्ताभ मुख पर चश्मा लगाए और दूसरे थे विशाल ग्रीक मूर्त्ति-से आजानबाहु, अपने कद की ऊँचाई से छत को भी छूते-से करुणामूर्त्ति महाप्राण निराला! एक उन्नीस वर्ष के युवा कवि से मिलने, उसकी प्रतिभा से विस्मित हो आशीर्वाद के अभिषेक से सींचने कि पुष्पित हो, सुरभित हो वह चहुँ ओर। कहाँ क्षितिज पर बहुत दूर उगता, हिन्दी का एक भविष्य, एक कवि और कहाँ निराला जी की हिमालय-सी ऊँचाई! पर नहीं, निराला का बड़प्पन इसी में नहीं था कि छायावादी काव्यधारा के चार प्रमुख प्रवर्तकों में थे और उनकी बहुत-सी कविताओं में मनुष्यत्व की कोमल संवेदनाओं के स्वर फूटते थे। मनुष्य की, कवि-दृष्टि की अद्भुत परख थी उनमें। फिर तो आजीवन शास्त्री जी को निराला जी ने अपने अहैतुकी स्नेह और आशीर्वाद के कोमल, महीन धागों से बांधे ही रखा। उत्तरोत्तर उनके जीवन और काव्यधारा की अमृत ज्योति से प्रभावित होते चले गए। पर सच बात तो यह है कि निराला जी अपने देवोपम व्यक्तित्व, व्यवहार, विचार-चारुता और उत्कट वात्सल्य के कारण प्रथम दर्शन के दिन से शास्त्री जी के गुरु गोविन्द हो चुके थे। उनमें उन्हें कभी परमहंस, रामकृष्ण और कभी विवेकानन्द की विभूति के दर्शन होते। और मन में कातरता के भाव के बदले स्वाभिमान के मौलिक भाव को और भी तो प्रज्वलित उन्होंने किया था। उनके सिवा प्रेरणा के उज्ज्वल बिंदु से कौन उत्साहित करता?

"कैसे काज ह्वैहें! हाय, बात सब बूड़ि जैहें
कादरता, ऐसी कभी, भूलि हू न करिए!
..................काहू के न जाय पाँव परिए!"

मन में ऊर्ध्वमुखी चेतना की लौ तो जल ही रही थी, शास्त्री जी की अंत:प्रज्ञा में इस महामानव निराला ने अपने पारस-स्पर्श से और भी प्रदीप्त कर दिया कि 'साधना करो शब्द की, अर्थ की, साहित्य की, तन-मन की, कठोर श्रम रहे तुम्हारा संगी। जीवन की सुख-सुविधा के लिए आत्महनन कदापि इष्ट नहीं। यही था वह बुद्ध का आत्मदीप, आत्म-

निर्भरता और आत्मविश्वास की ज्योति ! फिर कहा–खुद अपनी राह को तलाशो और रूह की रोशनी से रोशन करते पग-पग बढ़ो। छलांग न लगा सको तो उसका कोई मलाल नहीं, पर चलते चलो।

निराला जी शास्त्री जी के कला-सृजन के लिए आकुल मन-प्राण को कितना चाहते थे। वे खुद ही अनेकों बार शास्त्री जी को वाग्देवता प्रसाद जी के पास ले गये। इनसे इनकी कविताएँ सुनवायीं। वहाँ की देवसभा-सी काव्यगोष्ठियों में सहभागी बनाया। नागरी प्रचारिणी सभा में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त का स्वर्ण जयंती समारोह आयोजित था। मंच पर स्वयं महाकवि जयशंकर प्रसाद, महाप्राण निराला, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पं० लक्ष्मीनारायण मिश्र, कुंवर चंद्रप्रकाश जैसी तद्युगीन विभूतियाँ विराजमान थीं। शास्त्री जी को निराला जी ने पार्श्व में बिठाया। इस समारोह के प्रथम वक्ता थे स्वयं निराला जी। अपना ओजस्वी भाषण समाप्त करते-करते उन्होंने मंच पर से घोषणा कर दी–अब मेरे बाद आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री संस्कृत में प्रस्तुत विषय पर भाषण देंगे। सभामंच और श्रोता सभी स्तब्ध ! यह कौन है, जो संस्कृत में भाषण देंगे ! पर शास्त्री जी बिना किसी संकोच के उठे और संस्कृत में ही ऐसी ललित भावपूर्ण शैली में बोले कि लोग मंत्रमुग्ध हो सुनते रहे। भाषण समाप्त कर अपने आसन पर लौटने लगे तो **प्रसाद जी की आँखों से प्यार और आशिष बरस रहा था और निराला जी के ओठों पर प्रशंसा की स्मिति थिरक रही थी, कितनी मधुर।** काशी-प्रवास काल में ज्यों-ज्यों शास्त्री जी साहित्य-साधना में समर्पित होते गए, हिन्दी के इन मूर्धन्य त्रिदेवताओं का सान्निध्य बढ़ता ही गया काशी में रहते हुए बार-बार प्रसाद जी से प्रेरणा और आशीर्वाद का सौभाग्य पाते। एक दिन ऐसा योग बैठा कि निराला जी प्रसाद जी के यहाँ शास्त्री जी को लिये पहुँचे। निराला जी ने 'तुलसीदास' शीर्षक छह सौ पंक्तियों का काव्य सस्वर सुनाया और प्रसादजी ने 'कामायनी' की पांडुलिपि से पूरा एक सर्ग सुना डाला। एक ऐसा समाँ बँध गया एकाग्रता और चरम शांति का; फिर शास्त्री जी को कभी देखने को न मिला।

मैं बरबस सोचता हूँ–कि शास्त्री जी हिन्दी के काव्य पुरुष और इतिहास पुरुष है। जिन महामानवों और घटनाओं ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को गढ़ा और सँवारा और प्राणों की आहुति देकर जीवन-साहित्य

की ज्योति जलाई, उन तमाम के प्रत्यक्ष द्रष्टा और भोक्ता भी थे। १९३२–३७ के ये वर्ष शास्त्री जी के जीवन के ही नहीं, हिन्दी के उत्कर्ष के सुनहले दिन थे। प्रसाद, निराला और प्रेमचन्द का यह 'त्रिक्' हिन्दी को नसीब न हुई।

निराला जी ने मुखर होकर शास्त्री जी को १९३५ में ही कहा था-संस्कृत के लिए न प्रेस है न प्लेटफार्म। आओ अपनी जन्मजात प्रतिभा से हिन्दी जो जगमगा दो। हिन्दी-संस्कृत को करीब लाओ। सो शास्त्री जी ने तभी से अपने जीवन के लक्ष्य का संधान किया और साधना शुरु हो गई। लिखने लगे, गीत गाने लगे मधुर स्वरों में। पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएँ भी प्रकाशित होने लगीं। शास्त्री जी के व्यक्तित्व और कृतित्व की तब निर्माणावस्था थी वह। इस रचना प्रक्रिया की यात्रा में उनकी दृष्टि कभी प्रसाद-प्रेमचंद की ओर जाती, कभी निराला की ओर। प्रसाद अतीत के अंधकार में से प्रकाश को काढ़ लेने के काम में सर्वात्मना समर्पित थे। प्रेमचन्द और निराला सिरजते जा रहे थे 'कफन' और 'चतुरी चमार' जैसी दर्द भरी कहानियाँ। शास्त्री जी सोचते किसकी भाषा जोरदार है? बहुत असमंजस से जूझ रहा था उनका अन्तर-मन चिंतन और शैली की दृष्टि से ही नहीं, समग्र जीवन की चुनौतियों को स्वीकार करने के लिहाज से भी! शास्त्री जी के अन्तर का रचनाकार उस विश्वास के शालिग्राम की तलाश में था जिसको अपनी समस्त श्रद्धा अर्पित करें–प्रतिभा और प्रेरणा की। और तभी दैवयोग से निराला जी जैसे ऊँचे कद के महापुरुष मिल गए। वे चिंताधारा के 'विराम' बन गए। निराला जी की स्नेहिल छाया ने शास्त्री जी को आनंद की अमृत लहरियों में निमग्न कर दिया। द्वन्द्व की उस वेला में मानों निराला जी ने स्वीकृति की मुहर लगा दी। शायद जनम-जनम से जानते थे वे कि शब्द-कर्म की साधना का पथ कौन-सा है, पर निराला की मर्यादित गंभीरता ने सही कर दी कि 'राम' में वह 'शक्ति', तेज विच्छुरित हो। 'कबीर' की नब्ज को पहचानने वाला हृदय की वेदना को सुनने वाला गुरु का पारस-स्पर्श मिल गया कि 'सोना' हो सके वह।

वेदान्ताचार्य के छठे वर्ष में थे तब शास्त्री जी। बहुत छोटे अंतराल (१९३६) के लिए जीविका की तलाश में मन-पंछी उड़ता-उड़ता लाहौर तक गया, तो पुनः काशी नगरी में हो वापस। २०-२१ की आयु के युवा शास्त्री के प्रखर पांडित्य, विलक्षण वाग् वैदग्ध्य, कवित्व की चारुता की

ख्याति चहुँ ओर आप से आप फैलती जा रही थी। फूलों की सुगंध आप से आप चहुँ ओर फैलती जाती है। रायगढ़ के राजा को 'कविराज' की नहीं, 'राजकवि' की जरूरत थी, जो अपनी संस्कृत और हिन्दी कविता से, गीत-संगीत से और प्रातिभ आशु कवित्व से राजसभा का अनुरंजन करे, उसकी शोभा को चार-चाँद लगाए। छायावादी काव्य-धारा के अग्रणी पं० मुकुटधर पांडेय ने ऐसे अद्‌भुत कृती, कवि और विद्वान् की तलाश में उस युग के विद्यावतार महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र की सेवा में हाजिर हो, अपना निवेदन प्रस्तुत किया, तो उनके सारस्वत रसनाग्र पर एक ही नाम आया वाणभट्ट—से कवि और विद्वान् आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का! कहाँ कठोर साधना का जीवन रुइया छात्रावास का और कहाँ वैभव-विलास की छाया में संपन्न सुखी जीवन! क्या स्वीकार करें? "क्या इस प्रस्ताव को स्वीकार कर कठोर तप के परिणामस्वरूप बिलंब से ही प्राप्य श्रेय रूपी फल की प्रतीक्षा न कर अधीरता से प्रेय रूपी 'फूल' को ही तो नहीं पकड़ लिया? यह द्वन्द्व मन को कुरेदता ही रहा था तब।" इक्कीस की अल्पायु में रायगढ़ शास्त्री जी पहुँचे। लगभग एक-डेढ़ साल का अत्यल्पकालीन प्रवास, पर वहाँ के वातावरण ने युवा शास्त्री जी की प्रतिभा को निखारा और खूब निखारा। वहाँ संगीत, नृत्य और नाट्य का मधुमय वातावरण सदा मुखरित और स्पंदित रहता। महाराजा प्रतिभा की जांच के बहाने रसानन्द में निमग्न हो जाते! महाराजा ने एक मनमोहक गीत की लड़ी—

'जब जरा गर्दन झुकायी देख ली'

गुनगुनाते हुए कहा—कविवर! इसे संस्कृत में हू-ब-हू उतारो तो जरा—शास्त्री जी का कवि फूट पड़ा—

प्रतिग्रीवा भंगं नयनसुख संगं जनयति!

ऐसे ही संगीत और नृत्य के वातावरण में एक दिन एक सिद्ध गायक ने ठुमरी गाई—

बांके नैना रसीले ने जादू कियो

सारा दरबार संगीत की लहरों में झूम रहा था। शास्त्री जी से महाराज ने कहा—इसी लय में इस ठुमरी को संस्कृत में उतारिये। शास्त्री जी की संगीत-सिद्ध रसना पर यह बोल फूट पड़ा—

बंक नयनेन मे मानसं मोहितम्।

इस तरह रायगढ़ में शास्त्री का जीवन-साहित्य संगीत में ढलता गया, जीवन-संगीत साहित्य में सिमटता रहा। असल में शास्त्री जी को बचपन से ही संगीत में नैसर्गिक रुचि थी। बचपन में एक बार उन्होंने "अच्युतं केशव रामनारायणं कृष्ण दामोदरं वासुदेव हरिम्" जैसे गीतपंक्ति पहाड़ी रागिनी के धुन में गायी थी। पर वह कैसे शुद्ध रागिनी में बिना किसी पूर्व शिक्षा और अभ्यास के गा सके यह एक सहज रहस्य है। मुझे लगता है किन्हीं अलक्ष्य पूर्व संस्कारों के कारण शास्त्री जी की अन्तर्चेतना में गीत-संगीत की राग-रागनियां अनहद नाद की तरह गूंजती रहती है। अनेक बड़े साहित्यिक आयोजनों पर बिना पूर्व सूचना के महादेवी और निराला जी के गीतों को शुद्ध राग-रागिनी में बाँध कर गाया तो सुसंस्कृत श्रोता आनंद से थिरक उठे। इसीलिए मैं सोचता हूँ कि शास्त्री जी जब—

'प्यास तुम्हारी कंठ-कंठ में, रूप तुम्हारा नयन-नयन में' या 'जिन्होंने हो तुझे देखा, नयन वे और होते हैं' या 'गागर भरने की बेला हौले बीती जाती है' जैसी गीति-लहरियाँ उनकी स्वर साधना पर किस सहृदय के मन-प्राण को झंकृत नहीं कर देती। यहाँ मैं यह कहना चाहूंगा कि शास्त्री जी का कवि गाता है, उनके कवित्व में संगीत लहराता है, और गीत में केवल सुरों का बहार ही नहीं होता, उसमें जीवनसंगीत का प्राणोन्मादक कोमल स्पर्श भी होता है। किसी आलोचक ने लिखा—उनके कवि को उनका गायक कभी-कभी आच्छन्न कर लेता है। वहीं उनकी दो प्राण धाराएँ हैं, कवित्व और संगीत की आरोह-अवरोह पूर्ण मूर्च्छनाएं, जीवन की गति की लय के सर्वथा अनुरूप हैं। सच्चे कवि हैं और शुद्ध गायकी के साधक भी। उन्होंने निराला और बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को आनन्दमग्न हो अपने गीतों को गाते देखा, सुना और उस स्वर माधुरी में डूब गये। रायगढ़ में यह जीवन का लघु अन्तराल शास्त्री जी की जीवन यात्रा में एक ऐसा मोड़ है, पड़ाव है जहाँ उन्होंने अपनी जाग्रत चेतना के लिए आकुल-व्याकुल कवि को गीत, संगीत, नृत्य, नाट्य की भंगिमाओं को नयी पहचान दी। भविष्य के महाकवि, जीवन-संगीत के गायक, साहित्य-सरस्वती के साधक की पृष्ठभूमि यहाँ ढली। साधक को राजमहल के माहौल ने विचलित न किया क्षण भर के लिए। वे राजकवि के रूप में महाराजा, महारानी और दरबार का अनुरंजन करते और उनके हृदयों में महाकवि विद्यापति की तरह एकदम छा गए। पर उनके मन में बार-बार यों द्वन्द्व उठता। क्या उनकी जीवन-नौका का आखिरी ठाँव यही राजमहल है। उनका अंतर यों फूट पड़ा—

रुक गई नाव जिस ठौर स्वयं
माझी उसको मझधार न कह
कायर जो बैठे, आह भरे
तूफानों की परवाह करे
चाहे उसको तू ज्वार न कह !

यह शास्त्री जी की जीवन-यात्रा में एक सुनहली रेखा के समान है। यही वह समय है जब शास्त्री जी ने केवल कविता, संगीत और नाट्य की विभिन्न रीतियों में वे अपनी कुशलता का ही परिचय नहीं दिया, इसी अवधि में वे बंग संगीत, बंगला साहित्य, रवीन्द्र संगीत के विशाल साहित्य-क्षीरोदधि में एकदम आकंठ मग्न हो गए । और इस शुभ संयोग ने इस कवि की उदार चेतना के क्षितिज पर जैसे उषा के स्वर्ण विहान का मंगल कुंकुम छिड़क दिया पर अंतर में कोई पुकार-पुकार कर दस्तक देने लगा—जीवन का आकाश कितना है ऊँचा ! इसके आगे भी तो आसमां है, यहाँ क्यों रुके हो ! अन्तर्मंथन की इक्कीसवीं रात अन्तर के हलचल से उद्वेलित शास्त्री जी राजमहल के पार्श्व के बंगले से परीक्षा देने का माध्यम बना दृष्ट को, कोमल सुख शय्या को निर्मम हो त्याग अदृष्ट कुश-काँटों भरी राह पर चल पड़े।

काशी में परीक्षा दी और वापस आए मातृविहीन पिता के घर में। 'राजकवि जानकीवल्लभ अकिंचन बन कर द्वार पर आया। इस अचिंतित विपत्ति ने पिता के क्रोध को प्रज्वलित कर दिया । फिर तो उनकी वाग्वाणी के प्रहार से शास्त्री जी का हृदय क्षत-विक्षत हो गया। और फिर वे चल पड़े, घर छोड़, बेसहारा बने किसी ठौर की तलाश में । जायें तो कहाँ ? उनके मन में कौंध पड़ी यह बात कि चलो मुजफ्फरपुर, जहाँ संस्कृत के अध्ययन का एक केन्द्र, विद्वानों का गढ़ है। बस, मुजफ्फरपुर आये और यहाँ की धरती में, यहाँ के लोगों में चुम्बकीय आकर्षण शक्ति कुछ ऐसी थी कि शास्त्री जी यहाँ के ही हो कर रह गए और दूसरे अर्थ में उनकी विकासोन्मुखी प्रतिभा पर यहीं परवान चढ़ा। वे यहाँ १९३९ में आए और सभी प्राच्य विद्याओं में पूर्ण पारंगत हो चुके थे। यश का सौरभ भी फैलना शुरू हो गया था। जीवन का कोई साधन नहीं था, तो पुन: जीवन यापन के लिए ही सही धर्मसमाज संस्कृत कॉलेज में वेदांत शास्त्री के छात्र हो गए।

स्कालरशिप के लिए परीक्षा दी। वह मिल गयी। शास्त्री जी की निराली वेशभूषा–कंधों पर लहराती घन घटा–सी श्यामल कुंतल केशराशि, धरती को सोहराती धोती, घुटनों से नीचे तक लटकता लम्बा कुर्ता और पाँवों में 'पम्पशू'। पहली नजर में यहाँ के प्रिंसिपल और अध्यापकों की आँखों में किरकिरी लगी। लेकिन विद्वत्ता और मनुष्य के अंतर में कवित्व का जो सौरभ है, वह कितना भी छिपायें, छिपता नहीं। धीरे-धीरे उन्हीं में से कितनों का आशीर्वाद और प्यार भी पाया।

१९४० में मुजफ्फरपुर में संस्कृत सम्मेलन हो रहा था। उस भव्य समारोह के आयोजक थे यहां के रइसेआजम स्व० उमाशंकर प्रसाद। वहाँ शास्त्री जी का धारा प्रवाह सरल संस्कृत भाषण सुना तो लोग मुग्ध तो हुए ही, उमाशंकर बाबू उसी दिन से शास्त्री जी के अनन्य प्रशंसक ही नहीं बन गए, बहुत आग्रह करके अपने घर भी ले गए। रहने के लिए एक अलग बंगला दिया और अन्य व्यवस्थाएँ की, जिससे सम्मानपूर्वक जीते हुए वे अपनी प्रतिभा और क्षमता से साहित्य की श्री-वृद्धि कर सकें। यह वही गौरवशाली घराना था, जहाँ वी० वी० पुलस्कर, ओंकारनाथ ठाकुर, अच्युत पटवर्धन जैसे भारत-विख्यात कौन गायक वहाँ नहीं आये। दाण्डेकर जी तो उसके स्थायी गायक थे। शास्त्री जी को मानों दूसरा रायगढ़ मिल गया। शायद उससे भी कहीं समृद्ध कला-दृष्टि संपन्न, सुसंस्कृत घराना। स्वयं उमाशंकर बाबू महान् कलाविद् थे। और बड़े ही पारखी थे। कला की अभ्यर्थना और कलाकार का अमित सम्मान करना उनके जीवन का एक उच्चतर श्रेष्ठतर लक्ष्य ही नहीं, अमिट संस्कार था।

शास्त्री जी उमाशंकर बाबू के प्रेम-परिसर के घेरे में लगातार आठ वर्षों तक रहे। इस बीच १९४४ में अपनी योग्यता और प्रशंसकों के समर्थन से धर्मसमाज संस्कृत कालेज में साहित्य-विभाग के अध्यक्ष हो गए। यह शास्त्री जी की विकासशील रचना-धर्मिता की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण काल कहा जा सकता है। यह आठ वर्षों का काल! इसी अवधि में उन्होंने शिप्रा, अपर्णा, तीर-तरंग, गाथा, राधा, मेघगीत अवंतिका और साहित्य-दर्शन जैसे साहित्य-ग्रंथों का प्रणयन किया, जिससे उनके कवि और गंभीर समीक्षक रूपों की प्रतिष्ठा हुई। वे १९४८ तक कवि और समीक्षक के रूप में काफी विख्यात हो चुके थे। कवि सम्मेलनों में अपने सुकंठ की मुहर लगा

दी थी। लगता था बच्चन और दिनकर के समानांतर स्वर-साधना का एक और भी मधुर गायक कवि बिहार की धरती पर है, जिसकी आवाज को प्रदेश की सीमाओं से बाहर भी बड़े चाव और आदर से सुना जाता है।

"मैं रूप की सीमा के भीतर से ही प्यार की कल्पना करने का अद्भुत अभ्यासी हो गया। वैसे अपूर्व-अद्भुत रूप का आभास न मिलने पर कोई प्यार को कभी प्यार के रूप में हृदय में न उतार सका।"

जीवन की इन 'अष्टपदी'कृतियों के पहले ही 'रूप-अरूप' की रचना शास्त्री जी कर चुके थे। वह संभवतः उनकी पहली प्रकाशित काव्य कृति है हिन्दी में। किसी छोटी-बड़ी मौलिक काव्य कृति के मूल में, उसकी भावनाओं और कल्पनाओं में कुछ न कुछ स्थानीय रंग, व्यक्तिगत और परिस्थिति-जन्य घटनाएँ उसको स्पंदित करतीं और जीवन को ऊष्मा प्रदान करती हैं। ऐसा मैं जब सोचता हूँ तो 'रूप-अरूप' की पृष्ठभूमि मेरे मन में कौंधती है। थोड़ा पीछे लौटकर फिर सन् १९३८-३९ के वर्षों में रायगढ़ के दरबार में हम प्रवेश करते हैं। आधी सदी से भी पहले की बात है। हॉल दर्शकों से खचाखच भरा है। संगीत की सुरलहरी उठ रही है। शास्त्री जी ने अपनी मधुर स्वर लहरी से सबको मुग्ध किया और कौशेय शाल से सम्मानित भी हुए। हर्ष गद्गद थे वे। एक अनहोनी घटना हो गई उनके जीवन में। उन्होंने देखा शांति निकेतन की दीप्ति सान्याल को। यह प्रसाद के शब्दों में 'कैसी कड़ी रूप ज्वाला' न थी, वह 'शारदीया उषा की ज्योति' थी, उसने उर्वशी मानभंग को (रवीन्द्रनाथ ठाकुर) अंग-भंगिमाओं से साकार किया था। उसकी मुखर नृत्य भंगिमा से ही शास्त्री जी ने विश्वकवि के इस गीत को अपने अंतर में सघनता से अनुभव किया।

> सुरसभातले जबे नृत्य करो पुलके उल्लसि
> हे विलोल-हिल्लोल उर्वशी !
> छंदे-छंदे नाचि उठे सिंधु माझे तरंगेर दल,
> शस्य शीर्षे सिहरिया कांपि उठे धरार अंचल
> तव रत्नहार हते नभस्तले खसि पड़े तारा,
> अकस्मात् पुरुषेर वक्षोमाझे चित्त आत्महारा !"

अद्भुत थी दीप्ति की रूप ज्योत्स्ना! कितने ही दिनों तक उसकी अकलुष परछाइयाँ कवि का पीछा करती रहीं। हर घड़ी द्वन्द्व मन को मथते ही रहे। क्या वह अश्रुओं की घड़ी थी या स्वर्ग की सुरसरि की शुभ्र हँसी थी? अपरूप रूप की स्मृति ने कवि की चेतना को, उसके स्पिरिट को ऊर्ध्वमुखी बना दिया। उसका अंतर आकुल हो गायन करने लगा—

कैसे बंद रखूं चल लोचन, प्रिय अति सुंदर हे ऽऽऽऽऽऽ
कैसे विकल कलश में भर लूं, सकल समुंदर हे।

इसी 'कठिन' की साधना से कवि के अन्तर में 'रूप-अरूप' के अनेक जीवन-रंग उद्भासित हो उठे। 'मैटर' 'स्पिरिट' में परिवर्तित हो गया। तन की लालसा, तमस की चाह, सूक्ष्म प्रकाश की तरंग में उठने लगी। इसी उन्मुखी वृत्ति को जागृत करने की ध्वनि गूंज रही है इन कविताओं में—

दुख को सुमुख बनाओ, गाओ।
काली घटा छँटेगी कैसे
रिमझिम रिमझिम स्वर बरसाओ। (उत्पल दल)

जब तक स्थूल सूक्ष्म में परिवर्तित न होगा, जब तक 'स्व' को 'पर' में, 'पर' को 'स्व' में विलयन न होगा, तब तक मनुष्य की चेतना उर्ध्वमुखी न होगी। रूप की लालसा से मनुष्य तपता रहेगा। रूप को अरूप कर ही सच्ची शांति मिलती है।

तपती जो भूमि तबा-सी है,
तपने दो मन नभवासी है
तनु तन भी यदि त्रिकुटी कुटीर—
रहने दो प्राण प्रवासी है।
हो उषा उदय, ढलने को
नक्षत्र कभी से है अधीर।

● ● ●

साहित्य में अनुभूति की छायाएँ जो दिखाई देती है, उन पर कवि के विभिन्न संबंधों, आयामों, विचारों और कल्पनाओं का प्रभाव रहता ही है। बिना उसकी अनुभूति और उसकी अभिव्यक्ति में न तो विश्वसनीयता रहती है और न हृदयस्पर्शिता ही। शास्त्री जी की तमाम रचनाओं में कल्पनाओं और भावनाओं की सूक्ष्मता तो है पर गहराई से बिचारने पर उनमें अनुभूति की विदग्धता और मांसलता भी है—

(१) मेरी पीर तुम्हें अति प्यारी
ऐसी प्रीत-रीत पर जाऊँ
मैं तो बार-बार बलिहारी (तीर तरंग)

(२) नाच रही स्वर-सिहर शरीरा
मैं न सही, मेरी बेसुध
वाणी ही आज बनी है मीरा।
गरल पिया इसने भर प्याला
कहती उत्कट; हुआ उजाला !
भूली पगली मोती-माला

● ● ● (रूप-अरूप)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को अपना घर मैंगरा छोड़े ५३-५४ वर्ष हो रहे हैं। यहाँ आए तो अस्थायी पड़ाव के लिए, पर यहाँ रहना ही उनकी नियति हो गई। जीवन-यात्रा क्या यहाँ ठहर गई ? यहीं विराम हो गया जीवन-यात्रा का ? नहीं, शास्त्री जी ने आठ वर्षों तक संस्कृत कालेज में साहित्य के आध्यापक के रूप में प्रतिमान स्थापित किया। साहित्य-दर्पण पढ़ाये या कादम्बरी ।

शास्त्री जी की काव्य कृतियाँ कल्पना की कोरी सृष्टि नहीं, उनके मूल में कहीं कोई निष्पाप पवित्र रूप का प्रभाव कहीं-कहीं सुख-दुख भरी जटिल परिस्थितियों की प्रत्यक्ष चाँद-सी छाया अधिक परिष्कृत, कलात्मक और हृदयग्राही रूप में उतरी है। 'राधा' महाकाव्य की राधा के 'आनन ओप उजास' के मूल में वैसी ही कोमल शारदीय ज्योत्स्ना मंडित तन और मन की कविता-सी सुकुमार भाव-लहरियों के इन्द्रधनुषी मोहन प्रभा रश्मि के प्रभाव को महसूस करते हैं। हृदय की यह कोमलता और सौन्दर्यबोध-भावना ने महाकाव्य की अन्तर्चेतना को उन्मथित किया। इस अरूप उदात्त भावना के मूल में कोई साक्षात् राधा का हृदय अविराम भाव से किसी कृष्ण वल्लभ के लिए क्या उद्वेलित नहीं हुआ होगा ? ये सब साहित्य रचना के स्रोत के गहन, पर मनोरम विषय हैं। किसी रचना की प्रेरणा और स्रोत के संदर्भ में बात यह है कि शास्त्री जी ने असंख्य साहित्यानुरागियों के दिलों में साहित्य-सेवा का, सर्जना का मधुदीप प्रज्वलित किया। पढ़ा तो सभी विद्वान सकते हैं, पर अपनी वाग्मिता से तेजो राशि को उद्दीप्त करने का सौभाग्य कितनों को मिलता है ! साहित्यकार वे बहुत ही उच्च कोटि के

हैं, पर उससे भी कहीं बड़ी बात यह है कि वे साहित्यकारों, कलाकारों और सत् कवियों के भी स्रष्टा हैं। वे एक दीप शिखा हैं; दूसरे दीपों को भी उजाला देने वाली लौ, एक ज्योतिर्मय फ्लेम (flame)।

सारी विद्या रसनाग्र नर्तकी थी। १९५२ के अंत या जनवरी '५३ में शास्त्री जी रामदयालु सिंह कालेज के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में सम्मानपूर्वक लाये गए। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय का भी सम्मान बढ़ा, प्रतिष्ठा मिली। कितने विश्वविद्यालयों में इनकी कोटि के वाग्विभूतिसंपन्न, विद्वान् अध्यापक और सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार होते हैं? १९७९ में अवकाश प्राप्ति के बाद शास्त्री जी पटना विश्वविद्यालय के विजिटिंग प्रोफ़ेसर भी हुए दो वर्षों के लिए। जीवन की यह धारा सतत प्रवाहित होती रही। असंख्य छात्रों और अध्यापकों को अपनी अद्भुत अध्यापन शैली और विलक्षण वाग्मिता से प्रभावित और अनुप्रेरित किया। अध्यापन उनके जीवन का बड़ा ही सफल, प्रेरक और अनुकरणीय रूप रहा है। एक अध्यापक के रूप में वे अत्यन्त सफल रहे हैं। इस रूप में, जीवन में गति है, ठहराव नहीं।

उनका सर्वाधिक ख्यात गतिशील रूप है महान् साहित्यकार का, जिसने अकेले कविता, गीत, गीति, गीतिनाट्य, आत्मकथा, संस्मरण, कहानी, संपादन, समीक्षा आदि विभिन्न विधाओं में प्रचुर मात्रा में लिखा है। उन्होंने अकेले डेढ़ हजार कोमल गेय गीतों की रचना की है। उनका महत्त्व संख्या के लिहाज से ही नहीं गुणवत्ता की दृष्टि से और भी कहीं अधिक है। कवि के रूप में उत्तर-छायावाद के वे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उसमें सबसे उनका स्थान ऊँचा है।

शास्त्री जी निष्ठावान कवि और खुले मस्तिष्क के प्रगतिशील चिंतक हैं। कविता उनकी गम्भीर साधना की सच्ची अभिव्यक्ति है। मेरी दृष्टि से सच्ची कविता युगों और वादों की सीमित कसौटियों पर परखी नहीं जा सकती। मनुष्यता काल–खंडों और भौगोलिक खंडों में बाँटकर देखी नहीं जा सकती, वैसे ही कविता; सच्ची कविता जिसमें मनुष्य की अन्तर्वेदना फूटती है, जो वाल्मीकि के आहत हृदय से सहसा फूट पड़ी थी, सौन्दर्य की कोमल चेतना दिलों को आप्लावित करती झरने की तरह कल-कल नाद करती उन्मद बना देती, वह इस मनुष्य की हो, इस विराट् प्रकृति की हो, उसके अन्तर के आकाश की हो, उसको खंडों में बाँट कर उसके साथ कहाँ तक

हैं, पर उससे भी कहीं बड़ी बात यह है कि वे साहित्यकारों, कलाकारों और सत् कवियों के भी स्रष्टा हैं। वे एक दीप शिखा हैं; दूसरे दीपों को भी उजाला देने वाली लौ, एक ज्योतिर्मय फ्लेम (flame)।

सारी विद्या रसनाग्र नर्तकी थी। १९५२ के अंत या जनवरी '५३ में शास्त्री जी रामदयालु सिंह कालेज के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष के रूप में सम्मानपूर्वक लाये गए। महाविद्यालय और विश्वविद्यालय का भी सम्मान बढ़ा, प्रतिष्ठा मिली। कितने विश्वविद्यालयों में इनकी कोटि के वाग्विभूतिसंपन्न, विद्वान् अध्यापक और सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी साहित्यकार होते हैं? १९७६ में अवकाश प्राप्ति के बाद शास्त्री जी पटना विश्वविद्यालय के विजिटिंग प्रोफ़ेसर भी हुए दो वर्षों के लिए। जीवन की यह धारा सतत प्रवाहित होती रही। असंख्य छात्रों और अध्यापकों को अपनी अद्भुत अध्यापन शैली और विलक्षण वाग्मिता से प्रभावित और अनुप्रेरित किया। अध्यापन उनके जीवन का बड़ा ही सफल, प्रेरक और अनुकरणीय रूप रहा है। एक अध्यापक के रूप में वे अत्यन्त सफल रहे हैं। इस रूप में, जीवन में गति है, ठहराव नहीं।

उनका सर्वाधिक ख्यात गतिशील रूप है महान् साहित्यकार का, जिसने अकेले कविता, गीत, गीति, गीतिनाट्य, आत्मकथा, संस्मरण, कहानी, संपादन, समीक्षा आदि विभिन्न विधाओं में प्रचुर मात्रा में लिखा है। उन्होंने अकेले डेढ़ हजार कोमल गेय गीतों की रचना की है। उनका महत्त्व संख्या के लिहाज से ही नहीं गुणवत्ता की दृष्टि से और भी कहीं अधिक है। कवि के रूप में उत्तर-छायावाद के वे सर्वश्रेष्ठ कवि हैं, उसमें सबसे उनका स्थान ऊँचा है।

शास्त्री जी निष्ठावान कवि और खुले मस्तिष्क के प्रगतिशील चिंतक हैं। कविता उनकी गम्भीर साधना की सच्ची अभिव्यक्ति है। मेरी दृष्टि से सच्ची कविता युगों और वादों की सीमित कसौटियों पर परखी नहीं जा सकती। मनुष्यता काल-खंडों और भौगोलिक खंडों में बाँटकर देखी नहीं जा सकती, वैसे ही कविता; सच्ची कविता जिसमें मनुष्य की अन्तर्वेदना फूटती है, जो वाल्मीकि के आहत हृदय से सहसा फूट पड़ी थी, सौन्दर्य की कोमल चेतना दिलों को आप्लावित करती झरने की तरह कल-कल नाद करती उन्मद बना देती, वह इस मनुष्य की हो, इस विराट् प्रकृति की हो, उसके अन्तर के आकाश की हो, उसको खंडों में बाँट कर उसके साथ कहाँ तक

न्याय कर सकते हैं । मेरी दृष्टि से किसी रचना की परख की यह कोई सही कसौटी नहीं है। क्यों नहीं कवि कलाकार को, उसकी संपूर्णता की पृष्ठभूमि पर उसके 'दाय' का मूल्यांकन करें ।

रीति काल की ऊँची दीवारों और द्विवेदी युग की आदर्शवादा कारा को तोड़ती विद्रोही काव्यधारा जो उफनती हुई बढ़ी है, वह आज भी कभी धीमी, कभी तेज गति से बढ़ती जा रही है नाम चाहे जितना बदलते जाएँ। उस कविता के तट पर प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नई कविता और नवगीत जैसे न जाने कितने वादों के महल नादान लोगों ने जान-बूझ कर खड़े कर लिये हैं और उनकी स्वकल्पित कसौटियाँ बनाई हैं। इन्हीं टूल्स के सहारे कविता या किसी प्रकार की कला-सृष्टि को नित टूटते-बिगड़ते बटखरों पर तौलते हैं। उन्हें वर्गों, वादों, खंडों, उपखंडों में बाँटकर निंदा या स्तुति का विनोदपूर्ण नौटंकी रचते हैं। उसकी आंतरिक शक्ति की पहचान नहीं करते ।

मैं पुन: जोर देकर कहता हूँ किसी भी कलाकार की रचना की आलोचना का प्रतिमान कालों, खंडों, नश्वर विचारों की जमीन पर मत गढ़ो, टुकड़ों में बाँटकर न देखो । आज भी, और कभी भी बिना समग्रता, विना संपूर्णता के सही परिप्रेक्ष्य के कवि का मूल्य आंका नहीं जा सकता । भूखंडों में मनुष्य बँटा है, समुद्र, पर्वत, नदियों की दीवारों से जरूर बँधा है। पर इन भौतिक प्राचीरों को तोड़ती हुई जो कला चेतना, काव्य सृष्टि आत्म-प्रसार के स्फुलिंगों को प्रज्वलित करती है, मनुष्य मात्र में ईश्वरीय शक्ति को, उसके तेज को देख एकाकार होने की प्रेरणा देती है, कठिन परिस्थितियों से जूझने के लिए अदम्य साहस की, स्फूर्ति का संचार करती है, संवेदना से हृदय को तरंगित करती है, याचना के खिलाफ, गरीबी के खिलाफ अंधकार के खिलाफ, स्थूल भौतिक आकांक्षाओं के खिलाफ छिपी हुई शक्ति के स्रोत को फोड़ कर ऊपर की ओर लाती है, जीवन के आरोहन की सीढ़ियों पर ले जाती है, वह कविता होती है, ईमानदार और सच्ची कविता होती है, जो 'मनुष्यत्व' को उकेरती है, वह चाहे बुद्ध, ईसामसीह, सुकरात, शंकर ज्ञानेश्वर, विवेकानन्द और गांधी के वचन और आचरण में हो, वाल्मीकि-व्यास, कालिदास-भवभूति के गेय छंदों में हो, प्रेमचन्द के 'गोदान' प्रसाद की कामायनी, अज्ञेय की सदानीरा, दिनकर की उर्वशी, पंत की

चिदम्बरा, अथवा इन सबसे भिन्न शुद्ध-जीवन मूल्यों के ऊँचे आदर्शों से सम्पृक्त शास्त्री जी की राधा, हंस बलाका, अष्टपदी और कालिदास में।

यह अलग बात है कि किसी रचना का माध्यम गद्य होता है, किसी का पद्य (वह तुकांत हो या अतुकांत) या कुछ भी हो! पद्य में निबद्ध मात्र होने से किसी रचना को 'कविता' की 'अभिधा' से विभूषित नहीं कर सकते, गद्य में कवित्व का स्निग्ध कोमल, उदात्त स्पर्श महसूस करते हैं तो वह भी कविता ही होती है। कविता वह अमृत तत्त्व है, जो जीवन के तप और ताप से उद्भूत होती है। वह ताप जब तक रचना में ऊष्मा का संचार न करे तो कविता का सच्चा दर्दीला स्वर कहाँ फूट पाता है? शास्त्री जी ने प्रचुर मात्रा में गद्य भी लिखा और कविता की रचना की। गीत तो असंख्य हैं। मैं एक तथ्य पर बल डालना चाहूँगा, उनके साहित्य की स्तरीय और ईमानदार आलोचना के सन्दर्भ में कि शास्त्री जी परंपरा से अनुप्रेरित होकर भी सतत प्रयोगधर्मी कलाकार हैं, साहित्य शिल्पी ही नहीं, वे आत्मा के उदात्त संस्कारों के शिल्पी हैं। उनका सारा गद्य-लेखन कवित्व की चारुता, कोमलता और मर्मतुंद संवेदना से ओतप्रोत है। वह सच्ची कविता है, जीवन की कविता है, हृदय में उठती हुई एक मूर्च्छना का आरोह-अवरोह है। उनकी कविता में संगीत का हृदयग्राही कोमल स्पर्श है। वेदना की सच्ची अनुभूति कविता को प्राण-ज्योति से तरंगित करती, ऊष्मा देती है। इसीलिए शास्त्री जी की कविता जीवन-संगीत है, आँसुओं से सींची जीवन-बेल है—अंसुवन जल सींच-सींच प्रेम बेलि बोई।

इसी व्यापक मानदंड पर, शास्त्री जी की कविता पर और उनकी रचनाओं पर विचार करना चाहिए। वे छायावाद के चार प्रमुख कवियों के पार्श्व में स्थापित कर दिये जायें और प्रसाद तथा निराला को छोड़ बाकी दो के आगे-पीछे उनका स्थान निर्धारित किया जाय या वे छायावाद के पंचम प्रतिनिधि स्तम्भ मान लिये जायें या छायावादोत्तर काल के प्रमुख कवियों की अगली पांत में हम उन्हें खड़ा करें या उत्तर-छायावाद का सर्वश्रेष्ठ काव्य प्रवर्तक कवि मानें, इस प्रकार की बहस की संभावनाएँ उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाएंगी, वह बहस अछोर है। बहस के उस संकीर्ण कगार पर खड़े होकर शास्त्री जी के 'दाय' के महत्त्व को आँकना मुझे रुचता नहीं है। शास्त्री जी यों सन् १९३२ से ही कविता करते रहे हैं, पर विधिवत्

हिन्दी में काव्य रचना सन् १९३५ से होती है और वे अविराम गति से आज भी काव्य रचना और साहित्य के अन्य श्रेष्ठ रूपों से हिन्दी को समृद्ध करते आ रहे हैं। ५५-५६ वर्षों का रचनाकाल किसी रचनाकार की प्रतिभा, क्षमता और दृष्टि की परख के लिए कम नहीं होता। इस आधी सदी से भी अधिक समय में सत्रह काव्य कृतियाँ, तीन गीतिनाट्य, चार कहानियाँ, छह संस्मरण, छह समीक्षा ग्रन्थों के अतिरिक्त तीन दर्जन से भी अधिक ग्रंथ प्रकाशन के क्रम में हैं। 'बेला' जैसी स्तरीय साहित्यिक पत्रिका का संपादन कर रहे हैं। इन रचनाओं और इनकी अमूल्य साहित्य सेवाओं को दृष्टि में रख कर शास्त्री जी बिहार प्रान्त के सर्वोच्च पुरस्कार 'राजेन्द्र शिखर' सम्मान से भी पुरस्कृत हैं। अन्य कई पुरस्कार बिहार और उत्तरप्रदेश की सरकारों से तथा अन्य सम्मानित संस्थाओं से मिलता ही रहा है। मैं कहता हूँ यदि ये पुरस्कार न भी मिलते तो क्या शास्त्री जी की साहित्यिक ऊँचाई दो चार इंच घट जाती? नहीं, कदापि नहीं। महात्मा गांधी अपने सार्वजनिक जीवन में सदा शांति के लिए अथक प्रयासरत रहे। शांति की वेदी पर बलिदान भी हो गए पर उन्हें नोबेल शांति पुरस्कार नहीं मिला, उससे गांधी की महत्ता घटती नहीं। पुरस्कार जिस प्रकार और जिन आधारों पर दिये जाते हैं उनकी अपनी राजनीति होती है। उस राजनीति से शास्त्री जी जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति को क्या लेना देना?

शास्त्री जी में महान् कवि और रचनाकार की हिमालयी संभावना की पहचान महाप्राण निराला को आज से ५७-५८ वर्ष पहले ही हो चुकी थी जब इस उदित होते बाल कवि-सूर्य जानकीवल्लभ के कक्ष में खुद सूर्यकान्त पहुँचे थे। वह सम्भावना कभी क्षीण नहीं हुई उत्तरोत्तर महत्तर होती गयी है। किस कवि की कितनी रचनाएँ प्रकाश में आईं, प्रश्न इसका नहीं है। 'दाय' के मूल्यांकन का यह आधार भी नहीं हो सकता। उसका आधार जीवन मूल्यों के उत्थान के लिए समर्पण की प्रेरणा कहाँ कितनी है, निर्दोष सौन्दर्य के उज्ज्वल बिंदुओं का जीवन रेखांकन कितना प्रेरणादायी है, कविता सौन्दर्य है पर क्या केवल शब्दों और अर्थों का, नहीं, चिर सुन्दर आत्मा के संघर्ष का, उसकी अविनश्वर दीप्ति का। यह बड़ा ही कठिन व्रत है–कविता लिखना। उसी कठिन व्रत का पालन, साधन किया है शास्त्री जी ने। देखें उनकी कविता उस कठिन

साधना में मनुष्यत्व की संबेदना और सौंदर्य को तराश कर कैसे निखारती है—

> अश्वत्थ किंतु आंधी झंझा या पवि क्या
> वर्षा क्या, हिम क्या, आग उगलता रवि क्या ?
> सब सहता मुसका-मुसकाकर, हँस-हँस कर
> जब सब तरु कहते, 'त्राहि-त्राहि, बस कर'।
> जब और और पादप बन क्रीडा-वामन,
> धँसते से जाते कंपित तन, व्याकुल मन
> तब और-और अश्वत्थ उठाता है सिर,
> ज्यो स्वर्ग-धरा-सम्मिलन-साधना में स्थिर !
> सब फिसल गये स्वर्गीय सीढ़ियां चढ़ कर
> सब पिछड़ गए ऊपर उठ-उठ, बढ़-बढ़ कर
> अश्वत्थ खड़ा है आज भी !
>
> (शिप्रा 'अश्वत्थ')

यह कविता नहीं, मनुष्य के अन्तर में अहर्निश उठते द्वन्द्व का, श्रेय के विजयी होने का, भौतिक स्थूल आकांक्षाओं पर आत्म विजय की, भूमा की लहराती ध्वजा का जीवंत प्रतीक है। मनुष्यत्व के बहाने शास्त्री जी के विराट् व्यक्तित्व का यह अमृतगान है।

शास्त्री जी का कविता-संसार शब्दों का चमकता माया जाल नहीं है और न उनकी मधुर धुन ही कविता की सीमा है। कविता उनके जीवन की, श्रम की, विवेकानुमोदित कर्म की सौरभपूर्ण संस्कृति है।—इस कविता की अन्तर्ध्वनि यही है—

> दोपहर भर चिलचिलाती धूप में तप कर झुलस कर,
> अथक श्रम कर थक गया हूँ,
> इसलिए यह चांदनी उन्मादिनी लगती मुझे है।
>
> (शिप्रा–चाँदनी)

शास्त्री जी की कविता शौखिया नहीं, वह उनके अनुभूत जीवन की रागिनी है, उसी का झंकार हमें 'रूप-अरूप' से 'धूपतरी' तक सुनाई देता है, वह हमें प्रश्नों से उद्‌बुद्ध करती है। जीवन सुख-शय्या नहीं, कांटों भरी राह है, उस पर हिम्मत से चलो, बढ़ो नहीं तो ढेर हो जाओगे।

शास्त्री जी का जीवन अभाव, दुख और द्वन्द्वों से भरा रहा। बहुत-बहुत संघर्ष करते, कठिन जीवन जीते, कविता की साधना की। भोगमय जीवन के अनेक अवसर आने पर भी श्रेय को ही अपने लिए चुना। तीन वर्ष की उम्र में माता अनुपमा की मृत्यु, भाई-बहनों की मृत्यु, बहन का विधवा होकर लम्बे अर्से तक वैधव्य का दुख ढोना, नौकरी करते ही पहली पत्नी का देहावसान—लगता है 'दुख ही जीवन की कथा रही' की साक्षात् प्रतिरूप है यह कविता, पर वह रूप से अरूप की ओर, स्थूल से सूक्ष्म की ओर, तमस् से प्रकाश की ओर अविराम यात्रा है। इतने दुखों की ज्वालाओं में भी झुलसता हुआ निकलेगा। वही मनुष्यत्व की, उसके सौंदर्य की, उद्‌बोधन की, दुखदर्द की प्रीति और स्नेह के जीवन-गीत गा सकेगा। यह एक स्मृति-चित्र कितना करुण है—

> काठ दिलों में काठ रख दिये कैसे अपरिचिता पर।
> था भाई परदेश, माँ मरी रोष अदोष पिता पर।
>
> आग लगाई उसने जिस पर मोती बरसाये थे,
> जिसका जिगर जुड़ाया उसने तुझे जलाया।
>
> (सुमित्रा की शेष स्मृति)

शास्त्री जी की काव्य रागिनी का झंकार मधुर, करुण और प्रेरक है। जीवन के दुखदर्द को, सौंदर्य की अनुभूतियों को उन्होंने संवेदना के ताप में तपा कर सर्वसंवेदनीय बना दिया है। शास्त्री जी की कोटि के भारतीय विद्याओं के अगाध विद्वान् समकालीन में कौन हैं? कविता के माध्यम से कालिदास-भवभूति, सूर-मीरा, कबीर-नानक की परम्परा तथा रवीन्द्र-अरविन्द, प्रसाद और निराला की आधुनिकता की जो जीवनधारा भी प्रवाहित हुई है, उसके प्रखर कवि, प्रतिनिधि हैं शास्त्री जी। उनमें क्लासिकल, रोमांटिक पारिवारिक आधुनिक प्रवृत्तियों का

मणिकांचन संयोग तो है ही। पर सबसे बड़ी बात है, वह यह कि आज कवियों की तो भीड़ है, आगे की पांत में खड़े होने के लिए तुमुल कोलाहल है, पर कवित्व ! हाय, वह तो कहीं उन्हीं के पांवों के नीचे कुचल गया है। मनुष्यों की भी कितनी भीड़ है? सब जगह—विश्वविद्यालयों, रेलों, बसों, हवाईजहाजों—सब में, एक दूसरे को धकेलते बढ़ रहे हैं। मनुष्यत्व कहाँ गुम है! वह वहीं उनके पाँवों तले दबा कराह रहा है। बड़ा आदमी होने के लिए आज होड़ मची है, मकान, सोफा, बैंक बैलेंस गाड़ी की सुख-सुविधा के लिए कैसी 'अहमहमिका' हो रही है? पर इन पाँवों के नीचे कुचले, दलितों पतितों के उद्धार के लिए थोड़ा भी कुछ करने का धीरज, वह बड़प्पन नहीं है, कविता, मनुष्यता और बड़प्पन कहाँ गुम हो गये।

ऊँचे जीवन मूल्यों के गुम होने की संकट की इस घड़ी में हम कहाँ किधर उसकी तलाश करें जो कवित्व, कवित्वमय आचरण से मिटती हुई मनुष्यता को गढ़े, उजड़ते राष्ट्र की धमनियों में विवेकानन्द के कवित्वमय जीवन-राग को फिर से झंकृत करे। मुझे वही आवाज कभी-कभी शास्त्री जी की कविता में सुनाई देती है। वह कविता इसीलिए ऊँची है। वह मनुष्य के दुखदर्द से कविता को जीवन देती है, मनुष्य की श्रेष्ठतर उच्चतर लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए आवाहन करती है।

तरना, झरना, झील
कर्दमित, पल्लव,
सर, सरि, सागर
और रौंदवा पर्वत की, पत्थर की छाती,
पंकिल कछार,
ऊँचे कगार
कितने पठार
घूमते हुए मैदान
कि रेगिस्तान
खोह औ' खेत से परे,

अरे क्षितिज पर पहुँचना अभी शेष !

अविश्राम, अविराम मुसकुराती आभा से दूर,

बुलाती झिलमिल किरणों से चौरस में तंग दायरा छोड़

उषा है वह भावी की।

शास्त्री जी ने उच्चतर, श्रेष्ठतर कविता की है। मैं केवल हिन्दी में ही नहीं, हिन्दी के तो वे पिछले आधी सदी की कठिन यात्रा में 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' शिखर कवि हैं ही, मैं दो कदम आगे बढ़ कर कहना चाहूंगा कि वैदिक कविता से लेकर आज तक प्राकृत, संस्कृत भाषा कविता का जो उच्छल प्रवाह गुजरता दिखाई दे रहा है, आज के कवियों में वह एकमात्र मूर्धन्य कवि हैं जिन्होंने पूरी भारतीय चेतना का अपनी कविता से सनातन शृंगार किया है। खेमों के चश्में उतार कर हम देख सकें तो यह सत्य सूर्य की तरह प्रतिभासित होगा।

शास्त्री जी की कला-चेतना और मनुष्यत्व एक दूसरे का पर्याय ही है। ऐसा न होता तो क्यों इतने उपेक्षित, प्रताड़ित कुत्ते बिल्लियों को पालते पोसते, उन्हें बिछावन पर सुलाते ? ये औघड़ बौड़म-सा उनका रूप लोगों की आँखों में ! और मैंने देखा है इस महाकवि, ऋषि के पुनीत आश्रम निराला-निकेतन में कुत्तियाँ बिल्ली के बच्चे को दूध पिला रही हैं। शास्त्री जी का सब कुछ निराला है, उनका आश्रम निराला, शास्त्री जी निराले और 'राम की छाया–सीता-सी' आचार्य जानकीवल्लभ जी की सहधर्मिणी 'छाया' जी, उनकी प्रीति-विलसित आज्ञा की वशवर्तिनी, उनकी साहित्य-सेवा, आगत अतिथियों के सत्कार और सर्वोपरि गोमाताओं की सेवा में समर्पित हैं। शास्त्री जी का, एक पांव के टूट जाने पर भी कवि कर्म मनुष्यत्व की तलाश के लिए अविराम जारी है। पर नहीं, पशु सेवा, नहीं गोमाता की सेवा पर भी उनकी आदर स्नेहभरी दृष्टि लगी है। वे महाकवि हैं, वे महामानव हैं। मनुष्य ही नहीं पशुओं को भी नहीं भूलता, कण्व की तरह उनको अपने साये में रखता है, तभी शकुंतला ऐसी कविता ज्योति उनकी अन्तरात्मा से निरन्तर फूटती है, जिसमें जीवन के सुख-दुख का जीवंत सौरभ भी है और अविश्रांत आत्मा का, उसकी अविराम यात्रा का अमृत प्रकाश है।

अब उस चिर साधना के वज्रासन के सामने पिता, स्व० पिता रामानुग्रह शर्मा की बोलती प्रतिमा अश्रु गद्-गद् हो बोल रही है क्या ?

'न प्रभातरलं ज्योतिरुदति वसुधा तलात्'

● ● ●

तुझे लोक-कल्याण-कामना,
शोक एक का झूठा
असन्तुष्ट अपनी स्थिति से सब,
तेरा नेह अनूठा !

—गन्नीपुर,
मुजफ्फरपुर

●

निरालावतरण के भगीरथ

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

—डा० रमेशचन्द्र मिश्र

आधुनिक हिन्दी कविता के इतिहास में कालजयी त्रयी' प्रसाद' 'निराला' पन्त की प्राण-प्रतिष्ठा का श्रेय सुप्रसिद्ध छायावादी समालोचक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को ही, परन्तु साहित्य की इस त्रिवेणी में अपने औघड़-अनगढ़-विराट कृतित्व और व्यक्तित्व को लेकर भी महाप्राण-महाकवि निराला की कविता-धारा सरस्वती की संज्ञा सार्थक कर रही थी। कठिनता का कलंकी निराला दुर्बाध और दुरूह समझा जाने लगा था। लोग उसकी कविता को कठिन-कोमल शब्दों का कवि ही कहा करते थे, कुछ उदार लोग उसे 'रहस्यवादी' और 'दार्शनिक' कहकर एक प्रकार की विचित्र उपेक्षा दिखा रहे थे! उसकी 'जुही की कली' साहित्यिक महारथियों के चक्र में कुचली जा चुकी थी। उनकी कविताएँ पाठ्य पुस्तकों में रखने में लोग कतराते थे, अच्छे प्राध्यापक सिर खुजला-खुजला कर भी उनकी ललित कविताओं को न समझ पाते थे और न समझा पाते थे। यह खतरा उत्पन्न हो गया था कि लोग 'निराला' को एक अनिर्वचनीय, दुरूह, दार्शनिक बनाकर केवल अपने इतिहास के पृष्ठों में स्थापित कर रहे थे। कुछ ईर्ष्यालु भी थे जो कि निराला के महत्त्व को स्वीकार नहीं करना चाहते थे। ऐसे विषम-समय में साहित्याचार्य शास्त्राचार्य और वेदान्ताचार्य की गौरव-गरिमा से मंडित साहित्य में अपने नवीन गीतों के कारण संस्कृत की पत्रिकाओं में संस्कृतवाणी के रवीन्द्रनाथ कहे जाने वाले आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री हिन्दी साहित्य की ओर मुड़े, निराला ने उन्हें आकर्षित किया और वे हिन्दी के भी आचार्य बन गए।

इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि सर्वप्रथम निराला का साहसिक नहीं दुस्साहसिक, शास्त्रीय एवं पाण्डित्यपूर्ण विवेचन अत्यन्त आधुनिक शैली में केवल आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रारम्भ किया। निराला-दर्शन ही नहीं निराला पर सर्वप्रथम कविता भी शास्त्रीजी ने ही लिखी थी, उसके बाद कविबर पन्त एवं डा० शिवमंगल सिंह 'सुमन', डा० रामविलास शर्मा आदि की कविताएँ प्रकाशित हुईं।

जानकीवल्लभ की विदग्धता पूर्ण ही नहीं, अपितु सरसतापूर्ण निराला की आलोचनाओं से बड़े-बड़े दिग्गज समालोचकों को अपना मत परिवर्तन करना पड़ा। आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने कहा कि मैं शास्त्रीजी का निबन्ध पढ़ने से पूर्व निराला की 'सन्ध्या-सुन्दरी' आदि कविताओं को ही सर्वश्रेष्ठ मानता था, किन्तु शास्त्री जी के पाण्डित्य पूर्ण विवेचन ने यह सिद्ध कर दिया है कि 'राम की शक्ति पूजा' और 'तुलसीदास' ही निराला की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं और आचार्य वाजपेयी ने शास्त्री जी के 'साहित्य-दर्शन' ग्रन्थ को देखकर निष्पक्ष राय दी कि 'यह नवीन समीक्षा-साहित्य में प्रथम श्रेणी की रचना है और इससे नई समीक्षा को नया बल प्राप्त होगा। ये शब्द उसके बाद कहे गये थे जब लखनऊ की माधुरी में करीब एक वर्ष तक निराला की काव्य-कला पर, उनके शिल्प-चातुर्य पर, उनकी चित्र-भाषा पर और उनके शब्द गाम्भीर्य पर जानकीवल्लभ के धारावाहिक लेख प्रकाशित हो चुके थे और जिस लेख के सन्दर्भ में राष्ट्रकवि दिनकर को कहना पड़ा कि धन्य है वह कवि जिसे जानकीवल्लभ ऐसा समीक्षक मिला। राष्ट्रकवि की अगली सम्मति थी हिन्दी में अलोचना के विषय पर इसके (साहित्य दर्शन) समान सरवान और ग्रन्थ नहीं है। आचार्य शिवपूजन सहाय ने कहा 'चूँकि निबन्धकार एक सिद्धहस्त समीक्षक और कुशल कथाकार तथा अत्युच्च कोटि के कवि हैं इस सिद्ध कवि में मुझे उनके तीनों विशद रूप निखरे हुए दीख पड़े हैं। इसी प्रकार अंग्रेजी, जर्मन एवं फ्रेंच साहित्य के मर्मज्ञ, आलोचक एवं कवि आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने कुछ ऐसा ही कहा था कि 'प्रसाद-निराला पंत और महादेवी के बाद यदि कोई नाम दिमाग पर आता है तो वह जानकीवल्लभ और बहुत सिर खुजलाने के बाद भी पाँचवाँ नाम जानकीवल्लभ ही आता है।

महाकवि निराला की स्थापना में नींव का पत्थर जानकीवल्लभ ने ही रखा है और इस मजबूती के साथ रखा है कि आज निराला जी

के महत्त्व को स्वीकार न करने वाला साहित्य-धर्म में नास्तिक समझा जाएगा। निराला जी की अवमानना बीते युग की बात हो गई है। आने वाली पीढ़ियाँ निराला के महाप्राण कलाकार की प्रतिभा को जानकी वल्लभ के चश्में में देखने को बाध्य होगी निराला की सरल, निष्कपट, उदार जीवन की बाँकी झाँकी जानकीवल्लभ की आँख से ही देख सकेगी। जानकी-वल्लभ ने निराला की साहित्यिक प्रतिभा का ही नहीं, उनकी प्राणवत्ता, उनकी महामानवता का भी दर्शन कराया है, जो साधारण मानदण्ड से बाहर की चोज है। निराला को जिस संस्कृति और जिस भाव-भूमि ने जन्म दिया था, वह शुद्ध भारतीय तथा हिन्दी की अपनी थी, जबकि हिन्दी के कई अन्य शीर्षस्थ कवि विदेशी प्रेरणाओं को लेकर आए थे। निराला के सामने जानकीवल्लभ का काव्य-जन्म संस्कृति-संस्कृत और भारतीय निखार के साथ हुआ। अत: निराला को जानकीवल्लभ ने जितना परखा-समझा वह पूर्वाग्रह या किसी अन्य प्रभाव से अछूता था। निराला चिन्तन जानकीवल्लभ की मौलिक कल्पना है जो कि वेदान्त आदि दार्शनिक ग्रन्थों के चिन्तन-मनन से उन्हें सहज उपलब्ध रही है।

विशाल सांस्कृतिक परम्परा और सुगठित तथा सुदृढ़ साहित्यिक आधार बहुत कम लोगों को प्राप्त होता है। अत: उनके भाषा और भाव प्रदर्शन में कभी-कभी 'तुलसी' का भान होता है जो सीमा हीन है, अत: अनन्त हैं। जानकीवल्लभ ने साहित्य की प्राचीन और नवीन अथवा अत्यन्त अर्वाचीन खाइयों को अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व से बांध दिया है। वे बाल्मीकि-कालिदास के साथ-साथ 'निराला' और 'अज्ञेय' को एक हाथ से पकड़े हुए हैं। अनेको काव्य-ग्रन्थों, कथा-संग्रहों, समीक्षात्मक साहित्य, नाट्य आदि के रचयिता, जिनकी कृतियाँ स्नातकोत्तर कक्षाओं में पढ़ाई जाती हैं, जिनकी कृतियों पर विश्वविद्यालयों में विद्वान् 'थीसिस' लिख रहे हैं, जो हिन्दी और संस्कृत विभाग का एक साथ प्राध्यापक है वह निराला-निकेतन बनाकर मुजफ्फरपुर के एक कोने में समाधिस्थ-सा सतत साधना में तल्लीन हैं। उसके यहाँ 'निराला' पृथ्वीराज कपूर सदृश अनेक दिग्गज आते रहे हैं। 'उदय शंकर' 'पटवर्धन' से संगीत विशेषज्ञ जिसका साहचर्य प्राप्त करते हैं। वह किसी 'ग्रप में नहीं है। अत: उसका इस छलिया युग में उतना प्रसार नहीं है जितना कि होना चाहिए था। इस बात में जानकीवल्लभ निराला के अनुगामी हैं किन्तु वह निराला की भाँति संघर्षशील नहीं बन सका और

वह ऐसी तिकड़म भी नहीं कर सका, जिसमें लोग जिस-तिस का ऐसा - वैसा धक्का लगा-कर आगे बढ़ जाते हैं उसका अनायास विश्वास जो कि विद्वता भिन्न हैं, किन्हीं बैसाखियों के सहारे बढ़ना नहीं चाहता। उसने उतना लिख दिया है और लिख रहा है। वह सब बाजार में है, राह में है, जिसके जी में आए क्षण भर रुक कर आते जाते उसे आँखे फाड़ देखे, पढ़े और ठिठक कर स्तब्ध रह जाए।

निराला सम्बन्धी जानकीवल्लभ की कृतियाँ पढ़ता हूं तो लगता है उन्हीं के शब्दों में, 'कैसे इतनी कठिन रागनी कोमल सुर से गाई' ? फिर ध्यान आता है कि जानकीवल्लभ शास्त्रीय संगीत के भी ज्ञाता हैं, उनके गीत संग्रहों में गीतों में छन्द ताल-लय का समुचित वर्णन है। उनकी भाषा शरद्-पूर्णिमा की चाँदनी से धुले हुए आकाश की भाँति स्वच्छ हैं और उनके भाव प्राणों को ऐसे छूते हैं जैसे रात्रि की शून्यता में पपीहा पुकार उठा हो। उनका गद्य हाँ गद्य, उसके बारे में महाकवि निराला के विचार देखिए 'भाषा रोचक, सरल काव्यमयी है। गद्य में जानकीवल्लभ जी ने चार चाँद लगा दिए हैं। हिन्दी उनके हाथ में कली की तरह दल खोलती जा रही है।'

'निराला को, जिसे लोग दुर्बोध समझते थे, उसकी व्याख्या सौन्दर्य-भार से पीपल के पत्ते की तरह काँपती हुई भाषा में की। निराला के काव्य की नवीन अभिव्यञ्जनाओं से ओत-प्रोत मर्मस्पर्शिनी भावनाओं को मूर्त रूप दिया। उस युग में जब निराला की पर्वत के समान महत्ता, समुद्र के समान गहराई और उसके आकाश के समान विशालता से लोग अनभिज्ञ थे। यह श्रेय एक मात्र, हाँ मैं विश्वास पूर्वक 'एक मात्र' शब्द का प्रयोग कर रहा हूं श्रेय सिर्फ जानकीवल्लभ को है कि उन्होंने निराला से हिन्दीवालों को परिचित कराया और निराला के कारण हिन्दी विश्व - साहित्य में अपना उन्नत भाल लेकर खड़ी है। कुटिल कुचालियों ने ईर्ष्या अथवा अनभिज्ञता के कारण निराला की साहित्य-गंगा को अवरुद्ध कर दिया था, उसे रूढ़ियों को तोड़, उर्वर भूमि को सींचकर तृप्त करा देने का श्रेय आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री को है। इसीलिए मैं इन्हें निरालावतरण का भगीरथ कहता हूं।

मोती बिल्डिंग,
किंग्स बे,
सदर बाजार, जबलपुर (म० प्र०)

शास्त्री जी की कला का आत्म-वैशिष्ट्य

—डॉ० मारुतिनन्दन पाठक

हिन्दी साहित्य में निराला के बाद उसी प्रवाह में जो एक कवि कई दृष्टियों से सर्वाधिक महार्घ है उसी एक कवि का नाम आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री है। उसी प्रवाह में कहने का तात्पर्य निराला की अनुकृति या पुनरावृत्ति नहीं है, अपितु गहरी सांस्कृतिक निष्ठा और कला की शर्तें है, जो आधुनिक जमीन में परिपक्व होकर एक अलग किस्म की खूशबू विखेरती हैं उसकी पहचान संस्कृति के जीवन्त तेज, जीवन की ऊष्मा, कला के व्यापक स्वर और अभिव्यक्ति की उदात्तता से होती है। शास्त्री जी की यही पहचान बनती है। अतः शास्त्री जी कुछ देर तक और कुछ दूर तक उस प्रवाह में प्रवाहित हो लिए, यह बात नहीं; बल्कि उसके मूल से जुड़कर अवधानतापूर्वक उन्होंने उसे फैलने के लिए एक ठोस और बड़ी जमीन दी जिसकी उर्वरता असन्दिग्ध है, भविष्य में भी। हाँ, यह कार्य मुक्त अवस्था में सम्पादित होता है। प्रवाह के प्राकृतिक कगार तो हो सकते हैं किन्तु वहाँ कोई अवरोध या बन्धन सत्य नहीं होता जो उस प्रवाह को रोक दे और वह वहीं चक्कर काटता हुआ विशीर्ण हो जाए। तब वह प्रवाह भी नहीं कहलाता। ऐसी ही मुक्त अवस्था में जो रचना होती है वह

दीर्घजीवी होती है और उसका रचयिता अमर होता है। इस अवस्था की सघनता में सृजित रचना ही रचनाकार की मौलिक उपलब्धि होती है, शेष तो आवृत्ति भर रहती है। इसकी मात्रा जितनी ज्यादा होती है उसी अनुपात में वह रचनाकार उतना ही बड़ा होता है। शास्त्री जी में इसकी मात्रा पर्याप्त है इसलिए निस्सन्देह उन्हें वह स्थान प्राप्त है जो हर युग में कनिष्ठिकाधिष्ठित कवि को प्राप्त होता है।

सांस्कृतिक निष्ठा और कला की चेतना अपनी सूक्ष्मता और उदग्रता के साथ जहाँ एकत्र होती है वहां कला-भूमि इतनी विस्तृत हो जाती है कि वह सर्वाङ्गीणता और विविधता को सहजरूप में धारण करती है। भारतीय संस्कृति और भारतीय कला पृथक्-पृथक् और समवेत रूप में भी, अपनी उदार विस्तृति के लिए ख्यात है जिसका रूप अन्ततः मधुर है। यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि ये दोनों कोई रूढ़ि या जड़ पदार्थ नहीं हैं, बल्कि इनकी एक ऐसी चेतना है जो मूल से आरम्भ होकर अनवछिन्न रूप से निरन्तर प्रवहमान है। जो कवि इस चेतना से जितना तादात्म्य कर पाता है वह अपना उतना ही विस्तार कर पाता है। शास्त्री जी का जुड़ाव आरम्भ से ही इस मूल चेतना से हुआ और तादात्म्य भी हुआ जिससे यही चेतना उनकी स्वाभाविक चेतना बनी। इसीलिए उनकी रचनाओं में यह समवाय रूप में व्याप्त और प्रवहमान प्रतीत होती है, असमवाय या निमित्त रूप में नहीं। चूंकि प्रवाह निरन्तर गतिमान है, किसी वाणी-जल की भाँति रुका-ठहरा नहीं रहता, इसलिए उसमें पुरानापन नहीं होता। वह मूल से जुड़ा होता है इसलिए मौलिक है और जितनी बार होता है, नया होता है इसलिए भी मौलिक है।

शास्त्री जी का साहित्य बहुत दूर तक और बहुत रूपों में फैला है और ऐसे पथ की भी यात्रा करता है जहाँ सामान्य शक्ति से जाया नहीं जा सकता; इसलिए शास्त्री जी के साहित्य में अपने मूल की शक्ति एवं मधुरिमा के साथ यात्रा के तरह-तरह के अनुभव भी जुड़े होते हैं, वहाँ एक विशेष प्रकार की ताजगी और सुगन्ध घुली-मिली होती है। वैचारिक क्षेत्र में, इसीलिए उनमें जीवन के प्रति प्रबल आस्था है और वह जीवन को सर्वोपरि मानते हैं तथा उसे समुन्नत बनाने एवं संवारने की खातिर सभी कलाओं, और सभी शास्त्रों को साधन-रूप में उपयोगी मानते हैं। जीवन शास्त्र के लिए नहीं है, अपितु शास्त्र जीवन के लिए है। साहित्य

में भी क्या लिखना है ! जीवन लिखना है। यह शास्त्री जी की विशेष दृष्टि ही नहीं, विशेष उपलब्धि भी है। ऐसी दृष्टि और शक्ति से समन्वित होने के कारण शास्त्री जी के साहित्य में विधायात्मक और भावात्मक क्षमता भी अधिक है तथा कला के वे सारे द्वार खुलते हैं जो किसी-न-किसी रूप में जीवन के लिए अतिशय उपस्कारक है। संघर्षों को किसी कला में उतारना और उसे लालित्य में परिणत करना संघर्ष की तीव्रता को कम करना नहीं है बल्कि संघर्षों के बीच से और संघर्षों को पार कर जीवन को महसूस करने, जीवन को पाने का एक उत्कृष्ट उदात्तीकृत उपाय है। शास्त्री जी का साहित्य साक्षी और प्रमाण दोनों है कि इस निमित्त कला के कितने रूपों का, कितनी दूर तक, कितनी सूक्ष्मता के साथ प्रयोग हुआ है और हो सकता है।

स्नातकोत्तर विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोध गया, (गया)

"तुम एक सिसकती शबनम को अंगार बना दो तो जानू"

● आचार्य विन्ध्यवासिनी दत्त त्रिपाठी

पांडित्य एवं प्रतिभा के धनी, मानवीय संवेदनाओं के अप्रतिम प्रतिमान, हिन्दी के शीर्षस्थ कवि, "गद्य कवीनां निकषं वदन्ति" इस उक्ति के मूर्तमंत स्वरूप, जाने-माने समीक्षक, कहानीकार, एक किरण सौ झाँइयाँ, दो तिनकों का घोंसला और कालिदास जैसे उपन्यास लेखक, "हंस बलाका", "कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे" जैसे संस्मरण ग्रंथों के प्रणेता, अद्वैत-वेदान्त दर्शन के गहन गंभीर चिन्तक एवं अध्येता, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री से मेरा प्रथम साक्षात् एवं परिचय १९४० के मई महीने में हुआ था। वे हिन्दू विश्व विद्यालय, वाराणसी से अपनी शिक्षा समाप्त कर रायगढ़ में राज कवि होकर चले गए थे, किन्तु राज प्रासाद, उसका वैभव-विलास उन्हें रास नहीं आया, और उसे ठुकरा कर, वे साहित्य-साधना की आग में तपने के लिए बिहार की धरती पर आ गये। मैं तब हिन्दू विश्व-विद्यालय में प्रवेश पाकर शिक्षा ग्रहण कर रहा था। हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत छात्रावास में एक कवि के रूप में शास्त्री जी की चर्चा परवान चढ़ रही थी। तबतक उनकी संस्कृत गीति काव्य-संकलन "काकली" प्रकाशित हो चुकी थी। इस संकलन के प्रकाश में आने से साहित्य-जगत् में भूचाल-सा आ गया। सम्पूर्ण देश के संस्कृत पंडितों ने इस नवीनतम संग्रह और उसके १८ वर्षीय प्रणेता को विस्मय-विमुग्ध नयनों से निहारा।

शास्त्रीजी प्रारम्भ में संस्कृत में ही लिखा करते थे, उनकी "काकली", संस्कृत काव्य में एक नवीन प्रयोग ही नहीं, नई दृष्टि एवं नव बोध का भी

प्रतीक थी। शास्त्री जी की 'काकली' के छंद पंडितों के छन्द विधान की तरह जोड़े हुए छंद नहीं थे, बल्कि उसमें एक प्रवाह था, विशिष्ट लय थी, रचनात्मक सामर्थ्य और ताजगी थी। उन दिनों संस्कृत छात्रावास के छात्रों के कंठ-कंठ पर गूँजता यह गीत "निनादय नवीनामये वाणि वीणाम्, मृदुं गाय गीतिं ललित नीति लीनाम्" प्रसिद्धि के शिखर पर था।

"काकली" के कवि जानकीवल्लभ शास्त्री 'ललित ललाम' अब सन् चालीस के आस-पास, निराला जी की प्रेरणा से हिन्दी में लिखने लगे थे। शास्त्री जी को देखने, उन्हें सुनने, और उनसे बातचीत करने के अवसर की प्रतीक्षा में मेरी आकांक्षा पल रही थी, तभी वे एक दिन छात्रावास में, अपने गया जिला के कुछ छात्र-मित्रों से मिलने आए थे, और उन्हें देखकर मन पुलक प्रसन्नता से भर उठा था। लम्बे घुँघराले बाल, उन्नत नासिका, लम्बा दुबला शरीर, जमीन छूती धोती का छोर और लम्बा कुर्ता पहने, होठों में दबी-फँसी हँसी, कुल मिलाकर कविनुमा चेहरा, तब कवि होना एक सुखद आश्चर्य की बात होती थी और कवि-दर्शन में देव-दर्शन जैसा सुख मिलता था।

१९४० के आसपास शास्त्रीजी के हिन्दी गीतों का संग्रह 'रूप-अरूप' प्रकाशित हो चुका था, जिसके कतिपय गीतों को तभी उनके मधुर कंठ से सुनने का सुखद संयोग उपलब्ध हुआ था मुझे, और तबसे आजतक मैं उनकी रचनाओं का अदना पाठक रहा हूँ। शास्त्रीजी लगभग चौवन-पचपन वर्षों से निरन्तर हिन्दी में लिखते रहे हैं, और इस अवधि में उन्होंने क्या कुछ नहीं लिखा, कविता, कहानी, उपन्यास, समीक्षा, नाटक, ललित निबंध, संस्मरण और उन्होंने जो कुछ भी लिखा, अत्यन्त उत्कृष्ट लिखा।

शास्त्रीजी ने अपनी कविताओं में अनेक प्रयोग किए हैं, प्रयोग की दृष्टि से भी शास्त्रीजी का काव्य-अवदान असाधारण है, विविध विधाओं में लिखी उनकी गद्य-पद्य रचनाएँ किसी की प्रशंसा और किसी की समीक्षा का मुँहताज नहीं हैं, वे अकेले अपने-आप मार्ग की सारी बाधाओं को पार करते हुए जिस शिखर सम्मान के सहज ही अधिकारी बन गयी हैं, उन्हें नकारने वालों को आने वाली पीढ़ी स्वयं ही नकार देगी। वैसे हिन्दी के समीक्षक अबतक अपने सही दायित्व का निर्वाह भी नहीं कर सके हैं। शास्त्रीजी एक अकेले ऐसे साहित्यकार हैं, जिन्हें समीक्षकों ने नहीं, स्वयं अपने कृतित्व ने उछाला है। उन्हें कभी किसी बैसाखी की जरूरत नहीं पड़ी। "उत्पश्यते

मम तु कोऽपि समान धर्मा" की उक्ति में विश्वास रखने वाले शास्त्रीजी प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के बाद सर्वाधिक चर्चित कवि रहे हैं। शास्त्रीजी ने अपनी कविताओं को किसी वाद का विषय नहीं बनाया है, निरन्तर लिखना ही उन्होंने अपना धर्म माना है, लिखने के क्रम में, विशेषतः कविता लिखने के क्रम में जब जैसे भाव आए, मन की गुन-गुनाहट से जो भी छंद निकले, उसे उन्होंने अभिव्यक्ति दी।

शास्त्री जी संस्कृत वाङ्मय के उद्भट विद्वान् एवं अध्येता हैं। पिछले दिनों हिन्दी के जाने माने कवि श्री त्रिलोचन शास्त्री ने कहा था कि **जानकीवल्लभ शास्त्री-जैसा संस्कृत भाषा का महान् पंडित बिहार, उत्तर प्रदेश और दक्षिण भारत में भी कोई नहीं है।** कुछ इसी तरह की बात हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध समीक्षक डा० नामवर सिंह ने अपनी हाल की पटना यात्रा में कही : " यदि हिन्दी में लिखने वालों में किसी एक व्यक्ति का नाम लेना होगा, जो संस्कृत से आया हो और हिन्दी में निरन्तर लिख रहा हो, और सारी विधाओं में उत्कृष्ट लिख रहा हो, तो वह नाम आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का ही होगा।" मैंने जब नामवर जी को बताया कि शास्त्री जी आजकल कालिदास पर एक वृहत् उपन्यास लिख रहे हैं तो उन्होंने उसके कुछ अंश देखने की इच्छा प्रकट की, तो 'बेला' के कुछ अतिरिक्त अंक मैंने उन्हें दिए, जिसे वे साथ ले गए, केवल कालिदास उपन्यास के अंशों को पढ़ने के लिए। इस प्रसंग में नामवर जी की ही एक बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। नामवर जी ने कहा कि "एक बार मैंने पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी जी से कहा था कि आप कालिदास पर स्वतन्त्र रूप से क्यों नहीं कुछ लिख रहे हैं" इस पर पंडित जी ने कहा कि "कालिदास पर कोई महापंडित ही लिखेगा"। आज हजारी प्रसाद जी जीवित होते तो जानकीवल्लभ जी द्वारा लिखित इस कालिदास उपन्यास के संबंध में यही कहते, : देखो कोई महापंडित कालिदास पर लिख रहा है !

वैसे मेरी बातें कम लोगों से होती हैं, पर उत्तरप्रदेश विशेषतः वाराणसी में रहे, अपने साहित्यिक मित्रों से जब कभी मेरी बातें हुई तो उन्होंने एक स्वर से शास्त्रीजी की प्रतिभा, उनके पांडित्य तथा उनके अवदानों को मुक्त हृदय से स्वीकारा।

डी०4 शान्तिविहार कॉलोनी
बेली रोड,
पटना

कविता की पहचान

□ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का गीत-काव्य

□ राधा : एक विशिष्ट गीति-प्रबंध

□ समकालीन गीत और 'धूप-तरी'

□ डा0 राजेन्द्र गौतम

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का गीत-काव्य

□ डा० राजेन्द्र गौतम

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की एक व्यंजना गर्भित पंक्ति है—'सुन्दरतम को भी पड़ता है आलोचक आँखों में जँचना।' संयोगवश साहित्य की श्रेष्ठता के दोनों मानकों—मात्रात्मक समृद्धि एवं गुणात्मक गौरव—पर खरा उतरने पर भी शास्त्री जी का साहित्य हिन्दी आलोचकों का उतना ध्यान नहीं खींच पाया, जितना अपेक्षित था। गत साठ वर्षों में संस्मरण, आलोचना, प्रबन्ध-काव्य एवं गज़ल आदि अनेक विधाओं में तो उनकी उपलब्धि ऐतिहासिक है हाँ, केवल गीत के क्षेत्र में भी उनका प्रदेय अपने अनेक समकालीनों से बहुत अधिक है, जबकि उसका मूल्यांकन-विवेचन नहीं के समान हुआ है। 'रूप अरूप', 'तीर तरंग', 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवंतिका'. 'हंस–किंकिणी', 'सुरसरि', 'संगम', 'उत्पलदल', 'बाल लता', 'श्यामा संगीत' एवं 'धूपतरी' जैसे अनेक संकलनों के माध्यम से श्रेष्ठ गीतों के प्रणेता आचार्य जी ने कविता मन्दिर में 'काकली', 'बंदीमंदिरम्' एवं 'लीला पद्मम्' जैसी संस्कृत रचनाओं के नैवेद्य के साथ प्रवेश किया था। संस्कृत साहित्य के अध्ययन एवं सर्जन का बहुत गहरा प्रभाव उनके हिन्दी गीतों पर पड़ा है। यह प्रभाव संस्कृतिमयता के रूप में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा पर, देश-काल निरपेक्ष शाश्वतता के रूप में जीवन-दर्शन पर, संस्कृतनिष्ठता के रूप में भाषा पर तथा वाग्वैदग्ध्य के रूप में शिल्प-तत्त्वों पर स्पष्ट है। उनके गीतकाव्य की क्लासिकल उठान—'डायमंडकट' पूर्णता—उनके अगाध संगीत-ज्ञान एवं संस्कृत-ज्ञान का भी परिणाम है।

यह एक विडम्बना है कि शास्त्री जी का गीतकाव्य जब अपनी उपलब्धि के उच्चतम शिखरों पर पहुँचा था, उस समय, एक ओर हिन्दी आलोचक न केवल गीत के प्रति उदासीन था, बल्कि उसे अप्रासंगिक विधा मान चुका था, दूसरी ओर स्वयं गीत रचना के क्षेत्र में रसिकता की ऐसी बाढ़ उमड़ी थी कि स्वर्ण शिखरों पर पहुँचने वाला गीत विकृति एवं पतन का इतिहास लिखने लगा था। शास्त्री जी का आगमन हिन्दी कविता में उस युग में होता है, जब उनके समक्ष कई शीघ्र-यश-प्रदायी सरल मार्ग थे। वे 'मधुशालायी स्कूल' में प्रविष्ट होकर आशुलोकप्रियता भी अर्जित कर सकते थे अथवा आगे चलकर अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिकता का झंडा उठा कर 'नई कविता' में अपनी धाक जमा सकते थे। परन्तु उन्होंने बीहड़ से गुजरने वाली जिस पगडंडी को चुना, उस पर चलते हुए उन्होंने स्वयं को अकेले ही पाया। ऐसी पथ-रीली राह पर साथ में जय-जयकार करनेवालों की भीड़ भले ही न हो पर यह यात्रा कितना बड़ा अनुभव देती है—यह प्रत्यभिज्ञा तो उनके विपुलरचना जगत् से परिचित होने पर ही मिलती है।

शास्त्रीजी की गीत-साधना का आरम्भ सन् १९३५ से 'रूप-अरूप' के माध्यम से होता है। इस आरम्भिक कृति में ही कवि-व्यक्तित्व की महत्ता और काव्य-क्षितिज के विस्तार का स्पष्ट परिचय मिलता है। कवि जीवन के प्रति अपनी प्रतिबद्धता को स्वीकार करते हुए कहता है कि 'उसने आसमानी उड़ानों में कला का हारिल नहीं पकड़ा है और न कभी वह अनबिंधे मोतियों की खोज में अतलता में डुबकियाँ लगाता हुआ किनारे से इतनी दूर निकल गया कि मुट्ठियों में सीपियाँ भींच कर तैर सकना कठिन और मझधार में डूब जाना नागवार होने पर भी बाहर न आ सकता।' आलोचना की प्रचलित शब्दावली में तो इस संग्रह के अधिकांश गीत रहस्यवाद के अन्तर्गत आते हैं परन्तु इस शब्द का जीवन-निरपेक्ष पलायनवादी अर्थ-ग्रहण करके शास्त्री जी के साहित्य के साथ न्याय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः हिन्दी आलोचना में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने आध्यात्मिक निवेदन प्रधान कविताओं को जिस 'रहस्यवाद' के घेरे में बाँधा था, उसकी परिभाषा आज तक सुनिश्चित नहीं है। शास्त्री जी के काव्य में 'मैं' और 'वह' की सापेक्षता के व्यंजक गीतों की संख्या अत्यधिक है। उनके काव्य का 'वह' सुन्दर भी है, अनंत भी, विविध भी है, विराट् भी, वह अव्यक्त भी है और प्रकृतिमय भी। इसी प्रकार उनके काव्य का 'मैं' अनुरक्त भी है, समर्पित भी, मुग्ध

भी है, उत्फुल्ल भी। उलझता भटकता भी है, विवाद में डूबता भी है और इस प्रवृत्ति का साक्ष्य हमें मिलता है—'रूप-अरूप' की इन गीत पंक्तियों में :

कैसे बन्द रखूँ चल लोचन,
प्रिय अति सुन्दर हे !
कैसे विकल कलश मैं भर लूँ-
सकल समन्दर हे !!

× ×

तथा—

विश्व तुम्हारी माया ?
ज्योतिर्मय, यह अंधकार—
छाया कि तुम्हारी छाया ?

× ×

मैं स्वर हूँ तू है शब्दकार !
तेरे वियोग से बिछुड़न से—
है बना विश्व यह दृश्यमान,
इसलिए तो यहाँ तड़प, टीस,
उच्छ्वास विकल हैं सकल प्राण !

'रूप-अरूप' की भाँति 'तीर तरंग' में इसी प्रवृत्ति का विकास है। जीवन के करुण, पीड़क, संघर्षमय क्षणों से कवि आवेगमथित तो है पर अवलम्बनहीन नहीं। उसके अवलम्बन के दो सूत्र हैं। एक, अपनी अडिग आस्था का, दूसरा महान्, विराट एवं करुणामय के अस्तित्व के प्रति स्वीकृति भाव का। उसकी विकलता भी सकारण है। अपने को न तो गगन पा कर और न ही मही पा कर वह पूछ बैठता है :

तुम्हें सामने रखकर कहता :
कहाँ नहीं मैं ? कहीं नहीं हूँ ?
यों हम दोनों हिले-मिले हैं,
एक डाल पर खुले खिले हैं,
नाम मात्र का अंतर फिर भी
तुम हो 'हाँ', मैं हाय ! 'नहीं' हूँ !

विषय-वस्तु की दृष्टि से शास्त्री जी के गीतों का संकलनों के आधार पर वर्गीकरण संभव नहीं है, क्योंकि बोध अथवा चिंतन की गति उनके काव्य में एक ऊर्ध्वाधर रेखा (Vertical line) के रूप में दिशा प्राप्त नहीं करती, वरन् वह जीवन को सब ओर से घेरती हुई एक चक्रिल गति (Circulor Motion) का बिम्ब निर्मित करती है। कवि ने अपनी रचनाओं के प्रतिपाद्य का संकेत देते हुए जो लिखा है; वह भी यही प्रमाणित करता है। उनका कथन है–" 'मेघ गीत' और 'हंस किंकिणी' में प्रकृति के चित्र स्वर हैं, 'शिशिर-किरण' जीवन की लयात्मक पूर्णता का दार्शनिक चित्र है और 'सुरसरि' शून्य की सुधा का आध्यात्मिक। उत्पलदल में··· रूप अरूप और तीर तरंग की भाँति जीवन की प्रत्येक प्रकार की अनुभूतियाँ ठौर पा गयी हैं—प्रकृति, दर्शन, अध्यात्म, सब गुँथ गए हैं·····तो उत्पलदल रूप-अरूप और तीर-तरंग जैसा ही मेरे अस्त-व्यस्त जीवन का एक अव्यवस्थित संकलन भर है।" प्रश्न उत्पन्न होता है कि शास्त्री जी ने अपने गीतों में जीवन की सम्पूर्णता को प्रतिध्वनित करने का जो सफल श्रम किया है, उसकी संगति गीत के समीक्षकों की इस अवधारणा से कैसे बैठती है? गीत सीमित संवेदनाओं का काव्य है। वास्तविकता यह है कि गीत की यह विकलांग परिभाषा युग विशेष के काव्य को व्याख्यायित करने के लिए निर्मित की गयी है। अंग्रेजी की सब्जैक्टिव कविता के समानांतर हिन्दी समीक्षा में आत्माभिव्यक्ति को गीतिकाव्य का व्यावर्तक धर्म स्वीकार करने की परम्परा रूढ़ तक पहुँची हुई है। यहाँ मैं इस प्रश्न को आधुनिक हिन्दी कविता में शृंगार एवं प्रेम चित्रण के सम्बन्ध में विशेष रूप से उठाना चाहता हूँ। भारतीय काव्य-परम्परा का अनुशीलन प्रमाणित करता है कि कवि ने शृंगार चित्रण चाहे कितनी ही तन्मयता में डूब कर किया हो, तथापि उसके बीच तथा प्रतिपाद्य विषय के बीच एक विभाजक रेखा का अस्तित्व सर्वत्र विद्यमान रहा है–उसका शृंगार-चित्रण उसकी आत्मकथा कभी नहीं बना। टीकाओं एवं व्याख्याओं से यह भी प्रमाणित नहीं होता कि पाठक अथवा समीक्षक ने इस शृंगार चित्रण को कवि की आत्मकथा मानने का आग्रह किया हो। 'मेघदूत' और 'गीत गोविंद' संभवत: इसीलिए आज के आलोचक के लिए शुद्ध गीति-काव्य नहीं हैं। परन्तु आत्माभिव्यक्ति को इस रूप में गीतिकाव्य की शर्त बनाकर मैं नहीं समझता कि हम काव्य को धनात्मक वैशिष्ट्य प्रदान कर सकेंगे। अपितु यह तो उसकी एक सीमा ही बन जाएगी। आचार्य जानकी वल्लभ शास्त्री के गीतों का पाठक जब अपनी गीत परम्परा को हिन्दी समीक्षक की मान्यताओं के संदर्भ में देखता है, तो स्वयं को उलझन में पाता

है। विद्यापति और सूर में आत्माभिव्यक्ति की वे शर्तें पूरी नहीं होतीं, जो आधुनिक गीति काव्य के समीक्षकों ने निर्मित की हैं। 'छायावाद' को हिन्दी गीतिकाव्य का स्वर्णयुग कहा गया, परन्तु इसके प्रेमचित्रण को आलोचक या तो लौकिक मानने को ही तैयार नहीं है और उसे रहस्यवाद के घेरे में बाँधने का प्रयास करता है, या फिर उसके आलम्बन को अस्पष्ट पाकर उसके भौतिक अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए अनेक दूरारूढ़ कल्पनाएँ करने लगता है। इसके विपरीत उत्तर-छायावादी कवियों का स्पष्ट आग्रह अपने गीतों को आत्मकथात्मक बनाने का ही है। आधुनिक कविता में इस स्थिति के दो ध्रुवांत हैं–एक महादेवी वर्मा का काव्य, दूसरा हरिवंशराय 'बच्चन' का काव्य ! प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या इस अतिरंजना का कोई संतुलित विकल्प नहीं है। है, और आधुनिक हिन्दी कविता में वह प्रस्तुत किया है, निराला ने 'गीतिका' के शृंगार–गीतों में। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का काव्य अपनी सम्पूर्ण नवीनता एवं मौलिकता से सम्पन्न होते हुए भी भारतीय काव्य-परम्परा, विशेषकर संस्कृत काव्य-परम्परा का मूल्य-परक उद्घोष है। उनकी दर्शन एवं प्रेमपरक रचनाएँ गीति काव्य में आत्म कथात्मक रूप में आत्माभिव्यक्ति की संस्थापक न होकर आंतरिक संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है। इसमें कवि का आग्रह व्यक्तित्व-सम्प्रेषण है न कि घटनाओं और तथ्यों की सीमाएँ कविता के इर्द गिर्द खड़ी करना। शास्त्री जी की तो मान्यता ही है कि मैं व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का कायल हूँ, उससे पलायन का नहीं, वे भी मानते होंगे कि कवि की कामयाबी व्यक्तित्व की स्पष्टता में जितनी है, उतनी अपने जीवन का घटनात्मक इतिहास लिखने में नहीं। अध्यात्म और शृंगार का सम्बन्ध भी यहाँ स्पष्ट हो जाता है। 'कालिदास' का साहित्य इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा है कि शृंगार की परम सिद्धि उसके लोकोत्तर औदात्त्य की प्रतिष्ठा में है पर उन्हीं कालिदास का साहित्य इस तथ्य का भी प्रमाण है कि लोकोत्तर औदात्त्य की अनुभूति लौकिक रूप–सम्पदा के चित्रण के बिना संभव नहीं। काव्य का प्रभाव सात्त्विक होता है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति का राजसिक होना अनिवार्य है, वस्तुतः शृंगार की राजसिकता का भक्ति की सात्त्विकता में पर्यवसान कालिदास की कविता का, जयदेव की कविता का, विद्यापति की कविता का, सूर की कविता का, निराला की कविता का, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता का चरम लक्ष्य रहा है। इसके विपरीत न तो वह रीति साहित्य के औदात्त्य का चरम शिखर बन पाया है, जिसमें आत्मा का नैवेद्य अनुपस्थित और केवल शरीर का वासना-पिच्छिल विलास ही उपस्थित है और न ही छायावादोत्तर

हिन्दी गीत–कवि अतृप्त काम एवं पलायनवादी मुमूर्षू भावनाओं की अभिव्यक्ति के माध्यम से महाकवि बन पाए हैं। उपर्युक्त मंतव्यों को स्पष्टता के लिए मैं 'अवंतिका' संग्रह से ये पंक्तियाँ उद्धृत करना चाहूँगा :

जब प्रथम हम थे मिले
परस–रस सम–भाव से था व्याप्त होता
अंग–अंग-तरंग में !

अकारण झिर–झिर समीरण
छेड़ता फिर–फिर तुम्हारे असाधारण
गंध–केश–प्रसार को
जो था छहरता लहरते उन्नत हृदय पर
स्वर्ण–हीरक–हार—प्रिय शृंगार पर
भर–भर अपार उमंग में !

नयन नर्गिस–से खिले
झलक किसकी देखते निर्मल पलक में
चाँद का मधु पी रही कर बन्द पाँखें—
मधुकरी–सी, गंध से निस्पन्द आँखों में !

इस कविता की इनसे पूर्व की पंक्तियों 'आज इस नीरव निशा में मालती की सुरभि-सी आई तुम्हारी याद !' में आत्माभिव्यक्ति का स्पष्ट संकेत है। साथ ही इसकी पूर्वोद्धृत एवं अन्य पंक्तियों के रूप-चित्रण में शृंगार की उद्दामता स्पष्ट है तथापि पूरी कविता किनारों के बीच प्रवाहित है। शुचिता की सरिता का यह प्रवाह पाठक से अपरिचित नहीं रहता। शृंगार की उच्चतर भूमि का यह चित्र :

फँसता गला, स्वर काँपता–सा बिखरता—
अविराम विरच विराम ! /बोलीं तुम
कि जैसे पद्म-कलिका खोलती हो रंग-पर,
हो घोलती परिमल-मरंद-पराग-केसर—
····प्यार, प्रथम, प्रगल्भ !
फिर जैसे सँवर कर—/नमस्कार····/प्रणाम !!

व्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करता है। कविता को गुदगुदाने वाले विलास का पर्याय बनाने की अपेक्षा उदात्त अनुभव को वाणी बनाता है– उसे किसी एक कालखंड से काटकर शाश्वत जीवन का अनुभव बनाता है। केवल प्रेम–संदर्भों में ही नहीं, जीवन के प्रत्येक संदर्भ में शास्त्री जी काव्य में व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करते हुए भी अपनी दैनिकी नहीं लिखते। इसीलिए केवल सब्जेक्टिव पोयट्री के घेरे में उनकी कविता बँध नहीं सकती। भारतीय काव्य परम्परा गीत में वस्तुपरकता की विरोधी नहीं है और यह तथ्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है कि जहाँ छायावादी कवियों में निराला एवं पंत ने अपने परवर्ती काव्य में गीत को वस्तुपरकता की रीढ़ दी थी, वहाँ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य में भी 'रूप अरूप' से लेकर 'धूपतरी' तक वस्तुनिष्ठ तथापि व्यक्तित्व–संपन्न वे स्वर विद्यमान हैं, जो उनके काव्य को भारतीय परम्परा से ही जोड़ते हैं। उनका अधिकांश काव्य साधना-प्रधान, चिंतनपरक एवं दर्शनमंडित है, जबकि सीमित आत्माभिव्यक्ति के संस्थापक आलोचकों ने चिंतन को गीत-विरोधी माना है। वस्तुत: शास्त्रीजी का काव्य गीत की छायावादी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता हुआ क्लासिकल भावभूमि पर स्थापित होता है। मात्र वैयक्तिक उच्छ्वास क्लासिकल साहित्य को जन्म नहीं देता वह तो दर्शन एवं भावावेग के समन्वित एवं उच्चतर साधना सोपानों का ही परिणाम होता है। मेरी दृष्टि में आधुनिक हिन्दी काव्य में क्लासिकल शैली एवं स्तर के गीतों की रचना निराला के अतिरिक्त शास्त्रीजी ने ही की है।

शास्त्रीजी की कविता के विषय की दृष्टि से प्रमुख पक्ष हैं—अध्यात्म, प्रेम, प्रकृति एवं वैयक्तिक तथा सामाजिक संघर्ष। इन सभी पक्षों का उद्गाता अथवा प्रस्तोता एक 'मैं' है जरूर, पर कहीं यह 'मैं' बहु-छवि-मंडित विश्व की सृष्टि करता है और 'अपारे काव्य संसारे कविरेक: प्रजापति' की उक्ति को सार्थक करता है, कहीं यह 'मैं' वह भोक्ता है, जो युग के छल-प्रपंच, क्रूरता एवं शोषण का शिकार हुआ-सा अनुभव करता कि 'मैं' इस स्वतंत्र भारत की टूटी कूटिया में हूँ धुनी रमाए। बुझी-बुझी–सी धुआँ उगलती डिबरी एक जलाए। कहीं यह 'मैं' मानव-मात्र का प्रतिनिधि बन प्रकृति एवं अपरूप सौन्दर्य से उल्लसित होता है। करुणा से विगलित होता है; सम्पर्क में सक्रिय होता है और अग-जग में अपने अस्तित्व की सार्थकता का अनुभव करता है। इस 'मैं' का एक परिष्कृत उदात्त आत्मा-रूप है जो प्रकृति के माध्यम से निरन्तर अपना सम्बन्ध अनुभव करता रहा है और

श्रद्धानवत होकर कहता है–'श्वेत शतदल पर सुशोभित अरुण चरणों में। नील अम्बर हरित धरती संग मैं नत हूँ।' उनके काव्य में यह 'मैं' स्वयं कवि भी है, पर वहीं जहाँ वह अपनी अविकम्प साधना का परिचय देता है, जहाँ वह अपनी अनवरत संघर्षशीलता की पहचान कराता है और यहाँ 'मैं' हमारे सामने एक परिष्कृत हृदय का यह बिम्ब प्रस्तुत करता है :

अन्तर्ज्वाला में जल बुझ कर
मेरी राख सुगंध हुई है।
जीवन सघन गगन का क्रंदन
घोर तिमिर के विद्युत के क्षण
ज्यों-ज्यों व्यक्ति चुका, खोया
त्यों-त्यों अनुभूति अमंद हुई है
कौन कहेगा उसे पुराना
जिसमें नूतन की छवि नाना—
किसी नाम से इसे पुकारो,
आत्मा घन आनन्द हुई है।

आएँ अब उनके काव्य में विविध विषयों का, अभिव्यक्ति-भंगिमा का जायजा लें।

१. अध्यात्म : शास्त्रीजी के काव्य में एक अलौकिक असीम सत्ता की अभिव्यक्ति निरन्तर होती रही है, इसका संकेत पहले दिया जा चुका है। शास्त्रीजी ने इस विराट् को अपने काव्य में इतनी भंगिमाओं में, इतनी विविध छवियों में, इतने व्यापक सम्बन्धों के धरातल पर एवं इतनी बार व्यक्त किया है कि यदि इस प्रवृत्ति को हम रूढ़ पारिभाषिक शब्द 'रहस्यवाद' से व्यक्त करना चाहेंगे तो कहना होगा कि हिन्दी के इस शताब्दी के रहस्यवादी कवियों में शास्त्रीजी से बड़ा रहस्यवादी कवि कोई नहीं है। यह अध्यात्म कवि से निवेदनात्मक अथवा प्रणयात्मक सम्बन्ध जोड़ता हुआ भी व्यक्त हुआ है और प्रकृति की विविध छवियों में भी अंकित हुआ है। अनेक स्थानों पर उसकी सूक्तिमय अभिव्यक्ति है। यथा : 'मैं स्वर हूँ, तू है शब्दकार!' इसी प्रकार यह वक्रोक्ति : 'क्या कहूँ, नहीं मैं तो कुछ भी/ पर तू भी निर्गुण, निराकार!' आध्यात्मिक स्वर की स्पष्ट

अभिव्यक्ति है। कवि का अद्वैतवादी चिंतन उनके सैकड़ों गीतों में मुखर हुआ है। उदाहरणार्थ :—

रूप - रूप में फिर - फिर देखी
एक रूप की ही छाया !
षड्‌रस हो या नव रस, सब में
अरे स्वरस की ही माया !

शास्त्रीजी द्वारा रचित आध्यात्मिक श्रेष्ठता से मंडित गीतों का समवेत संकलन है —'श्यामा संगीत'। भक्ति, काव्य एवं संगीत की यह त्रिवेणी अद्‌भुत है। मां की अकूत शक्ति की मंत्र-वाणी में की गई यह प्रतिष्ठा साधक शास्त्रीजी के महाप्राण व्यक्तित्व का परिचय देती है। इस भक्ति-भागीरथी में आपको निमज्जित करवाना चाहूँगा :

मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ
जग मेरी वाणी कहे, कहे !
पाकर तेरी ही स्वर्ण किरण
मेरा खग अपना पर तोले
आए आह्वान जिधर से भी
उस ओर, निकट तेरे, डोले;
कोई समझे, मत समझे,
वह तो तेरी ही बोली बोले
बरसे वह तेरी सुधा धार
जब उसको पानी कहे, कहे !

इससे स्पष्ट होता है कि शास्त्रीजी का काव्य एक आस्तिक आस्था का काव्य है। कवि सृष्टि के कण-कण में एक आध्यात्मिक सत्ता का अनुभव करता है। जीवन को वह उसी की अभिव्यक्ति मानता है और मरण को उसी की सिकुड़न। पावस उसी का श्याम वर्ण है और शरद उसी का उज्जल दर्पण। उसी देव का सुन्दर मंदिर द्यावा पृथिवी को व्याप्त किए है, पवन तरंगे उसी के वातायन से अनुक्षण फिर-फिर छनती हैं। अतंद्र ज्योतिर्मय सूचिन्द्र अखण्ड दीपक से उसी से दिपते रहते हैं। शास्त्रीजी के आध्यात्मिक काव्य में जिस महान् दर्शन की अभिव्यक्ति है, वह सरल जीवन

सरणियों की स्वीकृति या अनुकरण न होकर गहन आत्मानुभूति का परिणाम है, यह सघन अनुभव गहन साधना एवं चिंतन का प्रतिफल है परन्तु कविता के स्तर पर इस निविड़ता को कवि ने सहज स्वरों में इस प्रकार बांधा है :

यह तो दान तुम्हारा ही है !
स्तूप बिन्दुओं का जो जीवन
यह निर्माण तुम्हारा ही है !
किससे अहिगण होते नतफन,
मंत्रमुग्ध कोविद, रसज्ञ जन ?
क्या जानूँ, मैं तो जो गाता
यह भी ज्ञान तुम्हारा ही है !

२—प्रेम, सौन्दर्य एवं शृंगार : शास्त्रीजी के काव्य में प्रेम की सीमित अथवा बंधी हुई स्थिति नहीं है। इसका लौकिक से अलौकिक तक विस्तार है, प्राणसहचरी से लेकर ईश्वर तक उसकी व्यापकता है। पंचतात्त्विक मानवी-देह से लेकर विविधरूपा प्रकृति तक उसके आलम्बन हैं। इसकी प्राप्ति के सात्त्विक उल्लास से लेकर, वंचितावस्था के गहन विषाद तक का इसमें मार्मिक चित्रण है। स्वत: लीलामय परम पुरुष के महाविलास का लास्य उनके अनेक गीतों की तानों पर हुआ मिलता है। यद्यपि 'हंस किंकिणी' 'सुरसरि' एवं 'उत्पलदल' में प्रेम एवं सौन्दर्यपरक गीतों की अधिकता है, तथापि प्रकीर्णक रूप में सभी संग्रहों में उनके इन विषयों को अभिव्यक्ति देने वाले गीत मिलते हैं।

शास्त्रीजी के काव्य में प्रेम एक दिव्य प्रकाश बन कर आता रहा है, कुंठा का धूम उसमें नहीं है, वेदना की तरलता भले ही हो। उसका प्रिय से आग्रह है !

प्राणों में प्रिय दीप जलाओ !
जिसकी शिखा न हो धूमाकुल,
सहज शांत वह ज्योति जगाओ।

उनका एक गीत है—'कपोत-कपोती'। सांसारिक प्रेम एवं वर्ग-संघर्ष का अत्यन्त मार्मिक चित्रण कवि ने इसमें प्रस्तुत किया है। जीवन की

सहजता के प्रति कवि के आग्रह का मूर्त रूप है यह गीत। कवि कल्पना करता है कि यदि वह और उसकी प्रेयसी कपोत-कपोती होते! वह तिनके चुन कर नीड़ बनाता और वह उसमें पाँखें फैला कर सोती। उसकी प्रेयसी के मन में पास के राजभवन की घास पर दाने चुनने की इच्छा होती तो वह छलछिद्र भरे जग के स्वार्थ के प्रति उसे आगाह करता हुआ वन से उसके लिए कुछ दाने खोज लाने के लिए कहता और इसी सहजता में संग-संग रहने, जीने की कामना करता, परन्तु यदि किसी दिन कपोती की हठ उसे 'प्राण-प्रण-कण' चुनने चली ही जाती, तब :

औचक उचक पकड़ लेता तुझको हँस राजकुमार,
कुसुम कुंज ले जाता, झरती जहाँ सुगन्ध फुहार

और तभी कवि का मार्मिक प्रश्न उठता है :

बता, बता न,–वहाँ भी आती—
मेरी याद तुझे? तू रोती?
कहाँ कपोत कि कहाँ कपोती!

भारतीय साहित्य में राधा एवं कृष्ण प्रेम के शाश्वत प्रतीक बन गए हैं। उनके प्रेम-संदर्भ को कवियों ने अप्रस्तुत-प्रस्तुत सभी रूपों में चित्रित किया है। शास्त्रीजी के गीतों में लौकिक एवं अलौकिक अनुराग को अनेक स्थलों पर इसी माधुर्य-प्रतीक में रूपायित किया गया है। प्रेम की अमरता, उसकी शाश्वत सत्ता की प्रतीति भी इसी मिथकीय अभिव्यक्ति में विशेष रूप से हो सकी है :

किसने बाँसुरी बजाई?
जनम-जनम की पहचानी—
वह तान कहाँ से आई?

शास्त्रीजी के काव्य में प्रेम की विविधता एवं व्यापकता है—यह पहले कहा गया है। उनकी एक प्रगीतात्मक कविता है—'सुमित्रा की शेष स्मृति'। हिन्दी के यदि श्रेष्ठ शोक गीतों को चुना जाए तो संभवतः 'सरोज स्मृति' के बाद 'सुमित्रा की शेष स्मृति' का ही स्थान होगा। बल्कि आवेग की दृष्टि से यह 'सरोज स्मृति' से अधिक स्पन्दित करती है। इस प्रगीत में भाई बहन के उदात्त प्यार का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। इसमें कवि ने बहन

सुमित्रा के शुचि जीवन का भव्य चित्रण किया है और उसके मृत्यु-प्रसंग का जो करुण आलेख प्रस्तुत किया है उसकी अश्रु-सक्ति ऊष्मा को कोई आलोचक अपने शब्दों में बाँध नहीं सकता। प्रेम की उच्चतर भूमि की यह अभिव्यक्ति साहित्य में सामान्यतः नहीं, यदा-कदा ही उपलब्ध होती है।

मेरा प्यासा प्यार माँगता एक बूँद आँखों का पानी,
कोई सुन ले यह पुकार, कोई उदार हो सहृदय, दानी !

और यह कातर वाणी अप्रतिम है :

जग का कोना-कोना सूना
अंधकार सब दिन से दूना
साँय-साँय करता सन्नाटा
चुपके कौन जा रहा भूना !

स्मृति प्रेम की अमरता का कारण ही नहीं परिणाम भी है। प्रिय के विछोह में प्रिय चाहे वह बहन है, पिता है, या पत्नी है, अतीत बार-बार साकार होता है और प्रेम का संचरण अनवरत होता है। प्रिय की चिरंतन स्मृति ही अमिट प्यार का पर्याय बनती है। 'सुमित्रा की शेष स्मृति' इस दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है।

शास्त्रीजी के काव्य में सौन्दर्य की अपरा मन्दाकिनी का प्रवाह भी आनन्द है। परन्तु दैहिक सौन्दर्य का चित्रण करते हुए भी कवि एक लोकोत्तर शुचिता का प्रभाव उत्पन्न करने में सफल रहा है। 'हंस-किंकिणी' में ऐसी सुछवि का अंकन विशेष रूप से हुआ है। यथा :

यह शरद की धूप तेरे रूप का अंगार,
प्रेम-हेम तपे ; बने कुन्दन; बने शृंगार
हरसिंगार झरा किए हैं,
नयन तेरे श्वेत या रतनार,
सौरभ-पान-पात्र भरा किए हैं।
छूटता ही है रहा प्रति प्रात वह संस्कार

प्रेम का अस्तित्व जहाँ सूक्ष्म एवं भावात्मक अधिक है, वहाँ शृंगार की चित्त वृत्तियों का अधिक मूर्त अंकन है। शास्त्रीजी ने अपने काव्य में शृंगार का चित्रण दैहिक विलास के रूप में प्राय: नहीं किया है। या तो उसे प्रेम की सूक्ष्म व्यंजनाओं में पर्यवसित कर दिया है, या उसे प्रकृतिमय बनाकर बहुआयामी अर्थस्तरों के माध्यम से व्यक्त किया है। 'शिप्रा' के एक गीत में श्लेषात्मक एवं रूपकात्मक अभिव्यक्ति के माध्यम से प्रकृति एवं शृंगार का जो चित्रण कवि ने किया है, वह अनेक विशेषताओं के कारण एक उत्कृष्ट गीत का उदाहरण बन सका है। प्रकृति एवं शृंगार का यह चित्र देखिए :

आये घन श्याम !
श्लथ हरित कंचुकी
बसुधा ब्रज बालिका
ऊर्मिल जलधि : स्रस्त कांची रणित
सजल अंग–अंग : सिहर अगणित
सुरभित-समीर-श्वास :
पुलक कदम्ब मालिका :
आये घन श्याम

३. प्रकृति : शास्त्रीजी के काव्य में प्रकृति की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका दृश्यात्मक सौन्दर्य ही कवि को मुग्ध नहीं करता, वह उसके सम्पूर्ण मनोजगत् के लिए परिवेश भी प्रदान करती है। अभिव्यंजना का अप्रस्तुत सौन्दर्य ही कवि प्रकृति से प्राप्त नहीं करता। उसके लौकिक प्रेम की श्लेषात्मक एवं ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम भी प्रकृति ही है। 'मेघ गीत' प्रकृति चित्रण की दृष्टि से उनकी श्रेष्ठतम कृति है। इसके लघु आकार वाले सुगठित गीतों में कवि ने वर्षा का सस्वर अवतरण ही नहीं दिखलाया है, पावस ऋतु की समृद्धि का भी भव्य अंकन इसमें हुआ है। धरा की तृषा मिटाने के लिए बादल से किया गया आग्रह बहुत बिशिष्ट है :

ताड़ खड़खड़ाते हैं केवल, चील गीध ही गाते,
द्रवित दाह भी जम जाता धरती तक आते-आते,
कलरव करने वाले पंछी, पत्तोंवाली डाली,
उन्हें कहाँ ठंडक मिलती है, इन्हें कहाँ हरियाली।

ऊपर-ऊपर पी जाते हैं, जो पीने वाले हैं,
कहते : 'ऐसे ही जीते हैं, जो जीने वाले हैं ।
इस नृशंस छीना झपटी पर, फट कपटी पर

'शिप्रा' में भी कवि ने ग्रीष्म का चित्रण किया है, परन्तु एक ही गीत के दो पदों में काम और अध्यात्म के भिन्न-वर्णी तथापि अन्तः अन्विति रखने वाले बिम्ब संश्लिष्ट रूप में एक ऐसे गीत की सृष्टि करते हैं, जिसकी क्षमता सरलता से खोजे नहीं मिलती। संस्कृत काव्य की क्लासिक गठन ऐसे ही गीतों में साकार हुई है। प्रकृति चित्रण के साथ ध्वनित होने वाली व्यंजनाएँ 'शिप्रा' के निम्नोद्धृत गीत की उपलब्धिपरक दिशाएं हैं :

ताली तरु मर्मर !
ग्रीष्म मध्याह्न :
तपन ऊपर
परितप्ततर
धर्म-ज्योति-प्रखर दिक्-प्रसर
निर्जल धरा,
मरु पथ पथिक असहाय,
श्रान्त-गति, भ्रांत-मति, क्लान्त काय,
उड़ रहे स्फुलिंग-से सिक्ता-कण-झर-झर
ताली तरु मर्मर
प्रेयसी ताँक-झाँक जाती,
मन-वातायन,
आज वह साज, गाढ़ परिरंभण !
वात्याचक्र चक्रमित भागा द्रुत
शुष्क-वाष्प-व्याकुल, अनुभूति प्लुत
उन्मीलित-पन्थी दृग-युग रज-भर-भर
ताली तरु मर्मर

शास्त्री जी ने प्रकृति की समृद्धि एवं उल्लास का भी व्यापक चित्रण किया है। स्नेह-रस सिंची ऋतु आने पर मंजराई अमराई का वैभव सा उनपर छा जाता है। वन की ऊँची नीची डगरियों को फूलों से ढँका देखकर वे लिखते हैं :

कनक-कमल की खुली पँखुरियाँ, निकली गंध कुमारी।
फुनगी-फुनगी हिला गयी है हँसी पवन की प्यारी ॥

४. आत्म-संघर्ष एवं सामाजिक संघर्ष : अबतक शास्त्रीजी का विपुल संस्मरण-साहित्य प्रकाशित हो चुका है। उनके संस्मरण उनके संघर्ष शील जीवन के कलात्मक आख्यान हैं। उनका काव्य जीवन के संघर्ष का घटना-सापेक्ष इतिवृत नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है परन्तु इस संघर्ष ने उनका जो व्यक्तित्व निर्मित किया है, उन्हें जिन वात्याचक्रों के बीच से गुजरना पड़ा है, उसकी सूक्ष्म-तरल मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति उनके अधिकांश गीतों में उपलब्ध होती है। उनकी कविता जिस अन्त:संघर्ष का प्रतिफल है, वह उनके इस कथन में अभिव्यक्त हुआ है : कविता मेरे जीने की शर्त-सी रही है। क्या-क्या न पढ़ा पर वह फूटी मेरी जिन्दगी से है । होठों पर जो बोल थिरके हैं, वह मेरे तरल-गहन मन के स्याह सफेद सायों से होकर ही आलोक-लोक की तलाश में बाहर घुमड़े-घहरे हैं। फिर भी इस तड़प और छटपटाहट, टूटन और बिखरावअथवा उमंग उछाल को कोई 'टॉपपर्सनल' कहे तो वह आंशिक सत्य ही होगा। क्योंकि जो रीतापन मुझे लील लेने को लपकता है वह सृजन क्षणों में शून्य फैलाव पर मेरे ही जीवन की निरर्थकता नहीं लिखता । सूनापन दृश्य बन उठने पर न कुछ में भी अनथाहे में धँसती धरती और अनछुई ऊँचाइयों तक उभरते आकाश को रेखांकित करता दिखता है। कवि का संघर्ष और उसके बीच उठता आस्था का स्वर उनकी 'जीना भी एक कला है,' 'नाविक अभी सवेरा है,' जीवन की लहरों से घिर-घिर तिरती स्वर्णतरी' जैसी कविताओं में व्यक्त हुआ है। कवि की साधना यों मुखर होती है :

तपती मरु-भूमि तवा-सी है
तपने दो, मन नभ-वासी है
तनु तन भी यदि टूटी कुटीर
रहने दो, प्राण प्रवासी है !

हमारे कुछ बंधुओं का मत है कि शास्त्रीजी का साहित्य कोरा छायावाद है, अथवा उनके गीति काव्य में उनका अपना ही जीवन संघर्ष व्यक्त हुआ है और उसमें युग संघर्ष को, सामाजिक विभीषिकाओं को स्थान नहीं

मिला है। कोई भी युग द्रष्टा कवि सामाजिक समस्याओं से निरपेक्ष हो सकता है—यह नहीं माना जा सकता। उनके कथा साहित्य में सामाजिक रिश्तों का यथार्थ उभरा है, यह उनकी कहानियों का पाठक जानता है। उनके 'शिप्रा' 'अवंतिका' 'संगम' 'बाललता' एवं 'धूपतरी' कविता संग्रहों का पाठक भी यह विश्वास नहीं कर सकता कि उनका काव्य राष्ट्रीय जीवन के स्पन्दनों को प्रतिध्वनित नहीं करता। यहाँ शास्त्रीजी के इस कथन से मैं अपने इन बंधुओं की जानकारी को बढ़ाना चाहूँगा जो जनवाद, जनबोध, प्रगतिवाद या ऐसे ही लेबल लगा कर कविता को पहचानने के आदी हो चुके हैं और शास्त्रीजी के काव्य को किसी संकीर्णवादी के घेरे में कैद न कर पाने पर उन्हें जन-विमुख कवि मान बैठे हैं, शास्त्रीजी ने लिखा है : "अकेली सी दिखने वाली काया जब अंग-प्रत्यंग की, शिराओं उप-शिराओं की संघटना मात्र है तब अपने युग और समाज से कटे हुए व्यक्ति की कल्पना अमरवल्लरी से भी बदतर किस्म की होगी। फिर भी समाज की वर्तमान स्थिति में आमूल परिवर्तन और इन्सान के जीने और उन्नति करने की मौजूदा शर्तों के खिलाफ मैंने सन् '३५ से अब तक सैकड़ों गीत और कविताएँ ही लिखी हैं; ढिढ़ोरा नहीं पीटा; ललकार और नारेबाजी से अलग-थलग, क्रांति की लहकती-जगमगाती सुन्दरता निरखी-परखी है और चिनगारियों के सौ रंग फूल खिलाए हैं। कला की परिधि में जिस सीमा तक जन चेतना उभर सकती है, मैंने कोई कसर उठा नहीं रखी है।" पहले गीत की वस्तु-परकता का उल्लेख किया गया है। हिन्दी गीत ने छठवें दशक से वैयक्तिकता एवं वस्तुपरकता का संश्लेषण कर जो नया चरित्र अर्जित किया है, उसको नवगीत काव्य के रूप में स्वीकृति मिली है। यह नवगीत-काव्य परम्परा-विच्छिन्न नहीं है, अपितु, इसकी परम्परा निराला एवं जानकीवल्लभ शास्त्री के वस्तुपरक गीतों में उपलब्ध होती है। 'शिप्रा' के प्रगीत हमारे कथन के प्रमाण हैं। युग की विकृतियाँ, मूल्य विपर्यास, राष्ट्र की अधोगति, समाज की शोषण परक व्यवस्था तथा कला एवं शिल्प के क्षेत्र में पतनोमुखी, पलायनवादी, असांस्कृतिक भोगप्रधान सभ्यता का प्रसार 'शिप्रा' एवं 'अवन्तिका' में कवि के व्यंग्य का लक्ष्य बना है। नवगीत की व्यंग्यात्मकता का मूल इन पंक्तियों में देखा जा सकता है :

चक्र घूमता, घूम रहा भूगोल है
गोल हुआ नाता गुरु का औ' चेले का
यहाँ शिखण्डी के पीछे गाण्डीवी है
ढंग और ही इस नरमेधी मेले का।

सामयिक परिवेश की विकृतियों पर शास्त्रीजी ने व्यंग्य प्रहार के लिए कई पौराणिक संदर्भों को आधार बनाकर प्रगीत रचना की है। 'अश्वत्थ', 'चाणक्य', 'अश्वत्थामा' तथा 'कर्ण' जैसी प्रगीतियाँ इसके उदाहरण हैं। 'चाणक्य' राष्ट्रोत्थान के उपक्रम की महान् रचना है। कवि की ओजदृप्त वाणी है :

सतरंगी कंचुकी फाड़ लोहे का कंचुक
चढ़वाना है हमें राष्ट्र के अरुण वक्ष पर
यही राष्ट्र केशरि-किशोर-जैसा दहाड़ कर
टूट पड़ेगा आक्रामक के कूट कक्ष पर !

वस्तुतः 'वंदीमंदिरम्, का कवि ही ऐसी उदात्त रचना कर सकता था। सामाजिक संघर्ष के चित्रण के सम्बन्ध में 'अवन्तिका' रचना का विशेष स्थान है। सामन्तवादी एवं साम्राज्यवादी अमानबीय त्रास का ऐतिहासिक आलेख प्रस्तुत करने वाला यह प्रगीत राष्ट्र के अतीत और वर्तमान का तुलनात्मक चित्र प्रस्तुत करता है। 'अवन्तिका' भारतीय संस्कृति की जीवन्त प्रतीक तो है, पर वह एक मरणोन्मुख राष्ट्र का पतन देखने के लिए अभिशप्त है। कवि सामन्तवाद और साम्राज्यवाद के पतन के बाद भी नृशंस पूँजीवाद को विकसित होते देख कर वेदना-क्षुब्ध है। मानवता की पराजय का यही आलेख कवि अतीत में भी देख पाता है :

हड्डियाँ चिचोड़ी हुई, कंक मानवता
काई से छाई, पंकिल-सुरसरि सिकता
झुर्रियों-भरा इतिहास हँस रहा हम पर
ढालू चोटी से फिसल गिरा रवि तम पर !

विभीषिका का यह मंजर बहुत दूर तक फैला हुआ है :

ढेर लगे हैं सुलगे नर कंकालों के
कुछ टीले हैं बने कबन्ध कपालों के

रक्तधार बह रही नहीं यह गैरिक-द्रव
यह हिमाद्रि-तट ? शोषण भवन खड़े नव-नव

कवि दग्ध चिताओं की कपिश शिखाओं को देखता है, दिशाएँ आक्षितिज चिरायँध से भरी हैं। श्वान, शृगाल और गृध्र अभी भूखे हैं। ऐसी है-यह सभ्यता !

रक्त पायिनी संस्कृति काली नमस्कार
स्वर्ग-वर्ग-सभ्यता करालो नमस्कार।
देन तुम्हारी है श्मशान यह अग्निबाण
आत्माहुति दे प्रायश्चित करो महान्

यहाँ उल्लेखनीय यह है कि कवि इस सब के बावजूद हताश नहीं है। उसकी आस्था मरी नहीं है। नयी सुबह के प्रति वह पूर्णतः आश्वस्त है। वह साफ देख रहा है :

नया सवेरा जन्म ले रहा, चहल-पहल है,
वन-प्रान्तर-सब मुखर मर्मरित और गुंजरित,

'बाललता' में शोषणपरक व्यवस्था के विरुद्ध स्वर अधिक मुखर है। इस संग्रह में विधवा, भिक्षुक, किसान जैसे शीर्षक ही इसके प्रतिपाद्य का संकेत दे देते हैं। एक और तथ्य इस संकलन में यह उभरता है कि यद्यपि बाललता की कविताओं के शीर्षक 'निराला' की कविताओं से मेल खाते हैं तथापि इन कविताओं का शिल्प निराला से नितांत भिन्न है। आजकल जनवाद का शोर बहुत सुनाई देता है, पर हिन्दी आलोचना में इस शब्द के प्रचलन से बहुत पहले आचार्य जी ने इस प्रकार की कविताएँ लिखी थीं :

गयी काटने गेहूँ अम्मा,
बाप गया बेगारी में है
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि विषय की दृष्टि से शास्त्रीजी का गीत-काव्य व्यापक क्षितिजों का स्पर्श करता है। उनके गीत-काव्य की रचना-प्रक्रिया एवं शिल्प-पक्ष की विवेचना एक विस्तृत

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

एवं स्वतंत्र निबंध का विषय है। यों, हमारा मानना है कि शिल्प और वस्तुपक्ष का विभाजन आलोचना की विवशता है, सर्जना का धर्म नहीं ! राग तो संश्लिष्ट अभिवृद्धि है—सप्रमाण इकाई है। शास्त्रीजी की कृतियों की भूमिकाएँ स्पष्ट करती हैं कि वे रचना को स्वत:—स्फोट का परिणाम मानते हैं। काव्य को संगीत की सहजता में ढालने का संकेत देते हुए उन्होंने लिखा है कि गर्जन और चीत्कार के प्रतिकूल मैं यह सब राग-रागिनियों में ढालता रहा हूँ जो कर्ण-कटु-कोलाहल-प्रेमी कानों को जाने कैसा लगे। शास्त्रीजी काव्य में सहजता के कायल तो हैं पर उनके अनुसार सहजता सरलता नहीं है। सहजता स्वधर्म में अटूट निष्ठा से आती है। सरल लिखने वाले कैसी सपाट सतही बातें लिखते हैं ! आसानियाँ कला के अस्तित्व तक को खतरे में डाल देती हैं। साँसों की सधी हुई गति संगीत के सहज स्वरों में ढलती है।

काव्य-शिल्प के अंतर्गत प्रमुख विचारणीय विषय हैं—काव्य-रूप, काव्य-भाषा एवं अभिव्यंजना-प्रसाधन। काव्य रूप की दृष्टि से शास्त्रीजी के गीत उच्चता के जिस शिखर पर विराजमान हैं, उनके आस-पास एक-दो शीर्ष शिखर ही नजर आते हैं। उनके गीतों की तराश, कल्पना की बारीकी, भाषा की तरलता एवं छन्दों का प्रवाह उनकी सहज स्थिति हो सकती है पर पाठक के लिए वह असाधारणता का ही पर्याय है। उनका कथन है कि गीत में मानसिक स्तर पर सहसा किसी केन्द्रीय अनुभूति का उद्घाटन होता है, जिसकी क्रमश: फैलती हुई अनुगूँज दूसरी संवादी अनुभूतियों को उकसाती है और उन्हें मूल स्वर में गूँथ देती है ''' कहना न होगा, घनीभूत लयात्मक अनुभूति संक्षिप्त ही होती है।' गीत शास्त्रीजी का सहज स्वभाव है सही, पर गीत रचना को वे काव्य की सभी विधाओं से कठिन मानते हैं। किन्तु 'अशेष विशेषताओं के साथ गीत रचना हँसी खेल नहीं है' तो न हो, तथापि हमें शास्त्रीजी की साहित्य साधना से उसी स्तर के श्रेष्ठ गीत प्राप्त हो सके हैं, जिस स्तर की दुर्लभता का संकेत उन्होंने वेद की ऋचाओं, कबीर, सूर, तुलसी, विद्यापति, चण्डीदास, टैगोर एवं निराला के गीतों में किया है।

गीत की सफलता का आधार उसकी सघनता है परन्तु निविड़ आवेग को बिखरने न देकर कलात्मक परिष्कार देना और उसकी प्रभविष्णुता

एवं स्वतंत्र निबंध का विषय है। यों, हमारा मानना है कि शिल्प और वस्तुपक्ष का विभाजन आलोचना की विवशता है, सर्जना का धर्म नहीं! राग तो संश्लिष्ट अभिवृद्धि है—सप्रमाण इकाई है। शास्त्रीजी की कृतियों की भूमिकाएँ स्पष्ट करती हैं कि वे रचना को स्वतः—स्फोट का परिणाम मानते हैं। काव्य को संगीत की सहजता में ढालने का संकेत देते हुए उन्होंने लिखा है कि गर्जन और चीत्कार के प्रतिकूल मैं यह सब राग-रागिनियों में ढालता रहा हूँ जो कर्ण-कटु-कोलाहल-प्रेमी कानों को जाने कैसा लगे। शास्त्रीजी काव्य में सहजता के कायल तो हैं पर उनके अनुसार सहजता सरलता नहीं है। सहजता स्वधर्म में अटूट निष्ठा से आती है। सरल लिखने वाले कैसी सपाट सतही बातें लिखते हैं! आसानियाँ कला के अस्तित्व तक को खतरे में डाल देती हैं। साँसों की सधी हुई गति संगीत के सहज स्वरों में ढलती है।

काव्य-शिल्प के अंतर्गत प्रमुख विचारणीय विषय हैं—काव्य-रूप, काव्य-भाषा एवं अभिव्यंजना-प्रसाधन। काव्य रूप की दृष्टि से शास्त्रीजी के गीत उच्चता के जिस शिखर पर विराजमान हैं, उनके आस-पास एक-दो शीर्ष शिखर ही नजर आते हैं। उनके गीतों की तराश, कल्पना की बारीकी, भाषा की तरलता एवं छन्दों का प्रवाह उनकी सहज स्थिति हो सकती है पर पाठक के लिए वह असाधारणता का ही पर्याय है। उनका कथन है कि गीत में मानसिक स्तर पर सहसा किसी केन्द्रीय अनुभूति का उद्घाटन होता है, जिसकी क्रमशः फैलती हुई अनुगूँज दूसरी संवादी अनुभूतियों को उकसाती है और उन्हें मूल स्वर में गूँथ देती है ··· कहना न होगा, घनीभूत लयात्मक अनुभूति संक्षिप्त ही होती है।' गीत शास्त्रीजी का सहज स्वभाव है सही, पर गीत रचना को वे काव्य की सभी विधाओं से कठिन मानते हैं। किन्तु 'अशेष विशेषताओं के साथ गीत रचना हँसी खेल नहीं है' तो न हो, तथापि हमें शास्त्रीजी की साहित्य साधना से उसी स्तर के श्रेष्ठ गीत प्राप्त हो सके हैं, जिस स्तर की दुर्लभता का संकेत उन्होंने वेद की ऋचाओं, कबीर, सूर, तुलसी, विद्यापति, चण्डीदास, टैगोर एवं निराला के गीतों में किया है।

गीत की सफलता का आधार उसकी सघनता है परन्तु निविड़ आवेग को बिखरने न देकर कलात्मक परिष्कार देना और उसकी प्रभविष्णुता

बनाए रखते हुए उसे उचित उठान तक ले जाना, संक्षिप्तता को पूर्णता प्रदान करना कुशल गीतकार के द्वारा ही संभव है। हम पाते हैं कि शास्त्री जी के इस तरह की श्रेष्ठता से मंडित गीतों की संख्या कई सौ है। संगीत का जो ज्ञान शास्त्री जी को है, उसका अल्पांश भी आज के कितने गीतकारों के पास है ? वे मानते हैं कि यदि उनके सभी गीत समय से प्रकाश में आए होते तो उनके संगीत का भी एक स्कूल होता। यहाँ हम उनकी गीतकला के दो नमूने प्रस्तुत करना चाहेंगे :

मेघ-रंध्र में मन्द्र-सांद्र ध्वनि
द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मद मृदंग की !
भाद्र-समुद्र-भद्र-रव-रशना'
नाच रही कस दस-दिशि-वसना
रिमझिम-रिमझिम, रुनझुन-रुनझुन,
छुनकिट तच्छुम रन-रन—रुन-रुन,
छुम-छुम छननन, झननन झुन-झुन,
मुक्त केश सरका नीलाम्बर !
हरित सस्य अंचल चंचलतर !!
ताल-ताल पर उच्छल-उच्छल
चलजल छलछल टलमल-टलमल
कुल कुल कुल कुल कलकल कलकल
प्रतिपद-गति नति जल-तरंग की !
तड़िद्-भंगिमा अंग-अंग की !!

इस गीत की शिल्पगत विशेषताओं का यदि आकलन करने लगें तो सूची समाप्त होने को नहीं आएगी। इसका संगीत सौष्ठव अतुलनीय है। ध्वन्यात्मकता का इससे श्रेष्ठ उदाहरण क्या मिलेगा, नादात्मकता का कलात्मक रूप क्या इससे ऊपर भी हो सकता है ? अनुप्रास की निराली छटा क्या इसे ही नहीं कहते ? भाषा का समासात्मक अर्थ-गौरव यही तो है। नृत्य, संगीत एवं चित्रकला के काव्यान्तर्गत संगम का यह साकार रूप है। प्रकृति का लास्य, बादल का राग और अम्बर की चित्रपटी मानवीकरण

से सप्राण भी तो हो गयी हैं । अलंकरण एवं अलंकार्य की अविभाज्यता. का आदर्श रूप इस गीत में प्रस्तुत हुआ है। और फिर हम सौन्दर्य के इस खण्ड-खण्ड आकलन से अगाध-अबाध सौन्दर्य को एक साथ पूर्णत: पकड़ने में सफल ही कहाँ हो सकते हैं। भाषा का यह एक रूप है। किन्तु शास्त्रीजी के गीत तो पल-पल रूप-वेश बदलते रहे हैं। इसीलिए वे चिर नवीन हैं। पूर्वोद्धृत गीत से कितनी भिन्न भंगिमा उनके इस गीत में है :

टुसिआए पाकड़ पर
बैठ कर भुजंगा
बोल रहा ठाकुर जी,
देख रहा दंगा।
भावों की मार-काट
मिली जुली भाषा
तंगदिली, संगदिली
पट्टी औ झांसा
स्रोत सियासी कि गीत
नहा रहे गंगा !
टकटकी अपरिचय की
लिजलिजी उदासी
कुछ खुमार अंगड़ाई
नींद-सी छयासी
अनसुनी सदा, गुणी—
लगा रहा अड़ंगा !
कलमल करते नथुने
गंध सड़ायन्ध,
खून गुनगुनाता
क्यों खूँटे, क्यों बंध ?
टूंग-खुटक तिनका
किनका न बैल चंगा
नक्शे में फस्ल भरे/हरे खेत खींचो,
खून पसीने का क्या,
रंगों से सींचो ।

देश हमारा न दिखे
भूखा या नंगा।

क्या इस गीत को पढ़-सुन कर भी शास्त्रीजी पर पुराना पड़ जाने का आरोप लगाया जाएगा, कहाँ नवगीत की कोई विशेषता इसमें समाहित होने से रह गई है ? क्या इसकी भाषा का अटपटापन इसकी व्यंग्यधर्मिता की ही शक्ति नहीं है ? पूरे गीत का अप्रस्तुत विधान जितना टटका है, बिम्ब योजना उतनी ही सटीक।

पारंपरिक दृष्टि से शास्त्री जी के साहित्य के विश्लेषण के संदर्भ में कुछ रोचक तथ्य हमारे सामने आते हैं। शास्त्रीजी के समग्र लेखन में शिल्पगत तीन विशेषताएँ आद्योपान्त देखने को मिलती हैं। वे हैं—(१) अनुप्रास, विशेषकर मध्यवर्ती अनुप्रास, (२) यमक (३) वक्रोक्ति ! इन विशेषताओं से रहित पंक्तियाँ उनके काव्य में ढूँढ़ना बहुत कठिन है। प्रश्न उत्पन्न होता है—क्या अनुप्रास-यमक का यह मोह शास्त्री जी में रीतिकालीन शब्दालंकार का मोह ही है या इससे इतर इसका कोई महत्त्व है। यदि शास्त्री जी के काव्य का सजग अध्ययन किया जाए तो प्रमाणित होता है कि उनके काव्य का यह वैशिष्ट्य केवल बाह्यालंकरण का मोह नहीं है। माना कि ये अलंकार चमत्कारोत्पादक हैं। परन्तु यदि सहृदयता का साथ रहे तो क्या काव्यमात्र चमत्कार-सृष्टि नहीं है। शास्त्री जी का शिल्प सहज तो है पर अनगढ़ नहीं। उनकी कला में मणिकुट्टिम संरचना स्पष्ट है। यह 'प्रोजायर' शैली वैदग्ध्य से मंडित होकर प्रथम कोटि के साहित्य की रचना करती है। शास्त्रीजी के द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास-यमक-प्रधान भाषा पर संस्कृत साहित्य का तो प्रभाव है ही, निराला के काव्य की छाप भी है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अनुप्रास एवं यमक का यह प्रयोग पाठक पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। अनुप्रास जहाँ न अनुरणनात्मक नाद-सौन्दर्य की सृष्टि के साथ-साथ पाठक की चिद्वृतियों को एकाग्र करता है, वहाँ यमक एक ओर पाठक के मन को शब्दार्थ के विस्तार की ओर चिंतनरत करता है, दूसरी ओर विदग्ध भणिति के माध्यम से पाठक पर छा-सा जाता है। शास्त्री जी का काव्य वक्रोक्तिप्रधान एवं ध्वन्यात्मक है। वाग्वैदग्ध यमक के साथ श्लेष पर भी आश्रित होता है। अतएव शास्त्री जी के काव्य में श्लेषात्मक व्यंजनाएँ बहुत अधिक हैं। यहाँ इन विशेषताओं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं :

अनुप्रास : १. पंक अंक सर सरि सिकतामय, कूल-बबूल हरे हैं .
२. मदिर मकरंद घुलता : मंद प्रतिपल बंद क्यों हैं ?
३. घाट पर घट फूटता भाटा मचलता
४. जो बाल रसाल तमाल तरुण के घेरे

यमक : १. लुटा-लुटा सा अमन चमन
२. फनफना रहे हैं पत्र-पत्र के नत फण
३. काठ दिलों ने काठ रख दिए कैसे अपरिचिता पर
४. दुपहर में डालों में झुक झूले डालो

वक्रोक्ति : १. ज्योति तुम्हारी तभी दिखी जब आँखों तले अंधेरा छाया
२. है प्रतीति ही एक सती औ सभी युक्तियाँ कुलटा
३. बहुत जोर से बोले हो स्वर इसीलिए धीमा
४. पानी-पानी हुआ हृदय कण एक न किंतु बहा था

शास्त्रीजी के काव्य में चमत्कार का महत्त्वपूर्ण स्थान है—यह सही है पर संवेदना-आश्रित अप्रस्तुतों एवं बिम्बों का भी इसमें अभाव नहीं है। उनके अप्रस्तुत विधान का समग्र मूल्यांकन तो एक स्वतंत्र निबंध में ही संभव हो सकता है। यहाँ हम उनके सन् '८६ में प्रकाशित संकलन 'धूपतरी' से कुछ बिम्बों को उद्धृत कर उनके कल्पना वैभव का परिचय देना चाहेंगे :

१. चीख सरपत के वनों में खो चुकी है
२. खंजन की उड़ान-सी वर्तुल दोपहरी की छाँह है
३. महक रही केवलता सूनी डार की
४. रुई बादल डाल मृग-छाले पड़े
५. बौरा गई जिंदगी गंदी ; बकती रही दिगम्बर
६. काँच खिड़कियों के चटखे/ओलों की फुलझड़ियों में
७. उमस-डिम्भ सेती है संध्या,/उषा खुशी को जनती बंध्या
८. चाँद का फूल खिला ताल में गगन के
९. आँसुओं टँगे सपने/तोरण उजड़े नीड़ के,

बीसवीं शताब्दी अपने समाहार की ओर बढ़ रही है। इन सौ वर्षों की हिन्दी कविता का मूल्यांकन जब भी किया जाएगा, समस्त बिखराव के

बीच, उपलब्धि की दृष्टि से इसके गीत-काव्य को शीर्षस्थ स्थान मिलेगा ही, क्योंकि भक्तिकाल के बाद काव्य एवं संगीत का कलात्मक संगम इसी शताब्दी में विशेष रूप से हुआ है। नवगीत ने उन आधुनिकतावादी आलोचकों को भी रचनात्मक प्रत्युत्तर दिया है, जो गीत की मृत्यु की घोषणा कई दशक पूर्व कर चुके थे। अतएव इस शताब्दी के साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन देर-सबेर होगा ही। इस पुनर्लेखन-प्रक्रिया में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य की सही प्रतिष्ठा हो सकेगी, इसके प्रति हम आश्वस्त हैं क्योंकि उनका गीत काव्य न तो रेत के उस महल की तरह है, जिसकी परम्परा रूपी नींव होती ही नहीं, न ही उनका काव्य मानव निरपेक्ष आधुनिकतावादियों के कैक्टस का जंगल है। जातीय संस्कारों से हीन कुकुरमुत्ते की तरह भी यह गीत-काव्य नहीं उगा है। वरन् शास्त्रीजी सांस्कृतिकदाय को पीठ पर लादे बीहड़ों के बीच से जो साधनात्मक यात्रा के साथ-साथ हमें देते रहे हैं, वह शाश्वतता का आख्यान भी है और सामयिकता का सामगान भी। वह कमल-सी शुचिता एवं औदात्य से मंडित भी है और कल्पवृक्ष-सा फलप्रद भी है। और सबसे बढ़कर उसमें कला और जीवन का संगम उपलब्ध है।

राधा: एक विशिष्ट गीति-प्रबन्ध

● डॉ० राजेन्द्र गौतम

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने छायावाद युग से ही न केवल हिन्दी में अपितु संस्कृत में भी काव्य-रचना प्रारम्भ की थी। उनके काव्य में प्रणय और भक्ति का गंगा-यमुनी प्रवाह है। 'राधा' उनके सात पर्वों में विभाजित महाप्रबन्ध का प्रणय-पर्व के रूप में प्रारंभ है। इस कृति के प्रतिपाद्य, प्रयोजन, हेतु एवं शिल्प का विस्तृत विवेचन शास्त्रीजी ने २२ पृष्ठों की लम्बी भूमिका में किया है : 'राधा' एक ओर बावरी बीन की अनमिल धुन पर जीवन हारने वाली हिरनी की कहानी है। दूसरी ओर राधा का निस्सीम-क्षितिज-यात्री सुदूरसंचारी मौन पहाड़ की फिसलन-भरी ढलान को पार करने के क्रम में हलकोरा गया है।" कथा-सूत्र का संकेत करते हुए कवि ने लिखा है "एक दिन औचक ही जीवन वन में बाँसुरी की एक टेर देर देर तक भटकती रही और फिर वह अप्रत्याशित रूप में शब्द-गुणक आकाश में मुंद जाने, अर्थवान आकाश के सिमट-सिकुड़ जाने पर कोई और विकसित ठौर न पा, देश और काल की कल्पित बाधा पार कर 'राधा' का गहन मन बन गई है।" स्पष्टत: ये कथा सूत्र घटना न हो कर घटना का प्रभाव है। परिणामत: ये भावों को प्रतिध्वनित करते हैं। ये भाव 'राधा' के माध्यम से कवि ने एक महागीत में गूंथ दिये हैं, अत्यन्त मार्मिक शैली में एवं अत्यन्त सुहानुभूतिपूर्वक।

इस गीति प्रबन्ध का प्रारंभ नीली मुरली की पुकार सुन राधा के स्वगत से होता है और घटना की दृष्टि से इस स्वगत का विस्तार है। स्वभावत: इसमें

आनेवाली अल्प घटनाएँ क्रमबद्ध नहीं, वरन् वे भाव-विह्वल राधा की स्मृति का अंश होने के कारण विगत के अनुभव की साक्षी बन कर आई हैं। भावना का यह उद्दाम प्रवाह वेदना, विषाद, करुणा एवं व्यथा के स्वरों में बोझिल है क्योंकि मिलन, अभिसार और परिरंभन तो स्मृति के अंग बन गए हैं, वर्तमान केवल विरह का दुर्लंघ्य महासागर है।

कृष्ण और राधा का प्रेम-सन्दर्भ भारतीय वाङ्मय में अनेक रूपों में चित्रित हुआ है। अलौकिक प्रसंगों में राधा प्रणय का प्रतीक ही नहीं, एक महाभाव मानी जाती रही है। इस कृति में शास्त्रीजी ने राधा के अन्तर्द्वन्द्वों के माध्यम से इस एकनिष्ठ प्रणयवती नारी का अन्तर्मन खोलकर रख दिया है। दीप-सम दमकते रूप पर जलने वाली, गगन में चमकती ज्योति पर बुझनेवाली, और जल-बुझ कर पूजा को पूरा करने वाली राधा गहराते अंधकार में जगभर के दोषों से मंडित रह कर भी, तन में मन रखती हुई भी मन को अनिकेतन पाती है। इसकी व्यथा कितनी गहरी है :–

> युग पर युग बीते रीता अन्तर ढोते,
> उन्निद्र सीप में गीले मोती बोते।
> सांसों की झंझा में दीपक प्राणों का—
> अंचल पर डाल संभाले कुल मानों का–
> लेखा-जोखा लेते हलचल को बांधे
> युग पर युग बीते विसुध साधना साधे।

राधा न तो मोहन के महामोह को काट पाती है और न ही तब लौकिक मर्यादाओं वाले समाज उसे जीने देता है तब उसकी स्थिति इसके अतिरिक्त क्या हो सकती थी।

> मैं पंख कटी विहगी, आँधी की कदली,
> अधजली पतंगी, मरु तट–उछली मछली,
> जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का
> मरने न दे रहा महामोह मोहन का।

राधा की इस आन्दोलित मनःस्थिति के साथ लगभग सारी प्रकृति ही आन्दोलित है। कवि ने 'एक भाव को ऐसी ही प्राकृतिक हलचलों वाले अप्रस्तुतों में व्यक्त किया है। सूर की 'राधा' अतिमलीन वृषभानु कुमारी की सीमित सांकेतिक स्थितियों का चित्रण है। 'कनुप्रिया' की राधा में एक निसर्ग

उद्दामता है पर जिस व्यापक सामाजिक संघर्ष एवं अन्तर्द्वन्द्व की पीठिका पर शास्त्री जी ने राधा को प्रतिष्ठित किया है, उसके समीप वह नहीं पहुँच पाती।

'राधा' का शिल्प-पक्ष इसके भाव पक्ष के समकक्ष अत्यन्त प्रौढ़ एवं उदात्त है। 'भावों के लालित्य का शिल्प के औदात्त्य से यह संगम हमें आधुनिक हिन्दी साहित्य में केवल निराला में ही उपलब्ध होता है। शब्द ब्रह्म की कितनी आराधना कवि ने की है, इसका परिणाम राधा की एक पंक्ति से मिलता है। चित्रात्मकता, नादात्मकता, शब्दवक्रता, यमक,श्लेष, अनुप्रास एवं ध्वन्यात्मकता जहाँ न हो 'राधा' में ऐसी पंक्तियाँ गिनी चुनी ही होंगी। कवि ने संदर्भानुसारिणी भाषा का ही सर्वत्र प्रयोग किया है। ललित-मधुर पदों के प्रयोग के साथ सन्दर्भ-विशेष में इस कृति में इस प्रकार की भाषा भी है :—

> मैं अकड़-मकड़ भूली, अकोस अकुताई
> ढडकौए ने की कांवकांव, किकिआई।
> अंगड़ खंगड़ से भरी डगर, लेटेबुनी।
> टिहुकी, टिल्ले पर चढ़ी किसी ने न सुनी।

कवि की मान्यता है—'जीवन में समग्रता के बिना समग्र अभिव्यक्ति संभव नहीं और समग्रता केवल शब्दों में नहीं फूटती।' रंग और रेखाओं, स्वरों और मुद्राओं द्वारा भी जीवन के गोपन और गहन को वाणी मिलती है। वस्तुत: 'राधा' के जीवन के गोपन और गहन को शब्दों को माध्यम बना कर रंगों, रेखाओं, स्वरों और मुद्राओं द्वारा ही व्यक्त किया गया है।

समकालीन गीत और 'धूप-तरी'

● डा० राजेन्द्र गौतम

अभी तीन दशक पहले तक हिन्दी आलोचना में गीत एवं कविता के बीच अंग एवं अंगी-भाव संबंध की सहज स्वीकृति के कारण युग की काव्य-रचना के समग्र मूल्यांकन की स्थिति बनी हुई थी, परन्तु सन् पचास तक आते-आते गीत-विरोधी आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो दो स्थितियाँ सामने आईं। कुछ आलोचकों ने जहाँ गीत को काव्य रूप में अस्वीकृत ही कर दिया; वहाँ कुछ अन्य आलोचकों ने गीत और कविता-जैसे दो परस्पर भिन्न अस्वाभाविक वर्गों को मान्यता दी। गीत कविता के अस्तित्व को अनदेखा करने अथवा उसके प्रति निन्दात्मक रुख अपनाने के कारण उसकी विकासमान गतिशीलता को न पहचानना है। युग विशेष की कविता में उपस्थित ह्रासमान प्रवृत्तियों एवं कुछ असमर्थ गीतकारों की दुर्बलता को गीत की शाश्वत प्रवृत्तियाँ मान लेना ऐसा दुराग्रह था, जिसके परिणाम-स्वरूप हिन्दी कविता का एक विपुल अंश लम्बे समय तक आलोचक की आँखों से ओझल रहा; बल्कि प्रबुद्ध आधुनिक समीक्षक के लिए तो आज भी गीत-रचना काव्य-रचना नहीं है। रचना के धरातल पर गीत जब अपने पर लगे आरोपों का उत्तर दे चुका है, तब भी उसे आलोचक द्वारा सनद न मिलने से अपनी तरह के नुकसान तो है ही, किन्तु यदि आधुनिकता के ये ध्वजवाहक बदले हुए गीत की धड़कनों को सुन पाते तो यह भ्रम न पालते और आधुनिक सौन्दर्यशास्त्र, समाजशास्त्र एवं काव्य-शास्त्र के निकषों पर कस कर भी इसे उस काव्यनामधारी गद्य से श्रेष्ठ पाते, जिसकी स्तुति में न उनकी जीभ थकती है, न लेखनी !

गीत में घटित हुए इस परिवर्तन का अब तो एक इतिहास बन चुका है। 'निराला' ने अपनी मृत्यु से पूर्व लगभग एक दशक तक गीत के क्षेत्र से अनेक प्रयोग कर उसे अभिनव कलेवर प्रदान किया था। यहाँ तक कि परवर्ती काल में काव्यहीन आवृत्ति के लांछन से विभूषित पंतजी के कुछ गीतों में भी यह परिवर्तन कहीं-कहीं झलक मारने लगा था और पंडित माखनलाल चतुर्वेदी जी के परवर्ती गीत भी इसी प्रवृत्ति के साक्षी हैं। उस धुँधले इतिहास का एक स्पष्ट दस्तावेज है—आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री-कृत 'धूप-तरी'। 'नवीन मार्गों का अन्वेषण केवल नयी कविता ने किया है।'—यह भ्रांत कथन तब तक ही पाठक को दिङ्मूढ़ किए रह सकता था, जबतक नव्य प्रयोगों एवं नवीन जीवन-दृष्टि से सम्पन्न गीत का सतत विकास सामने न आता। आज अपने नए कलेवर में गीत को जो नवगीत की संज्ञा प्राप्त हुई है, वह इस ऐतिहासिक विकास को रेखांकित करने का ही प्रयास है, अन्यथा वह गीत से स्वतन्त्र कोई विधा नहीं है। गत तीन दशकों में होनेवाले नवगीत के विकास के प्रथम चरण में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का जो उल्लेखनीय योगदान है, वह इसलिए अनदेखा रह गया है कि 'धूपतरी' से पहले उनके इस काल के गीत संकलन रूप में हमारे सामने नहीं थे। पत्र-पत्रिकाओं में निकलने वाले गीत एक समग्र चित्र का निर्माण करने में बहुधा सफल नहीं हो पाते। इस संकलन के पैंतालीस गीतों में से अधिकांश का रचनाकाल सन् '६० और ७०' के बीच का है। इस दौरान हिन्दी गीत का क्षितिज तेजी से बदल रहा था। 'धूप-तरी' इस बदलाव के अनेक संकेत लिए हैं। नवगीत की मूलभूत विशेषताएँ हैं—गीत के कथ्य का विस्तार, युग बोध की अभिव्यक्ति, सामाजिक यथार्थ का अंकन, औदात्य-सम्पन्न वस्तुपरकता, नवीन अभिव्यंजना, शिल्प तथा बिम्ब-परक भाषा। शास्त्री जी के इन गीतों में बिना किसी अविवादी आग्रह के उपर्युक्त विशेषताएँ सहजरूपेण उपलब्ध हैं। नवगीत लोक भाषा से जुड़ता हुआ जिन निसर्ग जीवन-संदर्भों को प्रकृति के परिवेश एवं ठोस बिम्बों में व्यक्त करता है, उसका उदाहरण पहले ही गीत में मिलता है :

> पुरवाई आई खेतों की ओर से
> भई तरी झकझोर किरन की डोर से
> खनक रही-सी नीरवता पतझार की
> महक रही केवलता सूनी डार की,
> साँस फँसी ठिठुरी धरती की कील में
> धूप-तरी तिरती कुहरी की झील में

अभिव्यक्ति के नए प्रयोग इन पंक्तियों में स्पष्ट हैं। सामाजिक यथार्थ से शास्त्रीजी का गीतिकाव्य कभी कटा नहीं रहा है। 'गाथा', 'अवंतिका' और 'बाललता' की अनेक रचनाएँ उनके सामाजिक सरोकार को स्पष्टरूपेण प्रमाणित करती हैं। परन्तु सातवें दशक के गीत की विशेषता यह है कि उसमें सामाजिक विसंगतियों पर तीखे व्यंग्य-प्रहार किए हैं। हम नवगीत की इस प्रवृत्ति को शास्त्री जी के गीतों में भी उपस्थित पाते हैं। निम्न पंक्तियाँ इसके प्रमाण हैं :

> नक्शे में फस्ल-भरे
> हरे खेत खींचो,
> खून पसीने का बया,
> रंगों से सींचो,
> देश हमारा न दिखे
> भूखा या नंगा।

यहाँ दो मुद्दों को साफ कर लेना बहुत जरूरी है। यह सही है कि शास्त्री जी ने नवगीत के विकास में योगदान दिया है तथा उनके अनेक गीतों में नवगीतात्मक प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हैं। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके काव्य में प्रयोग की वे सभी आधुनिक भंगिमाएँ विद्यमान हैं, जो गत तीन दशकों में ही लेखन आरम्भ करने वाले कवियों के गीतों में उभरी हैं और जिनमें यथार्थ-बोध एवं सामयिकता का तकाजा है। ऐसा इसलिए सम्भव नहीं था, क्योंकि लगभग छः दशकों से लिखते आ रहे शास्त्री जी के कुछ अपने दृढ़ संस्कार ही निर्मित नहीं हुए हैं, उनके अपने साहित्य-विषयक मानदण्ड भी हैं। उनके काव्य में नवगीत की विशिष्ट पहचान बिम्बों की नवता एवं वस्तु-परकता तक ही मानी जानी चाहिए। दूसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा इसी के साथ जुड़ा है। यदि शास्त्री जी के गीत वर्तमान पीढ़ी के मुहावरे को पूरा-पूरा अपनाए बिना अपनी अलग पहचान बनाए हुए हैं और उनमें नवगीत का वह रूप नहीं मिलता, जिसे एक रूढ़ि के रूप में स्वीकार करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है, तो भी इन रचनाओं का अपना मूल्य एवं महत्त्व गौण नहीं हो जाता। हमारी मान्यता है कि जिस प्रकार यह दावा मिथ्या एवं खोखला है कि गीतेतर कविता ही सच्ची कविता है और गीत काव्याभास मात्र है, उसी प्रकार यह कथन भी निराधार है कि केवल गीत होने से ही कोई रचना महान्

ही जाती है। इसी तुलना को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि नव-गीत हिन्दी गीत की उपलब्धि-परक धारा है परन्तु यदि कोई रचना नवगीत के बँधे पैटर्न में पूर्णतः फिट नहीं है तो केवल इसी आधार पर उसे खारिज नहीं किया जा सकता। वस्तुतः कविता की श्रेष्ठता की एक सार्वभौम कसौटी प्रत्येक युग में रही है। छायावादी, प्रयोगवादी, प्रगतिवादी, नई कविता अथवा नवगीत होने से पहले प्रत्येक कविता को कविता होने के निकष पर कसना जरूरी होता है। यह हमारा दृढ़ मत है कि कविता की किसी भी कसौटी पर परखने पर शास्त्री जी के 'धूपतरी' के गीत केवल सफल नहीं हैं, वरन एक शीर्ष श्रेणी इन्हें प्राप्त है। गत दिनों 'जन गीत' का नारा जो उठा है, उस सन्दर्भ में भी उपर्युक्त कथन को ही ध्यान में रखना होगा। पहले संकेत किया जा चुका है कि शास्त्री जी के काव्य में जन-सम्पृक्ति के अनेक संदर्भ हैं। अतएव उन जैसे काव्य-मनीषी से यह अपेक्षा रखना हमारी भूल होगी कि वे अपनी सर्जनात्मक ऊर्जा का उपयोग (अथवा दुरुपयोग) सपाट नारेबाजी में करेंगे।

कविता एक संश्लिष्ट अनुभूति ही नहीं, एक संश्लिष्ट अभिव्यक्ति भी है। गीत में यह संश्लेषण-प्रक्रिया एक क्रमिक विकास को साकार करती है। सामयिक गीतों की तुलना में शास्त्रीजी के गीतों की सफलता का रहस्य यही है कि आज चाहे कोई नवगीत लिख रहा है, या जनगीत, उनमें बिखराव अक्सर देखने को मिलता है जबकि शास्त्रीजी के गीतों में अन्तःसंगति सर्वत्र विद्यमान है। इस प्रक्रिया का श्रेष्ठतम रूप उनके 'चाँद का फूल' गीत में मिलता है। आधुनिक गीत साहित्य में यदि ध्वनि-काव्य का कोई उत्तम उदाहरण चुनने को कहें तो हमारी दृष्टि सबसे पहले इसी गीत पर जाएगी। भाषा जहाँ अर्थों को फूल की तरह खोल देती है, लहर की तरह आंदोलित करती है, चाँदनी की तरह नहलाती है और संगीत की तरह बज उठती है, वहीं गीत सार्थक हो जाता है। इस सार्थकता का रूप है :

दर्द की सर्द हवा
गम की नमीं में डूबी,
कसमसाहट की कसम,
है जमीं ऊबी-ऊबी;
रक्त का रंग लिए,
साँस की सुगन्ध पिए

प्राण का फूल खिला

ताल में मरण के !

चांद का फूल खिला

ताल में गगन के !!

यह सही है कि आज का गीत व्यथा को मुखरित करता है, अभाव को वाणी देता है, सामाजिक यंत्रणाओं को अंकित करता है; फिर भी यह कहना गलत नहीं होगा कि थोड़े से ही नवगीतकार ऐसे हैं, जिनके स्वर में अनुभूति की सच्चाई है; संवेदना की तरलता है। शास्त्री जी ने ऐसे गीतों की रचना नहीं की है, जो हमें ऊपर-ऊपर से छूकर गुजर जाएँ, भीतर तक भिगो न सकें। यह तभी सम्भव होता है, जब कविता का उद्भव सरल संवेदना में होता है। 'धूपतरी' में मर्मस्पर्शी गीतों का ही आधिक्य है। फागुन के दिन चार, गीत में वेदना का वैयक्तिक उच्छ्‌वास भर नहीं है, अपितु समाज की शोषण-परक व्यवस्था एवं नियति की दुरभिसन्धि का संयुक्त चित्रण है। यथा :

नए सिरे से लगे फूलने

पीले - लाल कनेर

कांटों में अट नहीं रहे

झुरमुट से कढ़ झड़बेर

चुन - चुन काटे बेचे

डह-डह बँसवारी के बांस

तालू से लगती न जीभ थी

छिन-छिन गिन दिन-मास।

इन्तजार कर सकी न तू,

चल दी जल्दी उस पार।

एक बार सोचा न,

बचे थे फागुन के दिन चार !

रचनाकार के रूप में किसी कवि की तभी मृत्यु हो जाती है, जब वह शिल्प के नए साँचों का निर्माण कर पाने में असमर्थ हो या तो अपनी ही आवृत्ति करने लग जाता है या दूसरे का अनुकरण। शास्त्री जी के काव्य की प्रत्यग्र मनोहरता प्रमाणित करती है कि वे रचनाकार के रूप में चुके नहीं हैं। बार-बार उन्होंने भाषा और शिल्प के साँचों को बदला है, तोड़ा है और नए साँचे गढ़े हैं। 'धूपतरी' की नवीन ताजगीपूर्ण भाषा उनकी रचना-शीलता के अभिन्न आयामों की उद्घाटक है। उनके अधिकांश समकालीन गीतकार यहाँ तक आते-आते या तो नव्य लेखन से विरत हो गए हैं या 'नये' की सृष्टि में असमर्थ हो गये, परन्तु शास्त्री जी युग के समानान्तर अपनी रचना-यात्रा को आगे बढ़ाने का प्रमाण इस रूप में देते रहे हैं :

छाँह घनी बादल-घाटी की,
गदराई काया माटी की।
अम्बर-ओट गूँथ बूँदों की—
सतलड़ियाँ, तुम पहनाते हो
चीड़-चढ़ा या सरपत-लटका
पिक चातक का स्वर कब भटका
पाषाणों में प्राण जमाकर
फिर प्राणों को पिघलाते हो।

हम जब गीत की भाषा ने नए मुहावरे की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य साहित्य की अनवरत गतिशीलता से होता है, अन्यथा नवीनता का अर्थ परम्परा-विच्छिन्नता नहीं है। कविता को परम्परा से उच्छेदित करना उसे क्षणजीवी बनाने का प्रयास है। जबकि नश्वरता की शाश्वत सत्ता को स्वीकारते हुए भी श्रेष्ठ कविता का धर्म 'कालजयी' होना है। जहाँ संवेदना एवं शिल्प के पूर्वोपलब्ध श्रेष्ठतम मानदण्डों का भी रूढ़ अनुकरण श्लाघ्य नहीं है, वहाँ नए की खोज में जल-तल पर बुलबुले उठा देना भर भी कविता का लक्ष्य नहीं है। हमारे परम्परापोषक विद्वान आलोचक कालजयिता को जहाँ प्रबन्ध काव्य से ही जोड़कर देखते रहे हैं, वहाँ गीत का संबन्ध वे केवल रोमानियत से मानते रहे हैं, जबकि हम पाते हैं कि इस रूढ़ धारणा का खण्डन तो 'निराला' ने ही अपने गीतों में कर दिया था। जहाँ तक नवगीत का सम्बन्ध

है, उसने सीमित रोमानियत से गीत को मुक्त कर ही दिया है, यह अवश्य है कि इसकी वस्तु-परकता कहीं औदात्य सम्पन्न होकर कालजयी गीतों की संरचना में सफल हुई है तो अन्यत्र उसमें यथार्थ की प्रमुखता के कारण सामयिकता का स्वर प्रधान है पर दोनों ही स्थितियों से इसकी रचनात्मक भूमिका स्पष्ट है। 'धूपतरी' के गीतों को जब हम उपर्युक्त विश्लेषण के आलोक में देखते हैं तो पाते हैं कि यह संकलन सामयिक हिन्दी गीत की एक उपलब्धि है क्योंकि इसके अधिकांश गीत कालजयी रचनाओं की कोटि में आते हैं। यह कालजयिता सदैव परम्परा के संश्लिष्ट-विकास का परिणाम होती है। यदि हम हिन्दी गीत के विकास-क्रम का अध्ययन करें तो स्पष्ट होता है कि इस शताब्दी के गीत पर मध्यकालीन भक्तिपरक एवं शृंगारपरक गीतों का प्रभाव इतना सूक्ष्म एवं विरल है कि उसे सीधे-सीधे नहीं पहचाना जा सकता क्योंकि उस युग के शैल्पिक एवं भाषिक उपकरण बहुत पीछे छूट गये हैं। समकालीन गीत के चरित्र की संरचना इस शताब्दी के हिन्दी गीत के तीन सोपानों से प्रभावित हैं। आधुनिक हिन्दी गीत के विकास का प्रथम चरण स्वच्छंदतावादी है, इसका स्वर ध्वन्यात्मक है, दूसरा चरण वैयक्तिक सुख-दुख के व्यंजक ऋजुता प्रधान गीतों का है, तीसरा स्वर उस प्रगतिशील गीत का है जो वर्ग संघर्ष को व्यक्त करने को व्यग्र है, इस धारा के संलिष्ट प्रभाव को आत्मसात कर आधुनिक बोध से सम्पन्न गीत में जो गरिमा आ सकी है--वह 'धूपतरी' की पहचान है। परम्परा को नया करनेवाले अनेक श्रेष्ठ गीत इसमें समाहित हैं। इस संकलन के गीतों के केन्द्रीय स्वर को रेखांकित करने के लिए हम एक गीत का विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहेंगे। वह गीत है—'सपन सुहाने'। इस गीत की कुछ पंक्तियाँ हम क्रमशः उद्धृत कर रहे हैं :

(क) मधुऋतु के वे सपन सुहाने
क्यों पतझर-प्राणों में आये!
भटक-भटक वन-वन सन्नाटा
काँटों में बाँसुरी बजाए!
ऊदे बादल छाँह भर रहे
अब नभ के सूखे पोखर में
कुमुद मुंदे ही मुरझ गये जब,
मरीं मछलियाँ पूँछ उठाए!

 आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

(ख) एक अकेले खिले फूल-सा

अपनी ही सांसों में रस-बस—

रह आए को नीरव कलरव

क्यों कोलाहल पर उतराए !

(ग) भुस्स उड़ाकर गढ़े भर दिए,

उमर मरी दाने-दाने पर

खेत हो कि खलिहान, पसीने ने

न कहाँ आँसू बरसाए !

(घ) कील - काँच किरचों की राहें,

आहें भर भटके पाँवों को—

करतीं लहूलुहान; म्यान में

धँसी हुई असि जंग छुड़ाए !

उपर्युक्त उद्धरणों की वैविध्यपूर्ण छवियाँ स्पष्ट हैं। (क) की भाषिक चेतना छायावाद के समीप एवं संवेदना भावना-पेशल अधिक है। मुँदे कुमुदों के मुरझाने और मरी मछलियों के पूँछ उठाने की व्यंजनाएँ भी इस प्रवृत्ति का संकेत देती हैं। (ख) में भाषा कुछ कम जटिल है, भाव ज्यादा वैयक्तिक है किन्तु (ग) का तो अभिव्यंजना विधान पहले से एकदम बदल गया है। चोट सीधी है। अभाव गाथा स्पष्ट है। जब हम (घ) पर जाते हैं तो नवगीत की भाषा का मुहावरा ही हमारे सामने नहीं आता, इन शब्दों से व्यंजित यंत्रणा भी समष्टि-अभिमुखी है। इन सबके अतिरिक्त एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस पूरी रचना का ढांचा गजल की संरचना से मेल खाती है। एक ही गीत में आधुनिक हिन्दी गीति के विविध सोपानों को शायद इसीलिए सरलता से विकसित दिखलाया जा सका है। समग्र रूप में कहा जा सकता है कि शास्त्रीजी के इस संग्रह के गीत एक साथ प्रयोग और उपलब्धि का मानक प्रस्तुत करते हैं। साहित्य युग से जुड़कर ही युग-युगों तक जिंदा रहता है। 'धूपतरी' का रचनाकार अपने युग के गीत से पूर्णतः जुड़ा हुआ है। उसमें कहीं यदि प्रतिगामिता नहीं है तो हमें यह भी याद रखना होगा कि उसमें वह फैशन-परस्त आधुनिकता भी नहीं है, जो ऊपरी चमक-दमक में सभी मूल्यों का तिरस्कार कर चुकी है।

'धूपतरी' के गीतों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रकृति की है। काव्य में प्रकृति विषय पर छायावाद के आरम्भ से बहुत लिखा जा रहा है । पर शास्त्री जी के काव्य में प्रकृति को जिस [illegible] में ट्रीट किया गया है, उनकी निजी विशेषता है और वह एक पृथक् अध्ययन का विषय है।

यहाँ हम यही कहना चाहते हैं कि 'रूप-अरूप' 'मेघ गीत' 'शिप्रा' और अवंतिका' का यह गायक अभी अपनी बाँसुरी रखकर मौन नहीं हुआ है वह गीत के नये क्षितिजों को आलोकित-उद्घाटित करने में अद्यावधि संलग्न है। न तो शास्त्रीजी ने आधुनिक कहलाने के लोभ में अपने संस्कारों को तिलांजलि दे, अपने स्वर को भीड़ में खो जाने दिया है और न ही विकास-विरोधी जड़ता को अंगीकार कर अपने रचना–जगत को बासी हो जाने दिया है। वरन् सहज प्रगति—वह प्रगति जो जीवनानुभवों से गति प्राप्त करती है—के पथ पर आरूढ़ हो कला के उत्कृष्ट रूपों का सर्जन किया है.....'धूपतरी' के गीत इसका साक्ष्य देते हैं।

●

बी—226,
राजनगर
पालम, नई दिल्ली 110045



अस्तित्ववादी मनोविश्लेषण
और
राधा महाकाव्य

- □ जाग्रत अस्तित्व-बोध
- □ व्यष्टि और समष्टि के मध्य संपर्क-संचार
- □ व्यामोह की स्थितियाँ
- □ निर्वासन की समस्या
- □ चेतना की विवृत्ति

—डॉ० राजेश्वर प्रसाद सिंह

जाग्रत अस्तित्व-बोध

□ डा० राजेश्वर प्रसाद सिंह

'मैं नाद-नदी में बहती, तट कटता है,
उत्कट अस्तित्व नहीं तट में अटता है।' (प्रणय-पर्व, पृ०—२)

'राधा' महाकाव्य की रचना तब हुई जब द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका से मानवता के अस्तित्व पर प्रश्न-चिह्न लग गया था। पूरे विश्व पर कुरुक्षेत्र का उन्माद हावी हो चुका था। राष्ट्रीय स्तर पर वह काल ऐसा था कि एक ओर हम देश की स्वाधीनता के लिए संग्राम कर रहे थे तो दूसरी ओर कूट-नीतिक चालों का शिकार बन देश के विभाजन करने पर उतारू थे। साथ ही, लोकतंत्र के नाम पर, सामंती व्यवस्था की मृण्मयी कब्र पर पूँजीवादी औद्योगिक सभ्यता का विष-वृक्ष तेजी से विकसित हो रहा था। जागरण और विकास के इस युग में अगर कोई पीछे छूट रहा था—तो वह था मानव-व्यक्तित्व। पारम्परिक मूल्य ऊर्जा और उष्माविहीन हो चुके थे और नये मूल्यों में परस्पर टकराव और भटकाव जारी थे। यह अवधि हर तरह से मानव-व्यक्तित्व के विकास में दिशाहारापन की अवधि थी। मूल्यों की इसी संक्रांति-वेला में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने मानव-व्यक्तित्व को 'राधा' महाकाव्य के द्वारा मूल्यवत्ता प्रदान की।

निराशा और हताशा की मन:स्थितियाँ सर्वथा आत्महत्या के लिए विवश नहीं करतीं, अपितु अस्तित्व के प्रति जागरूकता और सुरक्षा के लिए भी प्रेरित करती हैं। अवस्तुता (Nothingness) के अभाव में सत्त्व (Being) का बोध सम्भव ही नहीं है। अस्तित्ववादी चिन्तक यह मानते हैं कि एक के विकास मार्ग में दूसरे नरक-रूप हैं, किन्तु एक का विकास हो सके, इसके लिए दूसरे के नरक-रूप का उपस्थित होना अनिवार्य है। शास्त्री जी का अस्तित्व-बोध

इसका प्रमाण माना जा सकता है। विरोधी परिस्थितियों में वे सिकुड़ते नहीं, अपितु अपने सत्त्व को व्यापक फलक देते चले जाते हैं।

लोक-कल्याण के लिए नये मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु संघर्ष करना और बात है तथा इसके लिए इसे उन्माद का रूप दे देना और बात। राधाकार संघर्ष और वीरता के उन्माद से भली-भाँति अवगत हैं। यही कारण है कि यहाँ कुरुक्षेत्र में पाञ्चजन्य फूँकने से पूर्व कृष्ण भी द्वन्द्व-ग्रस्त होता है, 'महाभारत' के समान गाण्डीवधारी अर्जुन ही नहीं। जीवन-मूल्यों को दाँव पर चढ़ा देख अर्जुन का अन्तःकरण न तो विभाजित होता है और न श्लथ ही। यहाँ कृष्ण स्वयं अपने अस्तित्व को कपूँर-सा उड़ता हुआ अनुभव करता है :

> राधिके, कैसी भयानक भावना
> लग रहा मैं अलग सुलग डरावना !
> उड़ रहा अस्तित्व ही कपूँर-सा
> मैं स्वयं से हो रहा हूँ दूर-सा। (पुरुषार्थ पर्व, पृ०–१०५)

इसीलिए कर्त्तव्य के नाम पर प्रेम की बलि देकर भी कृष्ण अन्ततः समाज को असंख्य शवों की उपहार-प्राप्ति से वंचित नहीं कर पाता है। व्यष्टि को नकार देने से समष्टि की समृद्धि नहीं हो जाती है।

आधुनिक समाज में मनुष्य के व्यक्तित्वलोप का कारण औद्योगिक और यांत्रिक युग में लोकतांत्रिक, फासिस्ट या समाजवादी किसी भी समाज की सामूहिकता की भावना ही है। अस्तित्व-बोध के चिन्तकों ने अपने-अपने ढंग से इन कारणों का विरोध किया है, क्योंकि सामूहिकता की भावना वायवीय और अमूर्त सिद्धान्तों पर आधारित हैं। यह व्यक्ति के संकट और उसकी मानवीय स्थिति को अनुभव करने का प्रयास नहीं करती।

> व्यक्ति की गाथा झुका—
> माथा सुनेगा कौन
> श्रम न सामूहिक समझता
> वह रहेगा मौन ? (दर्शन पर्व, पृ०–८८)

राधा के सम्मुख उत्पन्न संकट और उसकी मानवीय स्थिति को ब्रजवासी भी समझने का प्रयास नहीं कर रहे हैं, उल्टे संत्रास का कारण बन उसके अस्तित्व की जीवन्तता पर प्रहार करते हैं, उसमें घुटन और कुण्ठा भरते रहते हैं :

> जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
> मरने न दे रहा अमर मोह मोहन का। (प्रणय पर्व, पृ०–१०)

किन्तु, राधा की विवशता स्पष्ट है, वह न तो वृन्दावन के परिवेश का परित्याग कर सकती है और न मोहन के प्रति अपने मोह का। मानव-व्यक्तित्व और विश्व का अविच्छिन्न सम्बन्ध उसे किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँचने देता है। मानव की स्थिति यह है कि वह न तो अपने वास्तविक जगत् से पलायन कर सकता है और न उससे असम्पृक्त ही रह सकता है। जगत् की स्थितियों की विडम्बनाओं को झेलते हुए उसका कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ होना ही उसके अस्तित्व का अनिवार्य तत्त्व है। व्यक्ति का जाग्रत अस्तित्व ही मूल्यों का निर्णय करने तथा उन मूल्यों के प्रति मनुष्य को उत्तरदायी बनाने में समर्थ है। वह परम्परा की घिसी-पिटी रीतियों, अन्धी रूढ़ियों और कुबड़ी नीतियों का समर्थन नहीं कर सकता, चाहे इसके लिए उसे कितनी ही बड़ी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े।

प्रथम निज अस्तित्व-सार्थकता बता
किसलिए तूने ग्रहण की परुषता !
रूढ़ियाँ जन्मान्ध, बौनी नीतियाँ,
टेक बैसाखी, घिसटती रीतियाँ (पुरुषार्थ पर्व, पृ०–३२)

जिसकी चेतना ऊर्ध्वमुखी है, जिसका अस्तित्व-बोध जाग्रत है, वह लोकापवाद की जड़-धारणाओं के सम्मुख विनत नहीं होता :

लोक-निन्दा क्यों करे पीड़ित ?
सकें जो जान —
गीत वह अस्तित्व का,
अलि का सुमन का गान। (दर्शन पर्व, पृ०–६४)

आस्थावान् अस्तित्ववादी चिन्तक मार्सल व्यक्ति के अस्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता उसकी आसक्ति मानते हैं तथा इसे उसकी प्रामाणिकता का लक्षण भी। जब व्यक्ति स्वयं दूसरों के काम आता है तब दूसरे भी उसके काम आयेंगे ही। यदि एक व्यक्ति दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति देकर अपना कर्त्तव्य-पालन करता है तो यही उनके अस्तित्व की प्रामाणिकता है। राधा का विश्वास है कि सभी के समान होना ही मंगलमय है, अपने समान होना भयानक स्थितियों को जन्म देना है।

सबके समान हैं, दश दिशि मंगलमय है,
अपने समान हैं तो संक्रामक भय है। (प्रणय पर्व' पृ०–५४)

कालिय या कंस की जड़ अवधारणा यही है कि वह अपने से ऊपर उठकर नहीं सोचता। मानव-व्यक्तित्व के सत्त्व को अवस्तुता का परिवेश विनष्ट नहीं कर सकता।

तत्त्व अन्तर्गत न होता,
सत्त्व की पहचान
गन्ध आदिम व्रज-विपिन में
बीथियाँ सुनसान ! (दर्शन पर्व, पृ०–१३३)

इसीलिए, समाज की जीवन-धारा जब कालिय के विष से विषाक्त हो जाती है, उस पर तम का प्रभुत्व छा जाता है; कंस का आतंक फैल जाता है, तब व्यक्ति का सत्त्व उसके अतिक्रमण के लिए संकल्प कर लेता है :

तम मञ्च बना, सस्मित सत् नाच रहा था,
नत सिर, उन्नत पद, लाघव जाँच रहा था। (प्रणय पर्व, पृ०–५५)

व्यक्ति का अस्तित्व सुरक्षित रहे, मानव-स्वतंत्रता पर किसी का अंकुश न लगे, इसीलिए कृष्ण ने हरे बाँस की बाँसुरी फेंक डाली और पाञ्चजन्य का उद्घोष किया।

कर्मयोगी हो गए वह
देख—देश विपन्न
फेंक डाली बाँसुरी
लखकर समर आसन्न
शंख फूँकेंगे वरें
कि स्वतंत्रता सब लोग। (दर्शन पर्व, पृ०- १२६)

किन्तु, स्वतंत्रता कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे हम दूसरों को दिला सकें। ठीक उसी तरह जिस तरह कि सर्वहारा की समस्या का समाधान हम अर्थदान से नहीं कर सकते ! सर्वहारा की समस्या पूँजी की समस्या नहीं, अपितु मानसिक समस्या है। मानसिक सर्वहारापन से मुक्त हुए बिना उनकी समस्याओं से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। स्वतंत्रता की समस्या का हल भी आत्म-बोध के बिना संभव नहीं है। महज ज्ञान या ज्ञान की जिज्ञासा से इस सत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, इसके लिए अनुभूति अपेक्षित है।

विश्व जिज्ञासा नहीं, अनुभूति है
कौन ले प्रतिशोध, बोध विभूति है। (पुरुषार्थ पर्व, पृ०–३१)

राजनीतिक स्वतंत्रता ही मूल स्वतंत्रता नहीं है। राधा के रचनाकाल तक विश्व के बहुत-से देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हो चुके थे या होने लगे थे, किन्तु वास्तविक स्वतंत्रता की समस्या तब भी शेष थी और अब भी है। इसीलिए राजनीतिक रूप से कृष्ण पाण्डवों के युद्ध का प्रतिनिधित्व कर तथा

उसे सफलता दिलाकर भी संतुष्ट नहीं होता है। क्योंकि कृष्ण का लक्ष्य न तो पाण्डवों को राजसिंहासन पर अभिषिक्त करना मात्र था और न दुर्योधन आदि का संहार करना मात्र ही। वह मानवीय मूल्यों और मानव-व्यक्तित्व के जिस आदर्श को प्रतिष्ठित करना चाहता था, उसे कुरुक्षेत्र के मैदान में रक्त की नदी प्रवाहित हो जाने पर भी न कर सका। मानव का अपना अस्तित्व-बोध ही उसकी स्वतंत्रता है। अपने अस्तित्व-बोध का भाव कृष्ण 'महाभारत' के युद्धोपरान्त भी लोगों में न भर सका, इसलिए प्रभास-तीर्थ में मानव-अस्तित्व पर संकट के बादल घिर जाते हैं।

मानवीय संबंधों के बीच में राजन्य संस्कृति दरार उत्पन्न करती जाती है। मन के स्तर पर कृष्ण राधा और राधा के परिवेश को तो भुला नहीं पाता है, किन्तु बाह्य स्तर पर वह उनसे बचने की चेष्टा करता रहता है। भागवतकार ने लिखा है 'यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते।' अर्थात् राजकीय तंत्र में प्रवेश करने पर मनुष्य अपने आत्मस्वरूप को भूल जाता है। कृष्ण राजनीति के अमानवीय पक्षों से अपरिचित नहीं है।

वक्र गति विषधर-सदृश नृप-तंत्र है। (पुरुषार्थ पर्व, पृ०–५६)

× × ×

कुटिल-आशय राजनीति कि नर्तकी। (वही, पृ०–६८)

किन्तु उसका यह ज्ञान जीवन की स्वाभाविक गति को रोक नहीं पाता। मानव के बाह्य-रूप का भी अपना संदर्भ होता है और इन संदर्भों से सर्वथा कटकर जीवन संभव नहीं है। इसलिए कृष्ण का राजनयिक वेश तज्जन्य क्लेश से पृथक् नहीं हो सकता।

वेश धरने का अरे यह क्लेश है!

वेश कहता : काम करना शेष है। (पुरुषार्थ पर्व, पृ०–६२)

कुरुक्षेत्र के युद्ध के बाद कृष्ण की मनोव्यथा उद्धव के सम्मुख फूट पड़ती है। राजन्य संस्कृति का पूर्ण खोखलापन उनके सम्मुख साकार हो गया है। राजन्य संस्कृति का पक्ष लेकर मानवीय स्थितियों और मानव की स्वतंत्रता का उपस्थापन नहीं किया जा सकता। कुरुक्षेत्र के असंख्य नर-संहार इसके प्रमाण हैं। कृष्ण के सम्मुख मानवता का विद्रूप और लहू-लुहान चेहरा उपस्थित हो जाता है और अनास्था तथा हताशा के ऐसे क्षणों में उसके मानस-पटल पर अपनी मृत्यु का आतंक छा जाता है। किन्तु दुरास्था की स्थितियों में लगातार भटकने के कारण वह किसी एक जीवन-मूल्य का चयन नहीं कर पाता

है। वह जानता है कि किसी एक का चयन करने पर अनेक की उपेक्षा हो जायगी, किन्तु इस बात का उसे खयाल ही नहीं रहता कि अनेक से जुड़ने पर एक से जो उसकी आन्तरिकता है उसमें अन्तर पड़ जायगा ! इसलिए वह राधा को छोड़ता है, गोपिकाओं को छोड़ता है, नंद को छोड़ता है और फिर गोकुल को छोड़ जाता है। उसके सामने मानवता की रक्षा का प्रश्न जो है और मानवता की इस रक्षा में वह खुद को असुरक्षित और असहाय अनुभव करता है। वह बार-बार अपने पूर्व के जीवन-संदर्भों में लौट आना चाहता है, किन्तु इति से अथ की ओर लौटने की प्रक्रिया जीवन-धारा के विपरीत है। इसलिए कृष्ण गोकुल नहीं लौट पाता है। वह प्रभास-क्षेत्र में जीवन की विसंगति की परिणति भोगने के लिए विवश है। मानव स्वयं अपनी परिस्थितियों का नियंता है, कोई अलौकिक शक्ति उनकी परिस्थितियों का निर्माण नहीं करती। कृष्ण स्वयं भिन्न-भिन्न संदर्भों में भिन्न-भिन्न परिस्थितियों को जन्म देता जाता है और उनमें उलझता जाता है।

अपने अस्तित्व की स्वतंत्रता और स्वायत्तता की रक्षा नहीं कर पाने में 'राधा' के अधिकतर पात्र 'निर्वेद' की मनोभूमि में भटकते हैं। आस्था, अनास्था और दुरास्था की मानवीय स्थितियाँ उनके जीवन के द्वन्द्व को झकझोरती रहती हैं, उन्हें सघन और जटिल बनाती रहती हैं। बाह्य परिस्थितियाँ तेजी से बदलती जाती हैं। कृष्ण गोकुल से मथुरा, मथुरा से द्वारका, द्वारका से कुरुक्षेत्र और कुरुक्षेत्र से प्रभास-तीर्थ की ओर बढ़ता जाता है। ग्राम्य-संस्कृति का नायक नागर-संस्कृति का संवाहक बनता जाता है; किन्तु आन्तरिक स्थितियाँ वहीं की वहीं रह जाती हैं। राधा-कृष्ण, यशोदा-कृष्ण, देवकी-कृष्ण, गोपिका-कृष्ण, नंद-कृष्ण आदि सम्बन्धों में बाह्य परिस्थितियों के प्रभावस्वरूप ठहराव आ जाता है; किन्तु भीतर-ही-भीतर इन सम्बन्धों की एकतानता बनी रहती है। गोपिकाएँ अपनी आन्तरिक परिस्थितियों को भली-भाँति पहचानती हैं। उनकी अनन्यता राधा के प्रति है और राधा की कृष्ण के प्रति। आन्तरिकता का यह गहन तादात्म्य ही उन्हें अगले जन्मों में भी साथ रहने की कामना से भर देता है :

> जन्म यदि फिर हों हमारे
> बस कि तेरे साथ
> हम बिकी निःशुल्क हैं
> राधा-सखी के हाथ ! (दर्शन पर्व, पृ०—१४७)

मानव-व्यक्तित्व की आन्तर परिस्थितियों के महत्त्व की स्वीकृति अपरिहार्य है, इसके अभाव में बाह्य मानव-व्यक्तित्व का यह द्वन्द्व ईश्वर को जाने बिना खत्म नहीं होता।

आवरण के पार तक पहुंचे न जो
तत्त्व-दर्शन हो न पाता मनुज को। (पुरुषार्थ पर्व, ४५)

शास्त्री जी की रचनाधर्मिता धर्म और ईश्वर को नकार कर नहीं चलती। व्यक्ति की आत्मोन्नति धर्म और ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के बिना संभव नहीं है। उन्होंने बहुत पहले 'साहित्य-दर्शन' में अपनी एतदविषयक अवधारणा का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है "यह बात तो समझ में आती ही नहीं कि जिसमें ईश्वर या धर्म की कतई जरूरत नहीं समझी जाती, आखिर वह आत्मोन्नति कैसी होगी ? स्वयं 'आत्मोन्नति' शब्द ही अपने ऐसे अनर्थकारी अर्थों से बगावत किये हुए है।" (पृ०–२५)

विश्व के आधुनिक साहित्यकारों और चिन्तकों ने धर्म और ईश्वर का खुलकर विरोध किया। अस्तित्ववादी चिन्तक इस विषय में कभी एकमत नहीं हुए। किर्कगार्द, मार्सल, यास्पर्स आदि ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया तो काफ्का, कामू, सार्त्र आदि ने धर्म और ईश्वर का विरोध किया। यह विरोध मार्क्सवादी स्टाइल का नहीं है, बल्कि उसके प्रति उपेक्षा का भाव-मात्र है। भारतीय चिन्तकों और साहित्यकारों ने अपने देश की जातीय और सांस्कृतिक जीवन-धारा से कटकर ईश्वर और धर्म का विरोध किया, फलतः उन्हें इस देश का व्यापक जनाधार नहीं मिल सका। दर्शन को किसी समाज पर आरोपित न करके उसके जीवन के बीच से उसे उपस्थापित करना चाहिए। पाश्चात्य दर्शन की चटक-मटक पर सम्मोहित होकर कई भारतीय चिन्तक और साहित्यकार दर्शन के तत्त्व को या तो नहीं समझ सके या समझकर भी भूल करते रहे। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने पश्चिम के चिन्तन का न तो अन्धानुकरण ही किया और न उसकी उपेक्षा ही की।

द्वेष पश्चिम से किसे ? रवि का उदय
—पूर्व में ही क्यों भला हो एकलय ? (पुरुषार्थ पर्व, ४६)

शास्त्री जी ने पश्चिम के चिन्तन की बारीकियों को अपने देश की जातीय सस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह में गला-पचाकर उसे एक नया स्वरूप प्रदान किया है। आधुनिक विज्ञान पर अत्यधिक विश्वास करने और निर्भर रहने के कारण मानव अपने सत्त्व-बोध की क्षमता खो बैठा है। इसलिए शास्त्रीजी आधुनिक विज्ञान की अतिवादिता को स्वीकार नहीं कर पाते।

जगत्प्राण तदात्म तेरे प्राण से
संवरण कर स्वार्थ का विज्ञान से। (पुरुषार्थ पर्व, ३६)

वे आधुनिक बुद्धिवाद की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि वह कोरी तार्किकता की तन्द्रा में है। समाज की समस्याओं को अनुभूत करने में असमर्थ है।

आवरण के पार तक पहुंचे न जो
तत्त्व-दर्शन हो न पाता मनुज को। (पुरुषार्थ पर्व, ४५)

शास्त्री जी की रचनाधर्मिता धर्म और ईश्वर को नकार कर नहीं चलती। व्यक्ति की आत्मोन्नति धर्म और ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति के बिना संभव नहीं है। उन्होंने बहुत पहले 'साहित्य-दर्शन' में अपनी एतदविषयक अवधारणा का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है "यह बात तो समझ में आती ही नहीं कि जिसमें ईश्वर या धर्म की कतई जरूरत नहीं समझी जाती, आखिर वह आत्मोन्नति कैसी होगी? स्वयं 'आत्मोन्नति' शब्द ही अपने ऐसे अनर्थकारी अर्थों से बगावत किये हुए है।" (पृ०-२५)

विश्व के आधुनिक साहित्यकारों और चिन्तकों ने धर्म और ईश्वर का खुलकर विरोध किया। अस्तित्ववादी चिन्तक इस विषय में कभी एकमत नहीं हुए। किर्कगार्द, मार्सल, यास्पर्स आदि ने ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया तो काफ्का, कामू, सात्र आदि ने धर्म और ईश्वर का विरोध किया। यह विरोध मार्क्सवादी स्टाइल का नहीं है, बल्कि उसके प्रति उपेक्षा का भाव-मात्र है। भारतीय चिन्तकों और साहित्यकारों ने अपने देश की जातीय और सांस्कृतिक जीवन-धारा से कटकर ईश्वर और धर्म का विरोध किया, फलतः उन्हें इस देश का व्यापक जनाधार नहीं मिल सका। दर्शन को किसी समाज पर आरोपित न करके उसके जीवन के बीच से उसे उपस्थापित करना चाहिए। पाश्चात्य दर्शन की चटक-मटक पर सम्मोहित होकर कई भारतीय चिन्तक और साहित्यकार दर्शन के तत्त्व को या तो नहीं समझ सके या समझकर भी भूल करते रहे। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने पश्चिम के चिन्तन का न तो अन्धानुकरण ही किया और न उसकी उपेक्षा ही की।

द्वेष पश्चिम से किसे? रवि का उदय
—पूर्व में ही क्यों भला हो एकलय? (पुरुषार्थ पर्व, ४६)

शास्त्री जी ने पश्चिम के चिन्तन की बारीकियों को अपने देश की जातीय संस्कृति के अविच्छिन्न प्रवाह में गला-पचाकर उसे एक नया स्वरूप प्रदान किया है। आधुनिक विज्ञान पर अत्यधिक विश्वास करने और निर्भर रहने के कारण मानव अपने सत्त्व-बोध की क्षमता खो बैठा है। इसलिए शास्त्रीजी आधुनिक विज्ञान की अतिवादिता को स्वीकार नहीं कर पाते।

जगत्प्राण तदात्म तेरे प्राण से
संवरण कर स्वार्थ का विज्ञान से। (पुरुषार्थ पर्व, ३६)

वे आधुनिक बुद्धिवाद की भर्त्सना करते हैं, क्योंकि वह कोरी तार्किकता की तन्द्रा में हैं। समाज की समस्याओं को अनुभूत करने में असमर्थ है।

डोर सकता है सँभाल समाज की ?

बुद्धि की तंद्रा न काम न काज की। (पुरुषार्थ पर्व, ३०)

वे अकर्मण्य भाग्यवाद को प्रश्रय भी नहीं देते हैं, क्योंकि इसकी जड़ अव-धारणाओं से सत्त्व की ऊर्जा विनष्ट होती है।

पलट सकता, भाग्य इसका दे पलट,

गगन का क्या, विदित जिसका छल-कपट ! (पुरुषार्थ पर्व, ३१)

अगर शास्त्री जी 'कर्म-रथ के सत्त्वधार सुमन्त्र हम' (वही ७८) कह कर कर्मवाद को स्वीकार करते हैं तो जीवन मे राग-तत्त्व की उपेक्षा भी नही करते। राग की प्रगाढ़ता ही मानव के बहुरंगी कर्मों को सुदृढ़ता प्रदान करती है।

राधिका जैसे कि डोर पतंग की

संगिनी बहुरंग पवन-तरंग की

गुँथ गुणी के हाथ रहना जानती

अनमनी भी साथ रहना जानती। (पुरुषार्थ पर्व, १०७)

मानव-व्यक्तित्व की यात्रा किसी खास पगडण्डी ही से चलकर पूर्ण नहीं होती। जीवन की विविधता समाज के विविध संदर्भों में विकसित होती है। इसलिए कोई एक जीवन-मूल्य मानव व्यक्तित्व को उत्कर्ष देने में समर्थ नहीं है। कृष्ण की मूल्यान्वेषी यात्रा इसीलिए जारी रहती है, वह 'निजता की तलाश' में आत्मालोचन करने से भी नहीं चूकता।

पा सका अब तक न मैं अपना पता

आज तू ही एक बात मुझे बता ! (पुरुषार्थ पर्व १०५)

कृष्ण और राधा के अतिरिक्त रुक्मिणी, नद, यशोदा, देवकी, गोपिकाएँ, ललिता आदि भी अपने अस्तित्व के प्रति जागरुक हैं। इनका अस्तित्व-बोध वैयक्तिक प्रलाप मात्र नहीं है। वे सह-अस्तित्व की मंगलमयी भावना से परिपूरित हैं, किसी 'अंधेरे बंद कमरे' की बजबजाती दुनिया के तथाकथित दस्तावेजी चरित्र नहीं हैं। वे 'सह नौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै' की मंगल-मयी आत्मस्वीकृति से दीप्त चरित्र हैं। स्पष्ट है कि शास्त्री जी ने अस्तित्व-वाद के पश्चिमी साँचे में ढ़लकर किर्कगार्द के चोर-उचक्के या कामू के ऐब्सर्ड या दोस्तोवस्की के अपराधी चरित्रों की सृष्टि नहीं की है। उन्होंने ऊर्जस्वित भारतीय चिन्तन-धारा के मध्य ही अस्तित्व-बोध के प्रश्नों को विश्लेषित किया है, उसे नया आयाम दिया है। 'राधा' चिन्तन की इस नूतनता से महिमा-मण्डित महाकाव्य है।

व्यष्टि और समष्टि के मध्य संपर्क-संचार

डॉ० राजेश्वर प्रसाद सिंह

आधुनिक मानव-जीवन में विक्षिप्तता और विच्छिन्नता का कारण मूल्यों की टकराहट है। इस टकराहट और बिखराव के बीच संघर्षप्रिय एवं सर्जनशील मानव द्वारा सामंजस्य की तलाश जारी है। सामंजस्य के लिए व्यष्टि और समष्टि, राष्ट्र और विश्व, मनुष्य और समाज, मन और शरीर की वृत्तियों, अपेक्षाओं, आकांक्षाओं और परिवेश के मध्य संपर्क-संचार कायम करना होगा। इनमें से किसी एक के पृथक् अस्तित्व की स्थितियां क्षणिक होंगी। उनका सम्यक् विकास तब होगा; उनकी चेतना ऊर्ध्वगामी तब होंगी, जब उनमें परस्पर सामंजस्य हो। संपर्क संचार और सामंजस्य एक नहीं हैं, बल्कि संपर्क संचार के द्वारा सामंजस्य तक पहुंचा जा सकता है। दो स्थितियों या दो मूल्यों के बीच पारस्परिक संपर्क संचार न होने पर इनमें से किसी एक का अस्तित्व दृढ़ या स्थायी नहीं हो सकता। मार्क्सवादी समाजवाद आज इसीलिए असफल हो रहा है, क्योंकि उसने व्यष्टि और समष्टि के मध्य संपर्क-संचार की पद्धति नहीं अपनायी। सर्वहारा के झंडे को इतना उछाला कि समाज के अन्य वर्गों ने उसे त्रिशंकुवत् रहने के लिए अभिशप्त कर दिया। आवश्यकता थी कि डारविन के विकासवाद पर आधारित वैज्ञानिक समाजवाद को आधुनिक विश्व के संदर्भ में विकसित और परिमार्जित करें, किन्तु ऐसा न करके उसे मील-स्तम्भ के रूप में स्थिर कर दिया गया। उसकी चेतना की ऊर्ध्वगामिता को जड़ीभूत कर दिया गया। जिस प्रकार बुद्ध और कबीर की ऊर्ध्वचेतना से घबड़ाकर समाज की प्रतिगामी शक्तियों ने उनके विचारों को साम्प्रदायिक साँचे में ढाल दिया उसी प्रकार मार्क्स का चिन्तन आज साम्प्रदायिक साँचों में ढल गया है।

महापंडित राहुल सांकृत्यायन इस स्थिति के प्रति सावधान थे। उन्होंने सितम्बर १९४७ ई० में 'अखिल भारतीय प्रगतिशील लेखक सम्मेलन' प्रयाग के अध्यक्ष पद से कहा था—"प्रगतिवाद कोई 'कल्ट' या संकीर्ण सम्प्रदाय नहीं है। प्रगतिवाद का काम है प्रगति के रूँधे रास्ते को खोलना, उसके पथ को प्रशस्त करना। प्रगतिवाद कलाकार की स्वतंत्रता का नहीं, परतंत्रता का शत्रु है। प्रगति जिसके रोम-रोम में भींग गयी है, प्रगति ही जिसकी प्रकृति बन गयी है, वह स्वयं अपनी सीमाओं का निर्धारण कर सकता है। उसकी सीमा अगर कोई है, तो यही कि लेखक और कलाकार की कृतियाँ प्रतिगामी शक्तियों की सहायक न बनें, उनके शोषण और उत्पीड़न का हथियार न बनें।" (साहित्य निबंधावली; पृ०—११५)। इस क्रम में उन्होंने अपने को जिन प्रगतिशील भारतीय साहित्यकारों, यथा—वाल्मीकि, अश्वघोष, कालिदास, भवभूति, बाण, सरह, स्वयंभू, कबीर, विद्यापति, तुलसी, हरिश्चन्द्र आदि का उत्तराधिकारी माना, वह वक्तव्य ध्यान देने योग्य है। युगानुकूल नवीनता को ग्रहण करने और रूढ़ियों को त्यागने की शक्ति को ही वे सच्ची प्रगतिशीलता मानते थे। राहुल जी ने भारतीय परिवेश और मार्क्सवादी मूल्यों के बीच संपर्क-संचार की पद्धति अपनायी थी, जिसे मार्क्सवाद के बीच घुस आयी प्रतिगामी शक्तियों ने स्वीकार नहीं किया।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में संपर्क संचार पद्धति को नजरअंदाज कर जाने का दुष्परिणाम यह हुआ है कि किसी ने उन्हें छायावादी साबित किया तो किसी ने प्रगतिवादी, किसी ने रामकृष्ण परमहंस के इर्द-गिर्द चक्कर काटते हुए देखा तो किसी ने प्राचीन भारतीय आर्ष चिन्तन के। दरअसल, शास्त्री जी इनमें से किसी एक के न तो आग्रही हैं और न पोषक ही। युगानुकूल अपने परम्परागत सांस्कृतिक मूल्यों और आधुनिक वैश्विक चेतना के मध्य उन्होने संपर्क संचार कर नये मूल्यों का अनुसंधान किया है। इस तथ्य के आलोक में 'राधा' महाकाव्य का अध्ययन करने पर उनमें दिखायी देनेवाले विरोधाभासों का स्वतः समाधान हो जाता है।

'राधा' में दो-दो युद्धों की विभीषिका और यंत्रणा के पश्चात् उत्पन्न मनोभावों और मानवीय स्थितियों का मूल्यांकन तथा तीसरे आसन्न युद्ध का विश्लेषण/विवेचन महाकवि ने बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। प्रथम, कंस और कृष्ण का युद्ध, द्वितीय महाभारत का युद्ध और तृतीय, प्रभास क्षेत्र में यादवों का आसन्न पारस्परिक युद्ध। प्रथम और द्वितीय युद्ध में अन्याय और न्याय, अत्याचार और सदाचार, अधर्म और धर्म एवं असत्य और सत्य की टकराहट होती है। संभावित तृतीय युद्ध की परिस्थितियाँ

भिन्न हैं। यहाँ न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म और सदाचार-अनाचार का कहीं. प्रश्न ही नहीं है। यह युद्ध मूल्यों का नहीं, मूल्यों के तिरोहन का होनेवाला युद्ध है। इसमें सभी मानवीय मूल्द विनष्ट हो जायेंगे। तत्कालीन समाज और जीवन प्रवाह में नये मूल्यों का अनुसंधानी कृष्ण भी इस संभावित युद्ध के आतंक की त्रासदी एवं यंत्रणा का शिकार बनता है। कंस और उनके उद्भट योद्धाओं से लोहा लेनेवाला कृष्ण, महाभारत के विकट संग्राम में पाण्डवों का नेतृत्व करनेवाला कृष्ण का हारा-थका मनोबल यहाँ एक शिकारी का वाण भी सहन करने की स्थिति में नहीं है। मूल्यविहीन और अहंकार से मत्त अपने को श्रेष्ठ प्रमाणित करने की युद्ध पिपासा जिन अमानवीय स्थितियों को जन्म देती है, वही स्थितियाँ यादवों के परस्पर कलह, वैमनस्य और स्वार्थपरता से उत्पन्न होती हैं। महाकवि का लक्ष्य यह नहीं है कि वर्तमान मानव समाज उन विगत युद्धों से अवगत मात्र हो जाए। उनका यह भी लक्ष्य नहीं है कि वे किसी कथावाचक महाकवि की तरह किसी की जीवनी का पुनरुद्धार करें। इसीलिए उन्होंने इन युद्धों की महागाथा प्रस्तुत नहीं की है, अपितु उनका विश्लेषण, विवेचन और मूल्यांकन कर हमें सावधान किया है कि वैसी नृशंस और अमानवीय घटनाएँ फिर से न दुहराई जाएँ। भारतीय परम्परा और इतिहास का विश्लेषण/विवेचन महाकवि ने 'राधा' के माध्यम से इसलिए भी किया है, क्योंकि छोटे बड़े राष्ट्रीय युद्धों की कौन कहे, वे दो-दो विश्वयुद्धों की विभीषिका और परिणति स्वयं भी देख चुके हैं। वे देख चुके हैं कि पूँजी की प्राप्ति की होड़ में पूँजीवादी राष्ट्र किस प्रकार किसी हरे-भरे शहर को नागासाकी और हिरोशिमा की करुण महागाथा में परिवर्तित कर देता है। आज विश्व तृतीय विश्व युद्ध के कगार पर खड़ा है, जिसकी परिणति मानवता के लिए अत्यन्त ही भयानक और त्रासद होगी। इसलिए कवि का संवेदनशील हृदय व्यक्ति और उनके जागतिक संबंधों के मध्य संपर्क-संचार का अनुसंधान करता है।

'राधा' महाकाव्य में मानव-अस्तित्व के सम्मुख मृत्यु एक सार्थक चुनौती के रूप में उपस्थित हुई है। मृत्यु क्या है, कैसी है, कहाँ है, कब है—आदि अनसुलझे प्रश्नों को आदिम काल से अद्यतन विश्व के चिन्तक और दार्शनिक सुलझाते-सुलझाते कहीं न-कहीं छोटी-बड़ी गाँठ बाँधते ही रहे हैं। मृत्यु की आध्यात्मिक व्याख्या मृत्यु के आतंक को कम करने का उपक्रम है। गीता में आत्मा की अमरता और शरीर की नश्वरता के प्रतिपादन का मुख्य उद्देश्य यही है। सनत्सुजात ने तो मृत्यु के अस्तित्व को ही नकार दिया है—'सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति भारत।' (उद्योग पर्व ४१/१$\frac{१}{२}$)। इन आध्या-

त्मिक व्याख्याओं से मृत्यु के रक्तरंजित पंजों के द्वारा मानव मन के उधेड़े घाव भले ही भर जायें, उनके चिह्न नहीं मिटते। मृत्यु के आतंक को कुछ समय के लिए विस्मृत कर देने पर भी मृत्यु की अनिवार्यता तो निश्चित है ही। इसके कारण भिन्न हो सकते हैं—स्वाभाविक, प्राकृतिक आपदाएँ, आकस्मिक दुर्घटनाएँ, युद्ध, हत्या, आत्महत्या आदि।

जब मृत्यु अनिवार्य है तब मानव-जीवन की स्वतंत्रता छद्म मानी जाएगी, क्योंकि मृत्यु से बचने का कोई विकल्प नहीं है। युद्ध, हत्या, प्राकृतिक और आकस्मिक दुर्घटनाएँ जीवन तरंगों पर जब मृत्यु के नर्त्तन का साज सजाती हैं तब संवेदनशील मानव मस्तिष्क अनस्तित्व की भाव-धारा में डूबने लगता है। मृत या मृत-प्राय कटे-जले हाथ पैर, नाक-मुँह वाले व्यक्ति की पीड़ा और यंत्रणा स्वाभाविक जीवन-प्रवाह में विक्षोभ उत्पन्न करती है, उसमें निराशा और हताशा के अवरोध डालती हैं। निराशा और सत्त्वहीनता-बोध के इन क्षणों में व्यक्ति आत्मानुसंधान करता है :

> अस्तित्व तुम्हारा स्थिति-सार्थकता पाता,
> मेरा उद्भव तो साथ प्रलय के आता! (प्रणय-पर्व–६६)
>
> × × ×
>
> निर्माण तुम्हारा प्रलय-तत्त्व से होता!
> जो तम करता, वह कहाँ सत्त्व से होता!! (प्रणय पर्व–१०१)

स्पष्ट है कि सीमातीत मैं' और 'तुम' दोनों के अस्तित्व की संभावना प्रलय की स्थिति में होती है। व्यक्ति का अन्तर्मुखी चिन्तन ही उसकी इस ऐकान्तिक चेतना को परखता है। ऐकान्तिक चेतना की खोज से व्यक्ति अपने अस्तित्व की वास्तविक स्वतंत्रता को प्राप्त करता है। व्यक्ति की आत्मचेतना ही उसकी वास्तविक स्वतंत्रता है।

अनस्तित्व की स्थितियाँ चेतना के स्फुलिंग से जल जाती हैं, जड़ चिन्तन पर चेतना का श्रमकण छा जाता है। (प्रणय पर्व ४७)। पराग या परिमल का वितान चेतना के तेज को नहीं ढक सकता।

> खुलना होगा जीवन को दल-प्रतिदल से,
> चेतना नहीं ढकती पराग, परिमल से। (प्रणय पर्व ४९)।

राधाकार की यह स्पष्ट अनुभूति है कि व्यक्ति अपने प्रामाणिक अस्तित्व-बोध की शक्ति से जगत् के स्थूल बन्धनों का अतिक्रमण कर सकता है। यास्पर्स, हेडेगर और मार्सेल ने इस अतिक्रमणशीलता की व्याख्या संपर्क-संचार की पद्धति के द्वारा की है। इन तीनों दार्शनिकों की दृष्टि में व्यक्ति का

अस्तित्व ही स्वतंत्रता है, जो मानव-जीवन के युद्ध, मृत्यु और संत्रास से पीड़ित और आतंकित होने के कारण खतरे में है। संकट से उत्पन्न निराशा की इस कुहेलिका को अस्तित्व-बोध की अनुभूति छिन्न-भिन्न करती है। वास्तविक अस्तित्व की उपलब्धि तभी होगी जब मनुष्य वास्तविक जगत् से न तो पलायन करे और न उससे असम्पृक्त रहे। उसे जागतिक स्थितियों के मध्य रहना ही पड़ेगा। मार्सल ने सीमातीत 'मैं' और 'तुम' के परस्पर संपर्क को ही विकास का मूल माना है। यह संपर्क आसक्ति की तीव्रता से सीमातीत स्तर पर ही सम्भव होता है जो ईश्वर के सान्निध्य में ही सम्भव है। मार्सल के समान शास्त्री जी के चिन्तन में भी अनास्था और अविश्वास का कोई वितान नहीं ताना गया है।

'युग युग से रस का स्रोत तोड़ता प्रस्तर,
तम-मरण शिखर से झरता जीवन-निर्झर,
ऊपर से चलकर निस्तल में लय होता,
अस्तित्व सत्त्व का, किन्तु, नहीं है खोता !' (प्रणय पर्व, १०७)

आत्मचेतना की अनिवार्यता के क्रम में यह महसूस करने का विषय है कि कहीं इस प्रयास में मनुष्य बाह्य जगत् से कट तो न जायगा। राधा की अनुभूति है कि अतिशय ऐकांतिकता से तन और मन का संबंध संतुलित नहीं रह पाता है :

'इस भाग-दौड़ में मन पीछे पड़ जाता,
तन दूर निकल जाता, न मानता नाता !' (प्रणय पर्व–१००)

आत्मचेतना की अतिवादिता से बचने के लिए यास्पर्स ने व्यक्ति और जगत् के संबंधों में 'संपर्क संचार' की पद्धति अपनायी। व्यक्ति की अपनी स्थितियाँ और अपेक्षाएँ होती हैं जबकि जगत् की भी अपनी भिन्न स्थितियाँ और अपेक्षाएँ हैं। व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन में टकराव का होना निश्चय है। इस टकराव से तभी बचा जा सकता है जब व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता तथा आत्मचेतना को लेकर यथार्थ से दूर हट जाए। किन्तु, ऐसी स्थिति में उसका अस्तित्व कुछ भी नहीं रह पाता। अतः व्यक्ति और जगत् का संपर्क आवश्यक है।

व्यक्ति की सीमाएँ हैं। वह अपनी इच्छा से बाह्य जगत् को बदलने में असमर्थ है। बाह्य-जगत् में व्याप्त अपराध, संघर्ष, युद्ध, व्याधि और मृत्यु से आतंकित और आक्रांत व्यक्ति न तो इन सीमाओं को पार कर पाता है और न जगत् से कटने पर तज्जन्य असुरक्षा की भावना को ही झेल पाता है। अतः

व्यक्ति को इन स्थितियों की यंत्रणा का अनुभव करना ही पड़ता है। उसके ये अनुभव उसके व्यक्तित्व को नये आयाम देते हैं। यास्पर्स ने इसीलिए अनुभूति को संपर्क-संचार पद्धति का आधार माना, क्योंकि अनुभूति ही व्यक्ति और जगत् को जोड़ती है। संघर्ष के इस क्रम में मनुष्य को यह याद रखना होगा कि जिस प्रकार मैं अपने अस्तित्व को सही अर्थों में पाना चाहता हूँ, दूसरे भी उसे उसी प्रकार पाना चाहते होंगे।

राधा का आजीवन प्रेमिका रूप तत्कालीन सामाजिक मूल्यों की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। नारी के लिए एक खास वय मे दाम्पत्य-सूत्र में बँधकर जीवन-निर्वाह करने की सामाजिक व्यवस्था रही है। राधा का व्यक्तित्व इस व्यवस्था के सम्मुख एक साहसिक चुनौती है। उसे समाज के विरोधों और लांछनों को झेलना पड़ता है, किन्तु एक बार उसने जिस मूल्य का वरण कर लिया, बस कर लिया। वह अपने निर्णय पर अटल और अडिग है। प्रणय उसके सत्त्व का निर्णय है। फलस्वरूप, जब कृष्ण उससे बहुत दूर चले जाते हैं तब भी नीली मुरली की पुकार वह सुन ही रही है। उसके हारे-थके तन-मन में नीली मुरली की धुन क्रियात्मक चेतना और जिजीविषा भरती है। हृदय के आतुर वेग में समाज के ताने बह जाते हैं। राग का दुर्दम प्रवाह अखण्डित प्रवाहित होता रहता है। भले ही, उसके ऊपर से लोकापवाद का भीषण घन-गर्जन क्यों न सुनायी पड़ रहा हो।

'लोकापवाद घन–नाद मोर मेरा मन,
जब इतर त्रस्त होते, वह करता नर्तन !' (प्रणय पर्व, १)

दरअसल, व्यक्ति किसी भी मूल्य का चयन करने के लिए स्वतंत्र है, किन्तु उसका यह चयन बाह्य जगत् के जीवन-प्रवाह को खण्डित नहीं कर सकता। बाह्य जगत् की अपेक्षाएँ व्यक्तिगत अपेक्षाओं के सम्मुख घुटने नहीं टेकतीं। कृष्ण उसके बाहु-पाश से निकलकर पाण्डवों के साथ हो चले हैं। राधा परिस्थितियों की इन विडम्बनाओं से मर्माहत होती है :

'अब उखड़े-उखड़े-से स्तर-स्तर अन्तर के,
मैं तो जीती पल-छिन गिन-गिन, मर-मर के।' (प्रणय पर्व, ७)।

किन्तु, उसका यह पीड़ा-बोध उसे दिशाहारा नहीं बनाता, जीवन के प्रति 'सुर' पर 'सम' रखकर गाने की सीख ही देता है।

'अब तो प्रति सुर पर सम रखकर गाना है
साँसों को ताल मिला आना-जाना है।' (प्रणय पर्व, ६)।

राधा के व्यक्तित्व मे दृढ़ संकल्प शक्ति है। वह तब भी गायें चराती थी, अब भी गो-पालन कर रही है। गोचारण तथा सखी-साहचर्य के द्वारा राधा

अपने जागतिक संबंधों तथा परिवेशों से जुड़ी रहती है, इसलिए आत्मचेतना का तीव्र वेग उसके जीवन-प्रवाह को विच्छिन्न नहीं कर पाता है। सूर आदि मध्यकालीन कवियों की राधा की भाँति अपनी आँखों से निशि-दिन बरसात की झरी नहीं लगाती, बल्कि वह आत्मानुसंधान करती है।

'घुटती भीतर, कब सिसक-सिसक कर रोती ?
उत्कल उत्सुकता में नीरवता सोती !

x x x

नीली री मुरली, फिर क्यों मुझे पुकारा ?' (प्रणय पर्व, १०-११)

उसकी आत्मचेतना उसके वास्तविक अस्तित्व-बोध को उभारती है। वस्तुत: अब गोचारण उसके लिए एक कार्य-व्यापार मात्र नहीं, जड़-जंगम और समष्टि के साथ उसकी चेतना के संपर्क-संचार का माध्यम है।

ब्रज की जीवन-धारा विषयुक्त ही नहीं, अनुभूतिहीन और संवेदन-शून्य भी हो चुकी थी। उसमें जीवन के स्पन्दन नहीं थे। अलबत्ता, अन्धविश्वासों के पहाड़ उग आये थे, जिनके शिखर का निर्माण रूढ़ियाँ कर रही थीं। मानव-जीवन सतत प्रवहमान है। कोई उसकी धारा को रोक नहीं सकता। यह तभी संभव है जब तक व्यक्ति की आत्म-चेतना सुषुप्त है। उसके जाग्रत होते ही एक छिगुनी के प्रयास मात्र से गोवर्धन-सा पहाड़ भी उठा लिया जाता है। इसके लिए आवश्यक है सत्त्व की दृढ़ संकल्प-शक्ति। संकल्प-शक्ति के सम्मुख पहाड़ भला कब तक स्थिर रहेंगे ?

'जड़ से उखाड़ सकता पहाड़ भी कोई—
जिसकी न गुंजलक में आत्मा हो सोई !
छिगुनी पर उसे उठा सकता निस्संशय
यदि सत्त्व शुद्ध, मारुति-सा मन हो निर्भय !' (प्रणय पर्व, ५६)।

संकल्प-शक्ति के आगे गोबर्धन की गम्भीरता और विशालता क्या, जड़तावादी स्थितियों के पोषक और प्रेरक इन्द्र को भी घुटने टेकने पड़ते हैं। कृष्ण के आगे इन्द्र ने घुटने तो टेके, किन्तु ब्रजबासी मोह-निशा में सोये ही रहे। वे जड़ता की परिधि से बाहर नहीं निकल सके, क्योंकि वे अनुभूतिहीन और संवेदन-शून्य हो चुके थे। इसीलिए कृष्ण के द्वारा जड़ता को भग्न किये जाने और उनकी प्रेरक शक्तियों के पराभूत हो जाने के बाद भी ब्रजवासियों की आत्मचेतना जाग्रत नहीं हो सकी। आत्मचेतना की जागृति न तो अनुकरण पर होती है और न किसी की प्रेरणा-मात्र पर ही। उसके लिए व्यक्ति का आत्म-बोध और उसकी संवेदनशीलता आवश्यक है।

'अनुभूति-हीन संवेदनशून्य नरों का—
मेला–समाज यह ? पुरवा पर्णघरों का !

इसकी आस्था को बार-बार ललकारा,
साहसी कृष्ण ने गोवर्धन तक धारा,
टेके घुटने न परन्तु इन्द्र के आगे,
इस पर भी मोह-निशा के सोए जागे ?' (प्रणय पर्व ५५) ।

सृष्टि का बदलाव यों ही नहीं हो जाता। यह महज भौतिक प्रक्रिया नहीं है। इसके लिए दृष्टि का बदलना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि दृश्य का। दृष्टि और दृश्य परस्पर निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष हैं।

'सब समझ लेंगे,
बदल सकती नहीं यों सृष्टि
सृष्टि के बदलाव से पहले
बदलती दृष्टि !' (दर्शन पर्व, १२६) ।

बदलाव से श्रम और श्रम के मूल्य की प्रतिष्ठा होगी। श्रम को कोई लूट नहीं सकेगा। शोषक वर्ग समाज के प्राण-रस को सोखने की छूट न पायेंगे। शांति-सुख-सुविधा सभी लोगों को उपलब्ध होगी। अतः पिछड़े हुओं के साथ बढ़कर हमें नव-जीवन का स्वरूप गढ़ना होगा। ललिता की इस मुखरता के बीच राधा मौन बनी रहती है। उसका अन्तर्मुखी चिन्तन ऐकान्तिक चेतना की तलाश करता रहता है, क्योंकि इसके बिना वह अपने सत्त्व की सुरक्षा नहीं कर सकती। जीवन उसकी दृष्टि में मंजिल नहीं, पथ है, जिस पर उसे अविराम बढ़ते जाना है।

'पहुँचना चाहे न हो,
चलना हमें अविराम !' (दर्शन पर्व, १२८) ।

उसने महसूस किया है कि तर्क से श्रद्धा नहीं जनमती। उसमें जीवन की सहजता नहीं, विवशता होती है। व्यक्ति तर्क-जाल में उलझकर रहता है, उसमें श्रद्धा के समान नैसर्गिक जुड़ाव नहीं होता।

'तर्क से श्रद्धा नहीं जुड़ती,
न सत्य अनेक ?
नहीं गोष्ठ प्रकोष्ठ होता,
अन्तरा भी टेक !' (दर्शन पर्व, १३१) ।

ज्ञान धर्माचार्यों या नीतिशास्त्रियों की आप्तवाणी नहीं है। ज्ञान तो अपने आप की पहचान है। ज्ञान के विज्ञान का प्रमाण व्यक्ति की स्वानुभूति है।

'ज्ञान का है अर्थ
अपने आप की पहचान !

— — —

ज्ञान के विज्ञान का है
स्वानुभूति प्रमाण ! (दर्शन पर्व, १३८–१३६)।

राधा तन और मन के बीच सामंजस्य स्थापित करती है, दोनों में से किसी एक को तिरोहित नहीं करती। किसी एक का तिरोहन सर्वनाश का कारण हो सकता है :

'मन है बनवासी, तन गृहस्थ, दोनों का—
होता है स्वप्न मिलन इन अनहोनों का !
मेरा प्रबोध दोनों को रहा जगाए,
मैं सो जाऊँ तो सर्वनाश हो जाए।' (प्रणव पर्व, १४)।

शास्त्री जी की राधा और ललिता आदि गोपिकाएँ न तो रात-दिन आँसू ही बहाती रहती हैं और न मथुरा/द्वारका/हस्तिनापुर के राजमार्ग पर पलक पाँवड़े ही बिछाये रहती हैं। वे किसी की प्रेरणा से लोक-सेविका बनकर गाँव-गाँव, नगर-नगर घूमती भी नहीं हैं। राधा मार्क्स या गाँधी की आँधी में बहती नहीं, सहजभाव से उसके वेग को अपने और अपने परिवेश के संदर्भ में तौलती है, मापती है। हरिऔध जी की राधा अपने कार्य-व्यापार का जितना उन्नयन करती है उतना आत्मचेतना का नहीं। इसीलिए उसे अपने पारंपरिक स्वरूप से हटकर नये कलेवर की आवश्यकता पड़ जाती है। गुप्त जी की सीता माता के कछौटा बाँधकर पादप-सिंचन करने के पीछे भी यही रहस्य है। अपने युग की अभिव्यक्ति के लिए पारम्परिक चरित्रों के जीवन-वृत्तों को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करना भारतीय पुनर्जागरण-काल के रचनाकारों का फैशन बन गया था। शास्त्री जी ने पहली बार राधा की आत्मचेतना का विकास उसके जीवन की सम्भावनाओं के मध्य किया है। इतिहास और परम्परा के चरित्रों को काट-छाँटकर सर्वथा नये जीवन-वृत्तों की सर्जना किये बगैर ही उन्हें नूतन चिन्तन से किस प्रकार उद्भासित किया जा सकता है, इसका उदाहरण 'राधा' महाकाव्य है। इसके लिए मन के प्रत्येक सूक्ष्माति-सूक्ष्म तंतु की पकड़ आवश्यक है। जो रचनाकार मन की गहराई में उतरना नहीं जानते, वे चेतना के उत्तुंग शिखर पर भला कैसे चढ़ सकते हैं ?

व्यक्ति की मनोग्रंथियों और मनोविकारों के चित्रण के पूर्व शास्त्रीजी बड़ी बारीकी से पात्रों के ऊपर पड़े अध्यात्म की चादर सरका कर उसके अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं और उनकी चित्तवृत्तियों में ऐसा आलोड़न-बिलोड़न उत्पन्न करते हैं कि वे अपने पौराणिक कलेवर से आधुनिक मानव जीवन की स्थितियों को प्रक्षेपित करने लगते हैं। शिशुपाल-वध के उपरांत कृष्ण का अपराध-बोध उसे आधुनिक मानव होने की संभावनाओं से मण्डित करता है।

'मार कर पछता रहा मैं आज

कर सका उसका न कोई काज !

अर्द्धनारीश्वर हुआ, न अनंग—

रूप-दीपशिखा—प्रमत्त पतंग !

देश हो न सका, हुआ मैं काल !' (विनोद पर्व, ४४)

महाकवि ने कृष्ण के इस अपराध-बोध को रुक्मिणी के स्वप्न में दर्शाया है। इन्होंने जिन स्वप्न-स्थितियों एवं स्वप्न-बिम्बों की सर्जना की है, वे आधुनिक मनोविज्ञान और स्वप्न-विज्ञान को कलात्मक स्वरूप प्रदान करती हैं। अचेतन मन के स्तर पर कृष्ण के जिस अपराध बोध की यात्रा शुरू होती है उसकी परिणति उसके लोक-मंगल की चिन्ता में होती है। हत्या जैसा नृशंस कर्म मानवीय मूल्यों के सम्मुख टेढ़ा-मेढ़ा प्रश्न चिह्न है। यदि शिशुपाल ने भीष्म द्वारा सम्मानित कृष्ण को अपमानित कर अशिष्टता का प्रदर्शन किया तो कृष्ण ने उसकी हत्या कर क्या अपनी बर्बरता और क्रूरता का परिचय नहीं दिया ?

'यह सुदर्शन चक्र, कैसा नाम !

काट लाया किस गले का चाम !' (विनोद पर्व, ४४)

इसीलिए आज कृष्ण बेहिचक यह स्वीकार करता है कि उस राजसूय यज्ञ को शिशुपाल ने आत्मबलि देकर पूरा किया था।

'सब चकित थे, एक मैं मर्मज्ञ,

आत्मबलि दे किया पूरा यज्ञ !' (विनोद पर्व, ४४)

इस अपराध-बोध के द्वारा कृष्ण का संपर्क-संचार मानवीय वृत्तियों से होता है और वह विनोद के लहजे में अपने और शिशुपाल, शिशुपाल और रुक्मिणी तथा रुक्मिणी और अपने संबंधों का मूल्यांकन करता है। यह

विनोद महज विनोद ही नहीं है, इसके पीछे कृष्ण के अन्तःकरण का हाहाकार छिपा है। यह हाहाकार अपनी अभिव्यक्ति के लिए आध्यात्मिकता का सहारा न लेकर विनोद की ओट से प्रकट हुआ है।

उद्धव जैसे लोग, जिनका सत्त्व किसी के प्रति समर्पित हो चुका है, के हृदय में समस्याएँ नहीं उठती, वहाँ हर समस्या का समाधान-ही-समाधान है। उसे श्रीकृष्ण के नेतृत्व में पाण्डवों द्वारा दिगदिगन्त को दर्शाने वाला युद्धा-योजन और युद्धभूमि में अठारह अक्षौहिणी सैनिकों की निर्मम हत्या और मृत्यु भी विश्व कल्याणार्थ दिखायी देती है। अपने अनुकूल कुछ तर्कों को ढूँढ़ निकालना मानव की विशिष्टता है। मणि-मुक्ताओं से सजी-सँवरी आलोक-युक्ता उषा भला अंधकार को रुलाये बिना कभी हँस सकी है?

'नये निर्माण के हित नाश था वह!
नई धरती, नया आकाश था वह!!
उषा आलोक-लोकैश्वर्य युक्ता
सजाए अंग में माणिक्य-मुक्ता
कभी हँसती बिना तम को रुलाए?
विहंसता चन्द्रमा लाञ्छन छिपाए? (निर्वेद पर्व, १४)

ऐसे लोग भले ही कृष्ण को 'महामानव' या 'नव अवतार' समझें, समष्टि के नाम पर व्यष्टि की उपेक्षा कर जाने पर भी उसे आलोच्य न मानें तथा यह तर्क प्रस्तुत करें;

'समालोचन न अन्तिम सत्य होता,
जलद सूर्यत्व को सौ बार धोता!
जहाँ हो विश्व भर की नाव खेना,
वहाँ क्या व्यक्ति को प्राधान्य देना!' (निर्वेद पर्व, १३)

—किन्तु, स्वयं कृष्ण अपने कृत्यों से मर्माहत है:

'कराया युद्ध मैंने, लोग कहते,
डुबो दी नाव, तृण गह लोग बहते!
बढ़ा जातीय अन्तर्द्रोह पैने—
दिया भर राज-पद-व्यामोह मैंने!
कहाँ अध्यात्म व्यापक आत्म विभुता,
कहाँ मिट्टी, अकिञ्चन लोक-प्रभुता!

सिखाई योग के मिस योग-माया,
न कोई ब्रह्म होगी चर्म-काया ?
पढ़ाया पाठ हिंसा का, बहाने—
गढ़े सौ-सौ, लगाने को ठिकाने !
....

समर्थन युद्ध का अपराध भारी—
किया मैंने, थका सिर, बुद्धि हारी !" (निर्वेद पर्व, ९–१०)

गदा-युद्ध में अधर्मपूर्वक भीम द्वारा दुर्योधन के मारे जाने पर कृष्ण । उसके समर्थन में धर्म का विवेचन सुनकर बलराम ने उसे छल रूप धर्म की संज्ञा दी थी।

'धर्मच्छलमपि श्रुत्वा केशवात् स विशाम्पते ।
नैव प्रीतमना रामो वचनं प्राह संसदि ।' (शल्यपर्व, ६०/२६)

'राधा' महाकाव्य में कृष्ण उन सभी घटनाओं के पीछे अपने को उत्तर-दायी मानते हैं। उसने अनुभव किया है कि उद्धव जैसे लोग आत्मविद् हो सकते हैं, उनका ज्ञान मर्मभिद् भी हो, आवश्यक नहीं है। (पृ०—५६)। इसलिए उसने उद्धव को सावधान किया है कि वह न तो ऊब-खीझों से भरा है और न शंकाकुल है या तर्कों से डरा हुआ है।

—'सको जो भूल, उद्धव, भूल जाना
न भटकी नाव अपने कूल लाना
न ऊबों और खीझों से भरा है
न शंकाकुल, न तर्कों से डरा है,
समेकित क्रांतिकारी का चरित्र है
सजल, रक्ताक्त श्रम-विभ्रम-भरित है।' (निर्वेद पर्व, १०५)

उसके हृदय से मानवीय करुणा का कोष रिक्त नहीं हुआ है। वह एक सच्चे 'सर्वहारा' के रूप में हिंसा और अहिंसा, करुणा और निर्ममता, श्रम और श्रमहीनता, व्यष्टि और समष्टि के मध्य सपर्क-संचार कर नये मूल्यों की तलाश में लीन है। 'राधा' का प्रायः हर पात्र अपने परिवेश और अपने अस्तित्व के अविच्छिन्न संबंध के प्रति सतर्क है, उसका मूल्यांकन करता है



व्यामोह की स्थितियाँ

□ डा० राजेश्वर प्रसाद सिंह

आधुनिक मनोविज्ञान भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hallucination) और व्यामोह (Delusion) की स्थितियों का मानव-व्यक्तित्व के संदर्भ में बड़ी सूक्ष्मता से अध्ययन करता है। अस्तित्ववादी चिंतकों ने व्यामोह को मनोविज्ञान से लेकर दर्शन तक विश्लेषित और विवेचित करने का प्रयास किया है। अस्तित्ववाद में व्यामोह को दुरास्था (Bad Faith) के रूप में जाना जाता है। मानव को व्यामोह या दुरास्था की स्थितियों से निकलकर अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना होगा और उन्हें इन स्थितियों पर विजय प्राप्त करनी होगी।

व्यामोह आध्यात्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि विचारों और सिद्धांतों के प्रति भी संभव है। व्यामोह सिर्फ व्यक्ति या वर्ग-समूह के प्रति नहीं होता। 'राधा' महाकाव्य में उद्धव आध्यात्मिक व्यामोह से ग्रस्त होकर कृष्ण को ईश्वर मानता है, जबकि वास्तविकता के धरातल पर कृष्ण स्वयं को निरीह और असहाय अनुभव करता है। न तो वह सबको प्रसन्न रख पाता है, न सबको सुखी। दूसरी ओर, सभी उसके प्रति समान आस्था भी नहीं रखते हैं। उद्धव और शिशुपाल की आस्थाओं में अन्तर है। भारतीय अवधारणाओं के अनुसार प्रतीयमान ईश्वर भावकों को उसके मनोनुकूल प्रतीत होते हैं, अगर यह मानकर उपर्युक्त समस्याओं का समाधान ढूँढ़ लेने की कोशिश कर भी लेते हैं तो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ ईश्वर का प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। देवकी कृष्ण की जो निरीहता, अकिंचनता और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता पर प्रकाश डालती है, वह उद्धव की कृष्ण-विषयक आस्थाओं

के प्रति चुनौती है। यह मानव-व्यक्तित्व की सीमा है कि वह सभी के अनुकूल नहीं ढल सकता। अहं-भाव इस काम में आड़े आकर मानव-व्यक्तित्व को एक पृथक् पहचान प्रदान करता है।

धरती अपने वक्ष का अमृतोपम रस पिला-पिलाकर बीज को वृक्ष का रूप देती है, किन्तु वृक्ष किसका है—धरती या आकाश का, पवन या प्रकाश का? बीज में निहित वृक्ष की संभावनाएं धरती के स्नेहांचल में अंकुरित होती हैं, इसलिए उसका अधिकार बनता है। पवन और प्रकाश उसके जीवन को ऊर्जस्वित और संवर्द्धित करते हैं। आकाश उसकी अनन्त संभावनाओं को अंगीकार कर उसे आकार और पहचान देता है, तो क्या इन सबका अधिकार नहीं बनता? अगर धरती सोचे कि वृक्ष उसी का है, उसे उसी का होकर रहना चाहिए। इसी प्रकार पवन, प्रकाश और आकाश सोचे—तो वृक्ष के सम्मुख निर्णय का संकट उत्पन्न हो जाएगा। कृष्ण किसका है—देवकी या यशोदा का, वसुदेव या नंद का, राधा या रुक्मिणी का, उद्धव, उग्रसेन या समस्त जनता का? जीवन किसी एक को लेकर पूर्णता ग्रहण नहीं करता। अलबत्ता, एक को इसका व्यामोह हो सकता है। कृष्ण के प्रति सभी व्यामोह ग्रस्त हैं, किन्तु कृष्ण इनमें से किसी एक का ही नहीं है।

> कभी गोकुल कि यदुकुल वृत्त मेरा?
> विषमता-विष जहाँ, फण नृत्त मेरा! (निर्वेद, पृ०-११)

शास्त्रीजी का नंद व्यामोह की स्थितियों को परखने की दृष्टि ही नहीं रखता, उससे मुक्त होने का प्रयास भी करता है। वह अच्छी तरह जानता है कि कृष्ण उसका पुत्र नहीं है। अतः कृष्ण उसके प्रति पिता-पुत्र के जागतिक संबंधों के निर्वाह के लिए प्रतिबद्ध नहीं है। कृष्ण के द्वारा प्रभास क्षेत्र में यज्ञ करने की खबर सुनकर यशोदा नंद से वहाँ चलकर उसमें सम्मिलित होने का निवेदन करती है। नंद है, जो बिना आमंत्रण के स्वर्ग जाने के प्रस्ताव को भी ठुकरा सकता है। वह जीवन के क्रूर यथार्थ से परिचित हो चुका है, इसलिए यशोदा से कहता है:

> तुम आदर्श बघार रही हो, वह यथार्थ पर चलता,
> रहीं अँधेरे में तुम, पर वह क्यों प्रकाश को छलता?
> उसके माता-पिता कौन हैं, चौड़े जान चुका है,
> हम उसके लगते क्या हैं, मानी मन मान चुका है।
> तुम जाना चाहो, जाओ, पर मैं तो बिना बुलाए……।
> (प्रभास, पृ०–११)

किंतु, यशोदा अब भी व्यामोह-ग्रस्त है। कृष्ण उसी का पुत्र है। पुत्र जब माता-पिता को अपने यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रण देगा, तब क्या संसार से अपनापन नहीं मिट जाएगा? यह भी संभव है कि यज्ञ-कार्य में फँस जाने के कारण बुलावा नहीं भेज सका हो। चाहे जो हो, बेटे ने तो लरिकाई कर ही दी, अब उसे क्षमा करना तो माता-पिता को ही है। उसने यह भी सुना है कि उसका पुत्र बहुत विक्षुब्ध हो गया है और अपना संतुलन खो चुका है। फिर तो वात्सल्य के हिलकोरे में वह ऊभ-चुभ होने लगती है, किन्तु, नंद यथार्थ के धरातल से नहीं फिसलता। वह स्पष्ट शब्दों में कहता है :

> मैं न जन्म-दाता हूँ उसका, न ही कर्म का दाता,
> जान-बूझ सब किंतु मानतीं तुम अपने को माता !
> ममता पहन, ओढ़कर समता, बिना बुलाए जाओ,
> खारे आँसू लुटा, मधुर सपने बटोर कर लाओ। (प्रभास, पृ०-१३)

अंततः नद के तैयार नहीं होने पर हारकर यशोदा गोप-गोपियों के साथ ही चल देती है, किंतु दुरास्था के हिंडोले में उसका झूलना बन्द नहीं होता। वह अब भी सोच रही है कि हठ त्यागकर नंद पीछे-पीछे भागे तो नहीं चले आ रहे हैं, इसलिए बार-बार फिर-फिर कर देखती जाती है। महाकवि ने यशोदा की इस मनःस्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है :

> गईं यशोदा गोप-गोपियों की टोली से घिर कर,
> बहुत दूर तक रही देखती कुछ चलकर, फिर-फिरकर:
> कहीं नंद हठ त्याग यशोदा को पुकारते आएँ,
> कहें कि सब दिन साथ रहे, अब क्या हम हाथ छुड़ाएँ !
> ममता जाती ही न हृदय से, सौ चोटें खाकर भी
> जलन नहीं जाती है, देखा रोकर भी, गाकर भी।
>
> (प्रभास, पृ० १३-१४)

माता-पिता के प्रति संतति की अवधारणा हमेशा एक-सी नहीं रहती। शैशवावस्था में बच्चा माता-पिता को ही अपना सर्वस्व और हितचिंतक मानता है, किंतु उम्र बढ़ने के साथ-साथ उसकी अवधारणा में अन्तर पड़ने लगता है। युवावस्था तक तो वह माता-पिता को अपनी स्वतंत्रता में बाधक, अन्यायसंगत और न्यायविरुद्ध समझने लगता है और उनका विरोध भी जब-तब कर जाता है। अब उसमें स्वयं निर्णय लेने की क्षमता का विकास हो

जाता है, इसलिए वह माता-पिता की इच्छा और उनके परिवेश में ही बँध-कर नहीं रहना चाहता। आज कृष्ण की अपनी महत्त्वाकांक्षा है और उसका अपना परिवेश है। यशोदा इस क्रूर यथार्थ का सामना कर तब तिलमिला जाती है जब कोई उससे पूछ बैठता है कि बेटा ने क्या उसके लिए कोई यान भी न भेजा ?

'यान न भेजा ?'—छाती पर यह पूछ मूँग दलते हैं;
'देखे रथ-सारथी बहुत हैं'—हम पैदल चलते हैं।
—कह देती हूँ, पर मन पर बढ़ता दबाव दूना है,
थके-थके मुँह पर तनाव : मन छूँछा है, सूना है। (प्रभास, पृ०-१३)

इस पर भी यशोदा व्यामोह की घनीभूत परत को नहीं तोड़ पाती है। वात्सल्य की भाव-धारा में वह पथ की कठिनाइयों और मानसिक व्यथा को धोती चली जाती है। कृष्ण का स्वकेन्द्रित व्यक्तित्व इस संदर्भ में तीव्रता से उभरता है। यशोदा से मिलने के पश्चात् वह अपनी ही व्यथा का रोना रोता है, नन्द या ब्रजवासियों की स्थितियों के बारे में जिज्ञासा भी प्रकट नहीं करता। उस नन्द के बारे में, जिसके त्याग और समर्पणशील व्यक्तित्व से देवकी माँ उसे कब का परिचय करा चुकी है :

कि ब्रज में नन्द-सा हित-मित्र-भ्राता—
न होता, कौन देता आत्मजा को—
चढ़ाने बलि कि तेरी क्रूर माँ को ?
कहाँ अब नन्द होंगे या यशोदा ?
चढ़े तू नभ, स्वयं-हित गर्त्त खोदा।
बना तू क्या न, उनकी तो यथास्थिति,
मुझे दी सौंप निधि वात्सल्य-परिमित !
कभी तू याद करता ? दृग भिगोता ?
न होते वे, कहाँ तू आज होता ? (निर्वेद; पृ०-१८)

स्पष्टतः कृष्ण परिस्थितियों का निरपेक्ष मूल्यांकन न करके सापेक्ष मूल्यांकन करता है, जिससे वह वस्तु-सत्य को परख पाने में असमर्थ रह जाता है।

राजनीतिक व्यक्तियों के साथ साथ राजनीतिक सिद्धान्तों और व्यवस्था के प्रति भी व्यामोह संभव है। सोवियत रूस साम्यवादी सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं के व्यामोह में फँसकर यदि आज उससे उबरने के लिए कसमसा रहा है तो भारतवर्ष लोकतंत्रीय व्यवस्था की ऊब और विसंगतिजन्य घुटन से

ग्रस्त होकर विकल्पों की तलाश में संवैधानिक ढाँचों को तोड़ता-मड़ोरता जा रहा है। इन दोनों से पृथक् नेपाल की जनता राजतंत्रीय व्यवस्था के विरुद्ध बिगुल बजा रही है। शास्त्री जी का क्रांतदर्शी कवि समग्रता के साथ इन राजनीतिक भाव-बोधों को ग्रहण कर उकेरता है। क्रूर राजतंत्र को समाप्त कर कृष्ण सबके कल्याण के लिए लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना उग्रसेन के नेतृत्व में करता है, किन्तु कल्याण और विकास की परिकल्पना साकार नहीं हो पाती है। कृष्ण अनुभव करता है, सारा-का-सारा मथुरा-द्वारका-वासी अन्तर्कलह और वैमनस्य की अग्नि में जल रहा है। लोक-कल्याणकारी राज्य की परिकल्पना पर तुषारापात हो रहा है। लोग उसके बारे में परस्पर विरोधी अवधारणा रखने लगे हैं। कौन क्या सोच रहा है और क्या कह रहा है—कृष्ण इससे अनभिज्ञ नहीं। उसे मालूम है कि महाभारत युद्ध का सारा श्रेय, उस भीषण रक्त-पात का सारा दायित्व उसके ही मत्थे मढ़ा जा रहा है। जातीय अन्तर्द्रोह और राज-पद के व्यामोह को उसने ही बढ़ावा दिया है। योग के बहाने योग-माया और हिंसा का पाठ उसने ही पढ़ाया है। ये परिस्थितियां कृष्ण को इतना पीड़ित करती हैं कि वह युद्ध के अपने समर्थन को अपराध तक मानने लगता है। किन्तु, जब स्थिरचित्त होकर सोचता है तब युद्ध का समर्थन उसे उसकी विवशता के रूप में दिखायी देने लगता है। यथार्थ तो यह है कि उसका युग राजा राम का युग नहीं था। अब कंस, जरासंध और दुर्योधन जैसे लोग राजा थे, जिनके अत्याचार से जीवन का सहज प्रवाह बाधित हो गया था। जड़ता जीवन नहीं, सतत गत्यात्मकता जीवन है। उसके प्रवाह में जब भी व्यतिक्रम उत्पन्न होगा, परिस्थितियाँ नयी संस्कृति के सृजन के लिए आतुर हो उठेंगी। कृष्ण क्या करता? जिसे अन्याय से लड़कर निपटना था, उसे भला शांति और अध्यात्म रटने से क्या मिलनेवाला था। हाँ, इस क्रम में इतनी गलती अवश्य हो गयी कि जिसे बुभुक्षा नहीं थी, उसे खाद्य बाँटा; जिसे पिपासा नहीं थी, उसे रस का आस्वादन करना चाहा; जिसे जिज्ञासा नहीं थी, उसे ज्ञान से दीप्त करना चाहा; जो तपस्वी न था, उसे सम्मान देना चाहा अर्थात् उसने पात्रता पर बिशेष विचार न करके शरणागतों की रक्षा और उद्धार पर बल दिया। इन शरणागतों ने कृष्ण की शरण में आने के साथ-साथ आत्म-जागृति के मार्ग का स्वयं अनुसंधान नहीं किया था। वे कृष्ण के अनुभूत सत्य या जीवन-दर्शन के प्रति सम्मोहित थे। उनके पास अपना कोई स्वानुभूत सत्य नहीं था। आज जब भीषण नरसंहार हो चुका है और दूसरे की पृष्ठभूमि तैयार हो रही है तब

कृष्ण इसके भावी परिणाम की चिन्ता कर विचलित होने लगता है। अब 'न होता मैं, किसी का क्या बिगड़ता' का व्यर्थता-बोध उसके अन्तर में तीव्र निर्वेद उत्पन्न करता है और लोकमंगल का आदर्श उसे छलावा प्रतीत होने लगता है। अपने अस्तित्व को निःशेष कर ही लोक का कल्याण किया जा सकता है, उसकी यह अवधारणा एक व्यामोह से अधिक और कुछ सिद्ध नहीं होती।

कृष्ण का निर्वेद में निमज्जित होना उद्धव को अच्छा नहीं लगता। उद्धव की मान्यता है कि कृष्ण ने वही किया है जो समय की मांग थी। जहाँ विश्व भर की नाव खेना हो वहाँ व्यक्ति को प्रमुख मानने का औचित्य ही क्या है? महाभारत महाभारत ही रहेगा, कोई गीता को अगीता कैसे कह सकता है? वस्तुतः महाभारत के विनाश की पृष्ठभूमि पर ही नये निर्माण की परिकल्पना की गयी थी। वहीं से नयी धरती और नये आकाश की संभावना बनी थी। जगत् के ताप से ही जलद का निर्माण होता है और विश्व की विषम परिस्थितियों में ही कृष्ण जैसा लोकनायक उत्पन्न होता है। जो अपने सारे प्रयासों में सफल तो होता ही है, जीवन का सही ध्येय भी बताता है। जो परम्परा की घिसी-पिटी राहों का अनुसरण ही नहीं करता, बल्कि युग की रुग्ण नाड़ी को पकड़कर उसका उपचार करना भी जानता है:

न झक्कीपन सुहाया आपको यह
चुनौती दी कड़क कर पाप को यह;
प्रतिष्ठा धर्म की करनी मुझे है
तनी तानी बहुत, भरनी मुझे है! (निर्वेद; पृ०-४१)

यह सर्वविदित है कि मरणासन्न संस्कृति कटु औषधि को विष समझकर पीने से हिचकिचाती है। उसका नव-निर्माण तो परिस्थितियों के संघटन के बीच ही होगा, कृष्ण के द्वारा ही होगा।

दूसरी ओर, देवकी का आरोप है कि कृष्ण का कोई काम कभी बना भी है क्या? वह तो दिन-रात सपना ही देखता रहता है:

सुना रे श्याम; कोई काम अपना —
बना क्या? देखता दिन - रात सपना!
करेंगे यह, धरेंगे वह, भरेंगे—
घड़े रीते, अमर हम क्यों मरेंगे!
सिखाता है सभी को, मर रहा है!
अभय हों सब! स्वयं से डर रहा है। (निर्वेद; पृ०-४३)

गीता का ज्ञान आत्मानुभूति का ज्ञान है, आत्म-साक्षात्कार का ज्ञान है। उसे उद्धव जैसे लोग चट भले ही कर जायें, किन्तु उनके पल्ले कुछ भी पड़ने को नहीं। दर्शन या उपदेश रूप में गीता-तत्त्व का सम्यक् बोध प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसीलिए देवकी कहती है कि कृष्ण स्वयं भी गीता को नहीं दुहरा सकता। किस प्राणी में गीता की धर्म-वाणी को अपने चरित्र में उतार लेने की सामर्थ्य है? गीता को मथानी बनाकर भला कौन ज्ञानी अपने जीवन का मंथन करने में समर्थ हो सकता है?—

> कहाँ उद्धव, कहाँ तू कौन ज्ञानी—
> मथे जीवन, बने गीता मथानी! (निर्वेद; पृ०–४४)

वस्तुत: शब्द और अर्थ की अन्विति से ही ज्ञान परिपुष्ट नहीं होता, उसे आत्मा के रस से भी आप्लावित होना होगा। आत्म-निरीक्षण की विसंगति के फलस्वरूप कृष्ण किसी रावण को खोज निकालने में समर्थ नहीं हो सका। वह अपने वंश-वन को जलाकर ही वंशी बजाता रहा। जो स्वत्व लुटाये बिना लोक-कल्याण की बातें करता है वह सिर्फ भोर का सपना ही देखा करता है। इस सत्य को अनदेखा करने के कारण ही कृष्ण जीवन भर लोक-कल्याण के लिए संघर्ष करके भी अपने अभियान में सफल नहीं हो पाता है। समता के लिए आजीवन संघर्ष करके भी वह समत्व-बोध की जागृति के लिए प्रयास नहीं करता। भाई के अधिकार को छिननेवाले भाई को दण्डित अवश्य करता है, किंतु सभी एक-दूसरे को अपना भाई समझें, इस चेतना के विकास और प्रचार-प्रसार के लिए वह कुछ नहीं करता। मिथ्या आदर्शों का व्यामोह उसे छलता जाता है, क्योंकि वह पहले स्वयं उबरने की चेष्टा न करके सभी को उबारने का संघर्ष शुरू कर देता है। देवकी इसके चरित्र की इस विसंगति को निर्ममतापूर्वक झकझोर देती है:

> तले में छेद है, भरता किसे है?
> गगन है, पूर्ण तू करता किसे है?
> उबारेगा सभी को तू उबर ले,
> लगा गोते, अतल छूकर उभर ले! (निर्वेद; पृ०–४५)

इस विसंगति के दुष्परिणामस्वरूप कृष्ण वर्तमान समस्याओं के सम्मुख अपने को निरुपाय और विवश पाता है। उसकी कल्पना की पसलियाँ टूट-टूट जाती हैं, भावनाएँ मचलकर पिछल जाती हैं। अनुभूतियां विषमताओं की शृंखला में अटक जाती हैं। जीवन की इन अँधेरी और तंग गुफाओं में

साहस भला कहाँ ठौर पाये ? इन घात-प्रतिघातों से क्षत-विक्षत हृदय कोई किसे देखे और दिखाये ? कृष्ण स्पष्ट देख रहा है कि चील-झपट्टा मारकर सब कुछ छीन लेनेवाला समय आ गया है। संसार की यह सर्वग्रासी प्रवृत्ति उसका सर्वनाश करके दम लेगी, उसे उबारने का उसने मिथ्या व्यामोह पाला था। उसका मस्तिष्क एकबारगी पलायन-बोध से अभिभूत हो जाता है :

झपट्टे मारकर सब छीन लेंगे
स्वयं पर एक मुट्ठी-भर न देंगे
हुआ जग जा रहा है सर्वग्रासी !
समय वह आ रहा है सर्वनाशी
वृथा व्यामोह पाला था, मिला फल,
तड़पते प्राण : तज यह जग, कहीं चल !
न अब रमता यहाँ मन, छोड़ दूँगा
कि सब सम्बन्ध-बन्धन तोड़ लूँगा। (निर्वेद; पृ०–५९-६०)

कृष्ण की प्रतिज्ञा थी कि वह श्रुति और स्मृति के अधीन हो जीवन पथ पर अग्रसर नहीं होगा, बल्कि नूतन संवेदनाओं से नये पथ का अनुसंधान करेगा।

प्रतिश्रुति थी : न श्रुति के वश्य हों हम —
न ही स्मृति के कि जो फैला रही भ्रम !
बनाएँ पथ नया संवेदनाएँ !
उजाले प्रेम-मणि-दीपक-शिखाएँ ! (निर्वेद; पृ०–४७)

उसके पास संकल्प और योग-बल है। उस पर बवण्डर, आँधियों और झंझावातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। इसी अभिमान में डूबे रहने के कारण वह शांति-सुख के संधान के क्रम में मारा गया। उसने अध्यात्म, संस्कृति, धर्म और मंगल कर्म का विफल नेतृत्व किया। उसके रोके से मनुष्य की युद्ध-लिप्सा नहीं रुकी। धर्म के व्यामोह ने तो उसे और ही छला। सचमुच वह क्या धर्म का ही पक्षधर था ? जुआ खेलना यदि धर्म है तो छल से हराने को बुरा क्यों माना ? दुर्योधन को छोड़कर सभी की नीति क्या ढुलमुल और चल-विचल न थी ? यदि भीम गदा-युद्ध की मर्यादाएँ नहीं तोड़ते तो उसकी विजयश्री का अपहरण कौन कर लेता ? स्वय कृष्ण क्या अपनी प्रतिज्ञा पर अचल रह सके ? क्या उसने भीष्म पर शस्त्र नहीं उठाया था ? सच तो यह है कि सभी की दृष्टि पर पट्टी बँध गयी थी और पृथ्वी किसी दावाग्नि की चपेट में आ गयी थी––

पड़ी पट्टी सभी की दीठ पर थी,
लदी द्यावा धरा की पीठ पर थी। (निर्वेद; पृ०–६१)

व्यामोह के सघन वन में भटकते-भटकते जब कृष्ण थक जाता है, निर्वेद उसकी चेतना पर गुंजलक मारकर बैठ जाता है और अनिश्चय की मनःस्थिति उसके अंतःकरण में अँधड़ उत्पन्न कर देती है तब वह अतीत के सुखद क्षणों की ओर प्रत्यावर्तन कर जाता है। महाकवि ने कृष्ण की चिन्तन-धारा में यह जो मोड़ लाया है वह आधुनिक मनोविज्ञान के सर्वथा अनुकूल है। वर्तमान जटिल समस्याओं के संघर्षण और घात-प्रतिघात से बचने के लिए प्रकृतया मानव-मस्तिष्क अतीत के सुखद क्षणों की शरण लेता है। कृष्ण कभी राधा की स्मृति में खो जाता है तो कभी व्यास और भीष्म से पाये प्रतिष्ठा से रोमांचित हो जाता है। राधा के प्रति वह अब भी एकात्म-बोध अनुभव करता है :

गई राधा रची मेरे लिए है
न आँधी में लची मेरे लिए है;
नहीं तो उड़ गयी होती कभी की,
महकती, तुड़ गई होती कभी की। (निर्वेद; पृ०–७६)

जहाँ तक राधा के भूलने का प्रश्न है; कृष्ण भले ही अपने बचाव के लिए कुछ तर्कों को ढूँढ़ निकाले कि जब नयन आलोक को भूल सकता है, हृदय सुख-शोक को भूल सकता है, मरण जीवन को भूल सकता है, जगत् यौवन को भूल सकता है तब भला कृष्ण राधा को कैसे नहीं भूल सकता है ?

नयन आलोक को जो भूल सकता
हृदय सुख-शोक को जो भूल सकता
मरण की नीति जीवन भूल सकता
जगत् की रीति यौवन भूल सकता
न तब क्यों कृष्ण राधा को बिसारे
गिने दिन भर अगिन क्योंकर न तारे ? (निर्वेद, पृ०–८७)

वस्तुतः कृष्ण ने राधा का कभी विस्मरण किया ही नहीं। वह स्वयं कहता है—'अरे तज भी कहाँ पाया, भजा ही।' (वही; पृ०–८७) वह जब भी परेशानी अनुभव करता है राधा की स्मृति उसे नयी शक्ति प्रदान करती

है। अब जब फिर से संकट के बादल घिरने लगे हैं। आगामी सूर्यग्रहण के दिन यदुकुल के विनाश की बात लगभग निश्चित हो चुकी है, कृष्ण राधा की मधुर स्मृति में लीन हो जाता है और यज्ञ के अवसर पर उसे देखने की लालसा से भर उठता है,

अचानक राधिका को देख लेंगे
जलद-पट खींच विद्युत्-रेख लेंगे। (निर्वेद; पृ० १०४)

तत्पश्चात् वह सोचता है, फिर तो मृत्यु और विच्छेद का आतंक तिरोहित ही हो जाएगा :

न होगी मृत्यु की, विच्छेद की सुध
भले टुक ओठ काँपे जाय स्वर रुंध। (निर्वेद; पृ० १०५)

व्यामोह या दुरास्था की यही स्थिति मानव-व्यक्तित्व को हमेशा छलती रही है। वह आत्मालोचन तो कर लेता है, आत्मानुसंधान नहीं कर पाता। दूसरे की परिस्थितियों का विवेचन अपने परिप्रेक्ष्य में ही करता है उसके परिप्रेक्ष्य में नहीं करता। अस्तित्ववाद के अनुसार प्रेम या काम-वासना का उद्देश्य प्रेमी या प्रेमिका का शारीरिक यथार्थ प्राप्त करना नहीं होता, अपितु उसकी स्वतंत्रता पर अधिकार करना होता है। जिस प्रकार व्यक्ति का स्वयं पर अधिकार होता है, उसी प्रकार प्रेमी अपनी प्रेमिका पर अधिकार चाहता है। परिणामस्वरूप प्रेम असफल होने के लिए बाध्य है। प्रम की सुन्दरतम अभिव्यक्ति है कि प्रेमी-प्रेमिका एक-दूसरे के लिए बने हैं, किंतु अपने संदर्भों से हटकर राधा के स्वयं के संदर्भों में कृष्ण कहाँ सोचता है? राधा प्रभास क्षेत्र में आयेगी भी या नहीं? उसकी अपनी कोई समस्याएँ भी हैं या नहीं? उसका स्वत्व या लोकाचार उसे आने की अनुमति देगा या नहीं? दुरास्थाओं और व्यामोह में बद्ध कृष्ण इन प्रश्नों का विश्लेषण न कर उसकी उपस्थिति का काल्पनिक सुख लेने लगता है :

अमृत बरसे, उभय तन भीग जाएँ,
प्रखरतर स्रोत क्या तट बाँध पाएँ....। (निर्वेद; पृ० १०५)

किन्तु, वर्तमान तो वर्तमान है। उसके विषम धरातल पर खड़ा होकर कोई कब तक अतीत की सुनहली और सुरभित घाटियों में भ्रमण कर सकता है? वर्तमान का एक तीव्र झटका ही अतीत के आवरण को छिन्न-भिन्न कर देता है। वर्तमान जहाँ मानव-व्यक्तित्व को तोड़ने का काम करता है,

वहाँ अतीत उसका उपचार करता है और भविष्य नये उद्योग की प्रेरणा एवं चुनौती तो देता ही है, कभी-कभी हताश भी करता है। द्वारका का वर्तमान समाज और जन-जीवन अपनी समस्त विद्रूपताओं के साथ कृष्ण पर घात-प्रतिघात करता है, वृन्दावन की हरित-भरित प्रकृति और वहाँ के निश्छल जीवन की मधुर स्मृति कवच बनकर उसकी रक्षा करती है तो यदु-कुल का भविष्य उसके सम्मुख चुनौती के रूप में खड़ा दिखता है ;

पिछली अनुभूतियाँ गईं बुझ; ग्रहण नहीं यह पहला,
होगा प्रलय—भविष्य-वचन सुन वर्तमान है दहला ! (प्रभास; पृ ४०)

लाल घटाएँ उठती हैं, पूर्व का प्रकाश जलने लगता है। फिर तो आकाश राख बन जाता है और जल-थल भयावह परछाई से आच्छादित हो जाता है। निस्तेज प्रात ठहरी-ठहरी हवाओं के बीच से निकलता है, जिसके पृष्ठ-भाग में मरी हुई-सी रात पेड़ों पर औंधे लटकी पड़ी है। महाकवि की यह बिम्ब-योजना ग्रहण की सम्पूर्ण भयावहता को चित्रित करती है। मनुष्य की प्रकृति भी विचित्र है। स्वार्थ के वशीभूत हो जिसने साथ-साथ जीना नहीं जाना, वह भी मरने के लिए एक साथ उपस्थित होता है। जल में उतराती हुई मरी मछलियों के समान ये लोग, जिनके जीवन की अग्नि जलकर बुझ चुकी है, ग्रहण नहाकर अपनी किस अभिलाषा की पूर्ति चाहते हैं ? क्या हाथ-पाँव पटककर कोई मरण-सिन्धु का संतरण कर सकता है ? कृष्ण इस जीवन-सत्य से पूरी तरह अवगत है, किंतु दुरास्था और व्यामोह की स्थितियों से वह उबर नहीं पाता। उसे लगता है, शायद वह यज्ञ करके लोक का कल्याण कर सकता है। उस यज्ञ के द्वारा जिसका उसने अपने जीवन के प्रथम प्रहर में ही विरोध किया था—यशोदा के ऐसा पूछ बैठने पर कृष्ण हड़बड़ा जाता है और ज्यों-त्यों कुछ शब्दों को टटोलकर उत्तर गढ़ लेता है :

भूख-प्यास लगने पर शिशु माँ की रट, बिलट लगाते
पेट भरा हो, खेल कूदकर अपना जी बहलाते।
समय बदलता रूढ़ि-रीतियाँ, नई नीति गढ़ता है,
जकड़ बन्द जीवन रह सकता ? तम से रवि कढ़ता है।
उचित लचीलापन, नियमों की कसाकसी जड़ता है;
क्षिप्र प्रगति के लिए कभी युग को अड़ना पड़ता है।
(प्रभास : पृ०–५२)

कृष्ण की दृष्टि में यज्ञ अब एक आध्यात्मिक उत्सव है, जिसमें सामूहिक आह्लाद काम करता है तथा जिसके द्वारा सभी विपन्न के सम्पन्न होने और उसकी प्रसन्नता की कामना की जाती है।

अस्तित्ववाद की यह मुख्य अवधारणा है कि व्यक्ति अपने विकास के मार्गों का स्वयं चयन करता है। किंतु, अधिकतर लोग बने-बनाये परम्परागत मूल्यों का ही वरण कर लेते हैं और जीवन को अप्रामाणिक विधि से जीने के लिए मजबूर हो जाते हैं। जिसका स्वत्व जाग्रत होता है वही नये मूल्यों का वरण कर पाता है। जीवन की प्रामाणिक विधि वरण की इसी स्वतंत्रता में सन्निहित होती है। कृष्ण परम्परागत नियतिवादी मूल्यों पर अग्रसर होता है, जिसके कारण व्यामोह की स्थितियाँ उसके इर्द-गिर्द घनीभूत हो जाती हैं।

सार्त्र के अनुसार व्यामोह 'स्व' के अपने से विरोध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। व्यामोह सबसे बुरी स्थिति है, क्योंकि इसमें व्यक्ति 'स्व' को नकार जाता है। मानवीय क्रिया के नियतिवादी सिद्धान्तों के पीछे शरण लेनेवाला कोई भी व्यक्ति यह गलती कर सकता है। नियतिवाद और नैमित्तिकता के पीछे भागने के फलस्वरूप कृष्ण वृन्दावन, फिर मथुरा और अब द्वारका से भी दूर हो गया है। यथार्थ को भेदने के लिए अस्तित्व को अनुभव करने की बात वह भूल गया, फलत: जीवन की त्रासद असंगतियों से मानव-स्वतंत्रता सीमित हो गयी और पूरी-की-पूरी द्वारका तब उच्छृंखलता की चपेट में आ गयी। ऋषियों के अभिशाप की बात तो नियतिवादी सिद्धान्तों की ही पुष्टि करती है और इससे उबरने के लिए कृष्ण परम्परागत यज्ञ-विधान की ही शरण लेता है। फिर भी यह ठीक है कि कृष्ण का संघर्षशील व्यक्तित्व यहाँ नियतिवाद और परम्परागत मूल्यों के सम्मुख थककर बैठ तो जाता है किन्तु अनस्तित्व की जड़ता को स्वीकार नहीं कर पाता। इसीलिए वह पुनर्जन्म की कामना से भर उठता है :

> मैं जीवन में नव रस भरने के कुचक्र में सूखा,
> सुजल सुफल जग को करने के क्रम में प्यासा, भूखा।
> मंत्र उचारूँगा निर्जन में, शांति-तंत्र ढूंढूँगा,
> एक जन्म पर्याप्त नहीं ? कर फिर प्रयास आऊँगा।
>
> (प्रभास; पृ०-६३)

स्पष्ट है कि महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'राधा' महाकाव्य में व्यामोह और उनकी स्थितियों की व्याख्या मानव-व्यक्तित्व के विविध संदर्भों में की है, जिससे मानव-जीवन के अध्ययन में नूतन मनोवैज्ञानिक दृष्टि मिलती है। शास्त्री जी की सूक्ष्म दृष्टि मानव-जीवन के परम्परागत मूल्यों से लेकर अधुनातन मूल्यों के उतार-चढ़ाव को जिस बारीकी से विश्लेषित करती है, वह हिन्दी के अन्य महाकाव्यों में प्राय: दुर्लभ है।

निर्वासन की समस्या

● डॉ० राजेश्वर प्रसाद सिंह

निषेध और निग्रह के द्वारा मानव-व्यक्तित्व को उसके उत्कर्ष पर प्रतिष्ठित करने की भारतीय परम्परा रही है। यहाँ के दार्शनिकों, समाज-सुधारकों और कवियों ने इसीलिए इन्द्रिय-निग्रह, आत्म-संयम और सांसारिकता के निषेध की वकालत बार-बार की है। इनकी दृष्टि में आत्म-संयम या इन्द्रिय-निग्रह परतंत्रता नहीं, जीवन को दिव्य और स्वस्थ बनाने की प्रविधि है। किन्तु, आधुनिक मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण की नूतन खोजों ने यह साबित कर दिया है कि निषेध और निग्रह से व्यक्ति में निर्वासन की भावना पनपती है। यह निर्वासन की भावना धीरे-धीरे संग्रहीत होकर मानव-व्यक्तित्व की समस्या बन जाती है, तब उसमें विच्छिन्नता (Alienation) और अजनबीपन के लक्षण उभर आते हैं। इस रूप में, निषेध और निग्रह की भावनाएँ मानव-व्यक्तित्व के अस्तित्व पर ऋणात्मक प्रभाव डालती हैं। फलतः इस सदी में निर्वासन या विच्छिन्नता को दर्शन की अपेक्षा मनोविकृति का ही विषय माना गया।

मानव-जीवन की विशिष्टता उसकी स्वच्छन्दता है। वह न तो विधेय को स्वीकार पाता है और न निषिद्ध को। फलतः उसे करणीय और अकरणीय के पाटों में पिसना पड़ता है, क्योंकि उसकी स्वच्छन्दता को अन्य व्यक्ति, समाज या राष्ट्र स्वीकार करने की स्थिति में नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति वास्तविक जगत् से कतराने लगता है। यह संसार पानी का बुलबुला हो जाता है तथा मानव-शरीर कागज की पुड़िया। अतः उसके लिए इहलोक की चिन्ता व्यर्थ है। स्वर्ग या मोक्ष ही उसका अन्तिम लक्ष्य हो जाता है। इस प्रकार, मानव वास्तविक जगत् से हटकर किसी अन्य जगत् का निर्माण

करने लगता है। अन्य जगत् के बनाने-बिगाड़ने में लगे रहने के कारण मानव-व्यक्तित्व और वास्तविक जगत् में संवादहीनता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, फलत: वह स्वयं को निर्वासित अनुभव करने लगता है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के छायावादी कवियों में निषेध की भावना प्रबल है। यह निषेध परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति है। इसके लिए परिवार, समाज और राष्ट्र की रूढ़िग्रस्त एव जर्जर मान्यताएँ ही उत्तरदायी हैं। द्विवेदीयुगीन कवियों की दृष्टि इन सस्थाओं के प्रति विधेयात्मक और सुधारात्मक है, किन्तु छायावाद की स्वच्छन्द मनोवृत्ति इनके साथ अपना सामंजस्य स्थापित नहीं कर सकी। सुमित्रानंदन पंत ने मानव-जगत् का निषेध कर प्रकृति-जगत् से अपना सामंजस्य स्थापित किया।

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले ! तेरे बाल-जाल में
कैसे उलझा दूँ लोचन
—छोड़ अभी से इस जग को।

अस्तित्व की वास्तविकता से कटते-कटते इस निषेधात्मक वृत्ति ने अपने लिए 'कल्पना-लोक' (Utopian World) का निर्माण कर लिया। जयशंकर प्रसाद ने एक ऐसे कल्पना-लोक का निर्माण किया, जहाँ वास्तविक जगत् का कोई शोर-शराबा नहीं। वहाँ तो सागर की लोल लहरियाँ अम्बर के कानों में फुस-फुसाकर अपनी निश्छल प्रेम-कथा ही कहती होती हैं।

जिस निर्जन में सागर लहरी
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे। (लहर)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने चेतना के एक ऐसे चैत्रवन की परिकल्पना की है, जो दिव्य सुगन्धों से व्याप्त है। जहाँ अनसुनी अनबोल ध्वनियाँ सुनने को मिलती हैं; जहाँ मानव की अन्तर्दृष्टि रश्मियों के फूल का चयन कर सकती है।

चेतना के चैत्रवन में
दिव्य परिमल व्याप्त
अनसुनी अनबोल ध्वनियाँ
श्रुति-कुहर को प्राप्त !

चयन अन्तर्नयन

कर लें रश्मियों के फूल। (दर्शन पर्व–५९)

अन्य को छोड़कर ही किसी एक का वरण हो सकता है। अतः इस एक के वरण में अन्य से संघर्ष की सम्भावना बनी रहती है। क्योंकि वरण करना उसकी प्रकृति है और उसके वरण करने की सीमा भी है। शास्त्रीजी की चेतना का चैत्रवन भी निर्द्वन्द्व नहीं है। वे मानव-जगत् में रहकर ही व्यक्ति के अस्तित्व के लिए संघर्ष में विश्वास करते हैं। मानव-मनोविज्ञान के कवि होने के नाते उनके लिए यह स्वीकार करना कठिन है कि कोई निर्द्वन्द्व और निर्जन जगत् भी हो सकता है। यह संसार द्वन्द्वों का परिणाम है। भौतिकता और आध्यात्मिकता, भौतिकता और भौतिकता, वस्तुता और अवस्तुता—के द्वन्द्व होते रहते हैं। कहीं रक्त की धारा हो सकती है तो कहीं अश्रु-धारा। यहाँ अमृत में ही मृत्यु छिपी रहती है और प्रणय में ही पाप सिमटा हुआ होता है। दीप तले अँधेरा होता है और चाँदनी भी तापविहीन नहीं होती।

कौन हो निर्द्वन्द्व,
द्वन्द्वों का रचा संसार,
रक्तधार कहीं, कहीं—
बहती नयन-जल-धार !
अमृत में है मृत्यु,
सिमटा प्रणय में है पाप,
दीप सेता है अँधेरा
चाँदनी भी ताप ! (दर्शन पर्व–१५)

अतः छायावादी पंत और प्रसाद की भाँति शास्त्रीजी ने यथार्थ से कटकर कल्पना-लोक का निर्माण नहीं किया है, अपितु यथार्थ के मध्य एक ऐसे कल्पना-लोक का जो जीवन की सभी स्थितियों और संभावनाओं से परिपूर्ण है।

निषेध से निर्वासन की जो समस्या उत्पन्न होती है, उसका विश्लेषण दार्शनिकों और चिंतकों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। हीगेल ने इसकी व्याख्या आध्यात्मिक क्षेत्रों में की। उन्होंने इस विच्छिन्नता को आत्मा के धरातल पर माना। अतः हीगल-दर्शन में इसे आत्म-निर्वासन के नाम से जाना जाता है। अंश जब अंशी से तादात्म्य कर पाने के प्रयास में सफल नहीं हो पाता है, चाहकर भी व्यक्ति अपना तादात्म्य जब ईश्वर से नहीं कर पाता है तब उसका 'स्व' विच्छिन्नता-बोध से भर जाता है। यह विच्छिन्नता-बोध उसके व्यक्तित्व को विभाजित कर देता है। अलगाव की इस स्थिति को

हीगल आत्म-निर्वासन मानते हैं। आध्यात्मिक धरातल पर 'राधा' महाकाव्य में उद्धव और उनके कार्य-कलापों में निर्वासन की समस्या की झलक देखी जा सकती है। उद्धव की मान्यता है कि वह ब्रह्म का एक अंश है। ब्रह्म से उसका अटूट और अनन्य सम्बन्ध है, अत: ब्रह्म से उसके वियोग की स्थिति सम्भव नहीं है। ब्रह्म और जीव के बीच में माया जो विभेदक दीवार खड़ी कर देती है उसे ज्ञान, संयम, इन्द्रिय-निग्रह, योगादि से ध्वस्त कर ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है। ब्रह्म और जीव का यह मिलन अनन्तकालीन है। गोपियाँ उद्धव के इस ज्ञान को अनुभूतिहीन और संवेदन-शून्य मानती हैं। उनके मानस-पटल पर उद्धव का जो रूप उद्‌भासित होता है, उससे उपेक्षा-भाव ही अभिव्यंजित होता है :

दग्धबुद्धि विदग्ध उद्धव
वृद्ध गृध्र-स्वरूप
बोलते मण्डूक जैसा,
मुँह कहाँ ! था कूप ! (दर्शन पर्व--३७)

शास्त्रों से आयात या उधार लिया हुआ ज्ञान जब तक अनुभूति के रस में पगता नहीं, तब तक उसमें प्राण-तत्त्व का समावेश नहीं होता है। शास्त्रों का ज्ञान बघारते फिरना ज्ञान का अपमान करना है। इस अज्ञानता के ज्ञान में ही बुद्धिमत्ता है। जिसे अपनी अज्ञानता का ज्ञान ही नहीं है उसके प्रति भला किसे जिज्ञासा होगी? तीव्र जिज्ञासा के बिना ज्ञान-चर्चा का कोई औचित्य नहीं है, वह व्यर्थ है। मलय-चन्दन के अवलेप से जीवन का संताप त्राण नहीं पाता।

किसे जिज्ञासा यहाँ थी,
कौन सुनता ज्ञान
दग्ध जीवन मलय-चन्दन से
न पाता त्राण ! (दर्शन पर्व—६२)

जिन मूल्यों और संसाधनों से जीवन ऊर्ध्वमुख और ऊर्जस्वित होता है, वस्तुत: वे ही वास्तविक योग-क्षेम हैं। अनुभूतिहीन ज्ञान के नाम का डंका चाहे जितना पिटा जाय, जीवन-भूमि को तो प्रेम की शीतल जल-धारा ही सिंचती है।

जो न जीवन को उठाए
वह न योग न क्षेम
ज्ञान का हो नाम
आता काम केवल प्रेम ! (दर्शन पर्व—६२)

फलतः राधा या अन्य गोपिकाओं पर उद्धव के शास्त्र-ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इन गोपिकाओं की दृष्टि में ज्ञान शास्त्र की परिधि में सिमटा हुआ नहीं होता। ज्ञान अपनी आत्मा की पहचान है, व्यक्ति का आत्मानुसंधान है, उसकी स्वानुभूति का निचोड़ है। इसलिए उन गोपिकाओं को 'ब्रह्म देता ब्रह्म को है ब्रह्म का उपदेश' (दर्शन पर्व–१४३) की युक्ति जँचती नहीं। यहाँ उद्धव की ज्ञान-शिला सूर आदि मध्यकालीन कवियों की गोपिकाओं की सहज, सरल और विदग्ध भाव-धारा में गिरते-फिसलते टूटकर चूर-चूर नहीं होती, अपितु उनकी जिज्ञासा-हीनता और ज्ञान-विषयक भिन्न मानदण्डों से टकराकर टूट-टूट जाती है। उद्धव संदेश सुनाने आया है, सुना रहा है, किन्तु गोपिकाएँ उनके शब्दों में भिन्न अर्थ की प्रतीति करती हैं; फिर भी वे औपचारिकतावश उनके शब्दों को निःशब्द होकर सुनती हैं। शास्त्री जी के उद्धव द्वारा लाये गये संदेशों के प्रति गोपकाओं में 'हमको लिख्यो है कहाँ, हमको लिख्यो है कहाँ, हमको लिख्यो है कहाँ, कहन सबै लगीं' वाली जिज्ञासा की तीव्रता नहीं है। यहाँ तो गोपिकाएँ उद्धव को उलटे पाँव लौटने पर अगर विवश नहीं करती हैं तो इसका कारण यह है कि वह इनके श्याम-सुन्दर के मित्र हैं।

नाम लेकर श्याम का
आते न गोकुल गाँव
पलटना पड़ता उन्हें
उच्छन्न उलटे पाँव! (दर्शन पर्व–३७)

आध्यात्मिक सिद्धान्तों के आरोपण में असफल उद्धव के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण कवि का प्रतिपाद्य नहीं है। किन्तु, इस घटना का जो आघात उसके मर्म पर पहुँचा है उसकी क्षीण आह, उस अभिव्यक्ति में अनुगूँजित है, जब कृष्ण का आखरी संदेश लेकर उद्धव 'उत्सर्ग पर्व' में राधा के सम्मुख पहुँचता है। यहाँ तो राधा पहले से ही कटी फसल-सी पड़ी है; जिसे देखकर उसका हृदय उद्वेलित हो उठता है। पहली बार जब वह कुछ सुनाने आया था, तब राधा ने कुछ सुना ही नहीं और दूसरी बार तो उसने सुनाने का अवसर ही नहीं दिया। उद्धव हमेशा राधा से संगति की अपेक्षा करता आया है, किन्तु परिस्थितियाँ ऐसा नहीं होने देती हैं। इस संक्षिप्त उद्गार में ही शास्त्री जी ने विसंगति और विडम्बना की उन त्रासद स्थितियों का अंकन किया है जो उद्धव के आध्यात्मिक ज्ञान को समूल झकझोर देता है। महाकवि ने विच्छिन्नता की इस त्रासद स्थिति को मूक रखकर और ही गम्भीर और गहन बना दिया है।

निर्वासन की समस्या का, दूसरे दार्शनिकों ने भिन्न प्रकार से विश्लेषण किया है। मार्क्स ने निर्वासन-भावना को भौतिक आधार पर प्रस्तुत करते हुए इसका मुख्य कारण राज्य को माना है। राज्य व्यक्ति के चरित्र को—एक, वास्तविक व्यक्ति और दूसरा, नागरिक के रूप में द्वित्व (Duality) प्रदान करता है। हीगल के बाद और मार्क्स से पहले फ्योरबाख ने निर्वासन का कारण धार्मिक भ्रांतियों को माना था, जिसे मार्क्स ने यह साबित करने का प्रयत्न किया कि ये भ्रांतियां तो मात्र लक्षण हैं। उनके विचारानुसार निर्वासन तो भौतिक या राजनीतिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में ही होता है। मोज हेस के विचारों से मार्क्स को बहुत बड़ी प्रेरणा मिली थी। उनका कहना था कि धन परस्पर विच्छिन्न मानवों का अर्जन है। समाज के कुछ स्वार्थी मनुष्य सामूहिक उत्पादन को हड़प कर उसे निजी संपत्ति में परिणत कर लेते हैं। हेस ने विच्छिन्नता का कारण धन को ठहराया। उनके इसी निर्वासित मानव की व्याख्या मार्क्स ने सर्वहारा के रूप में की। सर्वहारा अनुभव करता है कि उसकी विच्छिन्नता के मूल में समाज का शोषक-तत्त्व सक्रिय रहता है। मार्क्स के भौतिक निर्वासन ने विकसित होकर संस्थागत निर्वासन का रूप ले लिया। राज्य, सरकार, नौकरशाही, राजनीतिक दल और कारखाना—सभी के बोझ से दबा हुआ व्यक्ति व्यापक हताशा, चिन्ता और नैराश्य से भर जाता है।

जहां तक अस्तित्ववादी चिन्तन में निर्वासन की समस्या का प्रश्न है, उसका सीधा सम्पर्क धार्मिक क्षेत्र से है। किर्कगार्द में यह समस्या धार्मिक, सार्त्र और कामू में आध्यात्मिक एवं दोस्तोव्स्की में आपराधिक स्तर पर उभरी है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री में निर्वासन की समस्या आध्यात्मिकता के साथ-साथ राजनीतिक-आर्थिक स्तर पर देखने को मिलती है। महाकवि ने भौतिकता और आध्यात्मिकता के मध्य मानव-जीवन को विश्लेषित किया है। उनकी दृष्टि में मानव न तो पूर्णतः आध्यात्मिक ही है और न पूर्णतः भौतिक ही। मानव धरती पर खड़ा अवश्य होता है किन्तु उठता आकाश में ही है। उनके शब्दों में "ऊपर ताको तो भी पाँव ठोस भूमि पर रहने चाहिए, नहीं तो खड्ड मे धसकने का हर घड़ी खतरा बना रहता है। नीचे देखो तो फिर सिर न फिरना चाहिए। क्योंकि पाँव भले ही धरती पर अड़े खड़े हों, सिर तो आकाश में ही रहता है।

वे सारी बातें बेसिर पैर की होती हैं, जिनमें धरती और आकाश का सन्तुलन नहीं होता; समान अनुपात नहीं होता। केवल भौतिक मिट्टी का

ढूह है; केवल आध्यात्मिक शून्य का अनन्त विस्तार। चन्दन अकेला नहीं महकता।" (विनोद पर्व : प्रस्तुति)। जाहिर है, शास्त्री जी पूर्वाग्रह-ग्रस्त न होकर वैज्ञानिक की भाँति तटस्थतापूर्वक जीवन का अध्ययन करते हैं। अतः निर्वासन की समस्या के कारणों की खोज धरती और आकाश, भौतिक और आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में करनी ही होगी।

'राधा' महाकाव्य में निर्वासन और विच्छिन्नता की समस्या कलात्मक आवेष्टन में है, भोंडे और अश्लील शब्दों के जमघट में नहीं। कृष्ण एक वास्तविक मानव का जीवन जीता होता है कि राजकीय व्यवस्था के लगातार क्रूर प्रहार से उसके अन्तःकरण में नागरिक व्यक्तित्व का अभ्युदय होता है। परिस्थितियों का रच-रचाव उसे कर्मक्षेत्र में धकेलने लगता है। उसके अन्तःकरण में प्रणय की जो कलकल-निनादिनी प्रवाहित हो रही थी, उसमें कर्त्तव्य के ज्वार-भाटे उठते गिरने लगते हैं। करणीय-अकरणीय, त्याज्य-अत्याज्य, रक्षणीय-अरक्षणीय का द्वन्द्व उसे प्रणय के नैसर्गिक और वास्तविक जगत् से अपहृत कर लेता है। व्यक्ति का स्वत्व जब समाज या राष्ट्र की छद्म और रूढ़ि-जर्जर नीति से मर्दित होता है, तब वह उसके प्रतिकार की दिशा में उन्मुख होता है। कृष्ण के अस्तित्व को मिटाने के लिए प्रतिगामी शक्तियाँ बार बार प्रहार करती हैं। फलतः उसके अत्याचार से पूरे समाज की रक्षा के लिए वह प्रणय की परिधि से बाहर निकल पड़ता है।

सोच उपजा स्वत्व का, अधिकार का
क्षेत्र अब न रहा, अरे, यह प्यार का

(पुरुषार्थ पर्व–३५)

प्रेम को बचकाना मानकर वह कर्त्तव्य का वरण करता है। देश का मानस जो अमावस की तन्द्रा में ऊँघ रहा है उसे पूनम के चाँद से जगमग कर देने का संकल्प; आधिग्रस्त परम्पराओं को आरोग्य कर उसे उपभोग्य और उपादेय बनाने का संकल्प कृष्ण में कर्त्तव्य की व्यग्रता भरता है।

देश का मानस अमावस
है विनिद्र सतन्द्र
था कहा करता बनाना
शरत्—पूनम—चन्द्र !
आधिग्रस्त परम्पराओं को
अरप आरोग्य
काल-लालित निकष पर कस
दूँ बना उपभोग्य ! (दर्शन पर्व–५३)

समाज की रूढ़ि-जर्जर मृतप्राय धारणाओं को मिटाने की कामना से उसका हृदय लबालब भरा हुआ है। ललिता साक्षी है कि अपनी इस कामना की पूर्ति के लिए कृष्ण गोपिकाओं का साथ छोड़ने का विचार पहले ही कर चुका था। अक्रूर के साथ मथुरा जाना तो महज संयोग है।

श्याम की है कामना
मृत धारणाएँ मेट
ऊर्णनाभ उजाल जाल
ले संभाल समेट ?
बोलता था, छोड़ना होगा
हमारा संग
अंतरंग रंगा हुआ, चढ़ना
नहीं नव-रंग ! (दर्शन पर्व–५४)

नयी मान्यताओं और नये जीवन-बोध से समाज को अलंकृत करने के लिए कृष्ण अपने मामा कंस तक का वध करता है, किन्तु अपने लक्ष्य में सफल नहीं होता। लोक-जीवन की धमनियों में प्रवाहित होने वाली चेतना की सूक्ष्म-धारा जम चुकी है। यह घटना उसे आंदोलित नहीं करती। समाज का अभिजात संस्कार तब भी उसे फण उठा-उठाकर डँस ही रहा है।

रुक्मिणी, अभिजात का वह दर्प—
फन उठा फुफकारता ज्यों सर्प—
डँस मुझे धँस कर गया पाताल !
भूल पाता मैं नहीं वह काल ! (विनोद पर्व–३५)

नैष्ठिक ब्रह्मचारी भीष्म का यह प्रस्ताव कि कृष्ण की प्रथम अर्चना की जाय, वे राज-समाज के आराध्य बनें—अभिजात वर्ग के दम्भ और अहंकार पर प्रहार करता है। परिणामस्वरूप, उनके जैसे वीर-पुंगव को 'क्लीव' शब्द से सम्बोधित किया जाता है और परिस्थितियों की बुनावट ऐसी है कि कृष्ण भी इसका तत्क्षण प्रतिकार करने में असमर्थ है। अहंकार में अंधा बना हुआ अभिजात वर्ग अपने उन तमाम प्रतिमानों को बिसार चुका है जो उसे आदर्श मानव के रूप में प्रतिष्ठित करते थे। वह जरा भी सोचना नहीं चाहता कि—

कौन ब्रह्म-वसिष्ठ वेदव्यास ?
पाण्डु कुरु का आभिजात्य विलास !
कर्ण कन्या का कपट कौमार्य्य !
कृष्ण कुल से कर्म से या आर्य्य ? (विनोद पर्व-३५-३६)

अभिजात वर्ग मानव-व्यक्तित्व को श्रम-समर्थित चरित्र देना नहीं चाहता। वह तो सामूहिक श्रम का अपहरण करता है, उसे स्वतंत्र पहचान देना—उसके लिए खतरे-से खाली नहीं है। उसे कंस, जरासंध, चैद्य सेनापति सभी का मरना स्वीकार है, किन्तु वह अपनी मिथ्या अहम्मन्यता से मुक्त नहीं हो सकता।

कृष्ण मानवतावादी मूल्यों, जिनमें हर व्यक्ति को स्वतंत्र ढंग से जीने का अधिकार, श्रम करने और श्रम के उत्पादन का उपभोग करने का अधिकार, व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सौहार्दपूर्ण सापेक्ष संबध का अधिकार आदि का प्रतिपादन कर समाज के विस्तृत फलक पर उनका उद्घाटन करना चाहता है। अभिजात वर्ग के लगातार विरोध के बावजूद वह हार नहीं मानता। कृष्ण की आत्म-स्वीकृति है कि महाभारत युद्ध के लिए लोग उसे ही उत्तरदायी ठहराते हैं, जो एक हद तक सही है। किन्तु इस युद्ध के बाद जबकि अभिजात वर्ग की बहुत बड़ी बड़ी हस्तियाँ ध्वस्त और विनष्ट हो चुकी हैं; फिर भी कृष्ण मानवतावादी मूल्यों के उद्घाटन में खतरा ही अनुभव करता है। बार बार के संघर्षपूर्ण प्रयास के असफल हो जाने पर वह अपने को निर्वासित पाता है। उसका आउट साइडर व्यक्तित्व अपनी परिस्थितियों और व्यवस्थाओं की समीक्षा करता है। जिसे अन्याय से लड़कर निपटना था, उसके लिए शांति और अध्यात्म की रट क्या व्यर्थ न थी? जिसे बुभुक्षा न थी उसके लिए खाद्य, जिसे पिपासा न थी उसके लिए रस, जिसे कोई जिज्ञासा न थी, उसके लिए ज्ञान बाँटने का भला क्या औचित्य था? परिस्थितियाँ जब व्यक्ति को चारों ओर से दबोच डालती हैं तब वह विधि-इच्छा के सम्मुख अपनी असार्थकता स्वीकार कर लेता है। कृष्ण विधि-इच्छा के सम्मुख अपने को असहाय और असमर्थ अनुभव करता है।

> न विधि-इच्छा समझ में आह् ! आती,
> परिस्थिति मुक्त को भी बाँध लाती। (निर्वेद-पर्व–१२)

कृष्ण का स्नायु-बन्ध इतना शिथिल और निर्वेद-ग्रस्त हो जाता है कि वह व्यर्थता-बोध (Sense of futility) से भर उठता है—'न होता मैं, किसी का क्या बिगड़ता !' (निर्वेद पर्व–१२)। कृष्ण के प्रति देवकी के कथन में तो इन मन:स्थितियों की और ही तीव्र अभिव्यक्ति हुई है :

> भरा आलस्य तेरे तन-बदन में,
> कि दी गद्दी किसी को चौथपन में।

स्वयं इस ठौर से उस ठौर जाता
प्रजा के काज से भी जी चुराता
कभी घर में रहे भी तो बनाकर,
महा गम्भीर आकृति, मुँह फुलाकर,
न जाने ज्ञान होगा अब तुझे कब !
मुझे भाते नहीं ये ढलमले ढब ! (निर्वेद पर्व–१६)

कृष्ण की आन्तरिक पैनी दृष्टि में व्यवस्था के स्थान पर अव्यवस्था और अराजकता की तस्वीर उभरती है। समाज के नव-निर्माण और मूल्यों के नूतन सृजन का बीड़ा उठाना तो व्यर्थ था :

प्रथाएँ सत् सनातन, चित् पुरातन,
चिरन्तन विधि-नियम नित मेट, नूतन––
सृजन का था उठाया व्यर्थ बीड़ा,
निरन्तर काल से की क्रूर क्रीड़ा ! (निर्वेद पर्व–३४)

आउट साइडर का व्यक्तित्व उसकी बौद्धिकता और उसके संवेगों के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है। कृष्ण जब अपनी तुलना राम के परिवेश और काल, वंश और विद्यार्जन, राजनीति और शस्त्रास्त्र की शिक्षा-दीक्षा से करता है, तब अपने को उनसे सर्वथा भिन्न वृन्त पर पाता है। कारागार की अँधेरी रात, जहाँ माता-पिता जिन्दगी की विवशता झेल रहे थे, प्रकृति भी शांत न थी, तड़ित की कौंध, झंझा के झकोरे, प्रलयंकारी मेघों का वज्र-गर्जन– यही उसके जन्म का समय और परिवेश था। बचपन ऊधम मचाने और गाय चराने में बीता। न कहीं गुरु से भेंट, न कहीं शिक्षा की बातें।

लगाये धूल धूमल नग्न तन में
भरे ऊधम धमाधम मग्न मन में
अपढ़, अनपढ़ अनाड़ी मित्र-संगी
सरल शिक्षा : खड़ा होना त्रिभंगी ! (निर्वेद पर्व–३६)

देवकी की दृष्टि में राम और कृष्ण की समता करना व्यर्थ है। कृष्ण ने न तो किसी रावण को खोज निकाला है और न पृथ्वी को रावणविहीन ही किया है। उसने अपने वंशवृक्षों और गुरुजनों को विनष्ट किया है तथा नये मूल्यों के उद्घाटन के नाम पर मूल्यविहीनता को प्रश्रय दिया है :

जलाकर वंश-वन वंशी बजाता
अकृत-कृत का, सुकृत का, तू विधाता !

× × ×

न दे सकता किसी को स्वत्व अपना
तुझे परितृप्ति केवल प्रात-सपना ! (निर्वेद पर्व–४५)

दूसरी ओर जब प्रभास क्षेत्र में माता यशोदा से भेंट होती है तब वे कृष्ण के कार्य-कलापों को उचित और मानवता के हित में ठहराती हैं। देवकी और यशोदा के विचार दो भिन्न परिवेशों, वर्गों और संस्कृतियों की उपज हैं। कृष्ण दोनों विचारधाराओं के आलोक में जब अपने कर्मों का अन्तरावलोकन (Introspection) करता है, उनका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संदर्भों में मूल्यांकन करता है, तब पाता है कि इस भयंकर नर संहार से भी वर्तमान पीढ़ियाँ नहीं सँभली हैं।

हुआ संहार, पर यदुकुल न सँभला,
मरण-त्योहार, रण से मन न दहला—
हुआ विध्वंस यों कुरु-वंश का भी,
पता देता न पावस हस का भी ! (निर्वेद पर्व–५३)

हताश और निराश कृष्ण भौतिक स्तर पर विच्छिन्न हो जाता है। उसका विच्छिन्न मन अब आध्यात्मिक और धार्मिक संदर्भों में संगति की ललक से भर उठता है।

आगामी सूर्यग्रहण के समय घटने वाली अमंगल घटना की सम्भावना उसे और ही उद्वेलित कर देती है। 'महाभारत' में यह संदर्भ इस प्रकार आया है; कृष्ण ने कहा—

चतुर्दशी पञ्चदशी कृतेयं राहुणा पुनः।
प्राप्ते वै भारते युद्धे प्राप्ता चाद्य क्षयायनः॥

मौसल पर्व–२/१६

'राधा' महाकाव्य का कृष्ण मानव-जगत् पर इन आसन्न समस्याओं का समाधान अब धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रियाओं में ढूँढ़ता है। श्रीमद्भागवत के कृष्ण की भाँति वह अब भी 'संहार' के द्वारा पृथ्वी के भार हो हल्का करने में आस्था नहीं रखता। श्रीमद्भागवत के कृष्ण का संकल्प है :

अन्तः कलिं यदुकुलस्य विधाय वेणु—
स्तम्बस्य वह्निमिव शांतिमुपैमि धाम॥

(श्रीमद्भागवत : ११/१/४)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने जिस कृष्ण की परिकल्पना की है वह मानवता की प्रतिष्ठा के लिए व्यग्र है। जिसने कभी वैदिक देवता इन्द्र की

पूजा का विरोधकर लोक-मूल्यों के प्रतिपादन पर जोर दिया था, वही आज वैदिक यज्ञ के द्वारा उसकी रक्षा करने में भी नहीं हिचकता। शास्त्री जी ने कृष्ण के मानवीय व्यक्तित्व को बड़ी तीव्रता और मार्मिकता के साथ उदघाटित किया है। मानवतावादी मूल्यों की स्थापना हेतु वह मानव-व्यक्तित्व की तलाश सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और आध्यात्मिक—सभी क्षेत्रों में करता है, किन्तु परिस्थितियों की विडम्बना और रूढ़ि जर्जर आभिजात वर्ग की अहम्मन्यता एवं विलासिता उसे प्रवंचित करती रही है। महाभारत-युद्ध में वह असंख्य नरसंहार करके भी आभिजात्य एवं राजन्य जीवन को न तो लोक-जीवन की मुख्य-धारा में ला सका और न तो प्रभास-क्षेत्र में असंख्य व्रजवासी को जुटाकर भी उसके लोक-जीवन का विलयन आभिजात्य एवं राजन्य-जीवन में कर सका। नन्द और राधा का वहाँ न आना लोक-संस्कृति के स्वाभिमान एवं अस्तित्व-बोध की अस्मिता का परिचायक है। दोनों वर्गों में संपर्क-संचार के लिए अनवरत संघर्ष करके भी जब वह सफल नहीं हो पाता है तब विच्छिन्नता-बोध से भरा हुआ कृष्ण अन्त में पुनर्जन्म की कामना करता है।

'राधा' महाकाव्य में निर्वासन की समस्या से संबद्ध शास्त्री जी के विचार अन्य दार्शनिकों और चिन्तकों के विचारों से भिन्न हैं। निर्वासन की समस्या का कारण इनकी दृष्टि में आध्यात्मिक, धार्मिक या भौतिक–पृथक् पृथक् रूप में न होकर समग्र रूप में है। हीगल, फ्योरबाख, हेस, मार्क्स आदि के निर्वासन-विषयक विचार जीवन की समग्रता से उद्भूत न होकर आधे-अधूरेपन में है। शास्त्री जी जीवन का अध्ययन और विश्लेषण उसकी समग्रता में करते हैं। जीवन सुन्दर ही नहीं, कुरूप भी है; कुरूप ही नहीं, अरूप और अपरूप भी है। जीवन इन्हीं वृत्तों में सिमटकर नहीं रह जाता। उसकी चेतना ऊर्जस्वित और ऊर्ध्वगामी है। शास्त्रीजी इसी उर्ध्वोन्मुख जीवन के महाकवि हैं। निर्वासन की समस्या के कारण इसीलिए आध्यात्मिक भी हैं, धार्मिक भी; राजनीतिक और आर्थिक भी। जीवन इनमें से किसी एक पर निर्भर नहीं है, बल्कि इन सबके समुच्चय से ही संभव है।



चेतना की विवृति

□ डॉ० राजेश्वर प्रसाद सिंह

क्षमा, जीवन्मृतों को चेतना दें
विरसता को सहज संवेदना दें !
(निर्वेद पर्व; पृ० १०१)

जड़ और चेतन के बीच पार्थक्य चेतना (Consciousness) से ही संभव होता है। मानव इसलिए चेतन है कि चेतना की बहुरंगी भावधाराएँ उसके व्यक्तित्व को सामाजिकता की आधारभूमि प्रदान करती हैं। चेतना की सघन विवृति और उसका ऊर्ध्वगमन ही मानव-व्यक्तित्व को वैशिष्ट्य प्रदान करते हैं। वह मनुष्य की जीवन-क्रियाओं को चलानेवाला तत्त्व है, जो स्वयं को और अपने आस-पास के वातावरण को समझने के साथ-साथ उनका मूल्यांकन भी करती है। अर्थात् मनुष्य की जीवन्तता चेतना पर ही निर्भर है। इसके अभाव में मानव-शरीर जड़-तत्त्व से भिन्न नहीं समझा जाता है।

मस्तिष्क में पहुँचनेवाले अभिगामी आवेगों से उत्पन्न अनुभूति चेतना है। चेतना के कारण ही मनुष्य देखता, सुनता, समझता और अनेक विषयों पर चिन्तन करता है। इसी से सुख दुःख की अनुभूति होती है तथा वह अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सकल्प एवं चेष्टा करता है। मानव-व्यक्तित्व स्वतंत्रता का वरण और वरण की स्वतंत्रता के लिए चेतना से ही क्रियाशील होता है।

जीव विज्ञान जहाँ मानव, पशु-पक्षी, कीड़-मकोड़े जैसे प्राणियों को ही नहीं, बल्कि खुली आँखों से दृष्टिगोचर न होनेवाले अनेक जीवों को भी चेतन मानता है, वहाँ वनस्पति विज्ञान पेड़-पौधों में भी चेतना की स्थिति को स्वीकार करता है। मनोविज्ञान में चेतना को इनसे भिन्न अर्थों में लिया

जाता है। चेतना मस्तिष्क में होनेवाली क्रियाओं अर्थात् कुछ नाड़ियों के स्पंदन का ही परिणाम नहीं, बल्कि संकल्प-विकल्प की क्षमता से युक्त है। स्पष्ट है कि पेड़-पौधों और अनेक जीवों में या तो मस्तिष्क है ही नहीं, और अगर है भी तो अविकसित। मानव-मस्तिष्क अत्यन्त ही विकसित और उर्वर है, इसलिए मनोविज्ञान मुख्य रूप से मानव चेतना का ही अध्ययन करता है और अपने तथ्यों के प्रतिपादन एवं संपुष्टि के लिए कभी-कभी मानवेतर प्राणियों के व्यवहारों तथा प्रवृत्तियों का भी विश्लेषण/विवेचन करता है।

चेतना जीवन्तता ही नहीं, विवेक-बुद्धि की क्षमता भी है। अपनी इसी क्षमता से मनुष्य अपने व्यक्तिगत विषय या वातावरण के विषय में ज्ञान प्राप्त करता है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का मंतव्य है कि "संकल्प-विकल्पों के बीच में ही चेतना की परख होती है। आत्यन्तिक अनन्यता अविच्छिन्न-अभ्यास-साध्य है। आत्मा की स्वतंत्रता उच्छृंखल मन के टूटे-फूटे दायरों में से नहीं आती। ज्ञान अनुभव से उपलब्ध होता है, अनुभव चेतना के स्तर पर ही संभव है।" (दर्शन पर्व : संरचना; पृ०—२)

ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक अनुभूति—ये तीनों चेतना की विशेषताएँ हैं। इनसे मानव-व्यक्तित्व पूर्णता की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। चेतना का यह विकास-क्रम गत्यात्मक बना रहे, इसके लिए सामाजिक वातावरण के संपर्क की आवश्यकता होती है। जौहरी की नजरों से दूर खान में गड़े-पड़े हीरे का क्या मूल्य है? चेतना स्वयंप्रकाश तत्त्व है, किन्तु सामाजिक परिवेश और वातावरण से पृथक् उसकी दीप्ति नहीं निखरती। चेतना का संवर्द्धन और विकास वातावरण में होता है और वातावरण के निर्माण का कार्य चेतना ही करती है। इसीलिए शास्त्रीजी ने भी चेतन धर्म की सतत गत्यात्मकता को स्वीकार किया है :

> प्रविधि, नियम, आचार जकड़ ले, इसके पूर्व बदलना,
> चेतन धर्म सतत गत्यात्मक, रुकना नहीं, संभलना!
>
> (प्रभास पर्व, पृ०—५३)

ज्ञान, भाव और कर्म इन तीनों में अन्तस्संबंध है। भाव की तरलता और ऋजुता अपनी परिधि में ज्ञान और कर्म को समेट लेती है, इसलिए 'राधा' महाकाव्य के संदर्भ में महाकवि की स्वीकारोक्ति है : "ज्ञान की ऐकान्तिकता तथा कर्म की गति को लिए-दिए भाव-प्रवाह चेतन-अचेतन के सन्धि-रंध्रों को आन्दोलित करता हुआ, आकांक्षा के उत्तप्त उत्साह और समग्र चेतना की

संयत निविड़ता को एक स्वतंत्र विकास की सुदृढ़ता के साथ उभार कर अन्विति देता हुआ बहा है।" (प्रणय पर्व; संदर्भ; पृ०—११)

ज्ञान, भाव और कर्म की स्थिति मानवेतर प्राणियों में भी होती है, किन्तु उनमें ये तत्व किसी सामाजिक पृष्ठभूमि और जीवन-मूल्यों के निर्माण में समर्थ नहीं हो पाते हैं या यों कहें कि मानवेतर प्राणियाँ इन तीनों में संपर्क-संचार कर पाने की विवेक-बुद्धि नहीं रखते। फलत: वे सजीव होकर भी सचेतन नहीं कहलाते। मानव की चेतना निरन्तर जीवन की परिधि का विस्तार करती है, उसे नयी भूमि और नया आकाश देती है। वह मूल्यों के संस्थापन के लिए नूतन प्रविधियों का अनुसंधान करती है और नये समाज के निर्माण की परिकल्पना करती है।

माँगती विस्तार जीवन की परिधि
नई भूमि, नया गगन, नूतन प्रविधि
मानसिकता अद्यतन, नव चेतना
गढ़ समाज नया, न जो पहले बना !

(पुरुषार्थ पर्व; पृ०—३३)

राधाकार का स्पष्ट मत है कि ज्ञान अनुभूति से उत्पन्न होता है, शास्त्र तो उसे परिमार्जित और संस्कारित भर करता है। अनुभूति की व्यापकता और निविड़ता उसके प्राण-तत्त्व हैं। शास्त्रों के आप्त-वाक्यों को ही ज्ञानात्मक चेतना मानने के कारण उद्धव गोपियों के सम्मुख चुक-चुक जाता है। उसे अपने अज्ञान का ज्ञान ही नहीं है। जब जीवन ही दग्ध हो चुका है तब उसे मलयचन्दन का लेप कहाँ तक बचा सकता है। गोपियों की पीड़ा और उद्धव के ज्ञान के बीच की संवादहीनता उसे विश्वसनीय नहीं बनने देती। ज्ञान की उपलब्धि तो आत्मीयता के धरातल पर संभव है :

दृष्टि हो आत्मीयता की,
पीड़ितों की प्राण;
मूल्यवान अधिक न इससे
और कोई ज्ञान। (दर्शन पर्व; पृ०—६२)

किन्तु, व्यक्ति का 'अहंभाव' आत्मीय संबंधों के प्रसार पर अंकुश लगाता है। प्रवृत्ति की दृष्टि से मन के तीन भेद हैं—इड, इगो और सुपर इगो। मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियाँ—काम, क्रोध आदि 'इड' के रूप में जानी जाती हैं तो आदर्श और नैतिकता की प्रवृत्तियाँ 'सुपर इगो' के रूप में। यथार्थ

के धरातल पर इन दोनों में सामंजस्य और संतुलन जिन प्रवृत्तियों के द्वारा स्थापित होता है, उन्हें 'इगो' कहते हैं। अर्थात् 'इगो' इड और सुपर इगो के बीच की यथार्थ-बोधक प्रवृत्ति है। किन्तु, आधुनिक मनोवैज्ञानिक हेंज हार्टमैन फ्रायड के इन विचारों का खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित करते हैं कि इड का विकास एवं उदात्तीकरण इगो और सुपर इगो के रूप में नहीं होता। इन तीनों का स्वतंत्र रूप में विकास होता है। मन की प्रवृत्त्यात्मक बनावट ही जब उसे खण्डों में बाँटती है तब एक मन का दूसरे मन से सामंजस्य स्थापित करना अत्यन्त ही कठिन हो जाता है। किन्तु, सामाजिकता के आग्रह के कारण एक मन दूसरे मन को ठीक से जान-पहचान ले, इसलिए चेतना के धरातल पर यह संघर्ष निरन्तर जारी है। शास्त्री जी की मान्यता है कि एक मन के पूर्वाग्रह और कुण्ठा से ग्रस्त होने का कारण दूसरे मन को ठीक से नहीं पहचान सकना है :

एक मन प्रत्येक मन को
जानता यदि ठीक
जानने-पहचानने की
तब न कटती लीक !
और पूर्वाग्रह, पड़ेगी
और मन में गाँठ,
ढूँढ़ते समवेदना
हो जाएगा मन काठ ! (दर्शन पर्व;–८०)

उद्धव शास्त्रीय सिद्धान्तों के निकष पर जीवन को कसता है। उसकी दृष्टि में चित्तवृत्ति-निरोध ही योग है। फलतः उसकी 'प्रतिभा सत्य अनुभव के बिना अनुभाव' बनकर रह जाती है। वह जीवन की यथार्थता से संबंधित नहीं होती। गोपियाँ यदि उनके सिद्धान्तों को स्वीकार भी कर लेती हैं तो क्या उनके श्रुति-कुहर के पार प्राणों में कोई मधुर पुकार सुनायी न देगी? मन तो चैतन्यहरण कृष्ण के हाथों में है, उनके पास तो सिर्फ तन ही है। क्या तन की साधना से ही चित्तवृत्तियों का निरोध संभव है?

तन भले हो साथ, मन
उनके न होगा हाथ
चित्तवृत्ति-निरोध हम
लें सीख नत कर माथ !

श्रान्त होगा किन्तु अन्तर
कठिन भर झंकार—
श्रुति कुहर के पार
प्राणों में पुकार-पुकार ! (दर्शन पर्व; पृ०—६१)

स्वयं कृष्ण को ज्ञान-विषयक इन शास्त्रीय सिद्धान्तों में विश्वास नहीं है। उसकी दृष्टि में समत्व-बोध ही योग है :

योग का है अर्थ समता,
विषमता ही क्लेश ! (दर्शन पर्व; पृ०—८४)

जीवन जिन उपायों से समग्ररूपेण समझा ही नहीं जा सके, बल्कि अर्थवान भी बनाया जा सके, उन्हें योग कहते हैं। ज्ञान पर सबका समान अधिकार है। कृष्ण के इस जीवन-दर्शन से ब्रजवासी अभिभूत हैं कि यह विस्तृत भूमि सबका देश है—कंस, जरासंध जैसे व्यक्तिमात्र का नहीं। सामान्य लोगों के हितों से सम्बद्ध होने के कारण कृष्ण का यह चिन्तन लोकप्रिय होते हुए भी अनुकरणीय नहीं बन पाता। कारण कि मानव-मन की आदिम प्रवृत्तियाँ तो अब भी शेष हैं। कृष्ण के विकसित सुपरइगो से बीजावस्था में पड़े सामान्य लोगों का सुपरइगो तुष्टि तो पाता है, किन्तु स्वयं अपना विकास इतना नहीं कर पाता है कि उनकी आदिम प्रवृत्तियाँ सिमट-सिकुड़ कर आदर्श और नैतिक प्रवृतियों के सम्मुख बौनी हो जाएँ। फलतः कृष्ण के लोक कल्याणकारी समतावादी सिद्धान्त का अनुकरण कोई नहीं कर पाता है। शास्त्री जी ने ज्ञान को 'स्वप्रकाश' माना है। उनके अनुसार दूसरे का अनुभूत सत्य प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं होता।

'स्वप्रकाश' उसे कहा करता
सुमति—समुदाय
देख लें सामान्य जन,
कोई न शेष उपाय ! (दर्शन पर्व; पृ०—१४३)

मानवीय प्रवृत्तियों का यह विस्फोटक रूप तो तब प्रकट होता है जब कंस और शिशुपाल को स्वयं मारकर तथा जरासंध, दुर्योधनादि को मरवाकर भी लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने में कृष्ण सफल नहीं होता है। वह निरन्तर प्रवहमान समय के निर्झर में अपनी आत्मछवि की तलाश करता तो है; रात-रात भर जगकर जग को जगाने का प्रयास तो करता है कि कहीं नव प्रात हो जाय और भैरवी स्वर सुनकर अपनी तन्द्रा को झटका दे सारा

जगत् अंगड़ाई लेने लगे। नव-निर्माण का उसका सपना क्या साकार हो पाया? क्या अनिल और आकाश में 'असित, सित, सुनहले, रक्तवर्णी, ताम्र-पर्णी' कमल खिल सके?

हुआ क्या प्रात? जागा विश्व? सोया—
पड़ा था स्वप्न में, गाया कि रोया? (निर्वेद पर्व; पृ०–२३)

इधर तो सभी मदहोश पड़े हैं। हस्तिनापुर की कौन कहे स्वयं उसकी द्वारका विलासिता के दलदल में फंसी पड़ी है। जनता की आदर्श और नैतिक भावनाएँ कृष्ण के विचारों का अनुगामी बनती ही होती है कि बीच में ही उनका अहंभाव बढ़कर विवेक को ग्रस लेता है :

विचारों ने पुकारा जब, मुड़े सब,
'अहं' ने बीच से तोड़ा, मुड़े सब!
गया सुविवेक, रुचि का प्रश्न आया
रुचे सबको, न ऐसा ज्ञान! माया? (निर्वेद पर्व; पृ०–६५)

फलतः कृष्ण ने जिस आदर्श आत्म-छवि का अनुसंधान किया था, मानव-मर्म के रसों से जिस धर्म-रसामृत को तैयार किया था, वह अनचखा ही रह गया।

अलंकृत आत्म-छवि आदर्श में लख,
अनास्वादित हलाहल जीभ पर रख—
सिरजता रह गया मैं मर्म का रस,
चखा किसने ललक कर धर्म का रस! (निर्वेद; पृ०–६२)

शास्त्री जी का स्पष्ट मत है कि ज्ञान की अनुभूति और अनुभूति का ज्ञान ही जीवन को सार्थक बनाता है। ऐसा तभी संभव है, जब प्राण और तन, मान और मन तथा ज्ञान और जीवन के मध्य संपर्क-संचार हो। यह सही है कि चेतना सदैव तन को न प्रभावित करती है और न उससे सदैव प्रभावित होती है, किन्तु तन के अभाव में उसकी स्थिति कहाँ होगी और उसके अभाव से तन क्या सजीव और सार्थक होता है?

प्राण तन में, मान मन में
ज्ञान जीवन में न
शेष रह पाया; रहा क्या?
कुछ न देन न लेन! (दर्शन पर्व; पृ०–६८)

निश्चय ही शास्त्री जी की ज्ञानात्मक चेतना शास्त्र और लोक, परम्परा और आधुनिकता के पारस्परिक समाहार के रूप में अभिव्यक्त हुई है। वह अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद या द्वैताद्वैतवाद की चौखटों में जकड़कर बन्द रहनेवाली चेतना नहीं है, बल्कि मानव-जीवन को समग्रता के साथ उद्घाटित करती है। राधा की अवधारणा है कि चौमुख पर प्रदीप्त दीपक के समान चेतना का आयाम व्यापक और विस्तृत है, जिसे वह सम पर थिरकने वाले अनथके स्वर के समान समग्रता में पा लेना चाहती है।

आयाम चेतना के चौमुख दीपक-से,
छू लूँ समग्रता ! सम पर स्वर अनथक-से !

(प्रणय पर्व; पृ०–७८)

न तो योग ज्ञान है और न वियोग ही। योग और वियोग तो मन का मोह है, भ्रम का भान है। ज्ञान तो ज्योतिर्मय शाश्वत मिलन का नाम है, जो अत्यन्त ही गूढ़ होने के साथ-साथ आत्माराम होने की स्थिति है। राधा की इस ज्ञानात्मक चेतना के सम्मुख ललिता की दसों उँगलियाँ बद्ध हो जाती है :

धन्य राधे, धन्य तेरा
ज्ञान का परिपाक ! (दर्शन पर्व; पृ०–१४०)

राधा का व्यक्तित्व-निर्माण सिर्फ भावाकुल क्षणों की संवेगात्मक स्थितियों में ही नहीं होता, उसे सिरजने में जीवन के यथार्थ-बोध की अहम् भूमिका भी है। यह सही है कि राधा फूलों की चेतना के समान है, किन्तु उस फूल की, जो शूल-रूपी सूली पर चढ़ा होता है :

राधिका जैसे सुमन की चेतना
—सुमन जो है शूल-सूली चढ़ तना !

(पुरुषार्थ पर्व; पृ०–१११)

प्रेम के महाभाव तक पहुंचने के सप्त सोपान हैं—स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव। राधा का स्नेहिल हृदय, कृष्ण के प्रेम में—उनकी मुरली की धुन के रंगीन और लचीले ताने-बाने से चुपके से बुन जाता है। उसकी तरलता में इतना वेग है कि वह रुके नहीं रुकता :

रोके न रुके, ऐसा प्रवाह दुर्दम है,
इस निविड़ राग का कहाँ सुगम सरगम है !

(प्रणय पर्व; पृ०–१०)

'स्नेह' की यह अग्नि जब प्रदीप्त हो जाती है, तब वह धुँआ को भला कैसे छिपा ले ? जब जहर ही पी गयी, तब उसकी लहर सँभालने की चिन्ता कैसी ? स्नेह की इस मधुर भाव-धारा में 'मान' का बोध होता है। क्या कृष्ण को ज्ञात नहीं कि वह मृगी नहीं, राधा है जो उस पर निरन्तर तीर फेंक-फेंककर उसके हृदय को चीरता जा रहा है ? राधा अब तो न ऐसे घर्घर स्वरों से डरनेवाली है और न ऐसे तीरों से मरने ही वाली है :

ऐसे घर्घर स्वर से मैं डर न सकूँगी
ऐसे-ऐसे शर से मैं मर न सकूंगी ! (प्रणय पर्व; पृ०–११)

प्रेम उसे खींचकर प्रियतम की ओर ले जा रहा है, किन्तु लज्जा से उसके पाँव ठिठकने लगते हैं। प्राण की हलचल उसके मन के मान को मिटा देना चाहती है, किन्तु मान है जो प्राणों के संग ही जाना चाहता है। मान की यह स्थिति कृष्ण के प्रति उनके प्रेम को और प्रगाढ़ कर 'प्रणय' दशा को प्राप्त करती है। धरती को चूम रही मुकुलों और फूलों से लदी डालियाँ आकाश में सिर तानकर झूम उठती हैं। मयूर नाचने लगते हैं और पारावत गुटरगूँ करने लगते हैं। रुपहली-सुनहली रेखाएँ खिंच जाती हैं और दसों दिशाएं कितनी-कितनी ही छवियों से भर जाती हैं। प्रणय का मधुर समीर अणु-अणु को झकझोर कर मद में बोर देता है। भ्रम संशय में, संशय लज्जा में और लज्जा आनन्द की तरलता में परिवर्तित हो जाती है। प्राणों का मणि-मंदिर सहसा आलोकित हो जाता है और दसों इन्द्रियाँ ज्योति-तरंग में हिल्लोलित होने लगती हैं। उसकी भावात्मक चेतना की अरगनी पर कृष्ण का गीला पीताम्बर फैल जाता है।

अरगनी चेतना मेरी, जिस पर गीला—
है और किसी का फैला अम्बर पीला !
(प्रणय पर्व; पृ०–२६)

किन्तु, राधा की यह भाव-दशा समाज और परिवार को स्वीकार्य नहीं है। माँ की भृकुटि तन जाती है कि काँच-कुँवारी भी 'यह सब' करेगी धरेगी ? परिणामस्वरूप, राधा को पायल की जगह बेड़ियाँ और कंगन की जगह हथकड़ियाँ पहनने के लिए विवश कर दी जाती है, किन्तु उसका स्नेह-भाव तो 'राग' की अवस्था में पहुंच चुका है। भला अब वह छाँद-बथान की घेराबन्दी में घिरकर–बँधकर रहने वाली है ? वह तो जोराजोरी खूँटा उखाड़ने वाली बछिया है, कोई रखवाली करे तो करे ? संसार चाहे जितना भी अँधकार उगले, उसका हृदय तो इन यातनाओं के प्रति निर्विकार है। उसकी स्मृति में

रह-रहकर अनदेखा–सा देखा हुआ नटनागर साकार हो जाता है। उसका हृदय राग के सागर में, रस के अपार विस्तार में डूबने लगता है :

> *रस का अपार विस्तार, राग का सागर*
> उस दिन देखा अनदेखा-सा नटनागर! (प्रणय पर्व; पृ० ३७)

फिर तो कालिय को नाथना, गोवर्धन को उठाना, इन्द्र का गर्व चूर करना आदि कृष्ण के पूर्व कार्य-व्यापारों में वह नवीन माधुर्य का आस्वादन करती हैं। नूतनता का आकर्षण उसके स्नेह को 'अनुराग' का आधार प्रदान करता है।

> मेरे कोरे उर पर यह क्या लिखते हो ?
> तुम हो सकते वह नहीं कि जो दिखते हो ! (प्रणय-पर्व; पृ०–५६)

भाव की परिणति प्रेम के रूप मे होती है अर्थात् भाव अपक्व दशा है प्रेम पक्व दशा। कृष्ण की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा राधा के चित्त को कोमल और तरल बनाती है जिससे वह 'भाव' दशा को प्राप्त होती है। अब तो उसके हृदय में सप्त स्वरों की झंकृति से नव रस बरसाता है और प्राणों का बादल झूम-झूमकर नीरवता में गाता रहता है। जिसके हृदय में प्रणय की मधु-धारा उमड़ी ही नहीं, वह भला इस भाव-दशा को कैसे समझ सकता है :

> कानों मे जिसके पड़ी पुकार न उसकी
> प्राणों में जिसके गड़ी गुहार न उसकी
> जिसने उस वंशी-स्वर का स्वाद न जाना
> उस तीव्र मधुर मधु का उन्माद न जाना ! (प्रणय-पर्व, पृ० ६२)

राधा तो उस भाव-दशा में पहुँच चुकी है, जहाँ उसे प्रशंसा या निन्दा आन्दोलित करने में असमर्थ है। वह जिस पथ पर अहर्निश बढ़ती जा रही है, वहाँ आनन्द या विषाद उसे रोक नहीं सकते और न उसे रुकने या हँसने का अवकाश ही है। प्रणय-पथ पर बिछाये गये असंख्य काँटे, जो उसके तलवों को छिन्न-भिन्न कर रहे हैं, अब तो उन्हें भी झुककर निकालने का अवकाश उसके पास नहीं है। वह निश्चल कूल-किनारों को ढाहती हुई बढ़ती जाती है, क्योंकि उस पार के निर्जन से बार-बार पुकार सुनायी पड़ रही है। अपनी साँसों पर पवन, चिर विश्वासों पर किरण, सुमन भावों पर सुगन्ध और अचल चावों पर आत्मा को साथ चलने का आह्वान करती

है। वह अपने सत्त्व को पूर्णरूपेण कृष्णार्पित कर देना चाहती है, इसलिए अपनी चेतना से, संकल्प-विकल्प की शक्ति से भी निश्चय कर लेने का अनुरोध करती है :

> चेतना, चलेगी तू भी ? निश्चय कर ले,
> पिछली स्मृतियों का विस्मय संचय कर ले !

□ □ □

> चेतना, चलेगी तो चल, विचल न होना !
> ऐसा न हो, पड़े विमन विजन में खोना !! (प्रणय-पर्व; पृ० ६८)

क्योंकि चेतना जब समर्पित न होगी, तब यह भाव घनीभूत, प्रबुद्ध और परिपक्व होकर 'प्रेमा' नहीं कहला सकता, 'महाभाव' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। राधा का कृष्णार्पण पहले के छह सोपानों को ढाहकर सप्तम सोपान महाभाव तक पहुँचता है। वह अपना रूप जलाकर, नाम मिटाकर आनन्द-सिन्धु के लिए बिन्दु भर लाती है कि उसके अन्तर में अन्तरतर के प्रति शाश्वत महाभाव घर कर ले :

> रम जाओ मेरे अन्तर में अन्तरतर,
> यह महाभाव, मुझमें शाश्वत ले घर कर !(प्रणय-पर्व; पृ०-१०४)

फिर तो उसके जीवन में प्रणय-प्रणव की अनुगूँज भर जाती है। किन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि राधा प्राय: अपनी और कृष्ण की स्थितियों के प्रति सावधान और सतर्क रहती है। जबकि उसका तन-मन हार चुका है, फिर भी नीली मुरली की पुकार सुनते ही उसमें क्रियात्मक चेतना—क्या करूँ—जग पड़ती है :

> नीली री मुरली ! तूने मुझे पुकारा ?
> क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा !(प्रणय-पर्व; पृ०-१)

आश्रय तथा विषय—प्रेम के दो तत्त्व हैं। आश्रय साधक है तो विषय भगवान। विषय के प्रति आश्रय के सारे कर्मों को अगर महाभाव के अन्तर्गत मानकर उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ भी लिया जाय; लोक में कृष्ण की छवि सुरक्षित रखने के लिए ललिता के प्रहारों और प्रश्नों के उत्तर में राधा के विचारों को मान भी लें तो 'उत्सर्ग पर्व' में यशोदा माता से वार्त्तालाप के क्रम में वह जो अपनी स्थिति और अस्तित्व के प्रति सतर्क है उसकी संगति

महाभाव की स्थिति से नहीं बैठती। यशोदा कहती है—राधे, अपना जी छोटा न करो, क्योंकि अब सभी बड़े-बड़े लोग तुमसे छोटे हो गये हैं। तुम्हारा तप अतुलनीय है। गौरी और सीता तो बहुत पीछे छूट चुकी हैं। तुम पहली नारी हो, जिसे तन की माया न व्याप सकी। तुम प्राप्ति-अप्राप्ति के लेखा-जोखा से दूर मन को मार कर जीती रही। तुम्हें न तो अपने अपूर्व सौन्दर्य का अभिमान था और न बौड़म मन तुम्हारे अनुशासित तन को विचलित कर सका।

ऐसी कोई न हुई, सबको:—
सुन्दर तन का था सुख पाना,
तुम, अनुशासित जिसके तन ने
बौड़म मन का न कहा माना! (उत्सर्ग पर्व; पृ०—५७)

मन के तीन स्तर हैं—चेतन (Conscious), अवचेतन (Sub-Conscious) और अचेतन (Unconscious)। जिनके बारे में व्यक्ति सोचता, समझता और कार्य करता है वे सभी बातें चेतन मन में रहती हैं। इसमें विचारों का संगठन तो होता ही है, अहंभाव भी यहीं रहता है। जिन बातों का ज्ञान तत्क्षण नहीं रहता, किन्तु समय पर उन्हें याद की जा सकती हो, वे अवचेतन मन में रहती हैं। जो बातें व्यक्ति विस्मृत तो कर ही गया हो, साथ ही जिन्हें याद करके भी याद न कर पाता हो, वे अचेतन मन में रहती है। अचेतन मन की बातें विशिष्ट प्रक्रियाओं से याद करायी जाती हैं। यशोदा की बातें सुनते ही राधा झिझक कर जीभ काट लेती है कि न जाने लोग क्या-क्या सोचा करते हैं? कोई उसे सर्द (काम-शून्य) न समझ ले, इसलिए वह सतर्क हो जाती है कि उसके भी अपना बचपन था और वह भी सपने सँजोती थी। गर्मी और ठंढ़ी की अनुभूति उससे भी होती थी। वह भी उन्मुक्त भाव से खुली धूप-सी हँसती थी। उसे भी रोमांच की अनुभूति होती थी और अन्तर का कोना-कोना प्रफुल्लित हो जाता था। उसकी आँखों के सामने से भी सहसा अँधेरा विलुप्त हो जाता था और पुतली पर चाँदनी छिटक जाती थी। उसके भी पाँव फिसलते थे और प्रणय-पथ पर काया ढीली पड़ बिछ-बिछ जाती थी:

थे फिसल पाँव जाते स्वप्निल
पथ पर ढीली बिछती काया
कर झटक, काँप छटपट करती
मरु-तरु की हरिआती छाया! (उत्सर्ग पर्व; पृ०—५८)

राधा अपने अस्तित्व के प्रति जागरूक और सतर्क है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतीत की उसकी अनुभूतियाँ अचेतन क्या, अवचेतन में भी नहीं गयी हैं। वे तो चेतन मन में ही उपस्थित हैं। कृष्ण के प्रति एकनिष्ठ होते हुए भी उसका मन भला कब मूल्यों के संकल्प-विकल्प को भूला सका है। आधुनिक युग-जीवन का द्वन्द्व उसकी चेतना को आवृत किये हुआ है :

संकल्प-विकल्प न भूला मन,
मंदिर कर बन्द जला तनु तन—
निशिभर प्रदीप-सा, निःस्पन्दन,
नैवेद्य किसी का यह जीवन ! (उत्सर्ग पर्व; पृ०–५१)

वस्तुतः राधा मूल्यों के वरण की विसंगति का संत्रास भोग रही है। इस स्थिति में उसकी दृष्टि और भी सूक्ष्म और बेधक हो गयी है। जब से उसने प्रणय-पथ पर चलने का निश्चय किया, तब से ही ये विसंगतियाँ उभरती रही हैं। उसका मन कभी भवन में तो कभी घने मधुवन में चौकड़ी भरते-भरते अपने को भूल जाता है कि अस्तित्व-बोध की तीव्र बेधक दृष्टि उसकी स्थितियों के आर-पार देखने लगती है। वर्तमान के यथार्थ धरातल पर वह अपने अतीत की समीक्षा करती है कि आखिर वह फूल बनी ही क्यों थी, जो काँटों में घसीटी गयी। मीठी हँसी हँसी हो क्यों थी, जो खारे आँसू डबडबा आये ?

क्यों फूल बनी, काँटों में गई घसीटी,
क्या क्षार अश्रु के लिए हँसी थी मीठी ? (प्रणय पर्व; पृ०–३२)

उलझन का घना बादल जब मन पर छा जाता है तब जीवन का तेज उससे छनकर बाहर नहीं निकल पाता है। व्यक्ति की संकल्प-क्षमता विसंगति-ग्रस्त होकर विनष्ट हो जाती है, अतः जीवन के मुँदते हुए कल्प-पल्लव को दल-प्रतिदल से खुलना होगा, क्योंकि चेतना पराग और परिमल से ढँककर नहीं रह सकती :

खुलना होगा जीवन को दल-प्रतिदल से,
चेतना नहीं ढकती पराग, परिमल से। (प्रणय पर्व; ४६)

उसकी हार्दिक इच्छा है कि चेतना अचेतन मन के बादलों को छिन्न-भिन्नकर निकल पड़े और वेदना वन्दना की परिणति बन जाय। यही कारण है कि

जीवन के अंतिम प्रहर में प्रत्याशा की ज्ञानात्मक चेतना उसके तन को झक-झोर कर जगा रही है :

> धुँधला प्रकाश प्रत्याशा का
> झकझोर चेतना के तन को—
> अब भी है जगा रहा, गहरी—
> करुणा में सोए जीवन को ! (उत्सर्ग पर्व; पृ०–५३)

निश्चय ही, राधा की ज्ञानात्मक और क्रियात्मक चेतना अगर विकसित न होती तो वह 'महाभावा' होती। उसका महाभावात्मक स्वरूप प्रणय पर्व के सप्त सोपानों पर चढ़कर शीर्ष का स्पर्श तो कर लेता है, किन्तु वहीं ठिठक कर बैठ नहीं जाता। उसकी ऊर्ध्वमुखी भावात्मक चेतना अनुभूतिजन्य ज्ञान और कर्म के विविध आयामों में अपने 'सत्व' की तलाश जारी रखती है :

> मैं उसी उत्स की रहूँ सदा सन्धानी,
> उससे जानूँ जीवन की ज्योति अजानी ! (प्रणय पर्व; पृ०–१५)

प्रेम का अपार और अगाध समुद्र महाभाव है, जिसमें ज्ञान का प्रवेश संभव नहीं होता। ज्ञान की दृष्टि से प्रणय सिन्धु अमेय और अज्ञेय है, किन्तु शास्त्रीजी की राधा स्वयं ज्ञानस्वरूपा भी है। इसलिए कृष्ण का यह कथन कि 'तू महाभावा, अखण्ड अपरवशा' (पुरुषार्थ पर्व पृ०–११५)—उसके व्यक्तित्व को पूर्णरूपेण प्रस्तुत कर पाने में असमर्थ है।

राधा महाकाव्य में क्रियात्मक चेतना का विस्तृत और व्यापक उद्घाटन कृष्ण के चरित्र के द्वारा हुआ है। मानव-चरित्र और चेतना के मौलिक संबंधों के बारे में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मंतव्य है : "चेतना और मनुष्य के चरित्र में मौलिक संबंध है। चेतना वह विशेष गुण है जो मनुष्य को जीवित बनाती है और चरित्र उसका वह सम्पूर्ण संगठन है जिसके द्वारा उसके जीवित रहने की वास्तविकता व्यक्त होती है तथा जिसके द्वारा जीवन के विभिन्न कार्य चलाये जाते हैं।" (हिन्दी विश्वकोश : ४/२८२)। बहुत दिनों के सामाजिक प्रक्रम का परिणाम होने के कारण चेतना और चरित्र किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं होते। उस पर उसके वंशानुक्रम, इतिहास और परम्परा तथा प्रशिक्षण का प्रभाव पड़ता है एवं दूसरे लोगों को भी अपने द्वारा दोनों निरुपित और प्रभावित करते हैं। कृष्ण की क्रियात्मक चेतना अपनी कोमल भावनाओं का परिशमन कर लोकोन्मुखी बनती है। लोक के आकुल आह्वान ने उसकी कोमल हृत्तंत्री में ऐसा झंकार उत्पन्न कर दिया है

कि वह प्रणय को नारी-हृदय का धर्म मानने लगा है और पुरुष के लिए सिर्फ कर्म के औचित्य को ही स्वीकार करता है। वह स्वप्न-लोक से निकलकर ठोस कर्मभूमि पर आने के लिए मचलने लगता है :

> जाग, तुझको कर्मभूमि जगा रही,
> लौट नभ से, सुन, बुलाती माँ,—मही !
> विकल विश्व इधर,उधर उन्मन गगन,
> तू कि अपने में कि सपने में मगन ?

(पुरुषार्थ पर्व; पृ०–१८)

कृष्ण की दृष्टि में कर्म जीवन-यज्ञ है, धर्म का आलोक है। कर्म कुण्ठा, संत्रास और दुश्चिन्ता को ध्वस्तकर जीवन को स्वस्थ बनाता है। कर्म-दर्शन ही जीवन का सत्य है, शेष सब तो कल्पना है। कर्म के बिना मुक्ति की बात तो बकवास है। कर्मयोगी न तो सिर पर हाथ रखकर रोते हैं और न भाग्य-भोगी ही होते हैं। कर्म ही मानव-मन की परिकल्पनाओं को, उसके सपनों को आकार प्रदान करता है। कृष्ण की क्रियात्मक चेतना भावात्मकता पर प्रहार तो करती ही है, ज्ञान को भी हीनकोटि की चेतना मानती है :

> कर्म शक्ति समग्र, जाग्रत मुक्ति है,
> ज्ञान निष्क्रिय, स्वप्न है कि सुषुप्ति है !

(पुरुषार्थ पर्व; पृ०–२२)

वह ज्ञान और इच्छा को कर्म में गलाकर मर्म-शोधित धर्म में उज्ज्वलता लाने के लिए संकल्प-मत्त है, जिससे सबके साथ होते हुए भी सबसे नाता तोड़ता हुआ दिखता है। श्रेयस् और प्रेयस् की चुनौतियों का सामना कर तथा क्षणिक भावावेगों से उबरकर ही मानव विशिष्ट बनता है। इसलिए उसे इनमें से किसी एक का तो वरण करना ही पड़ता है। कृष्ण श्रेयस् का वरण करता है। वह वैयक्तिक भावावेगों का परिशमन कर लोकहित के लिए कर्मभूमि में उतरता है। बाँसुरी में तो एक मन की लहर ही गूँजती थी, जबकि पाञ्चजन्य में पञ्चजनों का समूह-स्वर ध्वनित होता है :

> आज सचमुच ही तुझे तज जा रहा,
> फेंक वंशी पाञ्चजन्य बजा रहा,
> पञ्चजन का पाञ्चजन्य समूह-स्वर
> बाँसुरी में एक मन की थी लहर !

बहुत के हित स्वत्व का उत्सर्ग कर
जा रहा उन्नीत सर्ग-निसर्ग कर !

(पुरुषार्थ पर्व; पृ०–११७)

कृष्ण के अनुसार जीवन उद्देश्यपरक है। उसे कुछ मूल्यों और आदर्शों पर चलकर जीवन की पूर्णता को प्राप्त करना है इस परिपूर्णता की प्राप्ति ही उसके जीवन का परम आदर्श है। इसके लिए वह कठिन-से-कठिन मार्गों पर चलता है तथा जड़तावाद को प्रश्रय देनेवाले कंस, जरासंध, शिशुपाल, दुर्योधनादि का बध करता/करवाता है। कृष्ण की क्रियात्मक चेतना रचनात्मकता के नये अवसर प्रदान तो करती है, किन्तु लोक की जड़ता इतनी प्रबल है कि वह उसका वेधन नहीं कर पाती है। फलतः पूरी-की-पूरी द्वारका विलासिता के कर्दम से निकल नहीं पाती। कृष्ण की क्रियात्मक चेतना की गति से लोक-चेतना आगे नहीं बढ़ती। व्यक्ति और समाज की क्रियात्मक चेतना की यह संवादहीनता ही किसी युग के लिए दुर्भाग्य का सृजन करती है। द्वारका पर दुर्भाग्य और विनाश के बादल मँडरा रहे हैं।

अब यदु-कुल भी धधक बुझेगा उगा पीत भस्मांकुर;
डूबेगी द्वारका, सिन्धु कब होनेवाला गोपुर !

(प्रभास पर्व; पृ०–४६)

उसके अनुसार मानव अपने कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। जीवन के आनन्द का भोग करना या दुख उठाना कर्म-फल है। मानव का कर्म पर अधिकार है, फल मिले ही कोई आवश्यक नहीं। यों भी जो पुण्यकर्म करता है, वह फल नहीं चाहता। फल की कामना तो जल-थल थाहनेवाला करता है, स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति करता है। कर्म की सार्थक स्थिति निष्काम होना है। निष्काम-भाव से किया गया कर्म दुःख-द्वन्द्वरहित होता है। मनुष्य के लिए कर्म से मुक्त होना संभव नहीं है, वह जैसा करता है वैसा फल पायेगा ही। पुण्य का फल पाप नहीं होता :

पुण्य करता, वह नहीं फल चाहता,
चाहता फल जो कि जल थल थाहता
पुण्य का फल पाप हो सकता नहीं,
चन्द्र आतप-ताप हो सकता नहीं ! (पुरुषार्थ पर्व; पृ०–४५)

चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी है, इसलिए सार्व कर्म के सिद्धान्त को अस्वीकार नहीं करता। संभव है, ईश्वर कर्मों का फल न

देता हो, किन्तु व्यक्तिगत दायित्व की अवधारणा तो स्वीकार्य है। सार्त्र के अनुसार कर्म का सिद्धान्त यह विश्वास दिलाता है कि जगत् न तो व्यर्थ है और न मानव-जीवन किसी अन्ध-व्यक्तिगत प्रक्रिया की दुर्घटना। अतः जो किया जाता है, वही कर्म नहीं है; कर्म तो मानव-जीवन को संभव बनाने की हर प्रक्रिया है। शास्त्री जी के अनुसार 'शुद्ध सात्त्विक कर्म विष्णु-स्वरूप है, परम सत्य है। फिर भी, बहुत संभव है कि कोई व्यक्ति कुछ भी न कर सके। उसका हृदय लोक के दुःख से भर न सके। तो भी इसे दायित्व की सीमा नहीं स्वीकार सकते :

बहुत संभव, मैं न कुछ भी कर सकूँ
लोक के दुख से न अन्तर भर सकूँ,
पर यही कर्त्तव्य की सीमा नहीं,
चरण-चारण तो न हो धीमा कहीं ! (पुरुषार्थ पर्व; पृ०४०)

अपने अच्छे और बुरे कर्मों का 'जवाब' मात्र देना ही जीवन के लिए महत्त्वपूर्ण नहीं है, बल्कि अन्तिम अच्छाई को प्राप्त करना भी है। मोक्ष प्राप्त करना जीवन की अन्तिम अच्छाई है, जबकि जीवन मृत्यु के चक्र को अनुभवगम्य बना लेना जीवन की अनिवार्य पहचान। पहचान और कुछ नहीं, स्वयं को भूलना मात्र ही तो है। इसी प्रकार 'खुशी का अनुमान' आत्म-विरोधी है, जो जितना ही इसे चाहने का प्रयास करता है, यह और भी दूर होता जाता है। मानसिक शांति में भी आत्मसंहारी अभिप्राय सन्निहित है। कृष्ण का जीवन इसका प्रमाण है कि वह पहचान, प्रसन्नता और शांति की तलाश में किस प्रकार असफल हो जाता है।

यही आदर्श था जग को दिखाता,
स्वयं को देखने की विधि सिखाता,
नहीं थी चाह जग को : नव्य सीखे,
निकलकर क्षुद्रता से भव्य दीखे !
यहीं असफल रहा निष्काम-कर्मा,
हुआ वंचित अनिश विश्वास-धर्मा !

(निर्वेद पर्व; पृ०—५२)

सार्त्र ने सभी मानवीय क्रिया-कलापों को समान माना है। सभी असफलता की नियति से पीड़ित हैं, चाहे कोई दारू पीकर अपना आपा खो दे या देश का नेता बन जाए। यह प्रतिक्रियावादी और न्यूनीकरणवादी निर्णय सही होने के बावजूद अस्तित्ववाद की सीमा नहीं है, क्योंकि अस्तित्व अनिश्चित है

और उसी अनिश्चितता से मुक्ति का उदय होता है। भले ही, कृष्ण अपने सभी प्रयासों में असफल हो, किन्तु उसकी चेतना असफलता-बोध से ग्रस्त नहीं है।

तुम्हारी ओर अपलक हो रहा मन
विफल मेरे नहीं उद्योग श्रमकण !

(निर्वेद पर्व; पृ०—१०१)

मानव की क्रियात्मक चेतना असफलता-बोध से ग्रस्त होकर ध्वस्त न हो जाय, इसलिए भारतीय दर्शन में पुनर्जन्म का सिद्धान्त दिया गया है। शास्त्रीजी ने भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का सहारा लिया है। पूर्वकर्म की पृष्ठ-भूमि पर पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है; इसलिए उपर्युक्त धनात्मक पक्षों के अतिरिक्त इसके बहुत से ऋणात्मक पक्ष भी हैं। पूर्व कर्मों की दुहाई देकर समाज में तरह-तरह के अन्याय तो हुए हैं, किन्तु एक बार फिर से जी लेने की ललक मानव-मन को निराशा के आघात से बचाकर बड़ा उपकार करती है। यही ललक अपने विकसित रूप में पुनर्जन्मवाद की अव-धारणा को दृढ़ करती है। कामू के 'अजनबी' का नायक जीवन के अंतिम क्षणों में फिर से जीने की कामना व्यक्त करता है, वह जीवन को नये सिरे से शुरू करना चाहता है। शास्त्रीजी का कृष्ण भी अपने जीवन-संग्राम में असफल हो जाने पर, युग की विसंगतियों से टकराकर क्षत-विक्षत होकर भी हार नहीं मानता। वह अगले जन्म में मूल्यों के वरण को, लोक-हित के प्रति अपनी प्रतिबद्धताओं को पूरा करने का निश्चय करता है :

मंत्र उचारूँगा निर्जन में, शांति तंत्र ढूँढूँगा,
एक जन्म पर्याप्त नहीं ? कर फिर प्रयास आऊँगा !

(प्रभास पर्व; पृ०—६३)

किन्तु, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि कृष्ण सदैव जानबूझकर भाव और ज्ञान की उपेक्षा करता रहा है। वास्तविकता तो यह है कि उसका हृदय राधा-प्रेम की मधुर भावनाओं से परिपूरित और शास्त्र-ज्ञान से आलोकित है। राधा का प्रेम तो उसके जीवन का संबल ही है। यही प्रेम तो उसे जीवन-संग्राम में नयी शक्ति और प्रेरणा देता रहा है। कर्म-संकुल जीवन में यशोदा माँ का वात्सल्य-प्रेम उसके अवचेतन मन में चला गया होता है कि एकाएक माँ की हृदय-वीणा से निकला आर्द्र-स्वर सुनता है :

घुटनों के बल चल पल भर लौटा लाई लरिकाई,
ठुनकी ओठों के भीतर : आओ हो कुँवर कन्हाई !

× × ×

छुड़ा हाथ ललिता से, छाती पर धर, बल भर टेरा:
'किए जिउतिया माइ मल्हावै, लाल कहाँ है मेरा ?'
(प्रभास पर्व; पृ०—२९)

भावात्मकता का यह तीव्र वेग कृष्ण के यज्ञ-कर्म में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता है। उसका मन उद्विग्न हो जाता है और तन जहाँ-का-तहाँ अकड़ कर बैठा रह जाता है। अवचेतन पर पड़ा हुआ पर्दा ज्योंही हटता है, त्योंही माँ का स्वर पहचान कर वह दौड़ पड़ता है :

माँ, हो कहाँ ? पुकारा औचक तुमने मुझे कहाँ से ?
हुआ विलम्ब अम्ब, आने में, देते थे सब झाँसे।
(प्रभास पर्व; पृ०—३०)

दूसरी बात ज्ञानात्मक चेतना की है। उसने वंशानुक्रम या परिवेश से जो भी संस्कार अर्जित किया है, वह वेद-शास्त्रों का न तो अपमान करता है और न उसकी अवमानना। वर्तमान की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं से प्रेरित होकर वह इन्द्रादि की पूजाओं का विरोध तो कर जाता है, किन्तु आसन्न संकट और विपत्ति के क्षणों में उसी कर्मकाण्ड की शरण में जाता है। दरअसल, कृष्ण न तो भाव की उपेक्षा करता है और न ज्ञान की। उसके जीवन की परिस्थितियाँ ही कुछ इस रूप में इतनी तेजी से बदलती जाती हैं कि वह क्रियात्मक चेतना को प्रधानता देने के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है। ज्ञान और भाव इसी क्रम में पीछे छूट जाते हैं।

निष्कर्षत: 'राधा' समग्र मानवीय चेतना का महाकाव्य है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपनी समृद्ध परम्परा और अद्यतन परिवेश की पृष्ठ-भूमि में चेतना-विषयक आधुनिक मनोविज्ञान की मान्यताओं को ग्रहण किया है। मनोविश्लेषणवादी साहित्यकारों की भाँति इनका प्रतिपाद्य अचेतन मन की दमित इच्छाओं के साथ खिलवाड़ करना नहीं, बल्कि चेतना के प्राय: हर स्तर को सृजनात्मकता प्रदान करना है। वे मन की अतल गहराइयों में डूबते हैं तो डूबते चले जाते हैं, डूब नहीं जाते; उसके आर-पार देखने की दृष्टि भी रखते हैं। निश्चय ही, शास्त्रीजी का मनोविश्लेषण और विवेचन हिन्दी के अन्य रचनाकारों से इन्हीं अर्थों में विशिष्ट है।



रिसर्च एसोसिएट
हिन्दी विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर–८४२००१

श्यामासंगीत : एक अनुशीलन

—डॉ० पतञ्जलि मिश्र

'श्यामासंगीत' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की प्रौढ़ रचनाओं में अन्यतम है। इसमें साधक आचार्यश्री की श्रीश्यामापरक अष्टोत्तरशत गीति-रचनाएँ उनकी जपमाला के अष्टोत्तरशत मनकों सदृश अनुभूत हो रही हैं। गीतों की भाषा सरल, बोधगम्य और ललित होने पर भी कवि के प्रखर पाण्डित्य की उद्बाधिका शक्ति-सी उदात्त है। माँ श्यामा के सम्यक् गान किये जाने के कारण इस गीतपिटक का नामकरण 'श्यामासङ्गीत' किया गया है। यद्यपि गीत और संगीत दो जाति की चीजें हैं। संगीत में गीत, वाद्य और नृत्य का एकत्र समज्जन होता है। इसे ही 'गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं सङ्गीत मुच्यते,'[1] द्वारा संगीतरत्नाकरकार निःशङ्क शार्ङ्गदेव ने अभिव्यक्त किया है। अतः 'संगीत' शब्द का प्रयोग तौर्यत्रिक अर्थ में गृहीत है किन्तु कहीं अवयव के अर्थ में अवअवी के उपचार से प्रयुक्त होने पर 'खण्डपटे पटव्यवहारवत्' न्याय से गीत अर्थ में 'संगीत' शब्द भी व्यवहृत होने लगता है। अतः 'श्यामासङ्गीत' नाम में पठित 'सङ्गीत' पद भी गीततत्त्व का परिचायक है।

'सङ्गीतरत्नाकर' नामक सांगीतिक ग्रन्थ में जगह-जगह पर तौर्यत्रिक के अन्यतम अवयवभूत गीत को कई रूपों में परिभाषित किया गया है। सर्वप्रथम स्वराध्याय के पिण्डोत्पत्ति प्रकरण में—

१–संगीतरत्नाकर/पदार्थसंग्रहाख्यप्रकरण–१/का० २१/पृष्ठ ६/आनन्दाश्रम संस्करण।

"गीतं नादात्मकं वाद्यं नादव्यक्त्या प्रशस्यते ।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीन मतस्त्रयम् ॥
नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः ।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ॥
आहतोऽनाहृतश्चेति द्विधा नादो निगद्यते ।
सोऽयं प्रकाशते पिण्डे तस्मात् पिण्डोऽभिधीयते ॥"[२] के माध्यम से बताया गया कि केवल गीत, वाद्य और नृत्य ही नादात्मक नहीं हैं बल्कि वाणी का उद्गमस्थान और सर्वलोक व्यवहार में क्रियाशील रहनेवाला शरीर भी नादाधीन ही है। अतः 'तत्र नादोपयोगित्वान्मानुषो देह उच्यते' का अन्वाख्यान उक्त प्रकरण के सातवें सूत्र में किया गया है, जो पूर्णतः वैज्ञानिक सूक्ष्मदर्शिता का परिचायक है। उक्त ग्रन्थ के गीताख्य प्रकरण में इसे पुनः परिभाषित करते हुए इन्होंने—

'वर्णाद्यलङ्कृता गानक्रिया पदलयान्विता ।
गीतिरित्युच्यते सा च बुधैरुक्ता चतुर्विधा' ॥[३] कारिका लिखी है,

जिसमें इनके कथन का सार यह है कि 'स्थायि-आदि वर्णाद्यलंकरणों से युक्त द्रुतादिलयों में अन्वित विशिष्ट गानक्रिया 'गीति' कहलाती है। इसके अनन्तर शास्त्रकार ने उनके विशिष्ट लक्षणवाले चार भेदों की चर्चा करते हुए उनका नामोल्लेख अधोलिखित कारिका में किया है—

'मागधी प्रथमा ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी ।
सम्भाविता च पृथुलेत्येतासां लक्ष्म वक्ष्महे ॥'[४] जिसमें मागधी अर्ध-मागधी, सम्भावित और पृथुला नामक गीतिविशेषों की वर्णना प्राप्त है। उप-र्युक्त सामान्य गीतिलक्षण में अलङ्कृत वर्णों का संगुम्फन अनिवार्य है, ऐसी व्यवस्था आचार्य भरतप्रणीत नाट्यशास्त्र के—

'शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विपुष्पेव ।
अविभूषितेव कान्ता गीतिरलङ्कारहीना स्यात् ॥'[५] श्लोकानुसार दी गयी थी। उक्त मत की प्रतिष्ठा ही संगीतरत्नाकरकार की उक्त कारिका में

२–वही/प्रकरण २ का १ ३ पृष्ठ १०४
३–वही/गीताख्यप्रकरण–७। का० १५। पृष्ठ १४४
४–वही/कारिका–१६। पृष्ठ १४४
५–वही/वर्णालङ्काराख्य प्रकरण–६। का० ४की कल्लिनाथी विवृत्ति पृष्ठ ६६ पर उद्धृत आचार्य भरत की कारिका।

हुई है। श्रीशार्ङ्गदेव के मत में 'विशिष्ट वर्णसंदर्भ मलङ्कारं प्रचक्षते'. अर्थात् विशिष्ट वर्णों की संघटना ही गीति विषयक अलङ्कार कहलाती है। इस विशिष्टता के बिना गीतियाँ रम्य नहीं होतीं। अतः गीतों में मुख्यतः दो प्रकार के वैशिष्ट्य समाहित होते हैं--नियतकलादियुक्तता और प्रसन्नादि स्थाय्यलङ्करणत्व। 'कला' संगीतशास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। 'चतुर्मात्रिकाः कलाः कल्पनीयाः, अर्थात् एककला में चार मात्राएँ हुआ करती हैं। गीतों में भी गानक्रम में एककला की गणना चतुर्मात्रिकवत् हुआ करती है।

अर्थ-धर्म-काम-मोक्षभूत पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति का एकमात्र साधन गीत ही है। अतः इसके माहात्म्यवर्णन में कौन समर्थ हो सकता है? इसे ही-

'तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणामिदमेवैक साधनम्॥'[६] द्वारा रत्नाकरकार ने दृढ़ता के साथ प्रचारित किया है। ब्राह्मणौ वीणागायिनौ गायतो ब्राह्मणोऽन्यो गायेत् इस श्रुतिवाक्य द्वारा अश्वमेध प्रकरण में गीत का धर्मसाधनत्व द्योतित हुआ है। देवार्चन के अंगभूत होने से गीतों के अनुष्ठान द्वारा गायकों की पारिश्रमिक प्राप्ति से इसकी अर्थसाधनता भी लोक मे दृष्ट ही है। 'तस्म द्गायन्तं स्त्रियः कामयन्ते' इस मीमांसावाक्य द्वारा इसका कामसाधनत्व लौकिक वैदिक रीति से सिद्ध ही है। गीत द्वारा मोक्षसाधन का मार्ग प्रशस्त करते हुए योगिराज याज्ञवल्क्य ने जैसा दृष्टिनिक्षेप किया है, उससे इसकी मोक्षसाधनता प्रस्फुटित हो रही है--

'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुति जाति विशारदः।

तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं च गच्छति॥' प्रकरणवशात् अभिनव भरताचार्य कल्लिनाथ ने इसे स्पष्ट करते हुए बताया है कि मन्द्रकादि गीतों में पठित 'शिवस्तुतौ प्रयोज्यानि मोक्षाय विदधे विधिः' इस वचन से भी वेद-मंत्रों के समानधर्मा मन्द्रक और अष्टविध कपालगानों के प्रणेता ब्रह्मा ने कल्पभेद से इनकी रचना का मुख्य प्रयोजन 'शिवसायुज्यप्राप्ति' ही सुनिश्चित की है।

संगीत और गीत के माध्यम से गायक और गीतकार नादब्रह्म के अनुध्यान में समर्थ होते हैं। 'नाद' शब्द का योगशास्त्रमूलक निर्वचन करते हुए श्रीशार्ङ्गदेव ने--

'नकारं प्राणनामानं दकारमनलं विदुः।

जातः प्राणाग्नि संयोगात्तेन नादोऽभिधीयते॥'[७] उक्त कारिका में

६-संगीतरत्नाकर/पदार्थसंग्रहाख्य प्रकरण १ का ३० पृष्ठ ८

७-वही/नादस्थानश्रुति स्वराख्य प्रकरण-२। का०। ६। पृष्ठ ३२

बताया है कि शरीरियों द्वारा मंत्रशास्त्रानुसार अपने इष्टदेव या इष्टदेवी के बीजाक्षरों के मनन और उनके रूपों के अनुध्यान से नकारदकारभूत नाद और प्राणाग्नि का संचार होता है, ऐसा मान्त्रिकों का कहना है। वह नाद अति-सूक्ष्म, सूक्ष्म, पुष्ट, अपुष्ट और कृतिम रूप पञ्चविध भेदोंवाला बनकर क्रमशः शरीरी के हृदय, कण्ठ और मूर्धा से गीतोपयोगी त्रिविध नाद के रूप में उत्तरोत्तर द्विगुण रूप में प्रस्फुटित होता है, जो व्यवहारकाल में मन्द्र, मध्य और तार नामों से पुकारा जाता है।[८]

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री भी नादयोगी हैं। उन्होने 'श्यामासंगीत' के माध्यम से नादब्रह्म के अनुध्यानपूर्वक चिन्तन में सतत जागरूकता दिख-लाई है, जिसके फलस्वरूप उनके कई गीतों में नादस्वरूपा भुवनमोहिनी त्रिपुरसुन्दरी का नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि (प्रतिभा) के रूप में चित्रण हुआ है। उदाहरणार्थ 'मैं गाऊँ'[९] शीर्षक कविता में उनकी अन्तरात्मा की गुहार श्रवणीय है—

"मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे!

पाकर तेरी ही स्वर्ण किरण
मेरा खग अपना पर तोले;
आए आह्वान जिधर से भी,
उस ओर, निकट तेरे, डोले,
कोई समझे, मत समझे,
वह तो तेरी ही बोली बोले,
बरसे वह तेरी सुधा-धार,
जग उसको पानी कहे, कहे!
मैं गाऊँ तेरा मन्त्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे!!

प्रकृत पङ्क्तियों में कवि का जैसा व्यक्तित्व प्रस्फुटित हुआ है उससे सिद्ध है कि उसका गायक अपने इष्ट चिन्तन में तदाकार हो गया है। वह जो कुछ

८— व्यवहारेत्वसौ त्रेधा हृदिमन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः॥'
—वही। का० ७। पृष्ठ ३२

९—श्यामासंगीत। गीत १। पृष्ठ १

भी बोलता है वह उसकी अपनी वाणी नहीं, वह तो उसकी श्यामा की वाणी है, जिसकी स्वर्णकिरण पाकर उसके प्राण चेतन बन गये हैं। अतः वह अन्यों से ऊपर उठ चुका है। उसकी वाणी माँ श्यामा की वाणी में एकतान हो चुकी है इसलिये वह उसी की बोली बोलता है। अतः कवि की सात्त्विक अहम् भावना रूपी प्रौढोक्ति से अनुप्राणित 'मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ, जग मेरी वाणी कहे, कहे !' गीत पङ्क्ति से यह ध्वनित हो रहा है कि मैं अपने गीतों को सदैव तुम्हारा मंत्र समझकर गाता रहूं चाहे लोग उसे मेरा वाग्विलास ही कहें तो कहें, उसकी मुझे परवाह नहीं; क्योंकि मुझे मालूम है कि यह सृष्टि-प्रक्रिया ही वाणी का विवर्त्त है।' भागवती कथा में पठित—

'ततोऽभूत्त्रिविदोङ्कारो योऽव्यक्त प्रभवः स्वराट् ।

यत्तल्लिङ्गं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥'[१०] यह श्लोक आचार्य-श्री की दृष्टि में सदैव अड़ा रहा और वे समाहितात्मा होकर हृदयाकाश में होनेवाले शब्द ब्रह्मरूप त्रिविदोङ्कार (अर्थात् त्रिमात्रिक प्रणव), जिसे योग-सूत्रकार पतञ्जलि की भाषा में 'तस्य वाचकः प्रणवः'[११] के द्वारा ईश्वर का साक्षात्वाचक कहा गया है का 'तज्जपस्तदर्थ भावनम्'[१२] के आदेशानुसार उपांशुचिन्तन और अनुध्यान द्वारा अन्तःकरण में निनादित किया है, वही गुहात्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति' के प्रमाणभूत बन-कर उनके आधार, नाभि और कण्ठ रूप तीन गुफाओं का भेदन कर वैखरी-भूत होने पर उनके सात्त्विक अहङ्कार का परिचायक बन गया है।

अपनी साधना में अहर्निश निमग्न भक्त कवि को वैसे सुख की कामना नहीं होती, जिससे दुःख द्विगुणित होते हों और परिणाम रूप में केवल नेत्रों को आठ-आठ आँसू बहाना पड़ता हो, हृदय संतप्त रहता हो। अतः वह 'सोऽहम्' की मधुमती भूमिका में अवस्थित होकर अपने अन्तर में अमृतश्वासों को बसाना चाहता है। उसे नश्वर श्वासों से घट (शरीर) भरना कतई पसन्द नहीं। उसका हर स्वर-लय तो इष्ट का ध्यान बन गया है। उसे लोकापवाद का कोई डर नहीं क्योंकि वह मानापमान में सम हो चुका है, श्यामामय बन गया है। इस भाव की प्रतिष्ठा निम्नलिखित पंक्तियों में हुई है—

'वह सुख न कभी भी मिले मुझे,
जिससे दुख ही होता दूना,

१०–श्रीमद्भागवत। स्कन्ध १२। अध्याय ६। श्लोक ३९

११–योगदर्शन/समाधिपाद/सूत्र २७/पृष्ठ ८४/वाराणसी संस्करण

१२–वही/सूत्र २८/पृष्ठ ८५

जिससे कि भीगतीं आँखें ही,
रहता अन्तर भूना-भूना,
जो अमृत नहीं वह बह जाए,
मेरा घट रहे, रहे सूना,
हर स्वर-लय तेरा ध्यान,
विश्व मुझको अभिमानी कहे, कहे !'

भगवद्‌भक्ति में शरण्य के प्रति प्रपन्नता आवश्यक है अन्यथा उसके भाव अपने ध्येय तक (अर्थात् शरणागतवत्सल के पगतल तक) नहीं पहुँच पाते । अतः ईश्वर प्रणिधान के प्रति सचेष्ट करते हुए योगाचार्य पतञ्जलिका ईश्वर प्रणिधानाद्वा'[१३] सूत्र कवि को अपने इष्ट के प्रति शरणापन्न होने में मददगार बन गया है तभी तो वह—

तेरे अलक्ष्य पदपदमों पर,
कब था न लक्ष्य अपना वारा ? कहने में समर्थ हुआ है । इससे उसकी शरणागतपालक के प्रति प्रबल निष्ठा ध्वनित हो रही है, जिसकी करुणाकादम्बिनी की प्राप्ति में वह अपना जीवन होम करने का दृढ़-निश्चय प्रकट करता परिलक्षित हो रहा है। उसे गीत के आभोग-भाग (समापन वाक्य) के—

'हो मेरा जीवन यज्ञ,
इसे दुनिया नादानी कहे, कहे !' उक्त वचनावली में प्रतिष्ठापित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है ।

शब्दब्रह्म की साधना सहज नहीं । इसे समुद्रवत् गम्भीर और दुर्विगाह्य, सुदुर्बोध और अपरम्पार बताते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने योगिराज उद्धव के समक्ष जैसा प्रकाश निक्षेप किया है वह उसके याथार्थ्य दयोतन में अपना चमत्कार विकीर्ण कर रहा है। कृपया उस पर ध्यान दें—

'शब्दब्रह्म सुदुर्बोधं प्राणेन्द्रियमनोमयम् ।
अनन्तपारं गम्भीरं दुर्विगाह्यं समुद्रवत् ॥'[१४]

प्रकृत श्लोक का शब्दार्थ थोड़ा जटिल है, अतः उसका भाव यों समझें—
प्रणव नामक स्फोटात्मक शब्दब्रह्म स्थूल-सूक्ष्म भेद से दो प्रकार का है। उनमें लौकिक स्थूल-रूप का विश्लेषण किया है । उसका सूक्ष्म रूप तो स्वरूप और

१३–वही/सूत्र २३/पृष्ठ ८०
१४–श्रीमद्‌भागवत/स्कन्ध ११/अध्याय २२/श्लोक–३६

अर्थ से भी दुर्विज्ञेय है। उसके दुर्विज्ञेयत्व का प्रकाशन 'प्राणेन्द्रियमनोमयम्' विशेषण द्वारा हुआ है, जिसमें उसे प्राणमय, इन्द्रियमय और मनोमय बताया गया है। ये तीनों रूप क्रमशः परा, पश्यन्ती और मध्यमा के हैं।' 'चत्वारिवाक् परिमिता पदानि; इत्यादि यजुर्वेदीय मंत्र में जिस स्फोटात्म के चतुर्व्यूह की ओर इंगित किया गया है उनके तीनों रूपों का बोध तो योगियों को ही सम्भव है। उक्त तीनों में भी मध्यमा नामक वाक् शब्द का ही अभिभ्यञ्जन होता है। अतः इसकी मुख्यता स्वीकारी गयी है। परावाणी यौर पश्यन्ती तो निर्विशेष हैं। अतः इन्हें देश और काल के परिच्छेद से रहित होने के कारण 'अनन्तपारम्' विशेषणविशिष्ट माना गया है (अर्थात् इसका वारापार नहीं है)।

अर्थतः उसके दुर्विज्ञेयत्व की सिद्धि के लिए श्लोक में 'गम्भीरम्' (निगूढ़, छिपा हुआ, बुद्धिनिर्ग्राह्य) पद संगुम्फित है। इसी अभिप्रायबोधनार्थ' 'समुद्र के समान दुर्विगाह्य' कहकर उसकी दुर्गमता की सटीक उपमा प्रस्तुत की गयी है। इस सूक्ष्मस्वरूप को मनीषी ही समझ सकता है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने स्फोटात्मक स्वरूप का आदर्श इसके बाद के श्लोक में निरूपित किया है, उसका अनुध्यान भी पाठकों के लिए अपेक्षित है— 'मयोपवृंहितं भूम्ना ब्रह्मणानन्तशक्तिना। भूतेषु घोष रूपेण विसेषूर्णेव लक्ष्यते इसमें भगवान् के कथन का सार यह है कि, 'मयोपबृंहितं भूम्ना' मुझ अन्तर्यामी होने से अन्तःस्थ है तथापि अपरिच्छेद्य भी है। अतः उसका विशेषण 'भूम्ना' देकर उसकी व्यापक्ता द्योतित की गयी है। अधिष्ठाता होकर भी वह अविकारी है, जिसका अभिप्राय बोधन 'ब्रह्मण' पद से हो रहा है। आविष्कृत होने पर भी वह नियन्ता हैं क्योंकि उसकी अनन्तशक्ति-सम्पन्नता 'अनन्तशक्तिना' पद से प्रकट हो रही है। वह प्राणियों के नाद (घोष) से मनीषियों द्वारा लक्षणीय है। अतः उसे 'भूतेषु घोषरूपेण' कहकर उसकी सूक्ष्मता वैसी ही बतायी गयी है जैसी सूक्ष्मदर्शिता मृणालस्थ ऊर्णतन्तुओं की प्रतीति में कारगर होती है वैसी ही स्फोटात्मक शब्दब्रह्मता प्राणियों की वाणी के अवधारण में होनी चाहिए।

'नींद न आई' (श्यामासंगीत/गीत २/पृष्ठ ३–४) शिरस्क गीत में माँ के दर्शन की लालसा इतनी व्यग्रता उत्पन्न कर रही है कि गीतकार की आँखें अहर्निश अशरण-शरण के अकुतोभय पादपद्मों की मकरन्दमाधुरी पीकर अपनी पिपासा शान्त करना चाहती है। कवि अविद्यारूप महाव्याधि से नहीं डरता। वह खुली आँखों से चराचर में विद्यमान माँ की दीप्ति के आकलन

में खुद को नियोजित कर चुका है। उसके मन-प्राण को जैसी भाषा की समुत्कण्ठा[१५] है उसकी प्राप्ति में सचेष्ट उसके सारे अंग थक-से गये हैं। उत्साह काफूर हो गया है किन्तु उसकी आत्मा अडिग और निष्कम्प दीपशिखा सी अडोल बनने के अभ्यास में दत्तचित्त है क्योंकि अभ्यास और वैराग्य में ही योग निहित है। चित्तवृत्तियों का निरोध योग कहलाता है।[१६] मनुष्य अभ्यास और वैराग्य की नैष्ठिक भावना द्वारा चित्तवृत्तियों की लपक रोकने में समर्थ होता है। इसे ही 'अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः' (योग दर्शन/समाधिपाद/सूत्र १२) द्वारा महर्षि पतञ्जलि ने निरूपित किया है। मननशील कवि का माथा व्यस्त भास्वान् के तुल्य चक्कर काट रहा है किन्तु उसका मन चन्द्रमा सदृश शीतल और आह्लादक है, जो उसके मानस सरोवर में तरंगें पैदा कर रहा है, जिससे उत्प्रेरित होकर वह जड़-चेतन के रहस्योद्घाटन में उलझता जा रहा है। वह अपने घट को सागर-सा असीम बनाने का अभिलाषी है। अतः वह अपने घटाकाश में महाकाश को घोल रहा है। वह तो प्रशान्त महामाया की ध्वनि बनने का अभिलाषी है। अपने झूठे दिवास्वप्नों को वज्रपात द्वारा नष्ट होने की कामना करते हुए सत्य की प्रतिध्वनि से अपने कर्णकुहरों को आप्यायित करना चाहता है। अतः वह असीम शून्य को अपने सार्थक शब्दों द्वारा पूर्ण करने की प्रतिज्ञा कर चुका है। उसकी गीति सरस्वती उसे अवश्य भरेगी क्योंकि अविराम गति से वह बोलता जा रहा है।

"ज्ञानी गुनें अज्ञता अपनी,
मधुमद विज्ञानी,
हमें सिरजकर ही तू माँ,
जगकी जानी-मानी !

हम में तू होगी,
मिट्टी-मिट्टी भूगोल रहे।"

प्रकृत गीत पंक्तियों में 'गौरवप्रीतरस' का उद्रेक हुआ है। गौरवप्रीतरस प्रीतभक्तिरस का दूसरा भेद है। इसमें भक्त अपने आराध्य का लालनीय और

१५—'समुत्कण्ठा निजाभीष्ट लाभाय गुरुलब्धता।'
—भक्तिरसामृतसिन्धु/द० नि०/व्यमि० ल० ४/का० १३६/पृष्ठ ४४६/वृन्दावन संस्करण।

१६—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'
—योगदर्शन/समाधिपाद/सूत्र २

लालक (पालक) मानता है। अतः प्रकृत गीत से उद्धृत आभोग-भाग में अपनी अधिष्ठात्री श्यामा के साथ जन्य-जनक-भाव का सम्पोषण करता प्रतीत हो रहा है। उक्त गीत में माँ श्यामा विषयालम्बन तथा भक्तकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्वय आश्रयालम्बन है। सर्वव्यापिनी श्यामा की दीप्ति से चराचर की भास्वरता उद्दीपनविभाव, कवि साधित तपस्याजन्य अंगशैथिल्यादि अनुभाव तथा उसकी पुत्ररूप में साधित गौरवोत्तरा प्रीति ही उचित परितोष पाकर गौरवप्रीतरस के विजृम्भण में साहाय्य दे रही है। अतः यहाँ उक्त अभिमान संपोष से अनुप्रमाणित गौरवोत्तरा प्रीति ही गौरवप्रीतरस के स्फोटन में सशक्तता प्रदर्शित कर रही है।

'श्यामासंगीत' के तीसरे गीत में 'कल्याणी प्रतिभा हो मेरी, मधुर वर्ण-विन्यास न केवल' द्वारा कल्याणी श्यामा ही कवि प्रतिभा रूप में सुचित्रित है। स्वयं कवि की भाषा में—विपुल ज्ञान की तीव्रवासना से प्रतिभा कलंकित हो जाती है। अतः उसे तर्क की स्वरकर्कशता नहीं चाहिए, नहीं तो उसके शब्दाडम्बर रूप निस्तेज उपलों से बद्ध वाणी उसे सदा कचोटती रहेगी इसलिए उसने अपनी कला-भारती से जैसा अनुनय किया है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है—

"अमृत विजयिनी ही न,
अमृत-जयिनी हो मेरी कला-भारती
उद्योतित करती बहिरन्तर,
रहे ज्वलित अनुभूति आरती,
छिदे बाँस, बाँसुरी बने,
हो साँस गले की फाँस न केवल,
कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर वर्ण-विन्यास न केवल॥"

'तिमिर में तैरकर' शीर्षक कविता में आचार्य श्री को घोर तामिस्र में तैरकर मरना कतई पसन्द नहीं है क्योंकि उन्होंने आकाश को अपने भीतर आत्मसात कर लिया है। उन्हें सर्वस्वरूपा निर्गुणा श्यामा की प्रभा की दिव्यता प्राप्त हो चुकी है, जिसे 'तारा' या 'उग्रतारा' नाम से जाना जाता है। वह सूर्य-चन्द्र को भी तरना सिखाती है, इसलिए 'तारा' नामवाली है। अतः भक्त कवि ने अपने को सचेष्ट करते हुए कहा है—

"हृदय का पद्म खुलने दो,
धरा-आकाश घुलने दो;

विसुध परिमल पिओगे जब,
रुकेगी साँस, मत डरना।
कि मृगमद से न मृग, डरना॥"

शरीरस्थ षट्चक्रों में अन्यतम द्वादशदल पद्म चक्र के भेदन के अनन्तर उद्भूत दिव्य प्रभा से घटाकाश और महाकाश का समन्वित रूप जगमगा उठेगा। दिव्योन्माद उत्पन्न करनेवाला परिमल पीकर समाधिस्थ हो जाओगे। साँसों का आना-जाना बन्द हो जायगा तब तू मत डरना क्योंकि मृग की नाभि में स्थित कस्तूरी की सुगन्धवत् अपने आप में बैठे स्फोटात्मक ब्रह्म के अवबोधन से अपना संतुलन मत खोना। अतः कवि का कान्तासम्मित उपदेश निम्नलिखित पंक्तियों में चमत्कृत हुआ है—

"ढले दिन आ रही सन्ध्या,
कुमारी कामना बन्ध्या,
भरो आकाश को मन में,
नयन में धूल क्या भरना!
मिलेगी मुक्ति, क्या मरना!"

प्रकृत पंक्तियों में प्रतीक के माध्यम से जो विम्ब खड़े किये गये हैं उससे कवि का वश्यवाक् होना स्वतः सिद्ध है। 'ढ़ले दिन' और 'आ रही सन्ध्या' में प्रयुक्त 'दिन' और 'सन्ध्या' क्रमशः परेशानियों और अनुराग के परिचायक हैं। 'भरो आकाश को मन में' वाक्य में व्यवहृत 'आकाश' पद 'विशालता' को अपने में समेटे हुए है। 'नयन में धूल क्या भरना?' में 'धूल' निकृष्ट पदार्थ का द्योतन कर रहा है। अतः कवि के 'मिलेगी मुक्ति, क्या मरना?' वाक्य द्वारा जैसी प्रौढ़ोक्ति प्रचारित हुई है, उससे उसका जीवन्मुक्त होना (अर्थात् उसकी विदेहावस्था प्राप्ति) द्योतित है। उसे मृत्यु में पूर्णता नहीं दिखती क्योंकि वह उसकी सीमा से अपने को अलग-थलग मानता है। वह शब्दब्रह्म में नदीष्ण हो चुका है, वह श्रीश्यामा के अकुतोभय अरुण-चरणों में बैठने का अभ्यासी हो गया है, आत्मबोध प्रबुद्ध हो गया है। इसकी अभिव्यक्ति उसकी निम्नलिलित गीति में हुई है—

'मरण-सागर का किया मन्थन अथक,
जीवन मिला!

और मरण मुझे न दो माँ,
चरण-नख-हीरक खिला!

मैं तुम्हारी ओर मुख कर, भव-विभव विष पी गया,
धूप-छाँह जली-बुझी, चित को कि अमृत दिया पिला।

आग से खेला कि झेला,
नाग-दंशन राग ने,
सूर्य तूर्य रहा बजाता,
अडिग थी मन की शिला !

चाँदनी उन्माद का घट उलट,
हँसती थी खड़ी
एक बूँद चखी न मैंने,
अधर बन्द, नहीं हिला !

मधुरिमा का स्फार ज्वार,
कला तुम्हारा रूप है;
माँ, क्षमा हो, नाम श्यामा,
मन तडिद्वन में खिला !

—श्यामासंगीत/गीत २१/पृष्ठ २७

मूलाधारस्थ परावाक् ही परब्रह्म की पराशक्ति है। अतः शक्ति और शक्त की अभिन्न भावना से की गयी आराधना ही सच्चिदानन्द की घनाकृति में परिणत होकर साधक और साध्य के भेद को मिटाती है। इसलिए महर्षियों 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परावागनपायिनी' कहकर अविनाशिनी परावाक् को स्वरूपज्योति (आत्मज्योति) कहा है क्योंकि यह ब्रह्मशक्ति है। चैतन्य स्वरूपा है, जिससे पृथक रहकर शिव भी शववत् जड़ रह जाता है किन्तु उस अनपायिनी परा को शिवतत्व के अवलम्बन से 'सच्चिदानन्द सान्द्राङ्गचिदानन्दघनाकृतिः' अर्थात् महाशक्तिस्वरूपा बनने का सौभाग्य प्राप्त होता है। अतः गीतकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी अपने इष्ट के युगनद्धरूप का ध्यान कई गीतों में किया है और जहाँ एक का भी अन्वाख्यान हुआ है वहाँ भी उपचारात् दोनों का ग्रहण हुआ है, ऐसा पाठकों को समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—

(क) 'महाकाल की छाती थाती
काली-अरुण-चरण-तल को,
काल काँपता, देश नापता—
अवनी-अम्बर मतवाला !

शंङ्ख फूँकता है अशङ्क मन,
शंकित चित जपता माला ।'

—श्यामासंगीत/गीत २३/पृष्ठ २६

(ख) 'शाप-उपहत ताप से अभिभूत
जीवन क्लान्त
अजय-मृत्युञ्जय-प्रिये,
किस भाँति हो स्थिर, शान्त !'

—वही/गीत ७५/पृष्ठ ८३

(ग) 'माँ आनन्दमयी, सुख-दुख के
कटे न मेरे फन्द,
शक्ति मुक्त होती, शिव होते—
तेरे उर में बन्द !'

—वही/गीत ३१ पृष्ठ ३७

(घ) 'संवेदन-द्युति उमड़ी,
अन्तर की छाँह बड़ी,
आँधी की कुलिश-कड़ी
शिव-सुन्दर-जाया ।'

—वही। गीत ६ पृ० ६

'श्यामासंगीत' के कुछेक गीतों में आचार्यश्री की दास्यभक्ति प्रस्फुटित हुई है। 'दास्य' को परिभाषित करते हुए श्रीरूपपादाचार्य ने 'दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा' (भक्तिरसामृतसिन्धु । साधन भक्ति लहरी २ का. १८३/पृष्ठ १२२) के माध्यम से यह प्रचारित किया है कि 'अपने समस्त कर्मों का अर्पण आराध्य के समक्ष करना 'दास्य' कहलाता है या उनके प्रति सदैव दासभाव रखना अर्थात् 'मैं अपने आराध्य का दास हूँ' ऐसा भाव होना भी 'दास्य' कहलाता है। भक्तिशास्त्र में दो प्रकार के कर्मों की मुख्यता स्वीकारी गयी है, जिन्हें स्वाभाविककर्म और भद्रकर्म नामों से अभिहित किया गया है। स्वाभाविक कर्मों में भोजन-शयनादि नित्यनैमित्तिक कर्मों तथा भद्रकर्मों में श्रवण-कीर्तनादि नवधाभक्ति के तत्त्वों को स्वीकारा गया है। दोनों प्रकार के कर्मों के समर्पण से अपने आराध्य में जो परानुरक्ति बनती है, वही 'दास्य' कहलाती है। आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'कीर्त्तनम्' के माध्यम से श्रीश्यामा के नामरूप-गुणादि से समन्वित गीतियों द्वारा अपने

भद्रकर्म को उनके पाद-पद्मों में निछावर किया है, जिसके फलस्वरूप उनके कुछेक गीतों में दास्य-भाव के सम्पोष की भावना मुखरित हुई है—

(क) 'निराकार आकार अलौकिक—
धार, घेर ले देश, काल, दिक
ज्योति-ज्वाल-ज्योत्स्ना तो स्वर्गिक !
ऊपर को भू पर ला ढाला !
किङ्कर ने यह क्या कर डाला ?'—वही/गीत १६/पृष्ठ-२५

(ख) 'माँ, दुर्लभ करुणा मिले !
माँगूँ ? होठ नहीं हिले !
दे न सको उपहास हो !
रहूँ सदा मैं दास हो—
माता, यह नाता झिले !'
--वही/गीत १०६/पृष्ठ-११८

उपर्युक्त दोनों उदाहरण क्रमशः 'ऐसा भी दिन आनेवाला' और 'माँ दुर्लभ करुणा मिले' शीर्षक गीत से संकलित हैं। प्रकृत दोनों गीतों में 'सम्भ्रम प्रीतरस' का उत्कर्ष वर्णित है।

'दासाभिमानिनां कृष्णे स्यात्प्रीतिः सम्भ्रमोत्तरा ।
पूर्ववत् पुष्यमाणोऽयं सम्भ्रमप्रीत उच्यते ॥'
—भक्तिरसामृतसिन्धु/प० वि०/प्रीतिभक्तिरसा० २/का० ७/पृ०–५७६

उपर्युक्त कारिका में निबद्ध 'कृष्णे' पद 'पूर्ण भगवत्तत्त्व' का परिचायक उपलक्षण शब्द है, जो कृष्णतत्त्व के साथ-साथ उन सबों की पूर्णता का द्योतक है, जिनकी विहित भक्ति आगम शास्त्रों में निरूपित है। अतः रूपपादाचार्य ने बताया है कि जिनमें अपने उपास्य के दास होने का अभिमान परिपुष्ट होता है उनकी आराध्य में सम्भ्रम-विशिष्ट आदरमयी प्रीति होती है। वही 'आत्मोचितैर्विभावाद्यैः प्रीतिरास्वादनीयताम् । नीता चेतसि भक्तानां प्रीत भक्तिरसो मतः ॥'—(वही/का० ३/पृष्ठ ५७८) आत्मोचित विभावादि द्वारा भक्तचित्त में आस्वादित होने पर प्रीतभक्तिरस या दास्यभक्तिरस कहलाता है। इसके विषयालम्बन उपास्य देवता और आश्रयालम्बन हरिदासगण होते हैं। प्रकृत गीतों में श्रीश्यामा विषयालम्बन तथा स्वयं गीतकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री आश्रयालम्बन हैं।

'ऊपर को भू पर ला ढाला, किङ्कर ने यह क्या कर डाला।' और 'रहूँ सदा मैं दास हो, माता, यह नाता झिले ?' वाक्यों द्वारा भावित सम्भ्रमप्रीत के 'माँगू ? होठ नहीं हिले !, निरख मुँदी आँखें खिलें, क्यों उर में लाया तुझे, रूखे वचन दुखा गये, गीले नयन सुखा गये' आदि वाक्यों में अनुभाव-प्रतिरूपक चित्रित हैं तथा गीले नयनों के सूखने का कारण 'मगन आधि ले व्याधि ले' और 'खड़ा अकेला हूँ यहाँ, मुझे रख दिया था जहाँ' वाक्यों में संचारियों के प्रतिष्ठापित होने से उसका स्थायित्व ही दास्यभक्तिरस के परिपाक में साहाय्य दे रहा है। अतः ये उदाहरण सम्भ्रमप्रीतरस के स्फोटन में अपनी सफलता सिद्ध कर रहे हैं।

भक्तिशास्त्र की 'सम्प्रार्थनात्मिक दैन्यबोधिका लालसामयी' इत्यादि कारिका में विज्ञप्तियों की तीन कोटियाँ निर्धारित हुई हैं, जिनके मुताबिक सम्प्रार्थनात्मिका, दैन्यबोधिका और लालसामयी इन तीन प्रकार की प्रार्थनाएँ होती हैं। आचार्यश्री के निम्नलिखित गीत में भी लालसामयी विज्ञप्तिमूलकता परिलक्षित हो रही है—

"यह पीर पुरानी हो,
जब मैं न रहूँ तब जग में—
मेरी एक कहानी हो !
मैं चलता चलूँ निरन्तर
अन्तर में विश्वास भरे,
इन सूखी-सूखी आँखों में—
तेरी ही प्यास भरे,
मत पहुँचूँ तुझ तक, पथ में—
मेरी चरण निशानी हो !

× × ×

दूँ लगा आग अपने हाथों
मिट्टी का गेह जले,
पल भर तेरे प्रदीप में
अपना भी तो स्नेह जले,
जल जाए मेरा सत्य,
अमर मेरी नादानी हो !

वह कर्म न कोई करूँ,
न हो जिससे तेरी अर्चा,
वह बात न कोई सुनूँ
न हो जिसमें तेरी चर्चा,
जग उँगली उठा कहे—
कोई ऐसा अभिमानी हो !"

—वही/गीत १०८/पृष्ठ–१२०

यह ब्राह्मी सृष्टि मुख्यत: दो भागों में विभक्त है, जिसे नामजगत् और रूपजगत् कहते हैं। नामजगत् में स्फोटात्मक शब्दब्रह्म नाम्ना निर्दिष्ट होता है, जिसे प्रकृति के कण-कण में एकाकार देखने का अभ्यास ही अद्वैतवेदान्त का चरम लक्ष्य है। अत: सम्पूर्ण रूपजगत् (परिदृश्यमान प्रकृति) उसी ब्रह्म-सत्ता का विवर्त्त है। उसमें एकमात्र एक ही कारण सत्ता को एकाकार रूप में देखना या सबों में अपने को देखना वा अपने आप में सबों का भान होना ही अद्वैत कहलाता है। योगसिद्ध कवि जानकीवल्लभ शास्त्री भी अद्वैत वेदान्त परिनिष्ठित बुद्धि सम्पन्न हैं। इन्होंने भी अपनी निम्नलिखित पङ्क्तियों में जैसी भावनाएँ व्यक्त की हैं, उनसे इनकी अद्वैतवादिता पर सम्यक् प्रकाश निक्षिप्त हुआ है—

"नाम रतन मन करे उजागर,
प्राण न भटके तम में,
और रतन, माणिक, सुवर्ण क्या
ढूँढ़ रहे हो हम में ?
हृदय कमल में माँ मनोमयी
मौन मधुकरी काली
कब भरती मधुमती गंध मधु
कब पीती मतवाली !
हम मुख देखें मुग्ध मनोहर,
नयन अरुण रतनारे;
तुम क्या देख रहे, तुम जानो,
ज्ञानोदय हो भ्रम में !
माँ औ' हम मिल बोल रहे हैं
बोली यह संयुक्त,

सागर की हिल्लोल लहर-सी
बोली ब-धन-मुक्त,
गुंजन, गर्जन--एकतान-से
सधे सुरीले क्रम में
माँ में हमें निहारो, तारो !
रवि-शशि में न 'अहम्' में !"

—वही/गीत ६१/पृष्ठ–६८

श्रीमद्भागवत के सातवें स्कन्ध में देवर्षि नारद और द्वितीय स्कन्ध में श्री शुकदेवजी ने मनुष्यों को ललकारते हुए 'तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' और 'जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायण स्मृतिः' रूप अपने सुहृत्सम्मित उपदेशों में जो कुछ कहा है उसका सार यही है कि मनुष्य के लिए सबसे बड़ा प्राप्तव्य उसके इष्टदेव के श्रीचरण ही हैं। अतः उनके चरण सरोरुह को अपने मन मे बसाना चाहिए क्योंकि अपने जीवन को ऐसा रूप देना चाहिए कि मरते समय भी उनकी स्मृति बनी रहे। अतः क व्यों में गीतितत्त्व की प्रतिष्ठा इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु होती रही है क्योंकि गीतों के माध्यम से दी गयी शिक्षा श्रोताओं के हृदय पर अमिट छाप लगाने के साथ-साथ गीतकारों को भी अपनी संवेदनात्मक स्मृति के प्रति अहर्निश क्रियाशील बनानेवाली होती है। यही कारण है कि गीतकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने भी अपने गीतों द्वारा अपनी संवेदनात्मक स्मृति के प्रति जागरूकता दिखलायी है, जिसकी परिचायिका उनकी निम्नलिखित पङ्क्तियाँ हैं—

"हम तम-तोम व्योम के वन्दी
खुली धुली धरती न लजाए !
स्वीकारो माँ महाशून्य में
उर ने सुर के दीप जलाए !
झंझावात जिन्हें न बुझाए,
दिए लिए हैं आस्था के हम,
तेरी सात्त्विक ज्योति उजाले
रजकण से है ढका हुआ तम !
ज्वाल कराल जला डाले,
पहले दृगजल के अर्घ्य चढ़ाए
तेरे अशरण–शरण–चरण
वरने अनाथ ने हाथ बढ़ाए !!

ऐसे में कैसे क्या हो माँ,
दीपक राग न आग जलाए !
तेरी उष्ण उसाँस समर तम के—
सैनिक दीपक न बुझाए !!"

—वही/गीत ३६/पृष्ठ–४५

और भी,

"माँ का नाम पुकारूँ, वारूँ तन–मन !
घर-संसार बसाकर फँसा हुआ चित;
पिंजड़े का पंछी तड़फड़ा रहा नित,
प्राण रचें तो गान आँसुओं से सित,
मैं गाऊँ, बिसराऊँ चिन्तन–मन्थन !

ऊँचे स्तर पर समासीन होकर माँ,
पिछले जीवन पर हँसकर-रोकर माँ
अधिक तीव्रता से तुमसे जुड़ जाऊँ,
मैं पाऊँ शीतल–तल नव अवचेतन !

ऊँचे स्वर से क्रन्दन कर निर्जन में,
तुम्हें जगा दूँ जब हो शयन-अयन में,
देखे बिना तुम्हें मैं तड़पूँ निशि-दिन,
तुम्हें चैन लेने दूँ ? मैं तोड़ूँ प्रण ?"

—वही/गीत ४६/पृष्ठ–५५

संवेगों की तीव्रता में ही अपने इष्ट की आसन्नता निहित है। इसे ही 'तीव्र संवेगानामासन्नः' सूत्र में योगाचार्य पतञ्जलि ने प्रतिपादित किया है, जिसकी संसिद्धि ने ही अपने संवेगों की तीव्रता के प्रति गीतकार को सचेष्ट किया है और वह अपने पिछले जीवन की सुख-दुःखात्मकता पर रो-हँसकर अपने इष्ट के चरणों से जुड़ने की त्वरा दिखला रहा है क्योंकि उसे माँ के शीतल-सुखद तलवों की छाँह में नवस्फूर्ति और नवजीवन प्राप्ति का दृढ़ विश्वास है। वह अपने ऊँचे स्वर में करुण क्रन्दन कर एकान्त और प्रशान्त स्थान में लीन अधिष्ठात्री को सदा के लिए जगाने की आशा पाले हुए है किन्तु उसे ऐसा करने में अपनी भक्ति में न्यूनता का भान हो रहा है। अतः वह आत्मतोष की साँस खींचकर अपनी क्रियाशीलता के प्रति (अर्थात् अपनी पूर्व प्रतिज्ञा के प्रति)—

'बाधाएँ हैं आहत स्वर, आघात बहुत,
प्राण बनेंगे गान तुम्हारे माँ, प्रण में !
माँ मैंने न नकारा अपने जीवन को,
लिया समेट वचन को स्वर में, व्यञ्जन में ।'

—वही/गीत ११/पृष्ठ–१६

को दृढ़ करता-सा 'तुम्हें चैन लेने दूँ ? मैं तोड़ूँ प्रण ?' इन शब्दों में प्रतीत हो रहा है, जिसका ध्वन्यर्थ है कि मैं तुम्हें भी चैन नहीं लेने दूँगा। अपने गीतों के माध्यम से तुम्हें आकर्षित किये बिना नहीं छोड़ूँगा क्योंकि मैं अपने प्रण के प्रति सतत जागरूक हूँ; 'गीतेन प्रीयते देवः' को अच्छी तरह जानता हूँ।'

एक गीत में तो वह अपनी अधिष्ठात्री से ऐसा कहता दृष्ट हो रहा है कि, 'जीवन मेरा जागरूक, तू भूल रही,

मैं न भूल जाऊँ, तू लिए त्रिशूल रही।' अतः उसकी सतत जागरूकता के प्रति माता के त्रिशूलधारिणी रूप का ध्यान ही यथेष्ट है।



एम० ए० द्वय (संस्कृत-हिन्दी), पी० एच० डी० (भागलपुर),
'श्री कमलेश कुटीर' बासाटाँड़, प्रेषणिका–केआल, वाया–करपी,
जिला–जहानाबाद, पिन–८०४४१६ (बिहार)

श्यामासंगीत : समीक्षा

☐ डॉ० श्रीरञ्जन सूरिदेव

कविर्मनीषी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री छायावादी काव्यधारा के एक ऐसे शलाकापुरुषोपम क्रोशशिला-कवि हैं, जिनकी काव्यरचना-प्रक्रिया का, छायावादी काव्य की प्रकृति और प्रवृत्ति के भंगिमाबहुल आवेष्टन के बीच स्वतन्त्र अभिज्ञान निर्मित हुआ है, जिसमें विद्वान् महाकवि ने बहुरंगी साहित्य और समाज के आधुनिक-अत्याधुनिक प्रभावों का ग्रहण-वर्जन करते हुए भी अपनी वैयक्तिक विशेषताओं को सायास सुरक्षित रखा है। अपने इसी रचना-स्वातन्त्र्य के कारण उन्होंने छायावादी परम्परा के प्रमुख और गौण कवियों में सर्वथा अद्वितीय और शिखरस्थ स्थान आयत्त किया है।

मनन और मीमांसा के क्षेत्र में अपनी स्पृहणीय मौलिकता के लिए ख्याति प्राप्त चिन्तक कवि शास्त्रीजी छायावाद की यथाप्रथित परम्परा के प्रति विसर्जित नहीं है, न ही उन्होंने छायावादी काव्य के प्रवर्त्तकों की गतानुगितकता स्वीकार की है, वरन् वह पूरी छायावादी परम्परा से सर्वथा भिन्न नव्य छायावाद के प्रवर्त्तक हैं। यद्यपि आधुनिक आलोचकों ने उन्हें इसका श्रेयोभागी मानने में प्राय: कृपणता का ही परिचय दिया है, तथापि यह एक ऐतिहासिक सत्य हैं, जिसे झुठलाना सूर्य को बादल से ढ़कने का असफल प्रयास ही कहा जायगा।

ललितललाम कवि शास्त्रीजी की नव्य छायावादी काव्यधारा के कतिपय ऐसे गुणवैशिष्ट्य हैं, जो उनकी परम्परामुक्त काव्यसृष्टि के व्यावर्त्तक लक्षणों की ओर संकेत करते हैं। एक तो यह है कि शास्त्रीजी में स्थूल और सूक्ष्म

दोनों प्रकार के सौन्दर्य या कलात्मक लालित्य के प्रति समान आकर्षण है। उनमें रहस्यवादी कवि की तरह न तो स्थूल सौन्दर्य के प्रति एकान्त विकर्षण का भाव है, न ही स्थूल के आकर्षण से अभिभूत होकर उन्होंने सूक्ष्म का अवमूल्यन किया है, बल्कि सर्वत्र आलम्बन के प्रति उनका सौन्दर्यानुप्राणित भावात्मक संवेग मर्यादित, सन्तुलित और स्वाभाविक है। दूसरी बात यह कि उनके काव्य में विरह और संयोग या वेदना और आनन्द के ऐसे आवर्जक पक्षों का विनिवेश हुआ है, जिनकी आभ्यन्तर चेतना का धरातल सहज और समभाव से उन्नीत है, साथ ही स्मृति-विह्वल भी। फलतः उनका पूरा-का-पूरा काव्य-साहित्य एक अपूर्व सात्त्विक रसात्मकता से ओत-प्रोत है।

इसी वैचारिक परिप्रेक्ष्य में आचार्य महाकवि शास्त्रीजी की कमनीय काव्यकृति 'श्यामासंगीत' अपनी काव्यरचनागत विलक्षणता की दृष्टि से उनकी नव्य छायावादी धारा के काव्यों में उल्लेखनीय महत्त्व रखती है। उनके स्फुट काव्य ही क्यों, 'राधा' महाकाव्य भी नव्य छायावादी काव्यधारा की एक ऐसी सीमारेखक महत्कृति है, जो अपने पूर्ववर्ती समस्त हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा को एक नई दिशा देती है। राजर्षि श्री उमाशंकर प्रसाद की पुण्यस्मृति को समर्पित सारस्वत माला-स्वरूप इस काव्यकृति में कुल एक सौ आठ कविताओं की मणियाँ पिरोई हुई हैं। प्रत्येक कविता मणिकल्प होने के कारण अपनी सहज भावदीप्ति से व्याप्त है। किन्तु शास्त्रीजी ने महज्जनोचित विनम्रतावश इन्हें 'दीन दियना' कहा है : 'श्यामासंगीत' ज्योति-कल्लोल नहीं है। सम्भव है, बन्द मन्दिर का अन्धकार इन स्नेह-हीन दीन-दियनों की भभक से पलभर को लहक-लहक उठा हो!' (द्रष्टव्य भूमिका 'उप-मा')।

'श्यामा' रहस्य-विस्मय से परिपूर्ण शक्ति के साधनालोक की अपूर्व सुन्दरी परमस्नेहमयी माँ भगवती का ही अपर रूप-नाम है। उन्हीं की महामोहमयी महिमा को निवेदित कर लिखी गई इस काव्य-संग्रह की कविताएँ सच्चे अर्थों में 'श्यामासंगीत' हैं और इसी से इस काव्यकृति का यह नाम भी सार्थक है। सच पूछिए, तो इस काव्यकृति में शास्त्रीजी का वह परिभू, स्वयम्भू, साधक कवि ध्यानासीन है, जो उनकी साहित्यिक कवि की भूमिका में अन्तर्लीन योगी की तरह चक्षुषा अप्रत्यक्ष और मनसा प्रत्यक्ष रहता है।

भावप्रवणता 'श्यामासंगीत' की कविताओं का प्राण है, साथ ही यह काव्य भाव, रस, सौन्दर्य और माधुर्य की अन्विति की दृष्टि से गीतिकाव्यों में

अपना उच्च स्थान अधिकृत करती है। गेयात्मकता 'श्यामासंगीत' की अपनी विशिष्टता है और स्पष्ट ही, इसमें शास्त्रीजी का वाग्गेयकार-रूप भी अपनी पूरी भास्वरता के साथ प्रकट हुआ है। यह सर्वविदित है कि शास्त्रीजी में कवि और संगीतकार, दोनों रूपों का दुर्लभ मणिकांचन-संयोग सुलभ हुआ है और यही उनके विचक्षण कवि-व्यक्तित्व का पराभूत कर देनेवाला वैलक्षण्य है।

कहना न होगा कि चिरनवीन संस्कृत-वाङ्मय की अतलस्पर्श ज्ञान-गरिमा से प्रोद्भासित इस ललित काव्य में पारगामी विद्वान शास्त्रीजी के अगाध पाण्डित्य, रसोच्छल कवित्व, गहन दार्शनिकता एवं तन्त्रागमोचित अनन्य शाक्त भक्ति का अद्भुत समन्वय हुआ है। यथोक्त रचना-वैशिष्ट्य के उद्भावक कतिपय काव्यप्रसंग द्रष्टव्य हैं :

मोह-शमी-सन्दोह-अरणि है,
लक्ष्य-क्षितिज की सरल सरणि है;
तिमिर-तरणि, आकाश-धरणि है
माँ माँ है, क्या क्रूर, करुण !
('माँ श्यामा के चरण अरुण')

× × ×

प्यास तुम्हारी कण्ठ–कण्ठ में,
रूप तुम्हारा नयन-नयन में !

× × ×

जीवन अभिव्यक्ति है जिसकी,
मरण उसी सत्ता की सिकुड़न,
('प्यास तुम्हारी')

× × ×

सिद्ध करें वारुणी-पारणा,
मति मधुमली निषिद्ध-कारणा,
मेरी एकाधार धारणा
तेरा मद एकात्म निराला !
जिए हलाहल, पिए न हाला !!
('ऐसा भी दिन आनेवाला')

शास्त्रीजी की भाषा की टकसाल बड़ी समृद्ध है। गम्भीर भाषा के

बीच-बीच में सरल लोकजीवन की शब्दावली का परिगुम्फन तो शास्त्रीजी की कविता का सातिशय मोहक व्यक्तित्व है। जैसे :—

यन्त्र ने अमौलिक कर दिया मन्त्र-प्राण है ?
दैहिक दावाग्नि, कहाँ आत्मा का त्राण है ?
मति बदले, जननि, टले सर्वनाश-वेला
रोक रहा उड़ने से पत्ते को ढेला !
निःस्व विश्व चरण-शरण लेगा ? अभिमान है !

('तमसा की आँधी में')

गम्भीर से गम्भीर चिन्तन में प्रासंगिकता को बनाये रखना शास्त्रीजी के काव्यकौशल का एक अभिराम पक्ष है। जैसे :—

रहे दूर का नाता, टूटे ;
मुक्ति मिले निस्संग से ?
गाल बजाने वालों की जय
गूँजे झाँझ-मृदंग से !

('मन चंचल जल की तरंग-सा')

मूलतः वेदना और करुणा की विशाल भावभूमि पर प्रतिष्ठित यह काव्यकृति शास्त्रीजी की वास्तविक अनुभूतियों और अनुभूतियों से उत्पन्न रमणीय कल्पनाओं का, अवश्य ही, एक लोकोत्तर काव्यावदान है, इसमें सन्देह नहीं।



पी० एन० सिन्हा कालोनी
भिखना पहाड़ी, पटना—800006

श्यामासंगीत

सात्त्विक भावों की रागात्मक अभिव्यक्ति

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

'श्यामा संगीत' मातृका विज्ञान की सर्वोपरि उपलब्धि है। उपलब्धि इस अर्थ में कि इसमें प्रातिभ चेतना रागात्मक ऊर्जा के रूप में प्रतिष्ठापित हुई है। जो लोग शास्त्रीजी की काव्य-साधना के प्रति सरल दृष्टि रखते हैं—वे भली-भाँति परिचित हैं कि शास्त्रीजी की ऋजुता और उनकी पारदर्शिता के मूल में, उनकी निष्कलुष साधना की भूमिका, काफी महत्त्व रखती है। उनकी साधना में निष्ठा और संकल्प को एक रागात्मक भावोन्मेष मिला है।

शास्त्रीजी रागात्मक भावों को, ज्ञान की अंतिम सीमा पर आसीन करने वाले कवि हैं। शास्त्रीजी का संवेदनात्मक ज्ञान शास्त्रों की चहारदीवारी को अपने कवि-कर्म की अंतिम सीमा नही मानता। यही कारण है कि स्वचिंतन से प्राप्त ज्ञान को जीवन की जो व्यापक संवेदना मिली है वह संवेदना मातृ-भाव के विश्वजनीन भावात्मक विस्तार में अपनी परिणति ढूंढ़ने के लिए बेचैन है। शास्त्रीजी के मनोराग पर निर्जला एकादशी की-सी पवित्रता है और वह पवित्रता मातृ भाव को लेकर ही उनके कवि-संस्कार को परिमार्जित करती रही। जो लोग यह आरोप लगाते नहीं थकते कि शास्त्रीजी अपनी कविता को अध्यात्म की रेशमी चादर से आवृत किए हुए हैं, उन्हें ठंढे दिल से सोचना चाहिए कि क्रियात्मक योग के प्रति अपनी गंभीर आस्था रखनेवाला कवि, यदि अपनी प्रतिभा की सीमा को 'राधा' की आकृति प्रदान करता है तो उसका मूल उद्देश्य क्या है?

सात्त्विक वृत्ति का अपना अलग महत्व है—भारतीय चिंतन में। यह तो कवि की विनम्रता ही है लिखने में कि—"कुन्देन्दुतुषार धवला' सर्वशुक्ला

श्यामासंगीत

सात्त्विक भावों की रागात्मक अभिव्यक्ति

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

'श्यामा संगीत' मातृका विज्ञान की सर्बोपरि उपलब्धि है। उपलब्धि इस अर्थ में कि इसमें प्रातिभ चेतना रागात्मक ऊर्जा के रूप में प्रतिष्ठापित हुई है। जो लोग शास्त्रीजी की काव्य-साधना के प्रति सरल दृष्टि रखते हैं—वे भली-भाँति परिचित हैं कि शास्त्रीजी की ऋजुता और उनकी पारदर्शिता के मूल में, उनकी निष्कलुष साधना की भूमिका, काफी महत्त्व रखती है। उनकी साधना में निष्ठा और संकल्प को एक रागात्मक भावोन्मेष मिला है।

शास्त्रीजी रागात्मक भावों को, ज्ञान की अंतिम सीमा पर आसीन करने वाले कबि हैं। शास्त्रीजी का संवेदनात्मक ज्ञान शास्त्रों की चहारदीवारी को अपने कवि-कर्म की अंतिम सीमा नही मानता। यही कारण है कि स्वचिंतन से प्राप्त ज्ञान को जीवन की जो व्यापक संवेदना मिली है वह संवेदना मातृ-भाव के विश्वजनीन भावात्मक विस्तार में अपनी परिणति ढूंढ़ने के लिए बेचैन है। शास्त्रीजी के मनोराग पर निर्जला एकादशी की-सी पवित्रता है और वह पवित्रता मातृ भाव को लेकर ही उनके कवि-संस्कार को परिमार्जित करती रही। जो लोग यह आरोप लगाते नहीं थकते कि शास्त्रीजी अपनी कविता को अध्यात्म की रेशमी चादर से आवृत किए हुए हैं, उन्हें ठंढे दिल से सोचना चाहिए कि क्रियात्मक योग के प्रति अपनी गंभीर आस्था रखनेवाला कवि, यदि अपनी प्रतिभा की सीमा को 'राधा' की आकृति प्रदान करता है तो उसका मूल उद्देश्य क्या है ?

सात्त्विक वृत्ति का अपना अलग महत्व है—भारतीय चिंतन में। यह तो कवि की विनम्रता ही है लिखने में कि—"कुन्देन्दुतुषार धवला' सर्वशुक्ला

ही मेरी गहन मलिनता छिपाने के उद्देश्य से स्वयं नील सरस्वती बन गयीं।"
कहते हैं—राग का रंग लाल होता है। लेकिन सूर्य के प्रकाश में यदि रक्तिम-आभा छिटकती है और वही जब प्रकृति के समस्त अवयवों को अपनी भास्व-रता में समेटती हुई किसी नीले सागर की गहराई में प्रतिबिम्बित होती है तो सहज ही किनारे पर बैठने वाले को वह न तो सफेद दिखलायी देती है और न रक्ताभ। सागर की अशांत नीलिमा और गगन का विस्तार दोनों एक-मेक हो जाते हैं उसमें। सागर गहराई के लिए अपना (मिथकीय) अस्तित्व रखता है और आकाश विस्तार के लिए। वर्ण-विज्ञान विस्तार और गहराई में एक अनुपातित सम्बन्ध स्थापित करता है और उसके संवेदनात्मक प्रभाव को नीले रंग के रूप में ग्रहण करना पसंद करता है।

शास्त्रीजी की काव्य-साधना इसी अनंत विस्तार और गंभीर आस्था का भावात्मक आलोड़न है। अतः शास्त्रीजी का भक्त-कवि जब 'माँ श्यामा' की अर्चना में ऋचाएँ गढ़ता है तो वह सात्विक होने के कारण सहज ही नील सरस्वती बन जाती हैं।

पता नहीं, रंगों के चाकचिक्य में पड़ा पाठक क्या सोचता होगा? "श्यामा" कृष्ण है। तंत्र शास्त्र उसे महाकाली कहता है। शास्त्रीजी कभी-उसी को भुवनेश्वरी कह कर पुकारते हैं तो कभी तारा। शक्ति एक ही है। महाभावमें सिर्फ भावों को मनोवेग, परिस्थिति, मनःस्थिति एवं जीवन-बोध की अनुभूति की विभिन्न आकृतियाँ मिलती हैं। कवि कभी भुवनेश्वरी के रूप में याद करता हैं—"माँ मेरी भुवनेश्वरी" तो कभी 'एकतारा इष्ट है वैरागियों के रूप में। कभी उसे "शिव-सुन्दर-जाया" के रूप में याद करता है।

शास्त्रीजी जीवन-अर्चा के कवि हैं। अतः जीवन में मातृभाव के प्रति एकात्म भाव कभी हो ही नहीं सकता। कभी जीवन की विषम परिस्थितियों में असहाय मन अपनी स्नेहिल शक्ति को क्रूर रूप में देखता है तो कभी करुण रूप में। कुल मिलाकर चार वर्ष की लघु अवस्था में ही मातृ-हीन बालक के बाल-संस्कार पर जो परम्परा की रिक्तता और बाद में जीवन से उभरे संघर्ष की तिक्तता का जो बोध हो सकता था —'वही श्यामासंगीत" के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है! शास्त्रीजी ने परिवेश की आरम्भिक सीमा को, अपने पुरुषार्थ की आखिरी सीमा नहीं माना। परिवेश बनाने और उसे बड़ी बेदर्दी से तोड़ने वाला कवि—माँ को यदि अपनी आंतरिक ज्वाला के रूप में देखता है तो आश्चर्य ही क्या है? "राधा" के मौन एकालाप में यदि

वह ज्वाला कभी प्रज्ञा की महाभावात्मक आकृति बन जाती है तो कभी ललिता के जीवन-बोध की जीवंतता में युग बोध का अनंत बिस्तार! कभी वह अपने गाँव की डाइन विधवा के तरल वात्सल्य में करुणामयी शक्ति बन जाती है तो कभी निरुपमा की भव्य उपमा।

शास्त्रीजी का भाव-संसार उनके अनुभव-जनित ज्ञान एवं भाव-जनित-बोध का संसार है जहाँ तंत्र-मन्त्र, जप, माला, तिलक एवं आचारवाद की तन्त्रोक्त सीमाएँ सिमट जाती हैं। जीवन ही यज्ञ बन जाता है।

अतः जो लोग तांत्रिक वाङ्मय को ही शक्ति साधना का आप्त प्रमाण मानते हैं उन्हें भी कहीं एतराज नहीं होगा कि श्यामा संगीत की श्यामा नील सरस्वती भी हैं और तारा भी। वह भुवनेश्वरी हैं, तो काली भी। उन्हें दस महाविद्याओं के रूप में देख सकते है तो त्रिगुणात्मिका शक्ति के रूप में भी। तंत्र शास्त्र के अपने अनुभव को कवि जीवन-बोध की अनुभूतियों में देखने का आदी रहा है। तभी तो उसने काली को भी अनेक रूपों में देखा है। काली हो या भुवनेश्वरी, महाविद्या तारा हो या षोडशी, भैरवी हो या छिन्नमस्ता, धूमावती हो या बगला, मातंगी हो या कमला, कोई खास अन्तर नहीं आता। जीवन की अनंत अनुभूतियों की विभिन्न आकृतियाँ मिलती हैं—वह आकृति चिन्तामणि काली की भी हो सकती है, स्पर्शमणि काली की भी। वह सन्तति-प्रदा काली की भी हो सकती है, सिद्धिप्रदा काली की भी। वह दक्षिण काली की भी हो सकती है—गुह्य काली की भी।

कुल मिलाकर शास्त्रीजी का महाभाव भुवनेश्वरी का ही है। शास्त्र की "नील सरस्वती" कोई दूसरी शक्ति नहीं, उनकी अपनी ही 'कल्याणी प्रतिभा' है। वही 'कल्याणी प्रतिभा' श्यामा संगीत में 'मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ' का संकल्प दुहराती है। 'राधा महाकाव्य" के पाठकों के लिए यह ज्ञातव्य है कि शास्त्री जी ने 'राधा' भाव का साक्षात्कार किया है। 'राधा' उनके आत्मसाक्षात्कार की भावात्मक अनुभूतियों की एक बोधात्मक अभिव्यक्ति है। भाव को तो आकार मिलता ही है—कभी-कभी बोध को भी आकार मिल जाता है। स्वामी रामकृष्ण परम हंस देव कहा करते थे—जिस वस्तु का निरन्तर चिन्तन किया जाए—वही धीरे धीरे एक आकृति ग्रहण करने लगता है। यही कारण है कि दक्षिण काली के उपासक होने के बावजूद उन्होंने कई बार भगवद् भावों का साक्षात्कार किया था। चैतन्य देव ने उसे मदनाख्य महाभाव के रूप में देखा था और महाकवि सूर ने—"भाव" के रूप में। सूर—श्याम ने भाव

को ही श्याम की आकृति में ढाल दिया था। वही भाव कभी 'अपने जन के कारण श्री कृष्णमय रघुनाथ' हो जाता है (तुलसीदास)

शास्त्रीजी ने अपने भाव को विविध रूपों में देखा है। एक बार मथुरा-प्रवास के क्रम में श्रीनाथ मन्दिर में उन्होने एक घांघरा पहने सौम्य किशोरी को देखा था। कवि अपने पिता-श्री के साथ था। दूसरे दिन वही लड़की रास्ते में एक भक्त से बात करती हुई दिखलायी दी। तीसरे दिन कवि जब बरसाने के पीले पोखर में स्नान करने के उद्देश्य से सरोवर के तट पर बैठा था तो वह कुछ सखियों के साथ निर्वसन तालाब में कूद पड़ी। कई वर्ष बीत गए। जबलपुर प्रवास में–डा० रमेश चन्द्र मिश्र की छत से फिर वही लड़की दिखलायी दी। कई संध्या उसे देखता रहा वह। उसने अपनी धर्मपत्नी छायादेवी को भी दिखलाया। कवि ने जिज्ञासावश—एक रोज उसका कुछ दूर पीछा भी किया—लेकिन गोधूलि में वह अनंत की नीलिमा में खो गयी। कवि देखता रहा⋯वह कहीं दिखलायी न पड़ी। इसी प्रकार कभी गर्मी की भीषण दोपहरी में नीम की छाँव तले एक श्वेतवसना–सौम्य युवती को उसने दिवा स्वप्न में देखा (एक असाहित्यिक की डायरी)। समय-समय पर ऐसी अनेक घटनाएँ घटी हैं कवि के साथ।

'महाभाव" को क्रियात्मक युक्ति का उपाय बताने वाले लोग इस बात से इनकार नही कर सकते हैं कि यह कवि की 'महाभावात्मक' अनुभूति का बोधात्मक आत्म-साक्षातकार है। यही भावात्मक साक्षात्कार उसकी साधना की उपलब्धि है जो कृष्ण में "राधा" में याचना के स्वर में कहलाता है—

ज्ञान-इच्छा को गला कर कर्म में,
ओप लाएँ मर्म शोधित धर्म में,
बस इसी संकल्प में माता दिखा,
साथ रह कर तोड़ता नाता दिखा!

वही कृष्ण कभी जीवन-संग्राम में अपने दायित्यों का पालन करने के लिए प्रेमिका शक्ति के रूप में राधा से याचना करता है :—

प्रिय-प्रकृतिके, मातृ-जाति-प्रशस्तिके,
सर्वतोभद्रानुशासिनि स्वस्तिके !"

—राधा : पुरुषार्थ पर्व

कवि ने "स्वस्तिका" के रूप में षड्प्रकृति की आस्था को ही अपनी जीवन-ऊर्जा के रूप में आत्मसात किया है। अतः यह कहना गलत न होगा–"श्यामा संगीत की रचना-प्रक्रिया के मूल में जीवन के अवसन्न रचनात्मक प्रचारवादी

मान्यताओं के विरुद्ध, एक नैष्ठिक कवि के रिक्तता-जनित बोध एवं बोध जनित आत्मसाक्षात्कारिता की भावाकुल अभिव्यक्ति है।

'श्यामा संगीत' इसी अर्थ में परम्परा से भिन्न हैं। ध्यान योग की दृष्टि से पा म्परिक रूप-विधान सिर्फ शास्त्रों के तार्किक-आलाप की सीमा में हो सकती है, "श्यामा" की नहीं। इसलिए कवि ने आत्म-साक्षात्कार के लिए जिस परिवेश का निर्माण किया है वह परिवेश ऐहिक नहीं, और न सतही है। वह है मानवीय संवेदना के रागात्मक भाव-विस्तार का विपुल रूप। तभी तो वह रूप बोध की मातृका अनुभूति को परिवेश के अनंत विस्तार और अपनी धारणा शक्ति का अपरिहार्य अंग मानता है :

"श्वेत शतदल पर सुशोभित,
अरुण चरणों में,
नील अम्बर हरित धरती—
संग मैं नत हूँ।'

मुझे तो लगता है कि नील अम्बर का बिस्तार और धरती की अनंत हरीतिमा नीलाभ बन कर श्यामा संगीत की सात्विक आकृति में ढल गयी हैं। "श्वेत-शतदल पर सुशोभित" पंक्ति से सात्विक भाव की अभिव्यक्ति होती है।

रूप-विधान की दृष्टि से "श्यामा" ही—वस्तुतः नील सरस्वती है। गायत्री विज्ञान में प्रकाश की भास्वरता को तीन रूपों में विभक्त किया गया है। गायत्री, सावित्री और सरस्वती। गायत्री सुवह की किरण है, दृष्टि में उसका वर्ण कृष्ण है, और वह वृद्धा है। उसकी सवारी भी विकृत है। लेकिन उसका तात्विक अर्थ विकृत नहीं है। ज्ञान-वृद्धा सरस्वती का रूप है वह। शास्त्री जी की श्यामा न तो युवती है, न किशोरी है और न वृद्धा। वह तो "क्षण-क्षण परिवर्तित प्रकृति वेश है।" प्रकृति कभी वृद्धा होती भी कहाँ है ?

मोह-शमी-सन्दोह-अरणि है,
लक्ष्य-क्षितिज की सरल सरणि है,
तिमिर-तरणि, आकाश-धरणि है।'

वह तो सिर्फ माँ है। माँ ही अग्नि रूप में क्रूर बन जाती है और सोम रूप में करुण। तंत्र शास्त्र सृष्टि और संहार-शक्ति को समान रूप से स्वीकार करता है। अग्नि की दाहकता और सोम की शीतलता, दोनों की आवश्यकता है जीवन में। भीतर ऊष्मा होगी, रिक्तता का बोध होगा तभी व्यक्ति अपने को भीतर से भरने के लिए 'कर्म' करेगा, पुरुषार्थ करेगा। यदि भीतर की दाहकता मिट गयी तो सारी जिजीविषा समाप्त। अतः जीवन में प्रेमिल राग

और विराग दोनों की जरूरत है। विवेक और आत्म-ज्ञान जब करुणा का रूप धारण कर ले; प्रकृति के कण-कण में अपनी ही छवि दिखलायी देने लगे तभी व्यक्ति अपने क्रिया-योग में सफल होता है। क्रिया-योग की बाहरी क्रियाशीलता ही परिवेश की शुद्धि है, आत्म परिष्कार है, जबकि समाधि योग आंतरिक शुद्धि एवं प्राणों का परिशोधन है।

शास्त्रीजी ने दोनों को समान रूप से महत्व दिया है। उनकी श्यामा का स्वरूप इसीलिए सबों से भिन्न है। परम्परा ने भी श्यामा को अपनी गतिशीलता में चेतना का स्वर प्रदान किया है—'चन्द्र किरण कह कर। योग दर्शन और तत्व ज्ञान से सम्बन्धित विचार-धारा ने श्यामा की आँखें-चन्द्र किरण अर्थात् सोम और अग्नि का ही प्रतीक माना है। जबकि शास्त्रीजी ने इन्द्र-वरुण का। एक नयन प्रज्वलित ज्वलन है—वह विवेक की आँख न होकर आंतरिक बोध की आँख है। इन्द्र और वरुण दोनों का सम्बन्ध जल के साथ हैं। इन्द्र आकाशीय जल का प्रतीक है और वरुण पृथ्वी के जलीय तत्व का प्रतीक। जल तत्व भक्ति का प्रतीक माना गया है और ज्ञान तत्व ज्वाला का, ऊष्मा का। शास्त्रीजी इस बात की ओर भी ध्यान श्राकृष्ट करते हैं कि इन्द आत्मवादी है जबकि वरुण विवेकवादी। आत्मवाद और विवेकवाद को सांस्कृतिक विचारधारा ही श्यामा की दो आँखें हैं और इसका निरन्तर बोध बना रहा। इसलिए श्यामा की तीसरी आंख हैं ज्वाला प्रज्वलितज्वल। वह ज्ञान की आँख है।

हिन्दी में जल तत्व और अग्नि तत्व को तांत्रिक विधान देते हुए कई काव्य लिखे गए हैं। रामचरितमानस और कामायनी जल तत्व प्रधान काव्य है, जबकि राम की शक्ति पूजा और राधा अग्नि तत्व प्रधान काव्य। जल तत्व प्रधान काव्य कविता को समाजहित के लिए अपना परम कर्त्तव्य समझता है लेकिन सुरसरि की भांति। गंगा की पवित्रता पर कोइ उंगली नहीं उठा सकता, लेकिन वह धरती की गंध और उसके समतल को ही चीरती हुई आगे बढ़ती है। उसकी गति नीचे की ओर होती है। जबकि अग्नि की गति ऊपर की ओर। शास्त्रीजी की "राधा" अग्निपथ से चलती हैं और अपने ज्ञान की कसौटी "ऊँची लपट" मानती है।

"उठाते जो लपट ऊँची, नमन वे और होते हैं।"

(रूप-अरूप)

ऊँची लपट उठाने वाली ज्वाला ही कवि की ज्ञान-संवेदना है जिसने उसे सदैव उसके स्वत्व से जोड़े रखा। स्व के प्रतिष्ठापन का उतना महत्व नहीं है जितना

स्वाधिष्ठापन को "पर" के साथ लयबद्ध करने का। शास्त्रीजी ने श्यामा-संगीन में लिखा है :

"अहंकार मेरा चिरायु हो,
यह स्फुलिंग-माला न बुझाओ।"

"अहंकार" का अर्थ अभिमान नहीं। अहम् का निरन्तर बोध है। जो कवि को क्षमता और संभावना दोनों का अनुभव बोध देता रहे! यदि उसका बोध समाप्त हो जाए तो माँ श्यामा के अस्तित्व का बोध कैसे होगा? शास्त्रीजी की विशेषता है कि शास्त्र और काव्य-परम्परा की सभी धाराओं से परिचित होकर भी वे अपने को भिन्न वृत्त पर खड़ा कर देते हैं। गोस्वामी तुलसीदास लिखते है—"जानत तुमहिं तुमहि ह्वै जाई।" यदि साधना में पृथकता का बोध नहीं होगा तो साधना होगी किसकी? शास्त्रीजी भली-भाँति महसूस करते हैं कि पृथकता का बोध ही साधक के मन में आकुलता लाता रहता है। वाणी का चेतनात्मक रूप पंत जी के शब्दों में प्रज्ञा का उज्जवल सत्य है इसी अर्थ में। शिव का साकार रूप भी इसी अर्थ में सार्थक है।

महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने "कल्याणी प्रतिभा" को सर्वाधिक महत्व दिया है—

कल्याणी प्रतिभा हो मेरी,
मधुर-वर्ण-विन्यास न केवल।"

लोक कल्याण कारिणी प्रतिभा ही कवि की अभिप्रेत है, "वर्ण-विन्यास" की कला नहीं। ऐसे जो लोग शास्त्री जी के मर्मज्ञ पाठक हैं वे भली-भाँति समझते हैं कि वे "कलावंत" कवि हैं। कलावंत कवि तुलसीदास भी हैं। लेकिन उनकी कला केशव दास की तरह सिर्फ बंधे-फ्रेम में कविता फिट करने वाली नहीं है। उन्होंने उन्मनी शक्ति को प्रतिभा का विषय बनाया। यही कारण है कि उसमें एक क्रमागत सोपान है। मन के सात सोपान हैं। श्यामा संगीत में भी मन और जन के सप्त तल हैं। यही कारण है कि राधा हो या श्यामा संगीत, दोनों उर्ध्वगामी गति के काव्य हैं। रामचरित मानस की तरह समतल गति का चरित-काव्य नहीं। भक्ति अपने लिए समतल गति ही ढ़ूँढ़ती है। लेकिन भक्ति में भी ज्ञान और कर्म की विभुता समाहित होती है। इसीलिए भक्ति की ऋजुता ही ज्ञान की अंतिम सीमा बन जाती है। जिस प्रकार हनुमान जी के कर्म में ज्ञान और कर्म दोनों छिपे हुए है। एक भक्त कवि ज्ञानी न हो, ऐसा संभव ही नहीं। और एक ज्ञानी भक्त न हो ऐसा

भी नहीं होता। भक्ति ज्ञान और कर्म तीनों का संतुलन ही व्यक्ति के स्तर को विशिष्ट बनाता है। तुलसी, सूर, प्रसाद, निराला और जानकीवल्लभ इसी अर्थ में विशिष्ट कवि हैं। शास्त्री जी लिखते हैं—

है माँ का अभिमान ? ध्यान दो,
निर्मल कर्म करो।
स्वाभिमान से जिओ, अमृत-सन्तान,
स्वधर्म धरो।"

शास्त्रीजी निर्मल कर्म की बातें कहते हैं। अभिमान की नहीं. स्वाभिमान की बातें। स्व-का बोध होना, और स्व को ही पवित्र आचरण में ढाल देना स्वधर्म है। जीवन का महत्त्व इसी स्वधर्म का पालन करने में है। शास्त्रीजी ने अपनी सृजनात्मिका शक्ति को ही मातृ-शक्ति माना है।

मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ,
जग मेरी वाणी कहे, कहे !"

कवि का यह भावार्पित भाव उसकी चेतना की विविधता का प्रमाण है। शक्ति चेतना रूप में स्थित रहती है, तो वह धी-रूप में भी। बुद्धि की इस संचित शक्ति को तुलसी ने भी महत्त्व दिया है—

"कवि उर अजिर नचावहि बानी।"

निराला भी कहते हैं—

"तुम्ही गाती हो अपना गान,
व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।"

रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से कवि का यह समर्पण भाव वस्तुतः उसकी निष्ठा का ही प्रमाण है जो उसकी सृजनात्मिका ऊर्जा के प्रति समर्पित है। आत्म-संघर्ष और जीवन के परिवेश के साथ सतत संघर्ष करते रहने के पश्चात् उपलब्ध अनुभव को ही शास्त्रीजी अपनी साधना की शक्ति मानते हैं। इसी-लिए उनकी काव्य-साधना उनके जीवन-अनुभव का स्वरात्मक रूप है। कवि ने कभी-कभी साक्षी भाव की भी कविताएँ की हैं। जैसे—

माँ, मैंने न नकारा अपने जीवन को,
लिया समेट वचन को स्वर में, व्यंजन में,
अंजन आँखों को न निरञ्जन दिखलाता !
अचल पलक को झलक मिलेगी खंजन में !

निर्विकार अभिमान रहित, उपलब्धियों के लबादे से रहित, सिर्फ मैं चलता रहूँ। निरन्तर 'अंतर में विश्वास भरे' से ही आत्मोपलब्धि संभव है। स्थिर चित्त और क्रियात्मक भाव व्यापार का संतुलन ही गति लाता है-जीवन में। जीवन-बोध की कविताएँ इसी प्रकार की हुआ करती हैं।

'श्यामा संगीत' में जीवन-बोध की अधिक कविताएँ है। श्यामा के गुण, प्रभाव, उनकी आंतरिक सृजनात्मक शक्ति और देश-काल, मानव-स्थिति, उध्वं-गति और जगत कल्याण के लिए भी कवि ने अपने भावों को अभिव्यक्ति का मनोहारी रूप दिया है। लेकिन कुल मिलाकर जीवन के राग ने ही आग बन कर कवि के अनुभव जनित ज्ञान को संवेदना का ज्ञान और ज्ञान को संवेदना के रूप में रूपायित किया है। शास्त्रीजी जैसा आत्म-विश्वास के प्रति समर्पित व्यक्ति ही कह सकता है—

झंझाबात जिन्हें न बुझाए
दिए लिए हैं आस्था के हम,
तेरी सात्विक ज्योति उजारे,
रज कण से है ढका हुआ तम।"

शास्त्रीजी ने रागात्मिका शक्ति को ही अपनी आस्था का अर्घ्य प्रदान किया है। 'श्यामा संगीत' शास्त्रीजी' के जीवन बोध, आत्म बोध और युग बोध का लयात्मक गान है, उद्गान है इसी अर्थ में। कवि की स्वीकारोक्ति है—

हम तम तोम व्योम के बन्दी,
खुली धुली धरती न लजाए!
स्वीकारो माँ, महाशून्य में,
उर से सुर के दीप जलाए!

निश्चय ही "श्यामा संगीत" नील सरस्वती के चरणों में अर्पित एक स्वाभिमानी कवि की अभिव्यक्ति है। लेकिन जिस प्रकार एक बालक अपनी पहली हरदत को जल्द ही भूल जाता है और तुरत नयी हरकत करने लगता है, उसकी भूल ही उसकी समझ की शुरुआत होती है और उसकी हरकत ही उसका बाल-सुलभ गुण—वात्सल्य की सारी गरिमा उसी में समाविष्ट रहती है—शास्त्रीजी का बालक मन इसी प्रकार की हरकत करता रहा है इस कालजयी कृति में। अतः तंत्रोक्त शक्तिशास्त्र के निर्देश में अनिरुद्धा सरस्वती अथवा उग्रतारा बज्रा, महोग्रा के रूप में "श्यामा संगीत" का मूल्यांकन करना भूल होगी। वह शुद्ध रूप से कवि की स्वर साधना और सुर साधना का एक निष्कलुष भावालाप है। जिसका गुणात्मक आधार है—

"मौन हंस, नुपूर रुन-झुन"

माँ श्यामा का यही 'अरुण' राग एक भक्त कवि के जीवन-दर्शन की आग बन कर उसके सात्विक भाव के सरोवर में श्वेत शतदल पर सुशोभित हो रहा है।

●

'श्यामासंगीत' : जीवन-अर्चा का ऋचा-काव्य

□ डा० रामप्रवेश सिंह

भारतीय चिन्तन के आगमिक स्रोत ने प्रकृति की सत्ता को ही सर्वोपरि माना है। आगम शास्त्र ने उसकी महत्ता पर भी विपुल प्रकाश डाला है। उसका कहना है कि विश्व को उत्पन्न करने वाली प्रकृकि अजा है, वही शैवी है, वह रजोगुण वाली होने से लाल वर्ण की, सत्वगुण वाला होने से श्वेत वर्ण की और तमोगुण वाली होने से श्याम वर्ण की है।

इसके विपरीत नैगमिक भावधारा ने ऊँचे स्वर से उद्घोषणा की है;—माया को प्रकृति और मायी को महेश्वर माना है। जब ब्रह्म माया के तमोमय आवरण से आच्छादित हो जाता है, तब उसकी इस अवस्था को स्पन्द माना जाता है और इसी अवस्था में माया के प्राकट्य के साथ माया-शबल ब्रह्म में शिव तत्त्व और शक्ति तत्त्व—दोनों ही व्यक्त होने लगते हैं।

शक्ति और ब्रह्म तत्त्व की अभिन्नता को चिन्तन का एकात्म रूप दिया रामकृष्ण परमहंस ने। 'यिनि काली वा शक्ति तिनिइ ब्रह्म'

किन्तु भारतीय परम्परा को चिन्तन की सर्वथा मौलिक दृष्टि मिली है श्यामा-संगीत में। पूरी परम्परा पर प्रश्न चिह्न खड़ा करते हुए श्यामा संगीत का कवि कहता है— 'वेदान्त दर्शन तो ब्रह्म की ही व्याख्या करता रहा फिर उसमें उन्हें काली के दर्शन क्यों न हुए ?" कवि की स्वीकारोक्ति है— माँ के रूप में ब्रह्म को पाना कठिन है। ब्रह्म की अनुभूति होती है, माँ की प्राप्ति। अपरोक्ष अनुभूति सूक्ष्मतर उपलब्धि हो सकती है, प्राप्ति आनन्द ही आनन्द है।"

तांत्रिक मान्यताओं एवं वैदान्तिक अवधारणाओं से पृथक जीवन को तप और स्वाध्याय द्वारा अर्चा के रूप में स्वीकृति प्रदान करने वाले एक महान द्रष्टा की अक्षय कृति है 'श्यामासंगीत।' इस महान काव्य में कवि मूलतः जीवन की संगत-विसंगत मनोभूमियों का स्रष्टा ही है। वह द्रष्टा भी है अपने संघर्ष और विषमताओं से उद्भूत उष्ण ज्वाला का। जिस आंतरिक ज्वाला ने अग्नि-बीज के रूप में, उसकी ऊष्मा को गतिशीलता से अनवरत जोड़ रक्खा, और कभी भी उसे सृजन-धर्मिता से विमुख नहीं होने दिया।

अतः पारम्परिक जप, तप, ध्यान, धारणा और समाधि से भिन्न, आचारशास्त्रीय उपवास और औपचारिक अनुष्ठान से पृथक, सम्पूर्ण जीवन को ही यज्ञ मानने वाले स्वाभिमान की जीवंत ज्वाला में, अपनी कलुषता का होम करने वाले कवि की जीवन-ऋचा के बहुआयामी भाववृत्त की बोधात्मक धुरी ही है 'श्यामा संगीत'।

'श्यामा संगीत' मूलतः एक संघर्षशील कवि का भावनात्मक हृदयोच्छ्वास है। एक ऐसा कवि, जिसने जीवन को ही यज्ञ मान लिया है और कर्म को ही अर्चना। अपनी सृजनधर्मिता को ही 'माँ' की चर्चा का केन्द्र माना है, लेकिन वह सृजनधर्मिता व्यक्ति-केन्द्रित अवस्था नहीं, लोक-केन्द्रित कल्याणमयी चेतना बन गयी है। वह 'मधुरवर्ण-विन्यास' की अपेक्षा कल्याणी प्रतिभा के प्रति अपना रचनात्मक आभार प्रस्तुत करता है। उसकी विपुल कृतियों और वैश्विक मन का सम्पूर्ण अर्पण मूलतः इसीलिए जीवन की अर्चा बन गया है। वह रामकृष्ण देव की तरह काली को मात्र चर्चा का विषय नहीं बनाता। अपितु जीवन की सम-विषम परिस्थितियों में सृजनात्मिका शक्ति को अक्षय ऊर्जा का स्रोत बना कर उस ऊर्जा से ही मनुष्य की (मानवीय) सत्ता और इयत्ता को जीवन से एकीभूत करना—अपना लक्ष्य मानता है।

"श्यामा संगीत" मानवीय करुणा और मांगलिक चेतना का ऋचा काव्य है। संभवतः इसीलिए कवि ने अपनी परम्परा से भिन्न, मां की तेजस्विता में भी करुणा और आंतरिक ज्वाला का दर्शन किया है।

'श्यामा संगीत' एक ऐसा आर्ष काव्य है जिसका त्रिगुणात्मक आधार मूलतः वर्णात्मक और स्वरात्मक है लेकिन जिसकी स्पन्द शक्ति है आंतरिक ज्वाला :

'माँ श्यामा के चरण अरुण,
एक नयन प्रज्वलित ज्वलन है,
नयन युगल हैं इन्द्र-वरुण।'

वस्तुतः जीवन और जगत को देखने वाली जो आँखें हैं वह करुणा की हैं, लेकिन उसे समझने और भोगनेवाली आँखें हैं ऊष्मा और आंतरिक उन्मेष की। इसीलिए तो कवि ने करुणा-विगलित स्वर में कहा है—

'तू क्यों आनन्दमयी,
जब अग-जग दुखियारा ?
चन्द्र-चेतने, है तम—
किन कर्मों का मारा ?"

कवि की भावात्मक अनुभूति को हम सर्वथा नये रूप में देखते हैं। यही कारण है कि पारम्परिक मान्यताओं पर उसने तीखा व्यँग्य किया है—

'शंख फूँकता है अशङ्क मन,
शंकित चित जपता माला।"

महाकवि को इस ज्ञानानुभूति में उसका आत्म-दर्शन झलक रहा है—

'मैं तेरे मंदिर का राही,
दक्षिण-वाम-दृष्टि कब थाही ?"

वस्तुतः 'श्यामा संगीत' आग में फूल उगाने वाली अपनी निष्ठा और कर्त्तव्यपूरित मानववादी संवेदना से जीवन के अमापे पथ को संकल्प और विकल्प के पग-चिह्नों से अंकित करने वाले एक भारतीय मनीषी की अनुपम उपलब्धि है।

भक्ति–शास्त्रों के पारम्परिक स्तुति-स्तोत्र और कीर्तन-काव्य, अथवा पूजा और वन्दना की भावना से पूरित काव्य के रूप में इसे देखने वालों को निराशा ही हाथ लगेगी। यहाँ तो माँ और पुत्र का पारस्परिक सम्बन्ध खुल-कर सामने आया है। 'मातृ-भाव को निर्जला एकादशी' कहा गया है, जहाँ भोग की कोई गंध नहीं आती।' पुत्र भाव वस्तुतः 'बाल-भाव' का परिचायक है। बाल-भाव मल-रहित होता है, वहाँ निश्छलता ही गुण और उसका उपालंभ ही स्वीकृति की पहचान बन जाता है। बालक को सबसे अधिक आस्था अपनी माँ के प्रति ही होती है। फिर भी अपने रागात्मक और विरागात्मक मनोभावों को, अपनी बाल-सुलभ निश्छलता के कारण व्यक्त करने से भी वह बाज नहीं आता। अपनी माँ के प्रति राग, अनुराग और विपरीत मनःस्थितियों में क्रोध और उपालंभ का भी भाव जताना वस्तुतः उसकी स्वाभाविकता को ही पहचान है।

'श्यामा संगीत' में वैसे उपालम्भों की भरमार है। जैसे—

(क) बच्चों का क्या, रो-धोकर
चुप भी हो जाएँ
माँ देखेंगी : उनके जाए भी
मर जाएँ ?

(ख) बँधी मुट्ठियों की गहराई—
उथलाई, होठों उतराई,
निर्मल गगन, घटा घिर आई—,
तू ने बढ़ बाँहें न गहीं !

(ग) भूल गई माँ मुझे जन्म दे,
पलट न पल को आई
तेरी स्मृति में श्रुति खोई;
कोई पुकार कब आई ?
अब तेरी न कोख में आने
की होगी नादानी !

(घ) कैसे मेरा कर्म समझतीं,
क्यों आँसू ? क्या दाह ?
पीछे चलता रहा, न पूछा :–
कैसी तेरी राह !"

माँ के प्रति इस प्रकार आक्रोश और उपालंभ एक सच्चा बालक ही व्यक्त कर सकता है। बालकों में हठ करने की प्रवृत्ति अधिक होती है, लेकिन बालक स्वाभिमान पर अडिग रहे, यह प्रथम बार श्यामा संगीत में ही देखने को मिलता है। रामकृष्य-परमहंस और श्याया संगीत के रचनाकार में यहाँ भी पृथकता है। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं : बालक में भूलने की प्रवृत्ति अधिक होती है। उसकी भूल उसकी प्रत्येक समझदारी की शुरुआत है। माँ उसकी भूल को क्षमा कर देती है। रामकृष्ण में भक्त का सम्पूर्ण समर्पण है जबकि 'श्यामा संगीत' में समर्पण की अपेक्षा आत्म निष्ठा अधिक है। कारण, वह माँ की थाती माँ को ही लौटा देने में विश्वास रखता है। 'तेरा दिया तुझे लौटाया" से यही बोध होता है। श्यामा संगीत का कवि अपनी ऐकान्तिक निष्ठा को ही राग मानता है और निष्ठा के प्रति उसके मन में जो गहन आसक्ति है वही उसकी भक्ति है। उसकी स्वीकारोक्ति है—"आस्था आत्मा को तरुण-अरुण उँगलियों के उष्ण स्पर्श से गुदगुदा कर जगाती है,

उच्चभावनाओं के कुसुमित कानन में पावन चरणों से निर्भय विचरण करना भी सिखाती है और जीवन के ऐकान्तिक क्षणों को अलक्षित संवेग-भरे कर्णामृत से अभिषिक्त और अनुगुंजित भी करती रहती है।"

वस्तुत: श्यामासंगीत में कवि की आस्था की मनोगम्यता उसकी विभिन्न भावात्मक वृत्तियों का उद्गान एवं उसकी बोधात्मक प्रज्ञा की सहजाभिव्यक्ति बन गयी है। भक्ति शास्त्र में आर्तता और दीनता को सर्वोपरि गुण माना गया है। इष्ट के सामने आर्त होकर निवेदन करने की परम्परा काफी चर्चित है। यहाँ तक कि 'बाल भाव' में मातृ उपासना करने वाले आद्यशंकर भी सौन्दर्य लहरी में निवेदन का आर्त स्वर ही अपनाए हुए हैं। जबकि श्यामासंगीत में कवि का 'स्वाभिमान' कहीं भी ओझल नहीं होता। यहाँ कबि अपने जीवन के क्रियात्मक व्यापारों में ही माँ का अन्तर्दशन करना चाहता है।

(क) हर स्वर-लय तेरा ध्यान
विश्व मुझको अभिमानी कहे, कहे !

(ख) वह कर्म न कोई करूँ
न हो जिससे तेरी अर्चा
वह बात न कोई सुनूँ
न हो जिसमें तेरी चर्चा
जग उँगली उठा कहे :
कोई ऐसा अभिमानी हो !

कवि का यही स्वाभिमान बस्तुत: उसके राग को आग का फूल बनाकर माँ के चरणों में अर्पित करने की प्रेरणा देता है।

(१) मन के मनके फिरते, घिर आते वर्ण
राग आग हो तो प्रति वर्ण हो सुवर्ण

(२) साधे—साधे मौन,
धूम जो आग बने !
और सिद्धि क्या, रे मन,
जीवन याग बने !"

श्यामा संगीत में आत्मबिम्ब अधिक हैं। अग्नि मूलत: दाहकता का प्रतीक है। वह जीवनोष्मा का भी प्रतीक है। तप: संस्कृति का पोषक कवि आन्तरिक ज्वाला से दग्ध होगा ही। यही कारण है कि उसे ज्वाला सर्वाधिक प्रिय है—

मा, मेरी ज्वाला न बुझाओ,
सकल कलुष इसमें होमे हैं,
धुँआ लाल-काला न बुझाओ !

अपनी कलुषता की आहुति देने वाला कवि वस्तुत: अपनी आंतरिक ज्वाला, जो उसे अछोर कर्त्तव्य पथ की ओर गतिशील होने की शक्ति देती है, को बुझने नहीं देना चाहता। लाल धुँआ रजोगुण और काला धुँआ तमोगुण का प्रतीक है, जो 'कलुष' के जलने के कारण ज्वाला बनकर ज्योतिर्बिम्ब के रूप में ऊर्ध्वमुख हो रहा है। श्यामासंगीत का कवि ज्ञान-योग को साध्य माननेवाला एक कर्मयोगी साधक है। अत: उसकी गतिशीलता–ज्ञान, गति और प्राप्ति का परिचायक है। लोक का कहना है : जिसमें कुटिलता लेश मात्र भी नहीं है, जो स्वप्न में भी मिथ्या-भाषण नहीं करता और जो असत्य मय आचरण से दूर रहता है; जिसमें राग-द्वेष आदि विकारों का सर्वथा अभाव है; जो सब प्रकार के छल-कपट से शून्य है उसी को मातृ शक्ति की प्राप्ति होती है। श्यामासंगीतकार ने मातृ-शक्ति की प्राप्ति वस्तुत: उसी भाव-वृत्ति द्वारा की है। श्यामासंगीत की आत्मा रागात्मिका है। इस महान काव्य में राग के तीन सांगीतिक अंग दीख पड़ते हैं–गति, गमक और गीत। गति का अर्थ है, गीत की चाल और गमक का अर्थ आरोह-अवरोह है। तीनों सप्तकों के स्वरों का क्रमबद्ध होना ही गीत है। गीत के तीन ग्राम होते है—षड्ज, मध्यम और गान्धार। गायक जिस ग्राम पर राग का आरम्भ करे उसी ग्राम पर वह समाप्त होता है। श्यामासंगीत बस्तुत: 'मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ' से शुरू होता है और 'पथ में मेरी चरण निशानी हो!' से समाप्त होता है। दोनों में सिर्फ साक्षीभाव है, उपभोग का भाव नहीं। यही निष्काम भाव कवि की अपनी निजी उपलब्धि है। यही उपलब्धि उसे सम्पूर्ण आगमिक और नैगमिक परम्परा से अलग खड़ा कर देती है।

> तन्त्र को, मन्त्र को धर्म तू मानती:
> योग को, याग को कर्म तू मानती;
> धर्म से, कर्म से मुक्त मैं : तू बँधी,
> प्रीति मेरी निराकार निर्बन्धता !

श्यामासंगीत वस्तुत: इसी निर्बन्ध जीवन-दर्शन का ऊँचा काव्य है। जीवन में सुख और दु:ख, उज्ज्वलता और मलिनता दोनों अपरिहार्य रूप में जुड़े रहते हैं। जीवन का उज्ज्वलतम पक्ष व्यक्ति में संस्कार भरता है और उसे आत्म-साक्षात्कार की तैयारी में सहयोग देता है। जीवन की कलुषता उसे अपनी आस्था से विमुख करती है। लेकिन जो सात्विक भाव का व्यक्ति होता है वह कलुषता को भी सम्बल मानकर जीवन की सम्पूर्ण-यात्रा में उसे सहायक बना लेता है। 'कलुषता' तमोगुणी अंधकार का प्रतीक है और उज्ज्वलता (ज्वाला) सतोगुणी प्रकाश का, जीवनोष्मा का अंधकार निराशा

है; अज्ञान है। प्रकाश-ज्ञान ही जीवनोष्मा । है प्रकाश जाग्रत मनोदशा का प्रतीक है और कालिमा सुषुप्ति और निराशा का। प्रकाश ही मनुष्य को उर्जस्वित बनाता है। वह जीवन्त ऊर्जा का प्रतीक है। 'श्यामासंगीत' में इस लिए कलुषता और ज्वाला दोनों को समान महत्त्व दिया गया है। जीवन में प्रकाश और अंधकार दोनों का महत्त्व है। जितनी गहन निराशा होगी, आशा उसकी कुक्षि से उतनी ही तेज बनकर फूटेगी। प्रकाश की गहराई अंधकार से मापी जाती है। अंधकार प्रकाश का परिवर्तित रूप है। कवि ने इसीलिए लिखा है—"श्यामासंगीत में मेरा (अहंका) दुर्निवार अज्ञान श्यामा-यमान दिखलाई दे, यही बहुत है।" लेकिन उसकी विवेकशील आस्था "श्यामायमान" का गूढ़ अर्थ संजोए हुए है। वह इस श्यामलता से भय नहीं खाता। इसीलिए तो वह कहता है—

हम अपने तम से न डरे,
तेरी द्युति तोल रहे !

यहाँ समर्पण नहीं, विवेक अपनी आस्था के स्वर को दुहरा रहा है। अतः श्यामासंगीत में जहाँ कहीं भी 'श्यामलता' है, कलुषता है, वह कवि की आस्था और उसकी आंतरिक ऊष्मा को ज्वलित करने वाली ऊर्जा है।

माँ श्यामा, जान गया,
श्याम-गगन क्यों है !
क्यों सागर श्याम,
श्याम मेरा मन क्यों है !

इसका उत्तर भी वह जीवन-जगत में ही पाता है—'तमसा की आँधी में ज्योति हुई म्लान है।' इस मलिनता को छिपाने के लिए ही तो यहाँ वात्स-ल्यवश कुन्देन्दु-तुषारहार-धवला, सर्वशुक्ला····स्वयं नील सरस्वती बन गयीं !

'श्यामासंगीत' में कवि का आत्म-संघर्ष इसीलिए अपनी सम्पूर्ण दुर्बलता-सबलता में—विवेक का सम्बल नहीं छोड़ता। वह परिस्थितियों की अनु-कूलता के लिए नहीं, जीवन की पूर्णता के लिए माँ का चरण गहता है। उसकी जीवन यात्रा ने उसके आस्था के स्वर को सदैव इसीलिए आत्मसम्बल का मांगलिक गान दिया है—

इतने दिन तेरे बिन जिया, और जीता,
और हवा खाता, कुछ और अश्रु पीता,
रह आया अपना घर रीता ही रीता
मन चंगा, गंगा—
क्या और नहा आऊँ ?

कवि के सात्विक मन की शालीनता, विवेकशीलता और जीवन अनुभूत ज्ञान के प्रकाशात्मक बोध ने अन्ततः उसे तने हुए रूप में ही माँ के सम्मुख खड़ा कर दिखाया है—

क्या बिगड़ा जो न बनी एक बात मेरी,
जीते हर दाँव, पाँव पड़ूँ मात मेरी ?
तेरे आगे जाता, क्या बिसात मेरी ?
क्या कपूत, क्या सपूत,
तुझ-सी माँ पाऊँ !

'श्यामा-संगीत' वस्तुतः मानवीय महिमा का उद्गान है और वह उद्गान भी इसी अर्थ में है कि प्रकाश कहीं बाहर नहीं, व्यक्ति के भीतर है। वह प्रकाश भीतर छिपा हुआ ज्ञान है, वही मनुष्य की आत्मशक्ति है। वही प्रकाश व्यक्ति को बोध कराता है कि अंधकार के गहन आवर्त से आवृत हो जाने पर भी अपने को चैतन्यशील बनाए रखो। वही प्रकाश मनुष्य की अक्षय शक्ति है, वही उसका प्राण है। श्यामा संगीत में वस्तुतः इसी प्राणाग्नि-विद्या का उद्गान हुआ है। भारतीय मनीषा की यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है अतः इस ऋचा-काव्य से मानवीय संस्कृति को एक नयी शक्ति और नूतन दृष्टि मिली है। जीवन की ऊर्जा को, बोध की भाषा में, भाव की ज्ञानात्मक अनुभूति के रूप में शक्ति केन्द्रित करना सचमुच कठिन साधना है। आचार्य जानकीबल्लभ शास्त्री की कठिन-साधना ने उनके तप और स्वाध्याय का सम्बल पाकर, जीवन संघर्ष से उत्थित भावात्मक बोध के रूप में विभिन्न ऋचाओं द्वारा इसीलिए 'श्यामा' को संगीत की एक भावनाकृति दी है। वह न केवल भारतीय साहित्य की, अपितु विश्व-साहित्य की अनुपम उपलब्धि है। श्यामासंगीत विश्व साहित्य का 'शक्ति-कोश' है जो विवेक जनित आस्था और आस्था-जनित विवेक द्वारा, कर्त्तव्य को एक खुला राजमार्ग देता है।

●

गौतम बुद्ध कुटीर
पढ़ाव पोखर पथ—१
आमगोला, मुजफ्फरपुर

श्यामा संगीत

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

भारतीय चिंतन में दो प्रकार की धाराएँ अनादिकाल से ही चली आ रही हैं—वैदिक धारा और आगमिक धारा। वैदिक धारा पुरुष विज्ञान को लेकर चली है और आगमिक धारा शक्ति मनोविज्ञान को अपनाकर। आगमिक धारा ने अपने को उत्कृष्ट सिद्ध करने के लिए अकाट्य तर्क दिया कि सृष्टि का प्रजनन शक्ति द्वारा होता है, निश्चय ही वह उत्कृष्ट है। इसी उत्कृष्ट भावना को लेकर 'प्रकृति की परिभाषा सार्थक हुई है। तांत्रिकों ने ऊँचे स्वर से उद्घोषणा की—

प्रकृष्ट वाचकः प्रश्च कृतिश्च सृष्टि वाचिका।
सृष्टं प्रकृष्टा या कृतिः प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता॥

जो सृष्टि कार्य में प्रकृष्ट हो, वही प्रकृति है। मानव चेतना की प्रथम दृष्टि प्रकृति की गोद में ही खुली है। अतः हमारे चिंतन में इसीलिए स्वीकार किया गया—"जगन्माता च प्रकृतिः" वैदान्तिक पुरुष संतों ने भी प्रकृति के इस महत्व को स्वीकार किया।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुरुष की अपेक्षा नारियों में कोमलता, करुणा, दया, ममता, मधुरिमा और अपनत्व की भावना अधिक होती है। संभवतः इसी बात को ध्यान में रख कर एक साधक ने लिखा है—

स्त्रीषु प्रीतिर्विशेषणा स्त्रीष्वपत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मार्थौ स्त्रीषु, लक्ष्मीश्च स्त्रीषु लोकः प्रतिष्ठितः
चरक संहिता

अर्थात प्रीति का निवास अधिकतर स्त्रियों में ही होता है। धर्म स्त्रियों में रहता है, ऐश्वर्य भी स्त्रियों में रहता है, इसीलिए संसार स्त्रियों में ही

स्थित है। व्यावहारिकता और महत्ता की दृष्टि से स्त्रियों का वर्गीकरण भी किया गया।

जननी जन्मकाले च स्नेहकाले च कन्यका
भार्या भोगाय सम्पृक्ता अन्तकाले च कालिका
एकैव कालिका देवी, विहरन्ती जगत्त्रये।"

शक्ति के सभी स्वरूपों में काली, प्रलय अर्थात् लय की देवी मानी गयी है। जहाँ कामनाओं भावनाओं और अहंकार का लय हो जाए, व्यक्ति शुद्ध रूप से चिदात्म होकर परमहंस की स्थिति प्राप्त कर ले, इस स्थिति को प्राप्त करानेवाली शक्ति को ही काली कहते हैं। एक मनीषी ने कहा भी है—

"एकैव शक्तिः परमेश्वरस्य भिन्ना चतुर्धा व्यवहार काले
पुरुषेषु विष्णु, भोगे भवानी समरे च दुर्गा, प्रलये च काली।

आधुनिक युग के महान तत्त्ववेत्ता विवेकानन्द ने भी मृत्यु बोध को काली की परम सत्ता में रूपान्तरित होते हुए देखा है—"केहु नहि चाय मृत्यु रूपा ऐलो केशी ओट सत्य तुमि-मृत्यु रूपा काली।"

ससार के समस्त शक्त्यात्मक क्रियाओं की उत्पति वस्तुतः उसी परम शक्ति में ढूँढी गयी है। संभवतः काली की अमोघ सत्ता और उनकी नव सर्जनात्मक शक्ति ने व्यक्ति को आत्मपरिष्कार एवं रूपान्तरण का अक्षय स्रोत मान लिया है। विवेकानन्द और उनके गुरु रामकृष्ण परमहंस पर मातृ-सत्ता की भावनात्मकता, करुणा और विवेक संगत बुद्धि गम्यता की प्रेरिका इसीलिए बनी। रामकृष्ण ने माँ श्यामा को रूपात्मक प्रतीक के रूप में कल्प-तरु कहा है। उसके सान्निध्य से निश्चय ही आत्म-परिष्कार होता है। यह उनकी दृढ़ धारणा थी इसीलिए कई बार उन्होंने अपने आकुल मन को बोध दिया है—ऐ मन, चल घुमने चलें, काली कल्पतरु के नीचे। ऐ मन, चारों फल तुझे वहीं पड़े हुए मिलेंगे।

प्रवृत्ति और निवृत्ति तेरी स्त्रियाँ हैं। इनमें से निवृत्ति को, अपने साथ लेना। उसके आत्मज विवेक से तत्त्व की बातें पूछ लेना, शुचि-अशुचि को लेकर दिव्य घर में तू कब तक सोयेगा? उन दोनों सौतों में जब प्रीति होगी तभी तू श्यामा माँ को पायेगा। तेरे माता-पिता ये जो अहंकार और अविद्या हैं, इन्हें दूर कर देना। अगर कभी मोह-गर्त में तू खिचकर गिर जायें तो धैर्य की खूँटी पकड़े रहना। धर्माधर्म रूपी दोनों बकरों को एक तुच्छ खूँटे में बाँध रखना। अगर ये निषेध न माने तो ज्ञान-खड्ग लेकर इनकी बलि दे देना।

पहली पत्नी की संतान को दूर से ही समझा देना। अगर वह तेरे प्रबोध वाक्यों पर ध्यान न दे तो उसे ज्ञान-सिन्धु में डुबा देना। इस तरह का जब तू बन जायेगा तभी तू काल के पास उत्तर दे सकेगा और ऐ प्यारे, तभी तू सच्चा मन बन सकेगा।

मन की पवित्रता, सहजता और बालोचित सरलता द्वारा ही कोई मातृ-भाव की स्थिति तक अपने मन को एकीभूत कर सकता है।

विकार-रहित स्वच्छ हृदय वाले ऐसे व्यक्तियों में प्रकृति का कण-कण ताल बद्ध दिखलायी पड़ता है। प्रकृति का कण-कण एक अद्भुत नृत्य करता हुआ उन्हें ज्ञात होता है। उसी थिरकन से थिरकते पर्वत, थिरकती शिलाएँ, थिरकता सूरज, थिरकता चन्द्र, थिरकती चाँदनी, थिरकते वन और पेड़, थिरकते स्थावर और जंगम, थिरकते स्वेदज, जरायुज अण्डज और उद्भिज उत्पन्न हुए। यह समस्त सृष्टि शक्ति की थिरकन है—पवन थिरकन है, विचार थिरकन है, संगीत की लय-ताल थिरकन है, मंत्रों का उदात्त-अनुदात्त थिरकन है, प्राण थिरकन है, प्रेम थिरकन है। इस नृत्य को कोई तभी देख सकता है जब वह राग-विराग से ऊपर उठ कर सिर्फ मौन-भाव का साक्षी हो जाए। महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने प्रकृति में इसी थिरकन का अनुभव किया है।

कुसुमित कल्पलता-तल श्यामल
शाण-कृपाण-शरण षड्रिपुदल
सवित्-सर-भास्वर सहस्र दल
मौन हंस, नूपुर रून-झुन — श्यामासंगीत

प्रकृति की इस परम सत्ता को तर्कों द्वारा नहीं, अपितु मनोरम पवित्र भावना द्वारा ही परखा जा सकता है और तभी उन्हें अपने कर्ण-कुहर से नूपुर की रून झुन ध्वनि सुनाई पड़ेगी। जहाँ तर्क है, संशय है वहीं अविद्या है, जहाँ निश्छलता है, सहजता है, सरलता है, स्नेह की प्रगाढ़ता है, गहन आसक्ति है, वहीं भक्ति है। जहाँ भक्ति है, वहीं भावना है। रामकृष्ण परमहंस ने बार-बार उद्घोषित किया है—काली और कोई नहीं, जो ब्रह्म है, वही काली है। काली आद्याशक्ति है, जब वह निष्क्रिय रहती है तब उसे ब्रह्म कहते हैं और जब वह सृष्टि स्थित प्रलय करती है तब उसे ही शक्ति कहते हैं, काली कहते हैं। ब्रह्म और काली अभेद हैं, जैसे अग्नि और उसकी दाहिका शक्ति। अग्नि को सोचते ही उसकी दाहिका शक्ति की चिन्ता की जाती है। काली को मानने पर ब्रह्म और ब्रह्म को मानने पर काली को मानना ही पड़ता है (रामकृष्ण वचनामृत)। अग्नि और उसकी लपट में ही काली के आदिम स्वरूप की कल्पना हमारे ऋषियों ने की है—

काली कराली च मनोजवाच सुलोहिता च सुध्रूम्रावर्णा

स्फुलिंगिनी विश्वरुचि च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा।

उसका स्वरूप स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं—वह काले रंग वाली कराली, अति उग्र मनोजवा, मन की भांति अत्यन्त चंचल, सुलोहिता, सुन्दर-लाली लिए हुए सुधूम्र वर्णा सुन्दर धूँए से रंगवाली स्फुलिंगिनी-चिनगारियों वाली तथा विश्व रुचि सब ओर से प्रकाशित सात लपटों को अपने में समाहित किए हुए हैं।

जीवन में जो कुछ भी उष्णता है, दाहकता है, भीतर की ज्वाला है, शक्ति उसी की लपट बन कर ऋणात्मक गुणों को खाक कर डालती है। भैरवयामलतंत्र में ठीक ही कहा गया है—

काम-क्रोध सुलोभ मोह पशुकान्छित्वा विवेकासिना

मांसं कि विषयं परात्मः सुखदं भुञ्जन्ति तेषां बुधाः

अर्थात् विवेकी पुरुष, काम, क्रोध, लोभ और मोह रूपी पशुओं को विवेक रूपी तलवार से काट कर दूसरे प्राणियों को सुख देने वाले निर्विषय मांस का भक्षण करते हैं। निर्विषय व्यक्ति तभी हो सकता है जब वह बाल-भाव का व्यक्ति बन जाए।

'श्यामा संगीत' में महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री के अनुपम भक्ति गीत हैं। जानकीवल्लभ शास्त्री भारतीय वैदिक एवं आगमिक चिंतन के निष्कपट साक्षी बन कर आए हैं इस महान काव्य में। जानकीवल्लभ जी ऐसे तो वैदान्तिक हैं, लेकिन जीवन की सम विषम स्थितियों में से अतिरिक्त संवेदना को उन्होंने अपनी कविता का विषय बनाया है मेरी दृष्टि में वे शांत्यानंद के कवि नहीं, समृद्धानन्द के कवि हैं। तन को मन और मन को आत्मा की भूमि पर स्थित कर शांत चित्त हो जाना शांत्यानन्द है, जबकि सांसारिक जीवन को ही सर्वस्व मान कर चित्त के उल्लास के लिए संसार की सम-विषम परिस्थितियों को स्वीकार कर मनुष्य जाति की समृद्धि की खोज में लगे रहना समृद्धानन्द।

'श्यामा संगीत' में कवि ने निश्छल भाव से विभिन्न भावात्मक मनोभूमियों द्वारा जगत्माता की वन्दना की है। स्तुति-गान की परम्परा नई नहीं है। भक्तिशास्त्र में नवधा भक्ति के अन्तर्गत भजन-कीर्तन और पाद-सेवन को काफी महत्त्व मिला है। लेकिन भक्ति के लिए जिस हीनता, दीनता और याचक भाव को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है- वह श्यामा संगीत में नहीं है। भक्ति में

भक्त और इष्ट देवता के बीच पार्थक्य बना रहे, यह स्वीकार्य है, लेकिन दीनता और हीनता के अभाव में इष्ट को रीझाने की बात असभव है। 'श्यामा संगीत' का कवि अपनी आस्था और आचार के प्रति काफी आश्वस्त है। वह माँ से प्रार्थना करता है कि ऐ माँ, तू मेरी ज्वाला को न बुझाओ। जीवन की सारी कलुषता को मैंने इसी में होम कर डाला है। मेरे काले लाल जीवन के धूँए को अनवरत फैलते रहने दो। उसने खुद अपने भीतर की दाहकता को कभी भी शीतल होने देना नहीं चाहता। लेकिन उसके भीतर माँ श्यामा का चरण-स्पर्श करने की भी तीव्र लालसा लगी हुई है। उसका राग माँ के चरण-रज में चिपका हुआ है। फिर भी वह याचना करता है कि मेरा अहंकार चिरायु हो। भक्ति शास्त्र के विद्यार्थी निश्चय ही चौंकेंगे, भला यह अहंकार क्यों? क्या अहंकारी के लिए माँ सुलभ हो सकती है? अहं के विसर्जन और अहम् के परिष्कार द्वारा ही इष्ट सुलभ होते हैं। क्या यह 'अहंकार' सचमुच कवि का अहं है? नहीं। वह कवि का स्वत्व बोध है जो उसे अनवरत अपने इष्ट से पृथक बनाए रखना चाहता है। इष्ट के प्रति जो आकुलता है, प्यास है; उसके प्रति आसक्ति है, इसका बोध रखने वाला जो सादगी का भाव हैं, इसीलिए इस अहंकार की आवश्यकता है। यदि अहं का विसर्जन हो गया, तो भला इस बात का बोध किसे होगा, कि मां के प्रति गहन आसक्ति, भक्ति और उनके अनुराग की आवश्यकता भी है।

श्यामा संगीत में कवि की याचना का जो भाव है, वहां निजी हित के लिए नहीं, लोक हित के लिए है। मुझे तो लगता है, कवि मां के सम्मुख एक भक्त की अपेक्षा सृजनधर्मी रचनाकार के रूप में उपस्थित हुआ है। मां सृष्टि की सृजनात्मिका शक्ति है। सृष्टि का प्रसव करने के कारण ही वह 'प्रणवसू' है। अबोध बालक घरौंदा बनाकर ही अपनी कला-कुशलता पर दंभ भर सकता है। लेकिन घरौंदा किस वस्तु से बना है इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए, किसने और कैसे बनाया है, यही विचारणीय है। भाव की उच्चता सृजन की तन्मयता और अपने सृजन के प्रति अटूट विश्वास ही घरौंदे की श्रेष्ठता को महत्त्व देंगे, उसका शिल्प-सौंदर्य नहीं। कवि ने अपनी रचना-धर्मिता के लिए "भाव की पवित्रता और लोकमंगल की भावना को ही अधिक महत्त्वपूर्ण माना है, उसके लिए शिल्पीय स्थापत्य में चकाचौंध करने की इच्छा का खुद विरोध किया है—

कल्याणी प्रतिभा हो मेरी
मधुर वर्ण विन्यास केवल

सिर्फ वर्ण-विन्यास से कवित्व नहीं फूटता, भावों की सहजता द्वारा कविता की मर्मस्पर्शिता मूल्यवान होती है। कवि ने भावना के सत्य को ही विचार की सुन्दरता माना है और इन दोनों के योग से ही मंगल का पथ प्रशस्त होगा।

नित्य सत्य बरसे सुन्दर स्वर
लय-कौशल-अभ्यास न केवल

साधना के क्षेत्र में निष्ठा, संकल्प और तन्मयता को अधिक महत्व दिया गया है। तर्क की कसौटी पर भावनाओं की पवित्रता कभी भी आंकी नहीं जा सकती। कवि ने तर्क-ज्ञान की अपेक्षा अनुभूतिजन्य प्रज्ञा को इसीलिए श्रेष्ठ माना है और उसे प्राप्त कर के ही 'इष्ट जाप' को स्वीकार किया है। यथा—

हाथ न काँपे आहुति देते, चित न विरत हो इस्ट जाप से
होम-कृपण मन, काम्य-कामना, खींच समूची सांस न केवल

पूर्व कवि अपने सृजन का सारा श्रेय, शुरु से ही अपने ईश्वर को देते आये हैं। तुलसीदास जी ने सृजन-धर्मिता का श्रेय सरस्वती को ही दिया है—

कवि उर अचिर नचावहिं बनी।

निराला भी कहते हैं—

तुम्हीं गाते हो अपना गान व्यर्थ मैं पाता हूँ सम्मान।

और जानकीवल्लभ जी भी मां श्यामा को ही वह श्रेय दे रहे हैं—

मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ जग मेरी वाणी कहे, कहे।

सृष्टि की सम्पूर्ण स्थिति में मातृ-सत्ता का दर्शन कभी रामकृष्ण परमहंस ने भी किया था। शारदानन्द जी ने रामकृष्ण परमहंस के इस महाभाव को व्यक्त करते हुए लिखा है—रामकृष्ण ने कभी गंगा की गोद में खुद को विसर्जित करना चाहा था। उन्होंने अनुभव किया था—"यह हाड़-मांस के पिंजड़े के कारण मेरा मन भी वशीभूत नहीं है। जाने दो, मुझे यह तो अच्छी तरह से विदित हो चुका है कि मैं यह शरीर नहीं हूं, इस शरीर के साथ रह कर दुःख क्यों भोगा जाए? गंगा में जल-समाधि लेने की भावना इसी कारण जग उठी है। लेकिन गंगा पार हो जाने पर भी कहीं डूबने लायक जल नहीं मिला उन्हें। उन्हें अनुभव हुआ—"यह कैसी दैवी माया है।" उज्जवल प्रकाश से उनका हृदय आलोकित हो उठा और उन्होंने दर्शन किया—माँ, माँ विश्व-जननी माँ, अचित्य रूपिणी माँ, जल में माँ, थल में माँ, शरीर माँ, मन माँ,

यातना माँ, स्वस्थता माँ, ज्ञान माँ, अज्ञान माँ, जीवन माँ, मृत्यु माँ जो कुछ वे देख रहे हैं व सुन रहे हैं, सोच रहे हैं, व कल्पना कर रहे हैं– सब कुछ माँ ही माँ है।" सृष्टि के कण-कण को माँ के रूप में देखना यह उच्चतम भाव की भूमि है और सृष्टि के कण-कण को माँ के दिव्य आलोक से आलोकित अनुभव करना उच्चतर भाव-भूमि। जानकीवल्लभ जी ने इसी भाव में माँ का प्रभाव देखा है। उससे खुद को आलोकित करने की याचना की है—

पाकर तेरी ही स्वर्ण किरण, मेरा खग अपना पर तोले
आए आह्वान जिधर से भी उस ओर निकट तेरे डोले
कोई समझे, मत समझे वह तो तेरी-बोली-बोले
बरसे वह तेरी सुधा-धार जग उसको पानी-कहे-कहे

कवि ने मातृ-सत्ता को विराट फलक में देखा है। प्रकृति का विस्तार, उसकी गहराई और उसका सपतोल रूप सब माँ की विशाल आकृति में ही समाविष्ट है। कभी आदि शंकराचार्य ने "सौन्दर्य लहरी" में भगवती के इसी विराट व्यक्तित्व को व्यापक फलक पर आसीन देखा था। देवी की भव्यता और विराट बोध के लिए उद्याचल का प्रतीक काफी सटीक है। उसी तरह "समीरण सजल साँस" की उपयुक्तता भी कवित्व है और प्रभावान्विति दोनों दृष्टि से काफी उपयुक्त है।

कवि ने मातृ-भाव की उच्चता के लिए अपने मनोभाव की पवित्रता को अधिक उपयुक्त ढंग से रखा है। भगवती का रूप-चित्र प्रस्तुत करते हुए शंकराचार्य ने भी कर-कमल को काफी उपयुक्त माना है।

नखानामुद्योतैः नवमलिनरागं विहसतां।
कराणां ते कांति कथयामः कथमुमे॥
कयाचिद्वा साम्यं भवतु कलया हस्तकमलं
यदि क्रीडल्लक्ष्मीचरणतल, लाक्षाऽरुणदलम्॥

—सौन्दर्य लहरी

हे उमे, मैं तुम्हारे हाथों की कांति का वर्णन किस प्रकार से करूँ? जिनके नखों की कांति नव विकसित कमल की भी अरुणिमा की हँसी उड़ाती है। यदि किसी प्रकार से, उस अरुणिमा से आंशिक समानता करूँ भी तो वह क्रीड़ा करते हुए लक्ष्मी के चरण-तल में लग जाने वाली लाक्षा के समान ही हो सकती है। जबकि जानकीवल्लभ जी ने अपनी कविता में अरुण-चरण से कपाल तक को रूपान्वित किया है।

मां श्यामा के चरण अरुण
एक नयन प्रज्वलित ज्वलन है, नयन युगल है इन्द्र वरुण

माँ श्यामा के चरण-अरुण से उनके चरण-सौन्दर्य को अनुराग रंजित रूप में देखा गया है। लाल रंग कांति और अनुराग का प्रतीक होता है। जानकी वल्लभ जी ने माँ को प्रकृति की उत्कृष्टता में ही अवलोकित किया है। माँ का विराट् रूप इसका यथेष्ट प्रमाण है—

मोह-शमी सन्दोह अरणि है
तिमिर तरणि आकाश-धरणि है
माँ ! माँ है, क्या क्रूर करुण।

माँ की विशालता उनकी उदारता और स्नेहिल भाव में कवि की आस्था, श्रद्धा एव मनोगत सभी उद्गार विलीन हो गये हैं। शास्त्रीजी के समकालीन किसी दूसरे कवि ने प्रकृति की प्राणमयी चेतना को माँ के चैतन्य से स्फूर्त नहीं पाया है। प्रकृति की समस्त चेतना माँ की चिति से ही संचालित होती है।

'श्यामा संगीत' में गुणमाहात्म्य को भी महत्त्व दिया गया है। गुणवत्ता और अपरिमित महिमा की व्याख्या की गयी है उसका गान कर, उसे रीझाने का प्रयत्न कर। बंगला गीतों में भी उसकी एक विकसित पद्धति दीख पड़ती है। संगीत के सुमधुर तान द्वारा नरेन्द्र इसी प्रकार का गीत गाकर अपने गुरुदेव रामकृष्ण को भाव-समाधि में लीन कर देते थे।

(आमार) माँ त्वं हि तारा। तुमि त्रिगुणधरा परात्परा,
तोरे जानी माँ ओ दीन दयामयी तुमि दुर्गमेते दुःखहरा।
तुमि जले तुमि स्थले तुमि आद्यमूले गो माँ
आछो सर्वघटे अक्षपुटे साकार आकार निराकारा।
तुमि सन्ध्या तुमि गायत्री तुमि इ जगद्धात्री गो माँ
तुमि अकुलेर त्राणकर्मी सदा शिवे मनोहरा
(राम कृष्ण लीला प्रसंग से)

'सुधाधारा काली स्त्रोत' में देवी के स्वरूप के सम्बन्ध में इसी तरह के दीप्त भाव व्यक्त हुए हैं—

जले शीतलत्वं, शुचौ दाहकत्वं, विधौ निर्मलत्वं, रवौ तापकत्वम्

हिन्दी भक्ति गीतों में भी श्यामा के तेजोदीप्त स्वरूप को शुद्ध प्रज्ञा के स्तर पर कवियों ने स्वीकार किया है और उसकी अभ्यर्थना की है। कवियों का अनुराग वस्तुतः ज्ञान-प्रभा का मूर्त रूप बन गया है।

श्यामा संगीत मूलतः एक संघर्षशील कवि का भावनात्मक हृदयोच्छ्वास है। एक ऐसा कवि जिसने जीवन को ही यज्ञ मान लिया है और कर्म को ही पूजा। लगता है भौतिक एषणाओं की ओर कभी उसकी गंभीर आसक्ति रही ही नहीं, तभी तो एक निश्छल बालक की तरह कभी माँ को बुलाता है कभी उपालम्भ देता है, कभी रूठता है, कभी रोता है तो कभी हँसता है। कभी गाता है और कभी मौन साध कर सिर्फ टुकुर-टुकुर देखता रह जाता है। मातृ-भाव मूलतः निर्जला एकादशी की तरह है। संसार में जितने प्रकार के भाव हैं उनमें मातृभाव 'सर्व श्रेष्ठ' है।मैं पुत्र हूँ और तू मेरी माँ हो, भला इससे नैकटत्व का भाव दूसरा हो ही क्या सकता है? इसी भाव को कवि ने राधा में 'महाभाव' की संज्ञा दी है। 'श्यामा संगीत' शुद्ध भक्ति की दृष्टि से भले ही उस टक्कर की रचना न हो, जिस टक्कर की रचना 'सौन्दर्य लहरी' है। लेकिन महाभाव की दृष्टि से अपनी तत्परता, लाक्षणिकता' प्रतीकात्मकता और पद-शय्या के कारण निश्चय ही यह भारतीय भक्ति वांङ्मय की गौरव-मयी कृति है। दुर्भाग्य है कि विज्ञान की प्रगति के साथ मनुष्य की प्रकृति में उत्तरोत्तर ह्रास होता जा रहा है। आज का मनुष्य सहज स्वाभाविक रह नहीं गया। उसका व्यक्तित्व संश्लिष्ट होता जा रहा है। इस निराशा की घड़ी में बाल-भाव ही ऐसा भाव है जो व्यक्ति को तनाव से मुक्त कर सकता है। मातृ-भाव के विस्तार और पुत्र-भाव के प्रसार के साथ यदि महाभाव को अंगीकार कर लिया जाए तभी विश्व-शांति और मानवीय विचारों में शुद्ध आध्यात्मिक क्रांति हो सकती है। संसार में शांति, सद्भाव, सदाचार और नैतिकता का बोल-बाला तभी हो सकता है जब हम सच्चे हृदय से माँ से उपालंभ की भाषा में कहें—

तू क्यों आनन्दमयी जब अग जग दुखियारा
चन्द्र चेतते हैं तम किन कर्मों का मारा

भारत में लोक-धर्म के तीन तत्त्व माने गये हैं—शील, समाधि और प्रज्ञा। ज्ञान की स्थिति अन्त में है। शील और समाधि की पूर्णता से प्रज्ञा का उदय होता है। प्रज्ञा अर्थात् परम ज्ञान की उपलब्धि तब तक नहीं हो सकती जब तक धारणा की शक्ति प्रबल न हो। 'श्यामा संगीत' में धारणा की शक्ति प्रबल है।

जानकीवल्लभ शास्त्री में मात्रा की ही नहीं, अपितु गुणात्मकता की भी प्रबलता है। यही कारण है कि 'श्यामा संगीत' से पूर्व की कालजयी कृति "राधा" में भी कर्तव्य और ज्ञान की सत्ता-भावना निष्ठा के आगे नतशिर है और उससे शक्ति प्राप्त करने की लालसा लिए याचना करती है—

शक्ति हे भ्रूक्षेप-भव संचारिणी
अंध तामस-सिन्धु-तरणी तारिणी !

दे मुझे साहस विषम, विद्रोह का,
कर सकूँ मैं शमन मन के मोह का !

दे मुझे दुर्द्धर्ष बल संघर्ष का
लोक-हित निश्शोक प्राणोत्सर्ग का !

राधोक्त यही याचना-भाव, 'महाभाव' के रूप में 'श्यामा संगीत' में परिणत हो गया है। निश्चय ही, महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'श्यामा संगीत' को जीवन-अनुभव के शक्ति-स्रोत के रूप में रूपान्वित किया है। यही इस महान कृति की विलग उपलब्धि है।



काकली की कमनीयता

☐ प्रो० बिहारी लाल मिश्र

"काकली" महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पहली युगान्तरकारी काव्यकृति है जो संस्कृत में है और जिसका प्रकाशन अब से छप्पन वर्ष पहले सन् 1935 में ई० में हुआ था। 'भव ! भूतिभिर्विभूषितोऽसि, कुरु मामपि भो भवभूतिम्; कालीदासोऽसि स्नेहात्, कुरु कालिदासमिव कान्तम्।" से व्यक्त है कि कवि में कालिदास और भवभूति के समान कान्त और वागैश्वर्यशाली होने की उत्कट अभिलाषा है। साथ ही वह महाप्राण निराला के प्रति भी कम आस्थावान् नहीं है, जैसा कि "हिन्दीमन्दिरजटितसूर्यकान्तान्.................. अन्वर्थाभिधेयान्.........निराला महाशयान् विनयावनतो विलोकये,...........।" से स्पष्ट है। अतः इसमें भवभूति, कालिदास और जयदेव की त्रिमुखी कलाओं के सुघर समन्वय के साथ महाकवि निराला का तारुण्य भी तरंगित होता देखा जाएगा। यहाँ कालिदास की कमनीयता, भवभूति की भव्यता, जयदेव की रागबद्धता और निराला की नवीनता सर्वत्र विद्यमान है।

"काकली" गीत और संगीत का संगम है। यह "गीत–गोविन्दम्" की तरह 'कोमल-कान्त पदावली' है। फिर भी यह उससे भिन्न है। इसकी टेकों और छन्दों में सापेक्षतः अधिक संगीतानुकूलता है। इसके अधि-कांश गीत संगीत की तालों में बँधे हुए हैं। हरिऔधजी ने एक प्रयोग किया था। उन्होंने हिन्दी में संस्कृत वृत्तों की अवतारणा की थी। एक प्रयोग शास्त्रीजी ने भी किया है। इन्होंने संस्कृत में सांगीतिक छन्दों की अवतारणा

की है। 'काकली' के छन्द 'गीतिका' के-से हैं। फिर भी, जैसा कि स्वयं निरालाजी ने स्वीकार किया है, वह किसी की नकल नहीं है। शास्त्रीजी में 'नवगति, नव लय-ताल-छन्द नव' के निर्माण की प्रतिभा भी है। पण्डित अम्बिका प्रसाद उपाध्याय के अनुसार 'काकली' की अभिनव रचना-पद्धति हमे भगवान् भवभूति के इस गद्यांश की याद दिलाती है कि 'नूतनोऽयं छन्दसामवतार:।"

'काकली' का कवि परम साहसिक है। तभी जब संस्कृत के अनेक रचनाकार पुरानी पद्धति का अनुसरण करते हुए और 'नवमित्यवद्यम्' की घोषणा करते हुए अपने को श्रृङ्गारवर्णन, राजचाटुत्व और देवस्तुति तक सीमित किए हुए थे तब उसने वर्ण्य-विषय, भाषा-शैली, छन्द-अलंकार आदि की नव-प्रयुक्त विविधता से कलित काकली का आकलन कर दृष्टिकोण विस्तृत कर दिया और दिखला दिया कि संस्कृत-साहित्य की संभाववाएँ असीम हैं।

नई पद्धति का आग्रह रखते हुए भी कवि पुरानी पद्धति को मेटने का पक्षपाती नहीं है। वह केवल इतना चाहता है कि घोर रीतिवादी की तरह अलंकार के लिए अलंकार, रीति के लिए रीति या गुण के लिए गुण का प्रयोग नहीं किया जाए। आवश्यकता पड़ने पर इनका प्रयोग स्वतः हो जाएगा। प्रस्तुत कृति में भी कहीं गौड़ी, कहीं पाञ्चाली और कहीं वैदर्भी रीति की छटा छहरती दिखाई दे सकती है। पर सब पर एक अपनापन, एक व्यक्तिगत छाप-सी पड़ी दिखाई देगी। चूँकि सायास कुछ भी नहीं किया गया है, इसलिए अलंकारों में सहजता और स्वाभाविकता है। अतएव इनसे भाषा का सम्यक् शृंगार भी हुआ है और भावों को उचित बल भी मिला है।

संगीत कवि के मन-प्राणों में बसा है। अतः उसकी कविता नाद-प्रधान हो गई है। 'निनादय नवीनामये बाणि! वीणाम्।' जैसे वन्दना-पदों की विनय-परकता, हो या 'वीचिनिचयचुम्बितचरणास्ते कुरवकबा-लतमाला:, मञ्जुलवञ्जुलकुटजलिकुचधन-पनसपलाशरसाला:।' जैसे प्रकृति चित्रणों की चारुता; मुदिरमेदुराम्बरशम्बररिपुचिररुचिरुचिरशरीर! 'जैसे रूप वर्णन की अनवद्यता, हो या आहूतोऽस्मि साम्प्रतं रिङ्गदुदन्वत्तुङ्ग-तरङ्गै:.........'जैसी भावाभिव्यक्ति की सूक्ष्मता, सबमें इस नादशीलता की गूँज सुनाई देती है। अनुरूप स्वर-समुदायों से बँधने पर वह और मुखर हो जाती है।

'परप्रतापतिमिरालिघर्षकः' और 'शेषे किं शेषे जलधौ। मृगये, किञ्चिन्न करिष्ये; किमु बिभेषि भो लोकमेहि ·· ····।' जैसी ओजस्वत् एवं 'कोनु विधत्ते त्वां विहाय कान्तं सकान्ति मे स्वान्तम् 'और' देवि, विलोके ते रूपे दैवतललनालावण्यम्।' 'जैसी स्वच्छ-प्रसन्न पदावलियों के रहते हुए भी 'काकली' का प्रधान गुण माधुर्य है। यह इस कृति की पंक्ति-पंक्ति में मौजूद है, यहाँ तक कि ओजस्वी और सरल-सुबोध पदावलियों में भी। किन्तु कुछ पंक्तियों में यह पूरे निखार पर है। जैसे—

कोकिलकललापेङ्गितनृत्यन्मञ्जुमञ्जरीपुञ्जम्
गुञ्जच्चञ्चुरचञ्चरीकसञ्चयसञ्चारितकुञ्जम्!

में। इन पंक्तियों के माधुर्य का कारण महज आनुप्रासिक आरणन नहीं है। अनुप्रास तो 'धगद्धगद्धगद्धगज्ज्वलल्ललाटपट्टपावके········' में भी है। किन्तु इसमें कोयल की कूक के इशारे नाचती मंजरियों पर मँडलाते रस-चषण-चतुर भौंरों की गूँज कहाँ है? इसमें तो ताण्डवानुवर्ती औद्धत्य से भरे धनुष की टंकार और आहत मृदंग की धमक है। अतः स्पष्ट है कि भाव और अर्थ ही सभी गुणों के मूल कारण हैं। भाव कोमल होंगे तभी तदनुरूप कोमलकान्त पदावली निकलेगी, तभी माधुर्य की सृष्टि होगी। हमारे कवि के मन की गहराइयों में जो अनाहत नाद गूँजता है वही दुःख के थपेड़ों से दरमुखर होकर उसके भावों को कोमल बना देता है, तरल भाव-संगीत में बदल जाता है। वही फिर मधुर, कोमल, कान्त पदावली में फूट पड़ता है। 'काकली' के सभी भाव सरस, कोमल और कमनीय हैं। अतः माधुर्य गुण शेष दो गुणों पर हावी हो गया है। और यह तो स्पृहणीय ही है। अतः पण्डित महादेव शास्त्री का यह कहना अक्षरशः सत्य हैं कि—

सत्काव्योल्लासलीलाकलितकलकले काकली-कोकिलेऽस्मिन्
द्राक्षामाधुर्यदीक्षाक्षममपि गणये पण्डितम्पण्डमेव।

माधुर्य की तरह मानवीकरण भी इस कृति की अपनी विशेषता है। कवि ने पशु पंछी, वन-उपवन, पादप-क्षुप लता-गुल्म, पत्र पुष्प, नग-सागर, धरती-नभ, नद-निर्झर, तडित-मेघ, शिशिर-वसन्त, सूर्य-चन्द्र, दीप-शलभ, ईंट-पत्थर, सबको मानवीकृत करके देखा है। वह उन्हें सम्बोधित करता है, उनसे अंतरंगता स्थापित कर विश्रब्धालाप करता है। वह इनमें प्राणि-अप्राणी का भेद नहीं करता, वह समदर्शी है। इससे यह प्रकट होता है कि कवि का युगबोध प्रारंभ से ही प्रबल और जागरूक है। वह छायावाद और रहस्यवाद का युग था। प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी, सब मानवीकरण

के सहारे अपनी विविध अनुभूतियों को अभिव्यक्ति दे रहे थे। हमारा कवि उससे विमुख नहीं रह सकता था। अतः उसने संस्कृत साहित्य में छायावादी रहस्यवाद का सूत्रपात किया। शक नहीं कि संस्कृत साहित्य में आधुनिकता का समावेश इधर अनेक व्यक्तियों ने किया है। किन्तु सांगीतिक उपादानों से सज्जित और रहस्यात्मक अनुभूतियों से ओत-प्रोत छायावादी गीतों की रचना इस कवि ने ही प्रारंभ की। कवि के मन में एक अनन्त जिज्ञासा है। अनेक समस्याओं का समाधान मिल जाने पर भी वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, और कुछ जानने की लालसा लगी रह जाती है, प्रश्न-पर प्रश्न उठता जाता है और वह सविस्मय पूछता जाता है—

कीदृगिदङ्गगनङ्कियच्च गुरु, दृश्यते कथं सान्द्रम् ?
कुत्र नु हाराकारास्तारा, लोके चन्द्रमतन्द्रम् ?

(अर्थात् यह आकाश कैसा है, कितना बड़ा है ? फिर यह इतना घना-घना, गहराया-गहराया कैसे दिखता है ? हार की तरह गुँथे हुए तारे कहाँ चले गए ? देखता हूँ चाँद अभी तक अपनी जगह बरकरार है, ऊँघता है न थकावट जाहिर करता है !)

या

ग्रीष्मो वर्षाश्शरच्छिशिरहेमन्तास्तथा वसन्तः,
ऋतवःकुत आयान्ति, यान्ति किमु दृश्यन्ते न वसन्तः ?

(अर्थात् ग्रीष्म, वर्षा शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त—ये ऋतुएँ कहाँ से आती हैं ? और आती हैं तो चली क्यों जाती हैं ? कहाँ चली जाती हैं ? ये कहीं रसती-बसती तो नहीं दिखाई देतीं।)

या

कृतसार्थाभिधवसुधाङ्के मृदि दधती सदाऽमरीत्वम् ।
मालिपालितलतालिलालितेऽमलपरिमलेऽसि का त्वम् ?

(अर्थात् पृथ्वी का 'वसुधा' नाम सार्थक करने वाली, पृथ्वी की गोद को सुशोभित करने वाली, मिट्टी को सदा देवीत्व प्रदान करती रहने वाली, माली के द्वारा पालित, पोषित, प्ररक्षित लता-सखी और भौंरों-मधुमक्खियों का प्यार-दुलार पाती रहने वाली, ओ स्वच्छ सुगन्ध वाली ! रत्न-सरीखी तुम कौन हो ?)

और अन्त में कहता है कि 'ऐसे जिन-जिन विषयों का मैं चिन्तन करता हूँ उनपर सोच-सोचकर भी उनकी अस्लीयत नहीं समझ पाता।'

प्रकृति-चित्रण, प्रणय-निवेदन, आत्माभिव्यक्ति, भक्ति-प्रगायण, सबसे कवि ने एक अद्भुत रहस्यमयता का सृजन किया है जो साम्प्रदायिक रहस्य-वाद-जैसा दुर्बोध नहीं है, जो ईषद् आध्यात्मिक विकास होने पर भी हृदयंगत हो जाती है। इसमें दार्शनिक जटिलता नहीं, काव्यात्मक सरसता है। 'कलिके' और 'विरहः' जैसी रचनाओं में इस कथन की सचाई देखी जा सकती है।

आध्यात्मिक जिज्ञासा की तरह ही कवि की रूप-पिपासा भी उद्दाम और, इसलिए, अतृप्त है। लेकिन रूप को, अर्थात् सौन्दर्य को, वह भौतिक शरीर की क्षुद्रता और क्षरणशीलता से सीमित करके नहीं देखता। वह उसे असीम अरण्यानी और अपार सागर की विराट्ता और शाश्वतता से एकाकार हुआ पाता है। उसे जिस सौन्दर्य के दर्शन की प्यास है वह स्थूल नहीं, सूक्ष्म है, स्खलित नहीं, उदात्त है। तभी जहाँ एक ओर वह कहता है कि—

(क) भ्राम्यन्ती ते रूपवने मे प्रीति-विहङ्गम-बाला—
गता, तत्र बभ्राम, हन्त ! कुर्यां किमहं वनबाला ?

(अर्थात इधर-उधर घूमती हुई मेरी प्रीति-रूपी विहङ्गमबाला तुम्हारे रूप-वन में गई और वहाँ जाकर भटक गई। हाय, मैं वनवासिनी क्या करूँ ?

(ख, दोलाकालविलोलापाङ्गो मञ्जुललोचनमीनः
तव नवलावण्याम्बुधिसलिले लवलीलया विलीनः।

(अर्थात् झूला झूलते समय कनखियों के चंचल होने के कारण आँखों की सुन्दर मछली सिर्फ थोड़ी क्रीड़ा करने के लिए तुम्हारी नई लुनाई के समुद्र के पानी में कूद पड़ी थी (किसी आसक्ति से नहीं) ।]

(ग) सौदामनीवानुकादम्बिनि सचमत्कृति सुखसदनम्
उपकमनीयकुन्तलावलि ललितन्ते सद्वदनम्।
सत्यमेव सुन्दरं शिवं तत्सकलकलाकलितम्,
चित्रञ्चित्रकृतो न चित्रयितुमपि चित्तञ्चेच्चलितम्
तव देवि, दिव्यमाननम्

(अर्थात् मेघमाला के साथ बिजली की तरह कमनीय केशपाश के साथ तुम्हारा विस्मयोत्पादक, सुन्दर, सात्त्विक, सुखकर, चञ्चल, दिव्य मुखमण्डल

क्या है, सकल कलाओं और सत्य-शिव-सुन्दर से सम्पन्न एक अद्भुत चित्र है। देवि ! इसकी रचना करने में यदि चित्रकार का चित्त चंचल न हुआ हो तो विचित्र ही है।)

वहीं वह यह भी कहता है कि—

(घ) आदिशक्तिरनुरक्तिराशिरासक्तिसन्ततिर्भक्तिः,
सर्वाप्यसि तेनैव मेऽधुना त्वय्येवास्ति प्रसक्तिः।
कुरुषे ! नलिनं मलिनम्

(अर्थात् हे कमल को मलिन करने वाली ? अनुराग, आसक्ति, भक्ति, आदिशक्ति, सब तुम्हीं हो। इसलिए मेरा मन तुम में संलग्न है।)

रूप और सौन्दर्य की जिस सूक्ष्मता का संकेत पहले किया गया है उसका स्पष्टीकरण इन पंक्तियों से हो जाता है। रूप-वन में भटका-चकराया प्रीति-विहङ्गम तथा लावण्याम्बुधि में दोलायित लोचन-मीन जो रूप-लावण्य की उपलब्धि से वंचित रह जाता है उसका कारण रूप-लावण्य की विराट्ता और सूक्ष्मता ही है। जैसे लता-वृक्ष को वनाली और पानी की बुँद को महासागर नहीं कहा जा सकता वैसे ही रूप और सौन्दर्य की लव-लीला को समस्त सौन्दर्य नहीं कहा जा सकता। समग्र रूप और सौन्दर्य तो वनत्व और सागरत्व की तरह विराट्ता का एक भाव-रूप है जिसकी अनुभूति-मात्र की जा सकती है, दर्शन नहीं किए जा सकते।

'काकली' का कवि दार्शनिक भी है। वह आत्मदीप के प्रकाश में जागरण और सुषुप्ति, जीवन और मरण की महत्त्वपूर्ण समस्या का समाधान ढूँढ़ता जाना चाहता है। उसकी वृति अनुसन्धायिका है, वह किसी भी समाधान को अन्तिम निष्कर्ष नहीं मान सकता। उसका उद्देश्य निरन्तर खोज और पूर्व-सिद्धि का शोध है। उसके अनुसार अपने-जानते सब कुछ जानने के बाद भी बहुत-कुछ जानने को बाकी रह जाता है। ऐसे में महामोह में पड़े हुए मन को दिखला देने वाला आत्म-दीपक ब्रह्म की ज्योति ही है, यह निश्चित रूप से वह कैसे कह सकता है ? 'दीपक' की निम्नोद्धृत पंक्तियाँ इसी आशय का आभास देती हैं—

अनिलान्दोलितशिख दीपक, दीपयसि तमोमयभुवनम्,
ज्योतिस्त्वं किं ब्रह्मणोऽसि दर्शयसि मनो मोहघनम् ?

(अर्थात् दीपक ! हवा तुम्हारी लौ को कँपाती रहती है, तो भी तुम

अंधकार-भरी दुनिया को उजागर करते रहते हो। क्या तुम्हीं ब्रह्म-ज्योति हो जो मोह से घनीभूत मन दिखला देते हो ?)

'मृत्युगीतम्, 'भग्नावशेषः', 'जागरणम्' और 'लघुता' शीर्षक कविताओं में भी दार्शनिक अनुचिन्तन और अनुभूति ने अभिव्यक्ति पाई है।

मृत्यु के प्रति कवि का एक विशिष्ट और अपना-सा दृष्टिकोण है। वह पन्तजी की तरह उसे एक जीवन को छोड़कर दूसरे जीवन में जाने का दरवाजा नहीं मानता। पुनर्जन्म की पिष्टपेषित परिकल्पना पर उसकी आस्था नहीं टिकती। अतः मृत्यु को वह रोग, शोक, मोह, निराशा और असफलता के लौकिक जीवन से अन्तिम मुक्ति और शाश्वत विराम मानता है। इसीलिए वह उससे भयभीत नहीं होता। बल्कि यह सोचकर उसे एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है कि वह आहिस्ता-आहिस्ता उसी की ओर बढ़ता जा रहा है। सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाकर अनन्त में लीन हो जाने की अनल्प कल्पना उसे लोकोत्तर आनन्द प्रदान करती है। मृत्यु में उसे वह प्रकाश दिखाई देता है जो लोक-शोक के अन्धकार से भरी रात का अन्त कर देता है। निकट से निकटतर आती मृत्यु में उसे एक जाना-सुना संगीत सुनाई देता है जिसकी ओर मनुष्य का मन बरबस खिंच जाता है—

कलं कलं प्रतिपदं श्रूयते किमिति साम्प्रतं ललितरागिनी ?

(अर्थात् आज प्रतिपल मन्द-मन्द, मधुर-मधुर, कोमल-कोमल ललित नाम की प्रातःकालीन रागिणी किसलिए सुनाई दे रही है !)

'भग्नावशेष' में भी कवि के सबसे अलग निजी दृष्टिकोण का परिचय मिलता है। ऐसा नहीं कि इसके पहले संस्कृत साहित्य में भग्नावशेष का वर्णन न हो। किन्तु मानवीकृत करके उसे दार्शनिक दृष्टिकोण से पहले-पहल इसी कवि ने देखा है। टूटी इमारत की झरती-छीजती ईंटों के बहाने यहाँ कवि ने मानव-जीवन की नश्वरता के प्रति संवेदना प्रकट की है और कहा है कि किसी को भी अपनी क्षरणशीलता से व्यग्र नहीं होना चाहिए, क्योंकि पुराने के विनाश में नए के उदय का स्रोत सन्निहित रहता है। फिर जिसका विनाश होता है वह यदि यशस्वी रह चुका हो तो उसकी कीर्ति तो जन-मन में स्वर्णाक्षरों में अंकित हो ही जाती है।

'जागरणम्' में हतोत्साह करने वाले लोक-शोक को चुनौती देने वाली विनिद्रता, हततन्द्रता, सतत जागरूकता का प्रोत्साहक जीवन-दर्शन दिया गया

है। कहा गया है—

संजागर्मि विनिद्रो हततन्द्रोऽहं भूत्वेव हरः,
किमभूत्तदा, लोकशोक ! त्वम्मे निद्रां चेदहरः ?

[अर्थात् ओ सांसारिक शोक ! तुमने मेरी नींद हर ली तो क्या हुआ ? नींद त्यागकर, ऊँघ छोडकर, मानो साक्षात् शिव बनकर सदा जागता रहता हूँ। (अब तुम मेरा क्या बिगाड़ सकते हो ?)]

"लघुता" में आदमी-आदमी के रागात्मक सम्बन्ध का एक व्यावहारिक जीवन-दर्शन दिया गया है। कहा गया है कि भारी से भारी आदमी भी समीपता से हल्का हो जाना है और हल्के से हल्का आदमी भी दूरी से भारी हो जाता है। यही संबंध निजत्व-परत्व का भी है। अपना होने से हल्का हो जाता है, पराया होने से भारी। आदर और सम्मान के आकांक्षी को स्नेह और ममता का व्यामोह छोड़ देना होगा, क्योंकि—

इन्द्रस्यापि निजत्वे किं किञ्चिद्वर्तते गुरुत्वम् ?

(अर्थात् यदि इन्द्र भी अपने हो जाएँ तो क्या उनमें तनिक भी भारीपन या बड़प्पन रह जाएगा ?)

निष्ठुर संसार के प्रति कवि का रुख कड़ा और दृष्टिकोण आलोचनात्मक है। "रुदितम्" शीर्षक कविता इस आशय का साक्षात् समर्थन है। इसमें मानव-जाति की निर्दयता और निर्ममता का यथातथ्य वर्णन है। स्वार्थ, अहंकार और हृदयहीनता के कारण प्रत्येक व्यक्ति दूसरों से आनन्ददायक संगीत, अपनी प्रशंसा आदि तो सुनना चाहता है, पर किसी के अन्तर की वेदना नहीं सुनना चाहता, किसी के दुख-दर्द से सहानुभूति रखना उसे गवारा नहीं है। कवि के संवेदनशील हृदय को यह नहीं है कि यह सह्य नहीं है कि अधम लोग तो संसार में स्वच्छन्द विहरा करें और सुधी लोग धरती पर सुखपूर्वक पैर भी नहीं रख पाएँ ! ऐसी दशा में, ऐसे संसार को, अगर कोई अपना रोना सुनाने लगे तो उसे रोकना, कीमती आंसुओं को व्यर्थ बहा डालने से मना करना, कवि का कर्त्तव्य हो जाता है। नीचे की पंक्तियों में कर्तव्य की यही भावना प्रेरणा बन गई है—

रोदिषि किं ? श्रृणुते कः क्रन्दनमिदं सकरुणं जगति ?
निर्दयतमा मनुजजातिस्सङ्गीतवल्लभा भवति।

(अर्थात् रोते क्या हो ? यह करुण क्रन्दन इस संसार में सुनता कौन

है ? जानते नहीं ? मनुष्य जाति सबसे निर्दय है। उसे संगीत रुचता है, रुदन नहीं।)

"काकली" का कवि गुणग्राहक है। वह प्रतिभा और योग्यता का कायल है। उसे किसी का नाम या झूठी प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा प्रभावित नहीं कर सकती। इसीलिए "रत्नाकर" नाम से प्रसिद्ध होने पर भी सागर उसे रत्नों के आकार के रूप में नहीं प्रभावित कर सका है। वह इस सचाई की उपेक्षा नहीं कर सकता कि सागर-द्रोणी में बहुमूल्य रत्नों की अपेक्षा मगरमच्छों की ही अधिकता है और उसकी अपार जलराशि, खारेपन के कारण, किसी की प्यास नहीं बुझा सकती। इसलिए सागर की ओर जाती हुई सरिता को उसने यह कड़ी चेतावनी दी है—

"रत्नाकरे" ति नाम केवलं मकरनिकररत्नत्वम्।
कुरु मा भ्रममभिधाने जाने तत्र विफलयत्नत्वम्।
तत्सङ्गमेन मधुमधुरं ते सलिलं भविता क्षारम्।
फलं सहृदयैस्सदा विचार्यं कार्यं कारं कारम्।

(अर्थात् सागर का "रत्नाकर" नाम भर है। असल में तो उसमें मकरनिकररत्नत्व है, वह मगरमच्छ-रूपी रत्नों के समूह का ही आकर है। नाम के भ्रम में मत पड़ो, जानता हूँ, वहाँ तुम्हारा रत्न खोजने का प्रयत्न विफल होगा। उसके संगम से तुम्हारा मधु-जैसा मीठा जल भी खारा हो जाएगा। समझदारों को चाहिए कि वे कार्य करने के साथ-साथ उसके फल पर भी विचार करें।)

स्पष्टतः इस प्रणय-प्रसंग का नायक सागर और नायिका निर्झरिणी है। लेकिन प्रतीकात्मक होने के कारण इसका अर्थान्तर मानव-जीवन की समान दुर्घटनाओं पर भी न्यस्त हो जाता है।

कवि की दृष्टि में सारी सृष्टि सदय है। उसके अनुसार दया के कारण ही पृथ्वी जीव-समूह को धारण करती है और बादल-दल पानी बरसाता है। वन्य जन्तुओं में भी दया होती है। एक मनुष्य-जाति ऐसी है जिसमें सामान्य सहनशीलता और सहानुभूति की भी कमी होती है। और वह मनुष्य-जाति उसे बहुत प्रिय है। अतः वह उससे सस्नेह आग्रह करता है कि—

वाति समीरस्सततं सदयम्,
वहति तटिन्यास्सलिलं सदयम्,
सफलं तरुवृन्दं सदयं, भव भवे भूतिभृत्। सदयम्।

(अर्थात् हवा हमेशा दयापूर्वक बहती है, नदी का पानी दयापूर्वक बहता है। फलदार वृक्ष भी दयालु हैं। इसलिए ओ समृद्धिशालियो ! संसार के साथ दया का व्यवहार करो।)

"काकली" की प्रेरणा मुख्यतः प्रकृति से प्राप्त हुई है। प्रकृति-नटी के नैसर्गिक अभिनय से अभिभूत और उसकी सुषमा-समृद्धि से आविष्ट हुए कवि के अतिरिक्त भाव सुघर शब्दावली में फूट पड़े हैं। नदी-निर्झर की तरंगों में न्हाई, कच्ची-पकी फसलों की सब्जोजर्द साड़ी में लिपटी, वन्य पेड़-पौधों की हरी चादर ओढ़े और पहाड़ी घेरों की करधनी पहने पृथ्वी, नित्य नई नीलिमा का लालायित आकाश, एकान्त कुंज-पुंज में लरजती लताओं और झूमते वृक्षों से खेलता मलयपवन, कूदते-कुलाँचते मृग-छौनों के समूह, कूकती-कुहुकनी कोयल के जोड़े, फूलों के गुच्छों पर गूँजते-मँडलाते भौंरों की टोली, सघन-घन-घटाओं में कौंधती-काँपती बिजली, और चाँदी के चँदोवे-सी तनी लहरीली चाँदनी के शत-वर्ण बिम्ब चितेरे कवि के निर्मल मन-दर्पण में प्रतिबिंबित होकर, उसकी कोमल-कमनीय भावनाओं से भावित होकर, उसके आवर्जक व्यक्तित्व से उत्प्रेरित होकर इन मर्मस्पृक् प्राण-गानों में प्रस्फुटित हुए हैं। कवि का मन कल्पनाप्रवण और चिन्तनशील है। अतः उसने प्रकृति का बाह्य निरीक्षण कर उसकी स्थूल काया का निर्जीव वर्णन नहीं किया है, बल्कि उसकी आत्मा में पैठकर उसके सूक्ष्म प्राणों का सजीव चित्रण किया है, उसके गतिशील, बहुपार्श्विक, बहुवर्ण चित्र उतारे हैं।

वर्णनीय विषय और रचना-प्रकार की मौलिकता और विविधता कवि की इस प्रारंभिक कृति में भी विद्यमान है। यह इससे प्रमाणित होता है कि इसमें जहाँ एक ओर—

(क) वृन्दावने वादिता वंशी।
गता तदानीन्दूरतरमहम्प्रावृषीव सखि ! हंसी।

(अर्थात् सखी ! क्या बताऊँ ? एकाएक वृंदावन में वंशी बज उठी। और उस समय मैं कहीं दूर-सुदूर चली गई थी, जैसे बरसात में हंसी कहीं दूर निकल जाती है।)

(ख) कादम्बिनी त्वमसि किम् ?
मद्दयितायाः नाम वर्तते तेऽपि ततोनु हससि किम् ?

[अर्थात् ओ मेघमाला। तुम कादम्बिनी हो क्या ? सो तो तुम हो ही, क्योंकि "कादम्बिनी" और "मेघमाला" एक-दूसरे के पर्याय हैं। पर

मेरी प्रेयसी का नाम भी "कादम्बिनी" ही है। इसीलिए हँसती हो क्या ? (इसीलिए दामिनी दमकाती हो क्या ?)]

और (ग) अये कामये, राम। ते बाललीलाम्।
गतिन्दर्शयोद्दामदीप्तिं सलीलाम्।

(अर्थात् हे राम। मुझे तुम्हारी बाल-लीला ही प्रिय है, वही देखना चाहती हूँ। इसीलिए तुम अपनी परम मनोरम और क्रीड़ायुक्त चाल ही दिखलाओ, ठुमक-ठुमक कर चलो।)

जैसे ललित्त गीत हैं वहाँ दूसरी ओर "दीपक" ! और "जागरणम्" जैसी दार्शनिक एवं "सुलोचना" जैसी रचनाएँ तथा—

सानन्दमधुनानन्तमार्गेऽहङ्गमिष्याम्यश्रमात्,
प्रेमाश्रु पाथेयङ्गृहीत्वा यामि ते नयनाश्रमात्।
मन्त्रं स्वरेण मुखे जपन् मन्द्रेण 'वन्दे मातरम्।
यावत् समैर्विनिगद्यतां जनिधरे, 'वन्दे मातरम्।,

(अर्थात् देव ! प्रेमाश्रु का कलेवा लेकर आपके नयन-रूपी आश्रम से मन्द स्वर से 'वन्दे मातरम्' मन्त्र का तब तक मुख में (उपांशु) जप करता हुआ अनायास अनन्त मार्ग पर जाता हूँ जबतक सभी लोग एक साथ ऊँचे स्वर से जन्मभूमि 'वन्दे मातरम्' न बोल उठें।)

जैसी राष्ट्रीय भावना से भरी पंक्तियाँ भी हैं।

भाव और भाषा दोनों में कवि ने कुछ नए प्रयोग किए है। जैसे—

प्रत्यहं प्रतीचीमञ्चे सा सन्ध्या सन्ध्यायति किम्,
श्यामलं वसाना बासो मृत्योर्गीतं गायति किम् ?
अयि ! पश्य, विकीर्णस्तस्यास्सञ्चितो मनोरथराग:
गतगुञ्जनहृदयविपञ्च्या उत्थितो विलीनो राग :।

(अर्थात् वह सन्ध्या प्रतिदिन पश्चिम दिशा के मंच पर बैठकर क्या करती है ? क्या संध्या करती है, ध्यान करती है ? क्या काला वस्त्र धारण कर मृत्यु का गीत गाती है ? अरे ! देखो, वह उसकी संचित इच्छाओं का खून हो गया है जिसकी लाली तमाम बिखरी पड़ी है। देखो, उसकी हृदय-वीणा का गुंजन समाप्त हो गया है और उससे उठा हुआ राग विलीन हो गया है !)

बिखरे हुए मनोरथ-राग की अस्त-व्यस्त अवस्था में काला वस्त्र (अंधकार) धारणकर गंभीर चिन्ता में डूबी हुई, हृदय-वीणा पर मृत्यु-गीत (शोक-गीत)

गाती हुई, राग-स्वरों के साथ स्वयं भी विलीन होती हुई, अस्पष्ट होती हुई संध्या का यह विराट् चित्र अनुरूप शब्दावली से सज्जित एक नवीन प्रयोग है। शास्त्र, लोक, प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम के समन्वय से कवि ने अनेक और प्रयोग किए हैं जिनका उल्लेख विस्तारमय से नहीं किया जा रहा है।

"काकली" की एक-एक पंक्ति में प्राय: अनेकानेक विशेषताएँ आ गई हैं। नीचे की पंक्तियों में इस प्रवृत्ति का प्रकर्ष देखा जा सकता है—

> निजलावण्यतरङ्गसङ्गभङ्गीभिरनङ्गतदेहा,
> वारिधिवीचिरिवाद्य चञ्चला क्षणमपि नो शेते हा !

[अर्थात् उसके (ललित के) अपने सौन्दर्य की तरङ्गों की सहचरी टूटनों (breaking of waves) के कारण उसकी देह अंगहीन-सी हो गई है (साक्षात् कामदेव बन गई है), कामव्याधि के कारण विरह-वेदना की तरंगें समुद्र की तरंगों तरह प्रतिपल उठती-गिरती रहती हैं और उसके अंग टूटते रहते हैं। सच पूछिए तो इन दिनों व्यग्रतावश वह समुद्री तरंगों की तरह ही चञ्चल-चञ्चल रहती है और, हाय, पलभर भी पलक नहीं मारती। (इसलिए हे माधव ! उस पर कृपा कीजिए)]

कहना अनावश्यक है कि यहाँ पद-लालित्य, उक्ति-वैचित्र्य, भाव-गाम्भीर्य, कल्पना-वैभव, उपमा, ध्वनि सब एक साथ उपस्थित रहकर इन पंक्तियों को "रत्नच्छायाव्यक्तिकरत्व" प्रदान करते हैं। और यह स्थिति एक नहीं, अनेक अनेक स्थलों पर पाई जाती है। अत: इस कृति को "अस्यां सन्ति समे गुणा:" का गौरव प्राप्त करने का पूरा अधिकार है।

कहीं-कहीं किसी-किसी को यतिभङ्ग-दोष दिखाई दे सकता है। परन्तु लेखक के मत से 'काकली' के प्रतीयमान यतिभंग 'यमाताराजभानसलगा' की परम्परारूढ़ गण-गणना करने वाले उन पिंगलवादियों को ही यतिभङ्ग—जैसे दिखाई देंगे जिन्हें संगीत का ज्ञान बिल्कुल नहीं है। संगीतज्ञ तो पिङ्गलज्ञ होने पर भी इसके तथाकथित यतिभङ्ग से प्रमुदित ही होगा। 'अज्ञानाज्ज्ञानाद्वा व्याकृतिविरुद्धञ्च यद्गदितम्' के 'विरुद्धञ्च' पद में दुराग्रही पिङ्गलवादी यतिभङ्ग दिखलाने की चेष्टा करेंगे। वे अवश्य ही भूल जाएंगे कि वे स्वयं ही 'क्' पर दो मात्राओं के बदले केवल डेढ़ या पौने दो मात्राओं का विराम देकर आगे बढ़ गए हैं, कि उन्हें 'विरुद्धञ्च' को 'विरुद् धञ्च' जैसा पढ़ना चाहिए था, 'रु' की यति संगीतकार को स्वर का सौंदर्योत्पादक

झटका देने, मुरकी लेने का अवसर दे देती है। 'काकली' में जो गिनी-चुनी यतिभङ्ग-प्रतीतियाँ हैं उनका यही रहस्य है। फिर यह भी नहीं भूलना चाहिए कि इसकी रचना 'शिखरिणी—'स्रग्धरा' जैसे शास्त्रीय वृत्तों पर नहीं, सांगीतिक लयों पर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'काकली' एक सर्वगुण-सम्पन्न काव्य संग्रह है। इससे संस्कृत साहित्य की समृद्धि बढ़ी है। बल्कि कहना चाहिए कि इसने दिन-दिन क्षीण और दिग्भ्रान्त होते हु' संस्कृत साहित्य को स्वस्थ बनाकर नव-जीवन और पुनर्विकास की दिशा दी है। इस कथन को साहित्य के मर्मज्ञ विद्वानों की सहमति और समर्थन प्राप्त है। 'सुप्रभातम्' के यशस्वी सम्पादक पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत कहते हैं—

'काकली' शब्दतश्च अर्थतश्च वर्णनीयविषय-वैशिष्ट्येन, रचना-नैपुण्येन नावीन्येन च संस्कृत-साहित्य-संसारे कामपि जागरां जनयेत् समाहरेच्च सहृदय-हृदयानि इति सुदृढोऽस्माकं विश्वासः।

शास्त्री सदन

गया कॉलेज के पश्चिम, गया (बिहार) — ८२३००१

'काकली' का काव्य-सौष्ठव

—डा० श्रीरंजन सूरिदेव

महाकवि जयदेव के, मधुर कोमलकान्त पदावली में रचित 'गीतगोविन्द' जैसे संस्कृत के श्रेष्ठ गीतिकाव्यों की परम्परा में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की 'काकली का अतिशय महत्वपूर्ण स्थान है। गीतकृति काव्यमूल्य की दृष्टि से भी 'गीतगोविन्द' का अनुकल्प है, जो अपने आप में अनुपम और अद्‌भूत हैं। इसमें कवि-मनीषी शास्त्री जी द्वारा स्वकल्पित मात्रिक छन्दों में रचित, भूमिका-भाग के ललित गीतों को मिलाकर; चालीस से अधिक मुक्तक गीत परिगुम्फित हैं और अन्तिम गीत 'वाणी-वन्दनम्' 'पृथ्वी' नामक वार्णिक वृत्त में निबद्ध है। ये सभी गीत भावप्रवण कवि की विभिन्न मनोदशाओं और वैचारिक दृष्टिकोणों के परिचायक हैं। इस गीत-संग्रह में यद्यपि शृंगार एवं शान्त-दोनों प्रकार के रसों का विस्मयकारी विनियोग हुआ है, तथापि मुख्यता शृंगार-प्रधान माधुर्य-भावना की ही है। निश्चय ही, संस्कृत-भारती में जयदेव के 'गीतगोविन्द' के बाद गीत-सौन्दर्य-माधुरी की पराकाष्ठा का आस्वादन और अवलोकन यदि अपेक्षित हो, तो शास्त्रीजी की 'काकली' के काव्य-सौष्ठव का अनुशीलन आवश्यक है।

'काकली' की काव्यभाषा कल्पना, प्रतीक, बिम्बविधान और सौन्दर्य की दृष्टि से ततोऽधिक समृद्ध है। इसकी लावण्यमयी पदशय्या में निहित अपूर्व लालित्य सातिशय हृदयहारी है, और कहना न होगा कि इसकी कोमलकान्त पदावली तो कहीं-कहीं 'गीतगोविन्द' को भी अतिशायित करती है। निश्चय

ही, 'गीतगोविन्द' के गीतों से अभिनव जयदेव शास्त्रीजी की 'काकली' के गीतों का तुलनात्मक अध्ययन एक स्वतंत्र अध्ययन का विषय है।

पद-लालित्य और संगीतमयी गीतशैली की नवीन रूप प्रतिष्ठा के विचार से 'काकली' का काव्य गौरव विशेषतः उल्लेखनीय है। इस काव्य के गीतों में ललित छन्दों और कमनीय पदों का ऐसा कान्त संयोग हुआ है कि उनके पाठ मात्र से ही सहृदय-हृदयों में तदनुरूप रस का समुद्भावन होने लगता है। संगीतात्मकता शास्त्रीजी के गीतों का प्रमुख गुण है। इसके अतिरिक्त शृंगारभावना की अनुभूतिपूर्ण अभिव्यक्ति, रागविशेषयुक्त आत्मनिष्ठ; वैयक्तिकता, संवेदनशीलता, भावातिरेकता, चित्रात्मकता, संक्षिप्तता, मार्मिकता एवं अन्तर्वृत्ति की प्रधानता आदि गीतिकाव्योचित अनेक गुण 'काकली' में समाविष्ट हैं।

कला की दृष्टि से 'काकली' के गीतों में अभिनव ग्रथन-कौशल का विन्यास अतिशय स्मरणीय है, साथ ही विभाव-पक्ष, अर्थात् रसभाव की उद्बोधक स्थिति भी बड़ी पुष्ट है। फलतः, आलम्बन और उद्दीपन, इन दोनों दृष्टियों से रचना-प्रक्रिया में विशेष प्रकार की ताजगी महसूस होती है। शास्त्रीजी ने उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत दृश्य जगत को ही समष्टि रूप में प्रधानता दी है। आलम्बन की स्पष्टता या लौकिक आलम्बन को लौकिक रूप में ही दिखाने की प्रवृत्ति इनकी एक रचनागत विशेषता है। इसलिए, अव्यवहित रसबोध 'काकली' के गीतों का विशिष्ट गुण है। कुल मिलाकर, इस काव्य-रचना में कलापक्ष और भावपक्ष दोनों की ही रुचिरता और प्रौढता सन्निविष्ट है।

'काकली' में आकलित शास्त्रीजी के सभी गीत आत्मनिष्ठ वैयक्तिक अनुभूतियों से संवलित हैं। आत्मानुभूति की अधिकता के कारण इन गीतों में अन्तःसौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण की चेष्टा सातिशय सफल रही है, साथ ही इनमें रुप-सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य और भाव सौन्दर्य के साथ-साथ अन्तः-सौन्दर्य या आत्म-सौन्दर्य को भी मूल्य दिया गया है। फलतः, ये सभी गीत नन्दतिक बोध से परिपूर्ण हैं और सुरक्षित चारुता या रमणीयता इनके अप्रस्तुत-विधान की सर्वोत्तम विशेषता है। इस सन्दर्भ में 'कल्लोलिनीम्प्रति, शीर्षक से गँगा के अभिराम वर्णन का एक अंश द्रष्टव्य है :

> चन्द्रशेखरस्यास्य गिरीशस्यासि प्रिया सानन्दे !
> पदद्वन्द्वमरविन्दमहन्ते मन्दं मन्दं वन्दे।
> गिरेस्तुङ्गशृङ्गादवतीर्णायास्ते गुणाः प्रियाः कति !
> शङ्करजीवनाधारभूते पूते हे नूतनपार्वति !

कृष्णादतिकठिनादस्माज्जाता गौरी सुकुमारी ;
द्योत: परितो हरितो राजति सहृदयहृदयबिहारी ।
क्रीडति सलिलेऽमले सलीलं कमनीयाकृति करिणी ;
मन्दं विहरत्युपपुलिनन्ते मनोहारिणी हरिणी ।
मृगमृगेन्द्रयोस्त्वज्जलपानात्पूतप्रीतिरादरिणी ;
परिमलविमलशीतलाङ्गि यं जयति वने निर्झरिणी ।

× × ×

चम्पकचन्दन चारु-पटलपाटलदलनीलनिकुञ्जम् ;
सरससैकते ते सुकुमारि ! विलोल-बालतृणकुञ्जम् :
चञ्चलकिरणा अरुणदिनमणेस्त्वयि नृत्यन्त्यभिरामा: ;
पद्मरागमणिजटितपटविभा: धत्से ललितललामा: ।

यह सम्पूर्ण गीत उपकरण की दृष्टि से वैविध्यमय है, किन्तु एकाधिक आवृत्तियों के बावजूद इनके अप्रस्तुतों का आस्वादन चर्वितचर्वण या पिष्ट-पेषण नहीं है। कारण, शास्त्रीजी ने सादृश्य, साधर्म्य तथा प्रभाव-साम्य के सहारे अप्रस्तुत-योजना की मार्मिकता को संवर्द्धित करने की सतत प्रचेष्टा की है। फलत:, लाक्षणिक और व्यंजक पदों द्वारा सृष्ट एक ही भावचित्र की एकाधिक आवृत्ति, अप्रस्तुत-योजना की रोचक भिन्नता के कारण इस गीत में सौष्ठवहीन और एकरस नहीं हो पाई है, अपितु गंगा-तरंग के विविध रूपों के अप्रस्तुत अपने में क्षण-क्षण नवीन अर्थवत्ता और रमणीयता को समाहित किये हुए हैं।

अप्रस्तुत योजना अन्योक्तियों की विशिष्टता के समकक्ष होती है। अन्योक्ति में अप्रस्तुत पक्ष की प्रधानता रहती है तथा अप्रस्तुत अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है। उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्तियों में 'कलिका', जिसका वर्णन प्रस्तुत विषय है, प्रधान नहीं; बल्कि परब्रह्म की मोहिनी माया के पक्ष में किया गया अर्थ, जो अप्रस्तुत है, मूलत: प्रधान और अभिप्रेत हैं :

मञ्जुनिकुञ्जेऽस्मिन् गुञ्जद्भृङ्गाङ्गानङ्गितकाया ;
किमसि महीयसि, परब्रह्मणो मनोमोहिनी माया ।

इस अवतरण में 'कलिका' के 'गुञ्जद्भृङ्गाङ्गानङ्गितकाया' विशेषण में अमूर्त्त को मूर्त्तित करके भाव की प्रत्यग्रता को हृदयावर्जक परिदीप्ति प्रदान की गई है। कहना न होगा कि इस प्रकार के अनेकानेक अप्रस्तुतों के प्रयोग-पाटव द्वारा 'काकली' के गीत अत्यन्त प्रभास्वर हो उठें हैं, फलत: गीतगत वर्ण्य वस्तु अत्यन्त ही अर्थगर्भ और चित्त-ह्लादक बन गई है।

'काकली' की अलंकार-योजना उसके कलापक्ष को अतिशय महार्घ बनाती है। ज्ञातव्य है, काकली में रस-परम्परा और अलंकार-परम्परा, दोनों का मणिप्रवाल-संयोग हुआ है। शास्त्रीजी द्वारा प्रस्तुत की गई अलंकार योजना केवल उक्ति-चमत्कार ही नहीं उत्पन्न करती, अपितु रसानुभूति में भी सम्यक् योग देती है। सहृदय-हृदय की उद्दीप्त वृत्तियों को अन्वित करने में अलंकार महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं और इसी अन्विति की स्थिति में, रसानुभूति में अपेक्षित तीव्रता तथा गम्भीरता का आधान होता है। साधर्म्य या सादृश्य, वैधर्म्य या वैषम्य; आतिशय्य, औचित्य-वक्रता, चमत्कार आदि अलंकार के व्यावहारिक आयामों की मनोरमता 'काकली' के गीतों में पदे-पदे दृष्टिगत होती है।

'काकली' के गीतों में रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। रूपक की योजना तो सर्वाधिक है। उपमेय कलिका के लिए गन्धमृगी का उपमान कितना सार्थक है !

गन्धमृगीव निजाङ्गसुगन्धौ भ्रान्ता किं वनबाले ! (कलिके !)

—जिस प्रकार गन्धमृगी अपने ही नाभिकोष में सुरक्षित गन्ध को सूँघने के निमित्त मुग्धतावश वन-वन भटकती है, उसी प्रकार वनबाला कलिका अपने पंखुरी-कोष में सुरक्षित गन्ध को न जानकर भ्रान्त है। पुनः कलिका की गन्धमृगी के रूप में उत्प्रेक्षा और फिर कलिका में वनबाला का रूपारोप,—इस प्रकार उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा तीनों का बीजात्मक सांकर्य अलंकारों की त्रिवेणी की तरह अतिशय हृदयाह्लादक बन गया है।

उपमा का ही एक और चित्त-चमत्कारी उदाहरण द्रष्टव्य है : दीपक की बाती को उकसाने का प्रसंग है। दीपक नये कवि के समान है : दीपक की बाती को उकसा देने से वह जिस प्रकार ज्योति फैलाता है, उसी प्रकार हितैषियों द्वारा उत्साहित नया कवि अपनी रचना-प्रतिभा से लोकजीवन को उद्भासित करने में समर्थ होता है :

वर्तिकयाऽसि कयापि वर्द्धितस्तेन भासयसि लोकम् ;
उत्साहितो हितैषिभिर्नवः कविरिव प्रतिभाऽऽलोकम्। (दीपकः)

इसी प्रकार सांगरूपक के भी कतिपय हृदयविमोहक उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

कुवलयकिसलयसुकुमारं नीहारहारहरधवलम्।

× × ×

बालकुरङ्गापाङ्गतरङ्गायासितशम्पाकम्पा ।

× × ×

कमलदलायतनयनं कृतरुचिचयनं बिलोक्य गोविन्दम् ।

(गोविन्दगानम्)

तव नवलावण्याम्बुधिसलिले लवलीलया विलीनः ।

दोलाकालविलोलापाङ्गो मे चञ्चललोचनमीनः । (दीनो मीनः)

इसी प्रकार, समासबहुला गौडी शैली में संगुम्फित श्लेष, अनुप्रास, और यमक या पुनरुक्तवदाभास से आवलित एवं अनुरणित कतिपय सन्दर्भ शास्त्रीजी की विस्मयजनक कारयित्री प्रतिभा के सयुक्तिक विनियोग के परिचायक हैं :

कोमलकिसलयकुसुमाकलितकदम्बकदम्बघनम् ।

....

कमलाकरकमलामोदितकमलाकरकमलं कमलम् ।

× × ×

कोकिलकललापेङ्गितनृत्यन्मञ्जुमञ्जरीपुञ्जम्,

गुञ्जच्चञ्चुरचञ्चरीकसञ्चयसञ्चारितकुञ्जम् ।

(गोविन्दगानम्)

चन्द्रचारुतरचन्द्रिकाचलाचलविलोचनचकोरसोदरः ।

(कविताकल्लोलिनी)

लीलालोलविलोचनललितालिलितविलासविलोल !

× × ×

कोमलकमलकलापकलितकलसलिलसलीलसमीर !

(अधिकालिन्दीकुलम्)

सरससमीरसमीरितनवनवपल्लवपूतगले !

धीरकीरकिर्मीरितलतिकावलिबलिते चपले !

लोकितकण्ठीरवसहकृतिविज्ञातहृदयतलवले !

'झर-झर' ध्वनिभरनिर्झरकैतव ततलावण्यजले !!

(वनीम्प्रति)

'काकली' के गीतों में, वैधर्म्यमूलक अलंकारों में 'विरोध' या 'विभावना' की योजना भी बड़ी चमत्कार पूर्ण है । इस अलंकार-योजना से शास्त्रीजी ने व्यथा-वैचित्र्य के विधा-वैविध्य के साथ निरूपण में सहायता ली है । उदाहरण के लिए :

स्थावरमपि जङ्गमयति, गमयति, नमयति स्वातन्त्र्य-लताम् ।
हन्त ! सन्तमपि चलयति, कलयति, मार्गे मनोऽपि चलताम् ॥
(व्यथा-कथा)

हन्त विप्रयोगे जलदः पातयति तप्ततरतैलम् ।
शीतलतमोऽप्यसौ सुधाकरः कुरुते ज्वलनचरित्रम् ॥
(भ्रमरगानम्)

अर्थान्तरन्यास अलंकार योजना के क्रम में 'काकली' की नीति-सूक्तिसिक्त भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का भी मणिकांचन संयोग हुआ है। एक-दो उदाहरण—

ज्वलयसि ! मुखे रामनाम पार्श्वे च करोष्यसिसङ्गम् । (दीपकः)
(मुँह में राम बगल में छूरी)
कलधौते सौरभ्यं स्यात् । (गोविन्दगानम्)
(सोने में सुगन्ध ।)
काका लाल्यन्ते हन्यन्ते कलकीराः । (पीयूषलहरी)
(कौए को दुलार, सुग्गे को मार ।)

'काकली' संस्कृत-भाषा में निबद्ध छायावादी गीतों का संकलन है। प्रायः सभी छायावादी कवियों की तरह शास्त्रीजी ने भी अपने कथन को अधिकाधिक प्रभावशाली और रमणीय बनाना ही अपनी रचना प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य माना है, केवल अलंकारों का शास्त्रीय नियम-निर्वाह करना नहीं। फिर भी, 'काकली' की रचना में अलंकार-योजना की शास्त्रीयता अधिक मिलती है।

भाषिक समृद्धि की दृष्टि से 'काकली' के गीतों का उल्लेखनीय महत्त्व है। इसीलिए, इनमें रसपेशल श्रुतिमधुर शब्दों और व्यजनागर्भ विशेषणों का प्रयोग-प्राचुर्य सुलभ है। व्यंजनागम्य विशेषणों से गीतों में अप्रतिम सौन्दर्य का विनिवेश हुआ है। 'वाणीमदीनां', 'उद्दामकाम', चन्द्रमतन्द्रम्', 'तुङ्गतरङ्गैः' 'मञ्जुनिकुञ्जे', 'अधीरामोदो', 'तरल गरलम्', 'स्वप्नो विरहाशंसी', 'विद्वत्ता स्थिरभावा', 'सङ्गीत-वल्लभा मनुजजातिः, सदयं सलिलम्' भृकुटिलता-शीतले तले', 'मञ्जुललोचननीडे', 'स्खलिता वाणी', इत्यादि ऐसे ही व्यंजनागत विशेषण हैं, जो साभिप्राय होने के कारण पद की आर्थिक छटा को बढ़ा देते है।

शास्त्रीजी मूलतः संस्कृत-वाङ्मय के धुरिकीर्त्तनीय अधीती मनीषी हैं, इसलिए उनकी 'काकली' के यथासंकलित गीतों के छान्दस संस्कार पर सहज ही प्राचीन संस्कृत-काव्यों का प्रभाव है। फलतः इन गीतों के छन्दों में ध्वनि-

मैत्री और मात्रा-मैत्री का श्लाघनीय समन्वय हुआ है। यद्यपि छन्दों में समृद्ध विविधता नहीं है, सभी छन्द आपस में मिलते-जुलते से हैं और एकास्वाद भी हैं तथापि गीतों की गेयता के निर्वाह के प्रति गीतकारोचित जागरूकता सर्वत्र परिलक्षित होती है। शास्त्रीयता की अभिरुचि के प्रति आग्रही शास्त्रीजी की रचनागत वह विशिष्टता रेखांकित करने योग्य है कि इन्होंने छन्दों के मूर्त्ति-भंजक आन्दोलन को कदापि मूल्य नहीं दिया और प्रारम्भ से आज तक यह केवल छन्दोबद्ध काव्यरचना की कारयित्री प्रतिभा का विस्मयकारी प्रदर्शन अखण्ड रूप से करते आ रहे हैं। 'काकली' से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीजी संस्कृत में मात्रिक और वार्णिक दोनों प्रकार के छन्दों की रचना में एक समान दक्ष हैं। शास्त्रीजी ने अपनी सम्पूर्ण काव्य-रचना-प्रक्रिया में प्रयुक्त छन्दों में भावों की अनुरूपता और रसात्मकता को महत्त्व दिया है। इसके अतिरिक्त, इनमें प्रसंगानुसार रसात्मक दृष्टि से भावों को उन्नीत और उदात्त करनेवाले मनोरम छन्दों के निर्वाचन और निर्माण की अद्‌भुत क्षमता है। 'काकली' के गीतों में भावानुरूपता के साथ तालबद्धता का निर्वाह मनोमुग्धकर ढंग से किया गया है। कहना न होगा कि 'काकली' के मोहक गीतों की छन्दोरचना प्रक्रिया और उसकी काव्यभाषा स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। सचमुच, शास्त्रीजी का यह काव्य उपकरणों के वैविध्य की दृष्टि से ततोऽधिक समृद्ध है।

शास्त्रीजी की 'काकली' के गीतों का वर्गीकरण कई रूपों में सम्भव है। इनमें कतिपय रूपक-गीत हैं तो कतिपय प्रतीक-गीत। इसी प्रकार कुछ निवेदन-गीत या वन्दना गीत हैं, तो कुछ प्रकृति-गीत। इनके अतिरिक्त, स्मृति-गीत, विषाद-गीत और करुण-गीत भी हैं। स्मृति-गीतों में 'भग्नावशेषः' 'सुलोचना' (अपने समय की प्रसिद्ध चित्र-तारिकाओं की सम्राज्ञी) आदि; विषाद-गीतों में 'विरह', व्यथाकथा' आदि करुण-गीतों में 'दीनो मीनः', 'रुदिनम्' आदि; प्रकृति-गीतों में विहङ्गमबाला' 'सन्ध्या', 'कलिके !', 'वनीम्प्रति', कल्लेलिनीम्प्रति' आदि; निवेदन या वन्दन-गीतों में 'भारती वसन्तगीतिः', वाणीवन्दनम्', 'गोविन्दगानम्' आदि; इसी प्रकार रूपक और प्रतीक-गीतों में 'कादम्बिनीम्प्रति', रहस्यमयी' तथा 'गीतम्' शीर्षक से युक्त कतिपय गीत अवश्य ही ततोऽधिक मार्मिक हैं।

'काकली' के स्मृति-निर्भर गीतों में प्रकृति ने प्रायः उद्दीपन-विभाव का काम किया है: चित्रमयी भाषा में संगीतात्मक अभिव्यक्ति 'काकली' के गीतों का निजी वैशिष्ट्य है, जिनमें विशेष्य और विशेषण की विच्छित्तिमूलकता

का यथेच्छ आधान सुलभ हुआ है। पारम्परिक बिम्बों के ग्रहण और नवीन बिम्बों के विशिष्टीकरण से प्रतीकों की सृष्टि में शास्त्रीजी की कलाकारिता निस्सन्देह, अतिशय श्लाघ्य है। कहना न होगा कि 'काकली' के गीतों में समेकित रूप से लोकजीवन के प्रति रचनाकार की मन:स्थिति की विशिष्टता, अनुभूति की गहनता तथा चिन्तन की तन्मयता की सशक्त भूमिका दृष्टिगत होती है। साथ ही, ध्वनिप्रतीक के ऐसे रुचिर प्रयोग मिलते हैं, जिनकी उत्कृष्टता देखते ही बनती है। जैसे—

'झर-झर' ध्वनिभरनिर्झरकैतवतत-लावण्यजले। (वनीम्प्रति)

× × ×

आलि! ललितललितं शृणोमि मधुकरमदमञ्जुलगुञ्जम्

× × ×

कलकलरवेण पुण्येऽण्ये कान्तकथा: कथयसि का: ?

(कल्लोलिनीम्प्रति)

छायावादी कवि संवेदनशील होते हैं और उनका काव्य मुख्यत: संवेदनाओं पर निर्भर रहता है। और, संवेदनाओं पर आधृत जीवन, निश्चय ही, असन्तोष पूर्ण हुआ करता है। संवेदनशीलता और भावुकता के कारण ही छायावादी कवियों पर परिवेशगत प्रतिक्रिया और राग-विराग का मृदुल स्पर्श भी तत्क्षण प्रतिबिम्बित हो जाता है। यह कहना अनपेक्षित न होगा कि 'काकली' के गीतों में पदे-पदे शास्त्रीजी की कैशोर्य भावुकता, आशु द्रवणशीलता और वेदना की अतिरंजकता निहित है। सम्प्रति, शास्त्रीजी शास्त्रदीक्षित प्रज्ञा-प्रौढ़ कवियों में कूटस्थ हैं और इनके इस काव्यशास्त्रीय प्रौढिप्रकर्ष का बीजारोपण इनके नवयुवक कवि 'ललितललाम' द्वारा आज से लगभग पचास-पचपन वर्ष पहले लिखी गई रम्यगीत रचना 'काकली' में ही हो गया था। 'काकली' के गीतों में, निस्संदेह एक ओर अष्टादशवर्षीय किशोर कवि या शास्त्रीजी के अपने शब्दों में, 'बालोऽहं जगदानन्द न मे बाला सरस्वती' जैसी उक्ति को चरितार्थ करनेवाले बालकवि 'श्रीजानकीवल्लभ ललितललाम शास्त्री' के भावसिक्त चित्त के परमानन्द का प्रकाश है, तो दूसरी ओर इसके बुद्धिदीप्त चित्त के आत्मानन्द का प्रसार है, जो एक साथ रसबोध और रमणीयता-बोध से संवलित है।

पी० एन० सिन्हा कॉलनी,
भिखनापहाड़ी, पटना–८००००६

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-यात्रा

- उर्वशी की शिल्प-संरचना
- श्यामा संगीत का स्वर-संधान
- राधा : विश्व-साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि
- आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता के प्रगतिशील आयाम
- आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-यात्रा

● डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

उर्वशी की शिल्प-संरचना

● डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

कथ्य, संगीत, नाटकीयता, कविता सभी से मिश्रित संगीतिका साहित्य का एक अंग है, जिसका सौन्दर्य–निर्वाह एक सिद्धहस्त कलाकार ही सफलता-पूर्वक कर सकता है। 'पाषाणी', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की पाँच संगीतिकाओं का अपूर्व संग्रह है। इसी में 'उर्वशी' का संकलन किया गया है।

आलोच्य संगीतिका में चार दृश्य रखे गये हैं। प्रथम दृश्य में अप्सरा उर्वशी का हरण कर असुर का पूर्व–उत्तर दिशा में ले भागना और उसी काल उर्वशी की सखियाँ (सुकेशी, मेनका, चित्रलेखा, रम्भा) की पुकार सुन राजा पुरूरवा का प्रवेश और अन्य अप्सराओं से उर्वशी के हरण की बात जान उसे मुक्त करने के लिए चलना अंकित है। चित्रलेखा नारी–स्वभाव के अनुसार भयभीत होती है कि असुर न जाने क्या कर बैठे—परन्तु सुकेशी, जिसे पुरूरवा के चरित्र, शक्ति और तेज पर विश्वास है, अन्य सखियों को धैर्य बंधाती है—

[चित्रलेखा !]
तेरी शंका निर्मूल, प्रीति से कातर तू।
होती पुरूरवा पर भी तुझे प्रतीति नहीं ?
बाहुबल, मनोबल और आत्मबल का सागर;
सीमित मति से तू है असीमता माप रही।

तभी पुरूरवा असुर को परास्त कर, उर्वशी को मुक्त कर, उसकी सखियों के पास पहुँचा कर लौटना चाहते हैं; परन्तु रम्भा, मेनका आदि कृतज्ञ-भाव से विनम्रतापूर्वक उनसे कुछ क्षण विश्राम करलेने तथा "नर-असुर-

संग्राम" की कथा कहने का आग्रह करती हैं। पुरूरवा की महानता उस समय देखने को मिलती है जब वे सरलता से कहते हैं—

कुछ नहीं : मैंने किया क्या ? मानवोचित कर्म
आर्त का हो त्राण—राजा का यही तो धर्म !
× × ×
असुर को मारा, तुम्हारा वचन, सुर का कार्य—
हो गए पूरे, विदा दो,.... ....

और पुरूरवा प्रस्थान कर जाते हैं।

द्वितीय दृश्य में अप्सराओं का परस्पर वार्त्तालाप और उर्वशी के पुरूरवा के वियोग में उत्पन्न विरह का वर्णन है, जिसमें उर्वशी विरहदग्ध, उदास और मौन है, उसकी सखियाँ उससे विनोद करती हैं, छेड़ती हैं और उसकी दशा पर चिन्ता प्रकट कर वे सभी उससे (उर्वशी से) एक प्रेम-पत्र लिखवा कर पुरूरवा के पास भेजने का निश्चय करती हैं। इस दृश्य में मधुर और काव्यात्मक गीत भरे हैं।

तृतीय दृश्य पुरूरवा के राज्योद्यान का है, जिसमें राजा और विदूषक प्रातःकाल टहल रहे हैं। विदूषक राजा के कोमल हृदय की प्रेम-भावना से अवगत हो हास्य करता है, जैसा प्राचीनकाल में विदूषक प्रायः अपने आश्रयदाताओं से करते थे। पुनः पुरूरवा से अभय माँग कर वह रंभा द्वारा प्राप्त उर्वशी के प्रेषित पत्र की बात कहता है, जिसे उर्वशी ने राजा के पास विरह से विदग्ध होकर लिखा था और मार्ग में ही महारानी (पुरूरवा की पत्नी) द्वारा पकड़ लिए जाने की बात भी खोलता है। महारानी स्वयं उर्वशी के गीत को विदूषक से लेकर गाने के लिए अपने पास रख लेती हैं। राजा पुरूरवा विदूषक से सारी बातें जान कर, उर्वशी के लिए विकल हो उठते हैं। इसमें ध्यान रखने की बात है कि मनुष्य में उच्चता दिखाते हुए पुरुष पुरूरवा में प्रथमतः उर्वशी के लिए तड़पन तथा विरह नहीं चित्रित किया गया है। दूसरे के पत्र को झपट कर ले लेने की रानी की अशिष्टता पर पुरूरवा नाराज होते हैं। तभी राज प्रासाद के वातायन से रानी द्वारा उर्वशी का प्रणय-गीत गाया जाना महाराज को सुन पड़ता है तथा वे अपने प्रति निवेदित प्रणय (उर्वशी के) से अवगत हो आँसू और विरह-वेदना से भर उठते हैं।

चतुर्थ दृश्य में उर्वशी की पुरूरवा के लिए विरह-व्यथा चित्रित है। साथ ही मेनका उसे सँभालकर, मन पर संयम रखने का आग्रह कर, महर्षि भरत द्वारा आयोजित अभिनय में भाग लेने के लिए रगमंच पर ले जाती है।

अभिनय काल में उर्वशी से नृत्य में ताल और मुद्राओं की गड़बड़ी होती है। कपोतांजलि, शंखचक्र आदि की मुद्राएँ अशुद्ध होती हैं—पद्म तक ठीक नहीं बना पाती। वह नृत्य में समुचित अंग-संचालन भी नहीं कर पाती। इस आचरण से भरत मुनि क्रुद्ध हो उठते हैं। मेनका पैर पकड़ कर उर्वशी के लिए उनसे क्षमा—याचना करती है। किन्तु वे मेनका द्वारा उर्वशी की, मनुष्य पुरूरवा के प्रति, प्रेम कथा जान उसे शाप देते हैं—

कलाकार थी ! अब तू नारी मात्र रहेगी !
स्वर्ग-भ्रष्ट ! तू क्या जाने, क्या भूमि कहेगी !!

क्योंकि उनका मत है—

निर्वैयक्तिक तू क्या होगी ! तू तो बँधती—
ऋद्ध व्यक्ति से, सरस पुरुष से जोड़ा नाता।
भला कला से फिर क्या तेरा आता-जाता !
भोगवादिनी, रूप शरद की धूप नहीं है।
कला देव - अर्चा कि देव यह भूप नहीं है।

और यहीं पर कथा समाप्त हो जाती है। विज्ञ-पाठक जानते हैं 'उर्वशी' का आख्यान ऋग्वेद में संवाद के द्वारा वर्णित है। महाभारत और शतपथ ब्राह्मण में भी यह प्रसग आया है। महाभारत में उर्वशी सौन्दर्य और कला की अधिष्ठात्री अप्सरा है जिसे तपभंग के लिए साधन रूप में ग्रहण किया जाता है।

सौन्दर्यशील कवि कालिदास में पुरूरवा और उर्वशी की प्रेम-लीला तथा पुरूरवा का बिरह द्रष्टव्य है। वहाँ उर्वशी प्रेम के संयोग-वियोग की कलात्मक तीव्रता प्रदर्शन करने वाली लोकोत्तर नायिका के रूप में है। उनमें मध्य-कालीन सौन्दर्य-चेतना है, जो तदयुगीन कला-अभिव्यक्ति में प्राप्त है। कालिदास कृत "विक्रमोर्वशीयं" में मेनका, रंभा, चित्रलेखा के साथ सहजन्या आयी है परन्तु शास्त्री जी ने सहजन्या के स्थान पर सुकेशी को रखा है। प्रसंगवश हम कालिदास की उक्त रचना और शास्त्री जी की संगीतिका "उर्वशी" के परस्पर साम्य और विभेद पर भी दृष्टिपात करेंगे।

कालिदास में हिरण्यपुरवासी केशी दैत्य को परास्त कर लौटते समय ही पुरूरवा एक सामान्य रूपासक्त राजा की तरह उर्वशी के प्रति आकृष्ट होते हैं। मूर्च्छा टूटने पर उर्वशी पुरूरवा को देख तथा उनके किये उपकार से उपकृत हो उन पर मन-ही-मन मुग्ध हो जाती है और दोनों में स्नेहपूर्ण

बातें भी होती हैं। उसी समय गन्धर्वराज चित्ररथ, जो इन्द्र द्वारा भेज गये हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं क्योंकि उर्वशी-हरण तथा उद्धार की सूचना उन्हें (इन्द्र को) मिल चुकी है और पुरूरवा के उपकार से दब कर वे अपने यहाँ उन्हें आमन्त्रित करते हैं। परन्तु पुरूरवा इन्द्र के पास जाने का उपयुक्त समय न मान, मात्र उर्वशी आदि को उनके साथ भेज देते हैं। उसी समय उर्वशी की माला लता में फँस जाती है और चित्रलेखा उसे छुड़ाती है। राजा और उर्वशी परस्पर प्रेम की तृष्णा से भर कर एक दूसरे को देखते हैं। फिर उर्वशी चली जाती है। शास्त्री जी ने प्रथम दृश्य में न चित्ररथ आदि को बुलाया है, न इन्द्रतक तुरन्त सूचना पहुँच जाने की बात उपस्थित की है। पुनः पुरूरवा का प्रेम भी उस स्थल पर कर्त्तव्य और संयम में बँधा रहता है और तृष्णा का संकेत भी नहीं मिलता। पुरूरवा उर्वशी को उस समय मूर्च्छित दशा में ही सखियों के बीच छोड़ कर चले जाते हैं। यहाँ प्रेम की मर्यादा है। शास्त्री जी के पुरूरवा द्वारा उक्त स्थल पर जरा भी प्रेम व्यक्त नहीं होता—कर्त्तव्य की रक्षा ही ऊर्ध्वमुखी प्रकृति है।

कालिदास के द्वितीय दृश्य में महारानी का, विरही राजा पुरूरवा की अन्यमनस्कता से चिन्तित हो, विदूषक के पास अपनी सखी निपुणिका का भेजना वर्णित है, जो उसके (विदूषक के) पेट से सारे रहस्यों को जान महारानी तक सूचना देती है। इसमें विदूषक चतुर एवं हँसोड़े से अधिक मूर्ख और नादान ही मालूम पड़ता है। शास्त्री जी ने यहाँ कथा में अन्तर रखा है। उनमें रानी की चिन्ता और विदूषक द्वारा रहस्योद्घाटन नहीं है। पुरूरवा को कभी कर्त्तव्य-विमुख और अन्यमनस्क भी नहीं दिखाया गया है। साथ ही, विदूषक से उर्वशी के पत्र-प्रेषण की सूचना मिलने के पूर्व पुरूरवा के मन में बसे उर्वशी के प्रति प्रेम की सूचना भी नहीं मिलती।

तृतीय दृश्य में कालिदास राज्योद्यान में पुरूरवा और विदूषक का वार्त्तालाप उपस्थित करते हैं, जिसमें वे उर्वशी के अलौकिक रूप तथा अदृश्य होने की बातें कहते हैं। उसी काल विकल उर्वशी चित्रलेखा के साथ "तिरस्करणी विद्या" के प्रभाव से अदृश्य होकर विरह-व्यथित राजा की बातें सुनती है और उनका प्रेम अपने प्रति जान कर प्रसन्नता से भर उठती है। वह दृश्यवान न होकर अपना प्रेम भोजपत्र पर लिख कर राजा के निकट गिरा देती है। राजा उसे पढ़ कर हर्ष से रोमांचित हो उठते हैं। फिर उर्वशी की बात मानकर चित्रलेखा राजा के सम्मुख प्रकट हो जाती है और

पुरूरवा के उर्वशी के विषय में पूछने पर उर्वशी भी माया का आवरण हटा कर प्रकट हो जाती है। तभी आकाश से देवदूत आकर भरत मुनि द्वारा रचित नये नाटक, जिसे इन्द्र-लोकपालों के साथ देखने वाले हैं; में भाग लेने के लिए, बुलाने आते हैं। चित्रलेखा राजा से उर्वशी और अपनी ओर से छुट्टी लेकर चल देती है। राजा पुनः विरह से भर उठते हैं। इस प्रसंग को नहीं रखने से शास्त्री जी की कृति में अलौकिकता (जैसे, माया से अदृश्य होने आदि की कल्पना) नहीं आती और कथानक स्वाभाविक और रस-प्रेषण में समर्थ हो गया है। शास्त्री जी की "उर्वशी" में उर्वशी द्वारा प्रेषित पत्र जो उसे राजा तक पहुँचाने को मिला है, चित्रलेखा द्वारा विदूषक के पास पहुँचता है, जिससे पत्र-प्रसंग संक्षिप्तता के साथ अधिक नाटकीय हो गया है। शास्त्री जी के पुरूरवा के पास पत्र नहीं पहुँच पाता, क्योंकि बीच में ही महारानी विदूषक से ले लेती हैं। उर्वशी के पत्र-प्रेषण तथा उसके प्रेम की बात राजा को विदूषक से ज्ञात होती है। परन्तु यह जरूर खटकता है कि जो राजा रानी के विदूषक से पत्र ले लेने पर इसे उसकी (रानी की) अशिष्टता मानते हैं वही विदूषक द्वारा यह सुन कर भी, बाँचता था, नाचता था, क्या कहूँ, था लिखा,—यह विरह अब कबतक सहूँ! किन्तु ···,' चुप क्यों रह जाते हैं—विदूषक पर भी दूसरे के पत्र पढ़ने की अशिष्टता का दोषारोपण क्यों नहीं करते? शायद विदूषक के | अन्तरङ्ग सखा होने के कारण।

कालिदास ने चतुर्थ दृश्य में रानी को, निपुणिका द्वारा राजा का उर्वशी के प्रति प्रेम अवगत ही नहीं कराया, उसका राजा से मिलने जाना दिखाया है, जहाँ मार्ग में उसे विदूषक की गलती तथा असावधानी से उड़ गया **उर्वशी** का पत्र मिलता है। उस पत्र को देख रानी कुपित और दुःखी होती है और राजा से मिलकर भेद खोलती है। राजा रानी का पैर पकड़ कर क्षमा माँगते हैं। परन्तु रानी निपुणिका के साथ भारी मन लौट जाती है। कालिदास में विदूषक के हाथ से पत्र का उड़ कर कहीं चला जाना और बहुत खोजने पर भी न मिलना तथा रानी को मार्ग में प्राप्त हो जाना भयानक रूप में खटकता है। शास्त्री जी ने इस प्रसग को संशोधित ढंग से उपस्थित किया है। इसमें (उर्वशी में) विदूषक से रानी का पत्र ले लेना अधिक स्वाभाविक और सफल ढंग है। महारानी भी अधिक गौरवशालिनी तथा संयमी है, जो उर्वशी के पत्र को देख कर जरा भी आक्रोश नहीं प्रकट करती, वरन् उर्वशी की प्रेम-पंक्तियों को गाती है, जिसे (आवाज को) वातायन से छन कर आने के कारण राजा सुन लेते हैं। रानी द्वारा उर्वशी के ही गीत गाने में उसकी अपनी

व्यथा तया प्रणय-निवेदन प्रकारान्तर से अभिव्यक्त है। निश्चय ही, शास्त्री जी के संयोजन में अधिक सशक्तता और कलात्मकता है। कालिदास में पुरूरवा रानी के सम्मुख झूठी क्षमा-याचना करते हैं, परन्तु आदर्शवादी, कर्त्तव्यपरायण नृपति के योग्य शास्त्री जी ने चरित्र का निर्वाह करते हुए इस प्रसङ्ग को दूसरे ढंग तथा स्वाभाविक रूप में रखा है और राजा की झूठी क्षमा-याचना का प्रसंग भी हटा दिया है।

दूसरे दृश्य में भरत मुनि की देख-रेख में "लक्ष्मी-स्वयंवर" रूपक अभिनीत होता है (शास्त्री जी ने भी यह प्रसंग रखा है)। कालिदास की उर्वशी सुन्दर नृत्य और अभिनय प्रस्तुत करती है। उसी समय वारुणी रूपी मेनका रूपक में ही लक्ष्मी रूपी उर्वशी से पूछती है—"लक्ष्मी वह देखो, केशव के साथ त्रिलोक में श्रेष्ठ लोक-पालगण यहाँ बैठे हैं। बताओ तो तुम्हारा हृदय किसकी ओर आकृष्ट हो रहा है।" उर्वशी पुरूरवा के प्रति उन्मत्त और प्रेमासक्त होने के कारण अभिनय में दी गयी शिक्षा के अनुसार पुरुषोत्तम का नाम न लेकर पुरूरवा का नाम ले बैठती है। सहसा रसभंग होने के फलस्वरूप भरत मुनि क्रुद्ध होकर उसे शाप देते हैं कि तुमने उपदेश का पालन नहीं किया, इसलिए देवलोक में तुम्हारा स्थान नहीं रहेगा। शास्त्री जी ने इस शाप को दूसरा रूप दे दिया है। यहाँ भरत मुनि ने शुद्ध कला में वासना और भोग को बुरा मान शाप दिया है, क्योंकि वासना और भोग से आक्रान्त हो उर्वशी की कला दोषपूर्ण हो जाती है—कला साधना विकृत हो जाती है। शाप के बाद कालिदास में विघ्नहीन नाटक सम्पन्न होता वर्णित है, जो खटकता है। इतनी बड़ी दुर्घटना हो जाय और फिर नाटक विघ्नहीन कैसे चल सकता है? उर्वशी क्या पत्थर थी, जो शाप से विचलित एवं भयाक्रान्त नहीं हुई? उसने क्षमा-याचना भी नहीं की। उसके हितैषी भी उसकी ओर से क्षमा माँगने को प्रवृत्त नहीं हुए। शाप के बाद वह (उर्वशी) कैसे स्थिर रह सकी, नृत्य और अभिनय ठीक से कैसे कर सकी? शास्त्री जी ने उस शाप के बाद संगीतिका को समाप्त कर दिया है और अभिनय में भेद खुलने के पूर्व पुरूरवा के प्रति प्रेमासक्त उर्वशी के नृत्य और अभिनय में दोष दिखा दिया है, जो अधिक उपयुक्त, स्वाभाविक तथा आकर्षक है। फिर उर्वशी के लिए शकुन्तला की तरह ठगी होने पर मेनका द्वारा भरत मुनि से क्षमा प्रार्थना करायी गयी है। साथ ही, शास्त्रीजी ने पुरूरवा-प्रेम का भेद मेनका से ही उर्वशी के नृत्य आदि में त्रुटि से उत्पन्न भरत मुनि के क्रोध के समय घबरा

कर कहलाया है। भोली मेनका सोचती है उर्वशी के सच्चे अपराध को स्वीकार कर लेने पर शायद मुनि करुणार्द्र हो जायँ। शाप देने पर कालिदास ने इन्द्र से ढाढ़स बँधाया है। इन्द्र दया से भरकर उससे कहते हैं कि शाप के फलस्वरूप वह दिव्यलोक छोड़ भूलोक में पुरूरवा की पत्नी बन कर तबतक रहे जबतक राजा को पुत्र का मुँह देखने का सुख न मिले। उर्वशी इसे वरदान समझ चल देती है। शास्त्री जी में थोड़े अन्तर के साथ कथा यहीं समाप्त हो जाती है, परन्तु कालिदास में आगे भी कथा बढ़ती है। शास्त्री जी ने कला के लिए भोगवादी प्रवृत्ति को वर्जित कर कथा को समाप्त कर दिया है। "विक्रमोर्वशीयं" में उर्वशी राजा के पास जाती है, पुत्र उत्पन्न होता है, बहुत दिनों के पश्चात् राजा पुत्र का मुँह देखते हैं, आदि घटनाएँ आगे चलती हैं, जिनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। अन्त में, यही कहा जायगा कि शास्त्री जी में जहाँ यह कथानक दुःखात्मक है, वहाँ कालिदास में सुखात्मक, क्योंकि पुत्र, पति-पत्नी सभी इन्द्र की कृपा से एक साथ मिल जाते हैं।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के पुरुष पुरूरवा प्रमुख रूप में कर्त्तव्य-परायण हैं और विरह का अधिक व्यक्त रूप नारी में ही चित्रित हुआ है। उर्वशी ही अधिक विरह-व्यथा से क्लान्त है। साथ ही गतिशीलता का ध्यान रख आलोच्य कलाकार ने विरह का विस्तार न देकर नाटकीयता का सफल निर्वाह किया है। अधिकतर कवियों ने अपने गीतिनाट्यों में जहाँ गीतितत्त्व के सन्तुलन का समुचित रूप से निर्वाह नहीं किया है, वहाँ शास्त्री जी में इस ओर भी सजगता है और यही कारण है कि आलोच्य रचना कई बार आकाशवाणी से सफलतापूर्वक प्रसारित हो चुकी है। यह स्मरण रखने की बात है कि श्रोता, पाठक एवं दर्शक गीतिनाट्यों एवं नाटकों में व्यवहृत लम्बे-लम्बे वाक्यों और Dialogue से ऊबने लगते हैं। इसलिए उसकी सफलता के लिए छोटे और चुस्त Dialogue आवश्यक हैं। साथ ही, इससे रंगमंच पर प्रवाहपूर्ण अभिनय नहीं हो पाता।

शास्त्री जी ने इस पक्ष पर एक सफल नाटककार की तरह ध्यान रखा है। "उर्वशी" के किसी भी पात्र का Dialogue बड़ा नहीं है, जिससे रोचकता में सतत प्रवाह बना रहता है और दर्शक तथा पाठक धैर्य नहीं खोते—अन्य-मनस्कता का अनुभव नहीं करते।

यह भी ध्यातव्य है कि शास्त्री जी के अन्त्यानुप्रास में भाव-प्रवाह भी आकुलित नहीं होता। वे जो कहना चाहते हैं, उन विचारों की सहज अभिव्यक्ति हो जाती है जिससे पाठकों और दर्शकों को उसमें अधिक रस प्राप्त होता है। एक उदाहरण देखें—

मेनका : क्या ?

बतला दे, तेरे पाँव पड़ूँ।

रम्भा : अब तक थी गले पड़ी, अब कहती पाँव पड़ूँ !

नाट्य-पक्ष का ध्यान रखते हुए शास्त्री जी ने यथासम्भव छोटे-छोटे छन्दों को रखा है—जिसमें वार्त्तालाप की सहजता प्रकट होने के साथ ही पाठकों को रस-व्याघात न हो— वे छन्द के विस्तार में न खोकर भाव की सरस मन्दाकिनी में सहज रूप से बह सकें। यहीं पर यह ध्यातव्य है कि तुक- निर्वाह इतना अधिक रहने के बावजूद कहीं भी अस्वाभाविकता यथा, मैथिली-शरण गुप्त की कुछ रचनाओं अथवा हिन्दी के अन्य संगीतिका-रचयिताओं की तरह तुक्करपन नहीं है, जो शास्त्री जी की सफलता का परिचायक है। उदाहरणस्वरूप "उर्वशी" के द्वितीय सर्ग को देखें।

उर्वशी में शास्त्री जी ने भाव-सबलता तथा गहनता के अनुसार छन्दों का चयन किया है और परिवर्तनशील मनःग्रन्थियों के अनुरूप, प्रवाह वहन करने योग्य उनमें (छन्दों में) परिवर्तन भी किया है। भरत मुनि जब कुपित होते हैं, तो लम्बे वाक्यों में शाप देते हैं—

चरण कहाँ पड़ते हैं, जाते किधर है नयन !
सावधान उर्वशी, आज तू उन्मन-उन्मन ॥
आज कपोतांजलि तक तुझसे नहीं बन रही।
बाँहें लचतीं नहीं, झूलकर तुरत तन रहीं ॥

पुनः जब उत्तर-प्रत्युत्तर चलता है तो उसके लिए छोटे-छोटे छन्द प्रयुक्त हुए हैं :

पुरूरवा : हँस रहे हो इस तरह ! क्या बात है ?

विदूषक : महाराज, रहस्यमय यह प्रात है !

पुरूरवा : क्यों विदूषक, क्या रहस्य तुम्हें दिखा ?

विदूषक : (रहस्यमय हँसी के साथ)

इस कुहासे में नयन-पावक-शिखा !

यहाँ अगर अनावश्यक रूप से लम्बे-लम्बे वाक्य और पद आ जाते तो शिथिलता-दोष उत्पन्न हो सकता था, परन्तु शास्त्रीजी ने यहाँ भी कौशल से काम लिया है।

आलोच्य कलाकार ने प्रस्तुत कृति में भोगवादिनी कला को वर्जित किया है, क्योंकि इसी भोगवादिता के फलस्वरूप उर्वशी को अभिशप्त होकर मानवी रूप ग्रहण करना पड़ता है। भोग और रूप की प्यास जैसे कला की पवित्रता, निष्कलुषता में काले धब्बे बन कर प्रकट होती है— वह कला में "असम" की स्थिति उत्पन्न करती है। भरत मुनि की दृष्टि में उर्वशी की सर्वश्रेष्ठ कला इसी भोग और रूप की दाहक अग्नि में झुलस कर कुण्ठित हो जाती है, उसके नृत्य और अभिनय में दोष आ जाता है, ताल और सम पर कदम नहीं चलते, इसीलिए वे (भरत मुनि) कहते हैं—

यह उभार सौन्दर्य-सार, लावण्य धार यह,
अर्पित यदि न कला को, तब शृंगार भार यह !
स्वस्थ कला के लिए भोग औ' रोग एक ही,
हो अशुद्ध अन्तरा न क्यों, जब विकृत टेक ही !
व्यर्थ रूप-रचना ! धिक्-धिक् पापी सुन्दरता,
अमृत-कला में गरल मिलाने की उर्वरता !

....

भोगवादिनी, रूप शरद् की धूप नहीं है,
कला देव-अर्चा कि देव वह भूप नहीं है !
और—कला-साधना विश्व-प्रकृति की विवृति मात्र है ! !

"उर्वशी" का रचयिता कला के, सौन्दर्य के शुद्ध स्वरूप का समर्थक है। उसका अभिमत है कि कला में वासना बुरी है, शुद्ध शृंगार ही कला की उपासना है, "सत्यं शिवं सुन्दरम्" है ! ',कामायनी" में भी जब वासना और तृष्णा उदित होती है तो मनु भटक जाते हैं— और फिर जब सम की स्थिति आती है तो वे पूज्य हो जाते हैं।

कुछ मनोवैज्ञानिक आलोचक यह प्रश्न उठा सकते हैं कि कला-सृजन एवं कला-निर्माण में वासना की इतनी सूक्ष्म प्रक्रिया रहती है कि कला को उससे मुक्त नहीं माना जा सकता। परन्तु यह वासना भक्त के भगवान से सान्निध्य तथा मुक्ति की है जिसमें पवित्रता है, शालीनता है। साधक साध्य की कामना करता है, जो एक निष्कलुष कामना है, भोगवादिता की प्रवृत्ति नहीं। उर्वशी में यही पवित्र कामना है— भोगवादिता की प्रवृत्ति

नहीं। उर्वशी में यही पवित्रता और कला-साधना विनष्ट हो जाती है। उसमें कला खण्डित हो अपने निखार और श्रेष्ठत्व को विकृत कर दम लेती है— इसीलिए तो उसे शाप भी मिलता है। कालिदास क "अभिज्ञान शाकुन्तलम्" नाटक में शकुन्तला भी अभिशप्त होती है, प्रेम और कर्त्तव्य तथा सामाजिक मर्यादा के संतुलन की अक्षमता उसे समाज के प्रतीक दुर्वासा द्वारा शाप दिला देती है। पुनः जब उसमें सन्तुलन आता है, कर्त्तव्य और प्रेम का मिश्रण हो पाता है तो वह (शकुन्तला) सुख की अधिकारिणी हो जाती है। उर्वशी भी जब लौकिक द्वन्द्वात्मक प्रेम में आबद्ध होती है तो भरत मुनि अभिशाप देकर उसे काव्य की अधिष्ठात्री के पद से वंचित कर देते हैं।

शास्त्री जी सांस्कृतिक चेतना के कलकार हैं। उनकी कला में सांस्कृतिक चेतना का कल-कल निनाद है। "उर्वशी" में भी शास्त्री जी की सांस्कृतिक दृष्टि-चेतना मुख्यतः कार्य करती है। हाँ, यह तो कहना पड़ेगा कि जहाँ बहुत लेखकों ने कला और प्रेम के समन्वय में कला का पूर्ण विकास और सौन्दर्य-निखार माना है, वहाँ शास्त्री जी ने प्रेम को, लौकिक, स्थूल, पार्थिव रूपासक्ति को उसका विरोधी ठहराया है। इस प्रकार स्पिरिट में भी स्पष्ट अन्तर है।

कभी-कभी संगीतिका में संगीत इतना प्रबल हो उठता है कि चरित्र और कथानक गौण पड़ने लगते हैं— या उक्त पक्ष निर्बल दीखने लगते हैं। शास्त्री जी रचित "उर्वशी" में आये प्रायः सभी प्रमुख पात्र थोड़े समय और थोड़े शब्दों में अपना व्यक्तित्व सफलतापूर्वक प्रकट कर देते हैं। आलोच्य कृति में उर्वशी, पुरूरवा प्रमुख हैं, परन्तु छोटे-छोटे चरित्र जैसे— मेनका, रंभा, चित्रलेखा, सुकेशी, विदूषक, महारानी आदि का भी कम शब्दों और कम समय में सहज चित्रण हो गया है तथा उनके स्वभाव, प्रकृति और मनःस्थितियों, प्रवृत्तियों, आचरणों पर प्रकाश पड़ जाता है।

उर्वशी के नाम पर ही आलोच्य संगीतिका का नामकरण किया गया है। कालिदास ने उर्वशी में प्रेमपिपासा तथा अक्षय सौन्दर्य देखा और उसका सौन्दर्यमय बोधगम्य चरित्र उपस्थित किया जो उनकी प्रकृति के अनुकूल था।

सौन्दर्य-चेतना की विश्वव्यापिनी प्रतीक उर्वशी को रवीन्द्रनाथ ने अक्षय यौवनवती स्वीकार करते हुए लिखा है—

कुन्दशुभ्र नग्नकान्ति सुरेन्द्र वन्दिता,
तुमी अनिन्दिता।

कोनो काले छिले नाकि मुकुलित बालिका बयसी

हे अनन्त यौवना उर्वशी ।

"उर्वशी" पर रवीन्द्रनाथ की एक विस्तृत और महत्त्वपूर्ण कविता है, परन्तु यहीं पर मैं स्पष्ट कर दूँ कि रवीन्द्रनाथ की उर्वशी Swinburn के 'Birth of Aphrodite' से साम्य निर्वाह करने वाला है और बहुत अशों में उसका प्रभाव भी रवीन्द्रनाथ पर स्पष्ट है। कई स्थलों पर तो रवीन्द्र में Swinburn की पंक्तियों का अनुवाद भी दीख पड़ने लगता है। यह सत्य है कि रवीन्द्रनाथ के भावों का विपर्यय उपस्थित हो गया है। मन्मथनाथ गुप्त ने (बँगला के आधुनिक कवि पुस्तक) इसका कारण विदेशी प्रभाव, आदर्श, सौन्दर्य और कामना का समन्वय ही माना है। शास्त्री जी की उर्वशी पर ऐसा कोई बाह्य प्रभाव नहीं है। वह सौन्दर्यमयी नारी ही अधिक दीखती है। उर्वशी के रूप पर प्रकाश डालती हुई मेनका बोलती है—

यह बिम्बाधर ! यह खिलती-सी मुसकान मधुर !

यह कुन्द-दन्त की तड़ित-कौंध ! यह सुर-धनु शर !!

ये कर्ण स्वर्ण-कुण्डल-मण्डित ! यह कण्ठ कम्बु !

सौन्दर्य-सरोवर का सौरभमय विकल अम्बु ॥

भरत मुनि भी जब उर्वशी के रूप और सौन्दर्य पर प्रकाश डालते हैं उस समय भी उसमें कोई दिव्य शक्ति तथा अपर आत्मा का रूप नहीं मिलता; जिससे मुझे शास्त्री जी की उर्वशी अधिक प्राणपूर्ण लगती है। शास्त्री जी में समुद्र से उत्पत्ति आदि के प्रसंग भी नहीं रखे गये हैं। उर्वशी तो अधिक मानवी बन कर ही हमारे समक्ष उपस्थित होती है।

यहीं पर मैं यह भी कह दूँ कि महर्षि अरविंद के "आपेरा" में उर्वशी मानव-प्रेम को लोकोत्तर एकाग्रता और आनन्द के द्वारा उन्नति कर दिव्य-जीवन (Life Divine) की प्रेरणा जगाने वाली पोषण-शक्ति है। अरविंद की इस कल्पना से शास्त्री जी की उर्वशी का साम्य नहीं बैठाया जा सकता।

पुरूरवा के चरित्र का निर्माण लेखक ने बड़े उज्ज्वल उपकरणों से किया है, जिसमें रीतिकालीन और वासना-प्रधान व्यक्तित्व नहीं है। वे तो "बाहुबल", "मनोबल" और "आत्मबल" के सागर हैं। सर्वप्रथम तो वे हमारे सामने कर्त्तव्यपरायण राजा के रूप में उपस्थित होते हैं। नारी-चीत्कार सुन उसकी (नारी की) रक्षा के लिए उत्प्रेरित हो, अस्त्र-शस्त्र से

सुसज्जित हो असुर-संग्राम के लिए निकल पड़ते हैं। लेखक ने प्रथम दृश्य में उनसे कहलाया है—

रुको देवियो, मैं पुरूरवा मिट्टी का रखवाला,
पर ऊपर भी आ सकता हूँ, शून्य न सहे कसाला !
धरती की सहायता से जो बच सकता है स्वर्ग,
सच मानो देवियों, छोड़ दूँ करतलगत अपवर्ग !

और वे (पुरूरवा) असुर के नारी-अपहरण की बात सुन उसे दुत्कारते हुए कह उठते हैं—

असुर सुर से लड़ मरें, यह ठीक चाहे हो,
पर हरें अबला-जनों को, यह कहाँ का शौर्य ?
वीर तो प्रतिशोध लेता ही विपक्षी से,
पर हरण यह उर्वशी का वीरता या क्रौर्य !

उन्हें यह कर्म घृणित लगता है—

क्या कहूँ रम्भे, हमारी सभ्यता निर्लज्ज,
सहन करती आ रही यह कृति घृणिततर भी !

क्योंकि उनका अभिमत है—

हरण नारी का, यहाँ भी राजनीतिक शोध।
क्लीवता ही वीरता से ले रही प्रतिशोध !!

उनमें आत्म-विश्वास का अक्षय स्रोत है। इसीलिए दर्पयुक्त वाणी में वे कहते हैं—

पर डरो मत, उर्वशी का सुनिश्चित उद्धार !
असुर मानव से लड़े तो जायगा ही हार !

पुनः जब वे असुर को परास्त कर वापस आते हैं तो उस स्थल पर उनका शिष्टाचार और बड़प्पन देखने योग्य है। वे पराक्रम से असुर को परास्त कर देवों का बहुत बड़ा कार्य कर भी, विनम्रता से बोलते हैं—

कुछ नहीं : मैंने किया क्या ? मानवोचित कर्म !
आर्त का हो त्राण, —राजा का यही तो धर्म !

कर्त्तव्य की रक्षा उनका प्रथम सिद्धान्त है। एक आदर्श कर्त्तव्यपरायण-स्वरूप इसमें स्पष्ट रूप से व्यक्त है।

उनमें शिष्टाचार और भद्रता का बड़ा ध्यान पाते हैं। तभी तो रानी के पत्र ले लेने पर वे अत्यन्त दुखी होते हैं। निश्चय ही, पुरूरवा सांस्कृतिक

चेतना से सन्तुलित व्यक्ति जान पड़ते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

क्या कहूँ, उस पत्र में था क्या लिखा!
महादेवी को कि उसमें क्या दिखा!
झपट लेने योग्य कौन विशिष्टता—
थी कि भूलीं अति सहज वह शिष्टता!

साथ ही, वे संयम की प्रतिमूर्त्ति हैं, सामान्य नृपतियों की तरह वासना और कामना के दास नहीं। उर्वशी को मुक्त कर उसे उसकी सहेलियों को वापस कर निर्लोभी पुरुष की तरह, बिना अपनी कुछ कमजोरी प्रदर्शित किये लौट आते हैं। तृतीय दृश्य में भी बिना उर्वशी के प्रेषित पत्र की बात जाने, उर्वशी का नाम मुँह पर भी नहीं लाते, न उसे प्राप्त करने की कोई कामना ही प्रकट करते हैं। सूचना मिलने के पश्चात् ही उनका उर्वशी के प्रति प्रेम प्रकट होता है: उनके हृदय में उर्वशी के लिए बन गये कोमल स्थान का स्पष्टीकरण होता है। परन्तु इसके अभिव्यक्तिकरण में कितना संयम और पवित्रता है, यह ध्यातव्य है, उनके हृदय में प्रेम की स्वाभाविक प्रक्रिया होती है और इसी का आलोच्य रचना में सहज स्वरूप प्रकट है।

वे मानवता के सच्चे आराधक तथा शंखनाद करने वाले पुरुष हैं। प्रसंग-वश कह दूँ कि शास्त्री जी में आस्था और विश्वास की अजस्र धारा है और उसकी जीत की भावना तभी प्रसारित एवं विस्तृत हो सकती है, जब कोई उसका (मानवतावाद का) संबल ले कर्मक्षेत्र में संघर्ष करे। "उर्वशी" में प्रकारांतर से मानवता को देवत्व और असुरत्व से बहुत ऊपर दिखाया गया है। उसमें नारी सम्बन्धी विचार भी कितने उच्च हैं यह उपर्युक्त उद्धृत पक्तियों से स्पष्ट है।

आये दिन आकाशवाणी के केन्द्रों से संगीतिकाएँ प्रसारित होते सुनते हैं तथा पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ते हैं। परन्तु मेरे मतानुसार यह कथ्य उतना सरल और आसान नहीं है, जितना आज के अपनी प्रशंसा के भूखे कविगण समझ बैठे हैं। इसके लिए एक सफल नाटककार तथा कवि का समन्वय तथा सन्तुलन अपेक्षित है। संगीतिका में संगीत एवं कविता पक्ष का जितना महत्त्व है, उतना ही नाट्य तत्त्व का। आज तो हिन्दी में ऐसी अनेकानेक रचनाएँ देखने को मिल रही हैं, जिनमें कलापक्ष गौण रहता हैं और संगीत का लयात्मक प्रवाह खण्डित रहता है—मात्र पद रहता है। यद्यपि अब तक मुझे शास्त्री जी के नाटक देखने को नहीं मिले तथापि "उर्वशी" में नाट्य-तत्त्व और संगीत का कलात्मक समन्वय है। इसमें उर्वशी की कला की तरह

ही मधुर निनाद है, संगीत का सरस प्रवाह है और नाटकीयता भी। हमें सच्चे अर्थ में आलोच्य कृति को संगीतिका स्वीकार करना चाहिए। इसमें रचयिता ने संगीति की ही शाब्दिक सार्थकता सिद्ध करते हुए गेय पदों के अतिरिक्त परिसंवादों में भी अन्त्यानुप्रासों को स्वीकार किया है। चूँकि शास्त्री जी संगीत-कला के मर्मज्ञ हैं, इसलिए किस मनोदशा और किस परिस्थिति और काल में किस राग-रागिनी का उपयोग सार्थक है, इस पर भी उन्होंने पूरी तरह ध्यान रखा है। बीच-बीच में नील-नभ में चमकते चाँद की तरह, शास्त्री जी ने कलात्मक गीतों को जड़ दिया है।

आलोच्यकृति में हास्य कई स्थलों पर है। एक तो प्रथम दृश्य में ही उर्वशी की सहेलियों का परस्पर हास्य चित्रित है। रम्भा से नलकूबर के प्रसंग को लेकर तथा पुरूरवा और उर्वशी को लेकर बड़ा ही संयम और शिष्ट हास्य है। मेनका रम्भा से कहती है—

जा जा, रम्भा नलकूबर के तलवे सहला !
तू क्या जाने, क्या रूप बला ! क्या प्रेम भला !

दूसरा स्थल द्वितीय दृश्य का है, जिसमें सहेलियाँ उर्वशी को छेड़ती हैं। यहाँ भी हास्य का बड़ा संयमित रूप है। देखिए, चित्रलेखा कहती है—

रात भर जगती रही थी,
ललित लौ लगती रही थी,
प्रात का कुहरा भरा
छवि दीप को तजती नहीं है ?

और जब बहुत छेड़ने और पूछने पर उर्वशी इतना कह कर मौन रहती है– "उसका नाम नहीं लेते, उसके प्रसंग पर चुप रहते" तो चित्रलेखा मधुर हास्य करती है— "ऐसी भी क्या बात ? छीन थोड़े लेंगे हम पर धन को ?" फिर उर्वशी भी उसी ढंग से कह देती है—"मुँह वाले कहते ऐसे ही, कौन जानता है मन को ?" इस प्रकार उनमें हास्य-परिहास चलता रहता है।

तीसरा स्थल महाराज पुरूरवा के राजोद्यान का है, जिसमें विदूषक तत्कालीन अपनी प्रवृत्ति के अनुसार हास्य करते हुए प्रवेश करता है। महाराज के इस प्रश्न पर—"हँस रहे हो इस तरह ! क्या बात है ?' जो कहता है, उससे हास्य की सृष्टि होती है :

महाराज, अभय ! अभय दें–मित्र को।
व्यंग का भर रंग निर्मित चित्र को !
कण्ठगत-उपवीत मुण्डित केश को !
अभय मोदकप्रिय, अदन्त गणेश को !

इस प्रकार सम्पूर्ण कृति में हास्य का सरस मिश्रण मिलता है।

अब हम "उर्वशी" की भाषा-शैली पर भी विचार कर लें। आलोच्य कृति की भाषा सरल और सरस है। इसमें संस्कृत-निष्ठ क्लिष्टता नहीं, तत्सम की प्रधानता नहीं, जो एक सफल संगीतिका के लिए अपेक्षित तत्त्व है। यह हिन्दी साहित्य के सभी आलोचक जानते हैं कि शास्त्री जी को संस्कृत साहित्य का सौन्दर्य और शब्दकौशल प्राप्त है--परंतु आलोच्य कृति की भाषा सरल एवं चमेली के सफेद फूलों की तरह आकर्षक और मोहक है और उन फूलों में बसी सुगन्ध जिस प्रकार प्रकृतत: उनमें सर्वदा अक्षुण्ण रहती है—उसी प्रकार उर्वशी की भाषा के सम्बन्ध में कहा जायगा। एक स्थल देखें—

हो गई तैयार अभिनय के लिए?
वारुणी की भूमिका तेरे लिए—
चुटकियों का खेल है; पर हाय! मैं-
किस तरह लक्ष्मी बनूँ? निरुपाय मैं-
हो रही हूँ; चाहती सब खोल दूँ!
नाम नाटक में "उन्हीं का" बोल दूँ!

(स्मरण रहे कालिदास ने उर्वशी से नाटक में पुरूरवा का नाम बोलवा दिया है। शास्त्री जी की उर्वशी मात्र सोचती ही है-बोलती नहीं, परन्तु उसके उन्माद और उन्मन मन से सारी बातें ज्ञात हो जाती है।)

सरलता का ही उदाहरण है कि लेखक ने जन-जीवन में व्यवहृत उर्दू शब्दों और बोलियों को नि:संकोच इसमें स्थान दिया है। जैसे—"होश-हवास", "कायल-घायल", "कसाला", "चट्टे-बट्टे", शब्द भी सहजता से रखे गये हैं। परन्तु आरम्भ में "रखवाला" के साथ तुक निर्वाह के लिए "कसाला" शब्द-योजना मुझे अच्छी नहीं लगी।

अन्त में स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि "उर्वशी" शास्त्री जी की आधुनिक चेतना समन्वित कलात्मक अभिव्यक्ति है। संवेदनशीलता, सहिष्णुता और प्राणवत्ता के साथ कला-पक्ष का इसमें सफल निर्वाह है जिससे यह हिन्दी साहित्य की महत्त्वपूर्ण 'सगीतिका' बन पड़ी है।

हाँ, यही पर मैं यह भी कह दूँ कि वैदिक युग में उर्वशी शब्द में "ऊ" (दीर्घ) का प्रयोग पाया जाता है। परन्तु आज प्राय: हिन्दी में "उ" (ह्रस्व) ही प्रयुक्त किया जाता है। फिर भी, कुछ व्यक्ति "ऊ" का भी प्रयोग करते हैं। शास्त्री जी ने "उ" का व्यवहार किया है।

'श्यामा संगीत' का स्वर-संधान

□ डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार हैं, जिन्होंने हिन्दी की अपनी अनेक गौरवपूर्ण कृतियों द्वारा वीणा-वादिनी का शृंगार किया है। 'श्यामा संगीत' संगीत की कलात्मकता से सम्पन्न कला-कृति है, जिसमें विशिष्ट चेतनानुभूति से, माँ श्यामा की सौम्य, तेजस और उदात्त मूर्त्ति की विराटता, करुणा को समर्पित किया है। इस चिन्तन प्रक्रिया में वेदान्ती सीमा से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का कवि अनेक बार भक्ति-भावना के प्राङ्गण में विगलित स्वरालाप करता दीख पड़ता है—

नींद न आई, दरस लालसा
आँखें खोल रहे
हम अपने तम से न डरे
तेरी द्युति तोल रहे।

परन्तु, तुलसी और मीरा से भिन्न उस भावाकुल भूमा के समक्ष, अपने स्वाभिमान को सुरक्षित रख, भक्तिकालीन कवियों से नितान्त भिन्न अपना स्पष्ट अन्तर, पत्थर पर अंकित अक्षरों की तरह आत्म-सधान को वाणी का गौरव प्रदान करता, वह सिद्धगीतकार आत्मविश्वास से गा उठा है—

वह पीर पुरानी हो
जब मैं न रहूँ तब जग में
मेरी एक कहानी हो!

और उस मातृसत्ता के 'श्यामा' रूपा भगवती का अनाहत दर्द संकल्पी सात्त्विक स्वाभिमानी स्वर में गान करता है—

अहंकार मेरा चिरायु हो
यह स्फुलिङ्ग-माला न बुझाओ !

भक्ति-भावना से समर्पण के क्षणों में जहाँ तुलसी, सूर, मीरा आदि अपने अहं का पूर्ण विसर्जन कर नितान्त कातरता से आश्रयबिन्दु को निवेदित होते हैं, वहाँ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अपनी भावुक भक्ति चेतना की, समग्र आयत्तता को सक्रियता देते हुए माँ श्यामा की ज्योति के दिव्य स्फुलिङ्ग को परमहंस की तरह दर्शन करना और अन्त:कोष में भरने की निष्ठा रखते हैं। शास्त्री जी के कवि को माँ ने इसी रूप में यह आशा दी है—

है माँ का अभिमान ? ध्यान दो,
निर्मल कर्म करो !
स्वाभिमान से जिओ, अमृत सन्तान,
स्वधर्म धरो !!

स्वाभिमान का संग्रही कवि अपनी साधना की कर्म-निष्ठा को व्यक्ति देने के साथ कायर, कापुरुष और भ्रष्ट-अत्याचारी-अनाचारी की ओर दया की आँखें फैलाने को स्वीकार करता है। किसी भ्रष्ट के अन्न-जल और संसर्ग तथा उसकी छाया तक से बचकर अपने अन्तर की ऊर्जा से आत्म-स्फुरित होने में ही पौरुष की दीप्ति और भगवती की सही आराधना है। इसीलिए कवि ने तन्मयता और आत्म-संवेदन से सिंचित गान में कहा है—

ओ माँ के अभिमान, सत्य-हित गरल पिओ,
न डरो !!

कवि अपने अस्तित्व को स्वाभिमान पूर्वक रखना अपना जीवन-धर्म मानता है। जैसे, उर्दू के कवि इकबाल के कहा–'खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर के पहले, खुदा बन्दे से खुद पूछे : बता, तेरी रजा क्या है।' शास्त्री जी का कवि श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान कृष्ण के बताये दर्शन के अनुकूल यह सहज रूप से जानता है कि पंचतत्त्व से निर्मित मानव-शरीर ही नाशवान है, परन्तु आत्मा परमसत्ता का अंश है, मृत्यु से परे है। ऐसी स्थिति में शरीर के प्रति मोह-मुक्त होकर, स्वयं को सुरक्षित करते हुए स्वाभिमान पूर्ण जीवन जीना चाहिए और ऐसी दृष्टि से संवलित होकर निर्मल कर्म करते हुए आदिशक्ति माँ श्यामा की शक्ति से सुख-साहस के अकलुषित प्रकाश-पथ पर निर्भीक अग्रसर होओ जैसे, श्यामा ने आसुरी-वृत्ति रूपी महिष राक्षस का उच्छेदकर प्रकृति को जीवन-दान दिया। इसीलिए उसने कहा है—-

मरण अधमरे का क्या, जीवन क्या जीवन्मृत का ?
देख रक्त आलोक उदय का शक्त बनो, सँवरो !
कुसुम हँसाए, गंध लुभाए, शूलों से सिहरो

परमहंस जी की तरह शास्त्री जी की परिकल्पना की श्यामा मात्र शक्ति-स्वरूपा ही नहीं, बल्कि लोकरंजिनी, 'जन शक्ति समन्विता', 'शुम्भ-दम्भ-संहार कारिणी' 'सुकृत-विकास-प्रकाश', 'स्वस्थ प्राण संचार कारिणी' और 'सात्विक सौख्य प्रभा प्रसारिणी' तथा 'चन्द्रामृत से दैन्य हारिणी' के रूप में निरूपित है। माँ श्यामा और विद्यादायिनी में सात्विकता से प्रोज्ज्वल स्वरूप यत्रतत्र दृष्टिगत होता है। निम्न पंक्तियों में उसी 'ज्योति उद्गारिणी, भुवनेश्वरी' और 'वाणी कल्याणी' तथा 'सुन्दर स्वर' रूप को विस्तृत चेतना के धरातल पर प्रस्तुत किया गया है—

वाणी कल्याणी सुन्दर स्वर !
तन कि पद्म-वन,
हंस-सद्म मन,
त्रिपुरसुन्दरी अन्ध अगोचर

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की श्यामा का तंत्रशास्त्र में वर्णित भाव-बोध से पर्याप्त साम्य है। तंत्रशास्त्र में भद्रकाली को साक्षात् विद्या स्वरूपा, दुर्लभ सिद्धियों की दात्री, शुद्धात्मविज्ञान प्रदान करने वाली सर्वशक्ति-महाशक्ति परा देवी कहा गया है—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्रा'।

तंत्रशास्त्र में काली को ही 'अमृत बन्धद;' और 'विद्यां त्र्यक्षराम्' के रूप में प्राण-प्रतिष्ठा की गई है। आचार्य जानकीवल्लभ जी ने 'श्यामा सगीत' में काली को विद्या की देवी सरस्वती का पर्याय बताते हुए, इन शब्दों में निवेदित किया है—

श्वेत शतदल पर सुशोभित
अरुण चरणों में
नील अम्बर हरित धरती-संग
मैं नत हूँ।

उपर्युक्त पंक्तियों में चारभुजा धारिणी, कमल पर निवास करनेवाली वीणापाणि की झाँकी मानस के दर्पण में उभर आती है। कवि श्यामा के विभिन्न स्वरूपों को आँकता हुआ एक सात्त्विक अभिमान को उजागर करता,

जग-जीवन की कसौटी पर उनकी कृपा-कांक्षा करता, स्तवन करता नतभाव से कहता है—

तृष्णा चिर - अतृप्त नागरिका,
दीन मीन, करुणा-सागरिका—
माँ, ऋत-भरित अमृत-जागरिका;
आया शरण मरण का रोगी !

कवि थकान-भरे जीवन के दुष्कृतों को माँ के शरण रूपी अमृत-सागर में विसर्जित करने का उल्लास रखता है, क्योंकि 'श्यामा संगीत' की माँ 'सुकृत-विकास-प्रकाश कारिणी' है और उसमें मदान्ध तक को विनम्र करने की तेजस्विता है। आज विश्व की विषमता और उसके मस्तिष्क में अविद्या का संचार देख सहज भाव से कवि कहता है—

अगणित अमित मनुष्य आज जब
क्षुधा-तृषा की रट लगा रहे
कुछ थोड़े-से दौड़े घोड़े
दम्भ विजय को जगमगा रहे।

तब तुम आधार हो सकती हो, जीवन को सार्थकता दे सकती हो—कवि का विश्वास है—

मेरी मां अश्वत्थ-छाँह-सी
बाँह बढ़ा वैषम्यवारिणी !!
दुष्कृत के विनाश से संवृत
सुकृत-विकास-प्रकाश कारिणी।

अतः यह स्पष्ट है कि आचार्य जानकीवल्लभ कृत १०८ गीतों के संग्रह-सी 'श्यामा संगीत' में कदापि किंचित् मात्र भी भक्तिकालीन कवियों की दीन भावना नहीं, जो (तत्त्व) शास्त्री जी के चिन्तन-दर्शन को रेखांकित करते हैं। तेजोदीप्त आत्म-स्फुलिङ्ग का एहसास सर्वत्र होता है। शास्त्री जी द्वारा लिखित निम्न पंक्तियों से उनकी अवधारणा पाठकों को और स्पष्ट हो जायेगी—

कुसुमित कल्पलता तल श्यामल,
शाण-कृपाण-शरण षड्रिपुदल,
संवित्-सर-भास्वर सहस्रदल
मौन हंस, नूपुर-रुनझुन।

कवि की माँ श्यामा 'ज्योति उद्गारिणी' (जाग ज्योति उद्गारिणी, पृष्ठ ७८), 'चिन्मय गगन विहारिणी, तारिणी और 'सर्वोद्धारिणी' और सृष्टि की आधारभूता है। रामकृष्ण परमहंस ने माँ काली (श्यामा) को परा-शक्ति एवं ब्रह्म के रूप में ग्रहण किया था और उनके शिष्य विवेकानन्द ने उसी चिदात्मयी को काली स्वीकार करते हुए लिखा—'केहु नहि चाय मृत्यु रूपा ऐलो केशी ओर सत्य तुमि मृत्यु रूपा काली।' बंगाल में इस भाव-भूत चेतना का प्रभाव वहाँ के जन-मानस पर आज भी पत्थर की लकीर की तरह देख सकते हैं। अनेक शास्त्रों के ज्ञाता की भाव-गंगा में अनेक स्फुलिङ्ग भले ही हों, परन्तु उनकी भावाभिव्यक्ति में जीवन और जगत् के अनुभव पर स्वर्ण सदृश निखरा, आत्मचिन्तन की आभा से दैदीप्यमान स्वतंत्र ज्ञान भी स्पष्ट है। विचारों-भावों की कुशल अभिव्यक्ति की ममता शास्त्री जी में अद्वितीय है। 'श्यामा संगीत' के मूल भाव से समवेष्ठित शास्त्री जी के चिन्तन में ऊर्जा द्वारा अपनी ऊष्मा-अस्मिता की स्वतंत्र पहचान का दृढ़ बोध निरन्तर अन्तर्हित है।

'श्यामा संगीत' विभिन्न स्वरों को साथ लेकर तो अवश्य चलता है, परन्तु दृष्टि-फलक में मूल विन्दु एक है। ये सभी गीत माँ काली (श्यामा) को लक्ष्य कर लिखे गए हैं। बाग में नागचम्पा का एक पुष्प विभिन्न दिशाओं में विभिन्न गीतों में प्रसरित होकर विभिन्न मानसिकता को भिन्न-भिन्न कारणों से उद्वेलित और विमुग्ध करता है, वही व्यापक सौन्दर्य और आकर्षण 'श्यामा संगीत' के गीतों के विषय में सत्य है।

शास्त्री जी के कथनानुसार, उन्होंने कई सौ गीत श्यामा के चरणों में अर्पित किए, जिनमें आलोच्य संग्रह के माध्यम से थोड़े गीत पाठकों के सामने आए हैं। मेरे मतानुसार शेष के रसास्वादन की लालसा पाठकों में तीव्र बनी रहेगी।

'श्यामा संगीत' के वैचारिक पक्ष पर संक्षिप्त में विचार करने के साथ ही इसके कला-पक्ष पर प्रकाश डालना आवश्यक है। चूँकि शास्त्री जी की काव्य-चेतना कला-सौन्दर्य से ओत-प्रोत है और जिसके फलस्वरूप इन्हें अपूर्व यश-गौरव मिला है; अतः "श्यामा संगीत" का हम इस दृष्टि से भी अवलोकन-मूल्यांकन करने का प्रयास करेंगे।

छायावाद ने इतिवृत्त और संकुचित बन्धनों से काव्यधारा को मुक्ति दिलाई तो इसके साथ ही वह अभिव्यक्ति और शिल्प के क्षेत्र में क्रान्तिकारी

सिद्ध हुआ। अभिव्यंजन और प्रतीक और बिम्ब के मोहक और कुशल प्रयोग द्वारा उसने काव्य का गौरव द्विगुणित किया। छन्द में स्वतंत्रता का उपयोग भी हास्यास्पद नहीं हुआ। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री छायावादोत्तर कवि हैं। वे जयशंकर प्रसाद, महादेवी, पंत और निराला के समकालीन रहे और आज भी अपने उत्तम गीत विधान से साहित्य कोष को समृद्ध कर रहे हैं। 'श्यामा संगीत' जहाँ शास्त्री जी के मानसिक धरातल का, विराट् मातृ-सत्ता महाकाली के प्रसिद्ध उल्लसित भाव-कुसुम है, वहाँ इसके गीतों में कलात्मक व्यंजना, मुग्धकारी शिल्प-विधान भी रसज्ञों और मर्मज्ञों को मोहते हैं।

शास्त्री जी में व्यापक चेतना के अमूर्त फलक पर अलभ्य बिम्बों के स्वप्न-वर्णी पुष्पों के चमत्कार उत्पन्न करने की सफल क्षमता है।

> श्यामल कुटिल कुन्तलों में—
> माँ के, ऋजु दृग, उलझो,
> चन्द्रहास लख हँसो, धँसो
> जड़ में, चेतन उतरो।
> माँ का पद आनंद-सिन्धु में
> फुल्ल कमल-दल हो।

शास्त्री जी में ध्वनि-बिम्ब भी पर्याप्त देखने को मिलते हैं। मेरे मतानुसार एक कुशल एवं सफल कवि ही ध्वनि-बिम्ब के सार्थक प्रयोग में सक्षम होता है। शास्त्री जी में रंग-बिम्ब और ध्वनि-बिम्ब का यथेष्ट प्रयोग दीख पड़ता है, जो उनकी कला को और भी सूक्ष्मता, महत्ता एवं प्रौढ़ता प्रदान करता है। इस दृष्टि से उनकी 'मेघगीत'- 'राधा' आदि कृतियों को भी देख सकते हैं। निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> नव पल्लव विश्वास-विटप का
> जवाकुसुम-सा टपका टपका
> मेरा राग चरण-रज-चिपका

इसी तरह 'जय जय मृगमद तन' (पृष्ठ २४) की पंक्तियाँ सफल अलंकारों के संयोजन के साथ ध्वन्यात्मकता की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय-उल्लेखनीय हैं।

जगन्माता में क्षितिज सम व्यापकता और हिमराज हिमालय की तरह विराटता और महासागर की गहराई और फैलाव है। कवि ने उसके स्वरूप सौन्दर्य के अनुकूल बिम्बों और अलंकारों का चयन-संयोजन किया है।

• गति और रंग-बिम्ब की दृष्टि से ये पंक्तियाँ भी देखने योग्य हैं—

नील जल में हंस, निर्मल चन्द्रमा
लोमहर्षण-दर्शना श्यामा उमा ?
ज्योति निखरे मोतियों की
नीलमणि नीली,
किरण-हिरन-कुलांच ले
है दूब हिम-गीली !

नीले जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब दे दीप्त श्यामा का रूपांकन और मोतियों की ज्योति श्लेष से अर्थ-व्यंजना ध्वनित करना निश्चय ही कला-चमत्कार है। इसी तरह नील मणि की ज्योति का बिखरना और किरण हिरण का कुलांच लेना (नील जल में हंस, पृष्ठ ७६) विद्वानों को मुग्ध करता है। प्रकृति के उपादानों को ग्रहण कर सुषमा-स्वर की गूँज उत्पन्न करने में भी शास्त्री जी अत्यन्त सिद्धहस्त हैं—

मंद इन्दीवर हुए,
तूने नयन खोले,
मूक पिक-चातक मुखर,
वर अमृत-स्वर घोले

'श्यामा संगीत' की रचनाओं में छन्दों का वैविध्य भी मिलता है। कवि ने भाव के अनुकूल यत्र-तत्र उसमें नया प्रयोग भी किया है। इस दृष्टि से 'जाग ज्योति-उद्‌गारिणी' (पृष्ठ ७८), 'मन न सँवरा' (पृष्ठ—८५) 'मैं गाऊँ (पृष्ठ—१) आदि कविताओं को देखा जा सकता है। जगदम्बा श्यामा के प्रति निवेदित 'श्यामा संगीत' की रचनाएँ एक मूल चेतना से एक सुन्दर हार की तरह गुम्फित होते हुए भी स्वतंत्र भावगीत कुसुम के अस्तित्व का सौन्दर्य निश्चित रूप से रखती हैं। अतः इस संग्रह के गीत माँ के गले में पड़ी अक्षय माला के विभिन्न रंग और आभा से लयात्मक होकर सम्पूर्ण गीत का इन्द्रधनुषी सौन्दर्य बिखेरते हैं और नील मणि की तरह विभिन्न रूप-रंग से सभी वर्ग के पाठकों को तुष्ट करते हैं।

●

'राधा' : विश्वसाहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि

☐ डॉ० सियाराम शरण प्रसाद

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी के सिद्ध कवि, उच्चकोटि के कथाकार और सूक्ष्म तथा पैनी दृष्टि के विद्वान आलोचक हैं। 'महाकाव्य की पूर्ण मौलिकता और उत्तरदायित्व से युक्त 'राधा' महाकाव्य विश्व-साहित्य का गौरव-स्तम्भ है। यहाँ राधा के रूपात्मक पक्ष पर नहीं, प्रत्युत भावना की सिद्धि पर ध्यान केन्द्रित है।

यह सात खण्डों (पर्वों) में एक नये चिन्तन के धरातल पर सृजित महाकाव्य है। इसके सात सर्ग जैसे, 'प्रणयपर्व', 'दर्शन पर्व' आदि सभी स्वतंत्र पर्व होकर भी एक आन्तरिक चिन्तन तथा भावानुभूति के धागे में कुशल माली की तरह कवि द्वारा पिरोये गए साहित्य-हार हैं। मैं यहाँ इस कालजयी महाकाव्य (जो वैचारिक फलक तथा चिन्तन और शिल्प की दृष्टि से भी महान् ग्रन्थ है) के प्रथम पर्व अर्थात् प्रणय पर्व पर ही विचार करूँगा, क्योंकि अन्य पर्वों की तरह यह पर्व भी अपने आप में पूर्ण और विचारणीय है। जिस प्रकार 'पुरुषार्थ पर्व' पीयूष वर्ष, और 'दर्शन पर्व' रूपमाला छंद में है, उसी तरह स्वतंत्र सत्ता और महत्ता की उद्घोषणा करनेवाला 'प्रणय पर्व' राधिका छन्द में लिखा गया है। इस प्रकार, जिस तरह प्रणय-पर्व राधिका छन्द में लिखा गया है, उसी प्रकार इसके अन्य ६ पर्व भी भिन्न-भिन्न छंदों में लिखे गए हैं, जो आलोच्य रचनाकार के छन्द-कौशल के परिचायक भी हैं।

प्रणय-पर्व मुख्यतः प्रणय की अनुभूति के विभिन्न आयाम ही नहीं, उच्च

स्तर के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, रंग और बिम्ब-बोध के साथ ही शिल्प का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत करने में सक्षम हैं। मेरे मतानुसार यह भी सत्य है कि प्रणय ऊर्ध्वमुखी सिद्धि की साधना का प्रथम सोपान है और मैं इसी दृष्टि से आलोच्य महाकाव्य के इसी पर्व पर, सिद्धि की ओर अग्रसारित प्रथम विकास-बोध का प्रथम चरण स्वीकार कर, विचार कर रहा हूँ।

राधा, जो वस्तुत: आराधिका अर्थ का द्योतक है, और जिसे आध्यात्मिक अर्थ में राधा-कृष्ण को वर्ण्य-विषय बनाने वाले सन्तों और कवियों ने ग्रहण किया, वहाँ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने, इस वैज्ञानिक युग में, उसके अन्य अछूते और विभिन्न पक्षों को, अत्यन्त विराट् फलक पर रेखांकित किया है, जो 'राधा' महाकाव्य की मौलिकता के साथ, कवि के वर्षों के चिन्तन-मनन की सार्थक परिणति कही जा सकती है।

आलोच्य पर्व का आरम्भ ही इसी सत्य का प्रतिपादक है :

> नीली री मुरली ! तू ने मुझे पुकारा ?
> क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा ! (पृष्ठ–१)

उपर्युक्त पंक्तियों में 'नीली' शब्द का प्रयोग व्यापक-अर्थ-व्यंजना से युक्त है और साथ ही पाठकों की भ्रान्त-धारणा के निवारणार्थ यह भी कह दूँ कि पार्थिवता की झलक मिलने के पीछे शास्त्री जी का उद्देश्य वही है जो 'निर्गुण' की अस्पष्टता को पाठकों के समक्ष बिम्ब-बोध को सहजता प्रदान करने के लिए सगुण साकार में ग्रहण कराने की पद्धति है, ताकि 'निरालम्ब मन चकित न हो, एक मूलभूत सत्य की ओर केन्द्रीभूत हो सके। कृष्ण की आराधिका राधा इसी नीली मुरली की सुर-ध्वनि (पुकार) पर, लोकापवाद की संकीर्ण परिधि से मुक्त हो, इच्छा (मन) से विवश ध्वनि के प्रकाशपथ पर अग्रसर होती, स्वाभाविक मनोविज्ञान के अनुरूप, सहज भाव से अपनी मनोदशा को स्वीकार करती कह उठती हैं—

> इच्छा के चरण निगूढ़, सरकती सर्पिल,
> तन केंचुल-सा निर्जीव बिखरता झिलमिल। (पृष्ठ–१)
>
> × × ×
>
> लोकापवाद घन–नाद, मोर मेरा मन,
> जब इतर त्रस्त होते, वह करता नर्त्तन

निश्चय ही, यहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के साथ अत्यन्त कलात्मक अभिव्यक्ति है। मन की अनन्त इच्छाएँ जागती हैं और वे सर्प की तरह

पद के अभाव में ही सर्पिल सरकती हैं और तब उसे लोकापवाद घन-नाद त्रस्त, भीरु बनाने के बदले उन्हें आकाश के कज्जल बादलों और घन-नाद से उत्पन्न मयूर के मन में उल्लास और उसके नृत्य की परवशता की तरह, मलयानिल के सुगन्धपूरित दिव्य आन्तरिक हर्ष-उल्लास के लोक में पहुँचा देते हैं; जिस सूक्ष्म गहन स्थिति को संवेदना से युक्त अनुभूतिपूरित मानस ही समझ सकता है, क्योंकि यहाँ मनोविज्ञान की सहज पृष्ठभूमि पर काव्य के श्रेष्ठ सुमनों से भाव-भूमि का श्रृंगार किया गया है, और हो भी क्यों नहीं :

सुर के सुमेरु पर लय की ज्योति तुम्हारी,
यात्रा अनन्त, लो, उन्मद मन पदचारी ! (पृष्ठ—१)

उपर्युक्त पंक्तियों में मन के कई स्तर की कली शनैः शनैः प्रस्फुटित होती दीख पड़ती है। इसमें ध्वनि और गति के साथ अत्यन्त भावविमुग्ध करने वाले बिम्ब का इन्द्रधनुषी चमत्कार है। इसे एक प्रौढ़ कवि के प्रौढ़ कला-सौन्दर्य का उदाहरण ही कहा जायेगा।

अक्षय पुरुष की प्रेमिका आराधिका साधिका राधा का, नीली मुरली के सुर के रंगीन, सरिता की धारा-सी लहराती, नृत्य, हिल्लोल करती ध्वनि पर मन-हृदय आतुर कैसे नहीं होता ? यह तो मनोविज्ञान की सहज प्रक्रिया ही है। तदनुकूल प्रणय की तीव्रानुभूति तथा तन्मयता की पुण्य-लय-ज्योति में कोई बन्धन की श्रृंखला को अमान्य किए बिना रह भी कैसे सकता है ? उपर्युक्त पंक्तियों में इसी भावानुभूति को बिम्ब-शिल्प में ढालकर शास्त्री जी ने बड़ी सफल अभिव्यक्ति दी है। तन्मयता की स्थिति को, जो प्रणय की अगली सीढ़ी है, कवि ने कितनी सफाई तथा ईमानदारी से पाठकों के समक्ष साकार किया है। उदाहरणार्थ निम्न पक्तियाँ देखी जा सकती हैं—

हिमकण बन हीरक-हार हृदय छलकाता,
सुर छिड़ा, मुँदे दृग, जाने क्या हो जाता !
सम पर थर-थर कर प्राण, बिंधे स्वर-शर के—
झरने लगते, ज्यों पीत पात पतझर के ! (पृष्ठ–२)

यहाँ पतझर के पीले पत्तों का स्वाभाविक गति से झरने सदृश किसी साधिका का स्वर के सम पर प्राणों का स्पन्दित होना अंकित है। सचमुच, यहाँ रूपक का चयन भी बड़े सहज दृश्य और गति-स्थिति से किया गया है। लगता है, कवि को प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया-कलापों का सच्चा साक्षात्-कार हुआ है, कोरी कल्पना का इन्द्रजाल नहीं। विभिन्न बिम्बों से 'राधा'

महाकाव्य ऐश्वर्य पूरित है ही। विमुग्धावस्था में हृदय-चक्षु खुल जाते हैं और बाह्य चक्षु मुँद जाते हैं। प्रणय में श्रवण या नेत्र द्वारा दर्शन, फिर सम्मोहन, तन्मयता और प्राणार्पण की स्थिति क्रमशः अगला सोपान बनकर प्रत्यक्ष होती जाती है। इस क्रम में अहम् का तट टूटता ही जाता है; उस तादात्म्य भाव की अनुभूति का अस्तित्व-बोध, वर्षाकालीन उफनाती वेगवती नदी की तरह, तटों में सिमटने में असमर्थ होता है। प्रणय के विकास-क्रम में स्मृतियाँ सौरभ-सुगन्ध की तरह प्राण को न मरने देती है, न जीने देती है—

मणियों-सी जग-मग, फूलों-सी हँसती-सी,
मधु-गन्ध-भरी स्मृतियाँ श्लथ तन कसती-सी! (पृष्ठ–३)

स्मृतियों में अवश करने की बड़ी शक्ति होती है। ऐसी स्थिति में तन मन का दास बन जाता है। मन अधिपति बनकर तन-रूपी प्रजा का संचालक-निर्देशक बन जाता है। इसीलिए प्रणय-पथ पर अग्रसरित राधा अपने तन से सम्पूर्णतया परिचित होकर भी स्वयं को हारती-सी अनुभव करती है और स्वतः स्वीकार करती कहती है—

पंछी किस पथ से उड़ा, चिह्न क्या होता?
पर मन उड़ता तो तन में काँटे बोता!
कण्टकित लिए तन चली, फूल मुस्काए!
कोई न भुलावे में मन के यों आए! (पृष्ठ–४)

मुझे ऐसा लगता है, पाठक इस प्रणय-गाथा को सामान्य भौतिक धरातल पर न अनुभव करे, इसे विशुद्ध ऊर्ध्वमुखी चेतना और दार्शनिक तत्त्वचिन्तन की भूमिका के पथ से भटकाव अनुभव न करे, इसलिए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लौकिकता की स्थूलता के निषेध-हेतु पाठकों को विराट् विश्वास का सूत्र छूट जाने नहीं दिया है। इसीलिए तो विकलता-विह्वलता के बाद समर्पित होती हुई राधा स्वाभाविक रूप में कहती है—

गुंजन में गूँथी हुई लहरियाँ मेरी,
हैं प्रलय-ज्वार में तिरती तरियाँ मेरी!
मैं गति हूँ, जीवन हूँ, बहता पानी हूँ!
शाश्वत सागर-संगम की अभिमानी हूँ!! (पृष्ठ–५)

प्रणय की शाश्वत गति, लय और गन्ध-स्पर्शी आलोड़न का वैविध्य तो 'राधा' काव्य को सरसता से ओत-प्रोत किए हुए है ही, साथ ही शिल्प-सौन्दर्य का सप्तरंगी आलोक भी रस प्रवण बुद्धिजीवी पाठक को संतृप्त किए

बिना नहीं रहता। इस प्रसंग में मैं 'राधा' की निम्न पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ, जिनमें कलाकार जानकीवल्लभ शास्त्री जी की अभिव्यक्ति का कौशल स्पष्ट है—

वनमाल ढालने लगी गन्ध की धारा,
वह रूप न था, रूपायित सौरभ सारा!
परिमल-पिच्छिल सुन्दरता, फिसल गई रे,
ओ शिलीभूत शाश्वत, मैं धार नई रे!

....

कज्जल जल में उज्ज्वल परिमल था पाया,
आलोक समेट सका न गन्ध की छाया! (पृष्ठ–५)

ऐसी ही तन्मयता और गहन आकर्षण में प्रेम सौन्दर्यानुभूति के इन्द्रधनुषी आलोक में कबीर की तरह 'लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल' और 'जित देखूँ तित लाल' विचरने लगता है। शास्त्री जी ने भी इस मार्मिक स्थिति की अभिव्यक्ति व्यजनात्मक ढंग से उपस्थित की है—

सज गई घास हिम-कण से, लता सुमन से,
यमुना तरंग से खुली भूमि घन बन से! (पृष्ठ–६)

और—

थक रहा नीर गम्भीर तीर से टकरा,
ढह रहा तीर निस्सीम नीर से चकरा। (पृष्ठ–७)

ऐसी स्थिति आते-आते लोकाचार की परिधि बहुत पीछे रह जाती है, बिना मण्डप के सात फेरे और सिन्दूर से मांग भरे ही, प्रेमी और प्रेमिका का मानसिक धरातल पर, अनुराग से, अनौपचारिक परिणय-संस्कार सम्पन्न हो जाता है। 'प्रणय पर्व' की राधिका इसी तथ्य को स्पष्ट करती कहती है—

वह सप्तपदी, वह सात सुरों की भाँवर,
क्वाँरी न रही सिन्दूरी साध, उजागर-
ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास-उजाला,
सोलहों कला वाला दिखता था काला! (पृष्ठ–७)

सचमुच, सचाई यही है; प्रणय संस्कार मानसिक-भूमि पर ही होना वास्तविक अर्थवत्ता रखता है, नहीं तो मण्डप पर, समाज के मध्य, अग्नि के

समक्ष हुए अनेकानेक विवाह आज इस तरह निरर्थक क्यों सिद्ध हो रहे हैं और बाह्याडम्बर से मुक्त मानसिक विवाह अपनी सार्थकता को घोषित करने में सक्षम हो रहे हैं ।

'प्रणय' में वियोगावस्था, प्रेम की तीव्रता उसकी कसौटी बनकर आती है । भला अग्नि में तपे बिना स्वर्ण में शुद्धता और निखार आ कैसे सकता है ? यह कोई पारम्परिक शैली नहीं, बल्कि स्वाभाविक प्रक्रिया है । मासूम राधा यह समझ नहीं पाती है कि कृष्ण जो आध्यात्मिक चेतना के प्रकर्ष हैं, सोलहों कला से पूर्ण हैं, वह किसी को भी काला क्यों दीखते हैं ? ऐसी स्थिति में प्रेम-सिक्त आत्मा पल-छिन जीवन और मृत्यु के द्वन्द्व को झेलती रहती है । उसे कभी जीवन का सुख और कभी मृत्यु की पीड़ा झेलनी पड़ती है । प्रेम-सवेदना की स्थिति सामान्य स्थिति से सर्वथा भिन्न होती है । इस व्यापक अनुभूति को भोक्ता ही समझ सकता है । कवि का दृष्टि-विस्तार गंभीर से गंभीर मानसिकता का अनुभव-कर्त्ता होता है, क्योंकि वह अपनी कला-सृष्टि का जनक होता है । तभी तो वह मधुमती भूमिका द्वारा साधारणीकरण कर पा सकने में सक्षम होता है, जिससे पाठक तादात्म्य अनुभव कर पाते हैं, रस-सिक्त हो पाते हैं । यह भी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि भोलेपन में ही प्रेमांकुर निकलते हैं, जो शनैः शनैः विशाल वट-वृक्ष के रूप में परिणत हो जाते हैं । महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी ने 'राधा' महाकाव्य में सत्य ही लिखा है—

> वह था बालक मन जो वंशी से खेला,
> सीधे थे नयन जिन्होंने ऐसा मेला—
> स्वप्नों के रँगे खिलौनों का लगवाया,
> हँस खुले कंठ से वातावरण गुंजाया ! (पृष्ठ—९)

प्रेम की परतें होती हैं, किसी वेदना से आकुलता करने वाली स्थिति होती है । प्रेम से भरे हृदय-सागर में तूफान की तरह पूर्वस्मृतियाँ, छवियाँ उसमें ज्वार-भाटा उत्पन्न करने में सदैव समर्थ होती हैं, हृदय को कुरेदने में प्रबल शत्रु की तरह आक्रामक होती हैं । 'प्रणय-पर्व' में राधा के विश्लेषण में कवि ने इस मनोवैज्ञानिक स्थिति को विस्मृत नहीं किया है । राधा भी माया-भ्रम-वेदना की त्रिवेणी में डूबती रहती है । यथा—

> मैं पंख-कटी विहगी, आंधी की कदली
> अधजली पतंगी, मरु-तट-उछली मछली,

जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
मरने न दे रहा अमरमोह मोहन का ! (पृष्ठ-१०)

सच्चे प्रेम में प्राप्ति की आकांक्षा, प्रतिदान की अभिलाषा उसी प्रकार भस्म हो जाती है, जिस प्रकार काम भगवान शंकर के तीसरे नेत्र के खुलते ही जल गया था। प्रेम तो आत्मा का शुद्ध संगीत बन जाता है, जिसमें समर्पणशीलता ही मुख्य रहती है—

यह रूप उधर ही बहता, तो बहने दे,
हो उधर धरोहर; नाम इधर रहने दे ! (पृष्ठ-९)

हेनरी वान डाइक ने भी प्रेम की व्याख्या ऐसे ही अर्थ में की है—"Love is not getting, but giving; not a wild dream of pleasure and a madness of desire—oh; no, love is not that.' प्रणय-पर्व में राधा के अस्तित्व-समर्पण, सर्वस्व समर्पण की यह मूल भाव-चेतना है, कुछ पंक्तियाँ देखें—

यह चिदाकाश की आग परिधि के भीतर—
जलती, आलोक लुटाती तम को पीकर ! (पृष्ठ—१०)

क्योंकि प्रणयानुभूति में विश्वास रहता है—

मंगल-तारा-सा सारा नभ भर देता,—
यह प्रणय हृदय में है यदि घर कर लेता ! (पृष्ठ-१०)

राधा अपने संयम की टूटती शृंखलाओं को अवश भाव से देखती हुई अनुभव करती है—

दी छिपा आग, अब धुँआ छिपा लूँ कैसे ?
पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे ? (पृष्ठ—११)

प्रणय में ऐसी जलन होती है कि अगर हाथ जलता है तो मन करता है और भी तप्त अग्नि में हाथ जला लूँ और इस तरह जलकर मिट जाऊँ। उसमें तन जलता है तो भी दर्द मीठा ही लगता है। लगता है, प्रेम करने वाला स्वतन्त्रता खो चुका है। इसी व्यथाजनित, भावुकता भरी, विचित्र

क्षण में राधा की आत्मा चिल्ला उठने को उसे उद्वेलित भी करती है, परन्तु राधा परवश-सी अपनी हार को सहज भाव से स्वीकार करती है—

> है रोर-भरी उठती हिलोर अन्तर में,
> झकझोर रहा तन, चोर घुसा इस घर में !
> इतनी स्वतन्त्रता होती, मैं चिल्लाती !
> ठंढ़ी कालिख में दग्ध शिखा दिख जाती !!

और—

> ऐसे घर्घर स्वर से मैं डर न सकूँगी,
> ऐसे-ऐसे शर से मैं मर न सकूँगी !
> सिर मार उपल पर चपल स्वयं सकुचाती,
> कैसी भी हो तलवार, धार मुड़ जाती ! (पृष्ठ—११)

फिर, एक ऐसी स्थिति आती है जब घनीभूत वेदना अमृत-रस की तरह मन को स्नेहिल और उल्लसित करती जीवन को अनिर्वचनीय आनंद देने लगती है—

> यह झरना है जो नीरव झरता रहता,
> उन्मत्त गगन, अनहद स्वर भरता रहता ! (पृष्ठ—१२)

यहाँ से 'राधा' महाकाव्य का कथ्य ऊर्ध्वमुखी सौन्दर्य चेतना के विकास क्रम से विकसित पुष्प सदृश, अभिव्यंजित होने लगता है और व्यापक आध्यात्मिक अर्थगौरव, भावना की सिद्धि पर प्रतिष्ठित भव्य रूप 'राधिका कोई न नारी एक, भावना वह हृदयहारी एक' निश्छल नेह के क्षितिज की झलक देने लगता है, जिससे विज्ञ पाठक अनुभव करने लगता है कि राधा उदात्त चेतना का गंभीर अर्थबोधक महाकाव्य है, ऐन्द्रियता का नहीं, रोमांस का नहीं। प्रणय के विकास-क्रम की एक महत्तर, उच्चदिशा का संकेत देती यह राधा नवीन लोक में प्रवेश कर जाती है, जो प्रणय की सही परिणति और दिशा-बोध से सुधी पाठकों को आलोकान्वित करने वाली कृति का द्योतक है, क्योंकि यहीं पर कवि अपना विश्वास प्रकट करता कहता है—

> मन नहीं बँधेगा तो तन नहीं सधेगा,
> निज से न मिले, क्या उसे दूसरा देगा ! (पृष्ठ—१५)

साथ ही, आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का कवि यह स्पष्ट करता है कि सहज भाव से ही 'प्रेमोदय' (व्यापक अर्थ में) होता है। उस स्थिति में, स्वीकृत सम्मानित धारा का गतिरोध, परंपरा-स्वीकृत-पथ के विघटित

होने पर ही 'मन्दार-पारिजातक सुगन्ध नत ऊपर/ आनन्द-मगन वृन्दावन, नन्दन भू पर, अवतरित होता है। यह सिद्धि के चरण का उद्बोधन है। तभी प्रणय की भूमि पर नृत्य करनेवाली राधिका से कवि ने स्पष्ट कराया है--

पर मेरा पटमण्डल तो खुला हृदय था,
वर लिया जिसे एकायन, सहज प्रणय था !
स्वर-निर्भर साम न मंत्र-ऋचा की आहट,
छटपट करती साँसों में थी टकराहट—
अनमनी चेतना-शुक्ति-मुक्त मोती-की,
संवेदन-ध्वनि न किसी हँसती-रोती की। (पृष्ठ—१६)

और यह सारी प्रक्रिया हठ-साधना से नहीं, सहज भाव प्रक्रिया से संभव हो पाती है। मैं 'राधा' महाकाव्य के विस्तृत महान् मणि-माल के प्रथम मोती पर ही संक्षिप्त में विचार कर अपने लेख को अधूरा मान कर, स्थानाभाव में समाप्त कर रहा हूँ, क्योंकि इसके पश्चात् 'राधा' के प्रणय-पर्व का दूसरा पक्ष मिलन संयोग का कक्ष सहज भाव से खुलता है।

हाँ, इसी क्रम में मैं दो शब्दों में शिल्प पर भी विचार कर लेना चाहता हूँ। आलोच्य कृति में शिल्पगत सौन्दर्य प्रशंसनीय है। उपर्युक्त पंक्तियाँ भी उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं। निम्न पंक्तियाँ भी देखें, जिनमें मात्र भावों के अनुकूल ही अभिव्यक्ति नहीं, अलंकारों का संयोजन भी कुशलता से किया गया है—

आधा आधार, अधूरी-सी परछाँई,
था निरयन अन्तर्नयन, कौन छवि छाई !
जूड़े में सुरधनु, तार हार पृथु उर पर,
हीरक किरणों के कर्णफूल, ज्योतित स्वर (पृष्ठ—८)

शास्त्री जी के 'राधा' महाकाव्य में अनेकानेक प्रकार के बिम्बों का दर्शन भी होता है। जैसे—

विष फैल गया, यों ही न गगन-तन नीला,
धरती का मुख सूखा, चल अंचल गीला ! (पृष्ठ—८)

कल्पना-वैभव की दृष्टि से निम्न पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं—

मखमली घास पर पवन फिसलती जैसे,
आदर्श फिसलता, और नहीं तो कैसे ? (पृष्ठ—१६)

उपर्युक्त भावदृष्टि का दर्शन 'मेघगीत' में भी होता है। मेरा स्पष्ट मत है कि शास्त्रीजी उन छायावादी कवियों में नहीं, जो जीवनगत विषमता और पीड़ा से करुणार्द्र हो मात्र स्वप्न-संसार की ओर ही प्रयाण करते हैं। प्रत्युत् वे समस्त सामाजिक जीवन-पक्षों पर दृष्टिपात करते हैं और अस्वस्थकर प्रवृत्तियों पर गहरी, व्यंग्यपूर्ण चोट करते हैं। उनकी 'गाथा' ऐसी ही कृति है। इसमें सामान्य स्तरों की जीवनानुभूत कहानियाँ हैं। जब गरीबी से उत्पीड़ित टूटी हुई माँ, स्वयं अपनी पुत्री को वस्त्र की लालसा, जीवन के घने ममत्व से मजबूर होकर परदेशी के निकट जाने की आज्ञा देती है, तब भला किस संवेदनशील व्यक्ति का मन क्षुब्ध और व्यथित न हो उठेगा। पंक्तियाँ हैं—

> जा, सो जा उनके सँग, उनका हृदय न दुखने पाये,
> ला देंगे साड़ी, तेरा तन किसी तरह ढक जाए।

शास्त्रीजी ने ऐसे भावों को अंकित कर विषमताग्रस्त रोग से गले समाज के प्रति कुशल-शिल्पी की तरह आक्रोश की उष्ण धारा प्रवाहित कर, क्रान्ति का संदेश दिया है, जो स्पष्टत: कवि की प्रगतिशील चेतना का द्योतक है। कवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने आज के समाज के यथार्थ को खुली आँखों से देखा है। गरीब कन्याओं की शादी में कितने व्यवधान उपस्थित होते है, रसिकता की भावना कितनी निरीह अबलाओं को चरित्र भ्रष्ट कर देती है, आदि अनेक पक्षों का बड़ा तीखा, मार्मिक तथा कटु सत्य-चित्र 'गाथा' में अंकित है। कवि नारी को आत्मबोध और जीवनमूल्य के सन्दर्भ में चेतावनी देता कहता है— 'रूप मात्र तुम नारी नहीं हो, पहचानो अपने को।" इसमें पूजा के समय "गंगा-चढौती" का चित्र भी करुणा उद्वेलित करनेवाला है। "गाथा" की भूमिका में नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है—"जानकीवल्लभ शास्त्री की लेखनी के स्पर्श से कविता के लिए त्याज्य विषय ही नहीं, कितने अभिशप्त शब्द भी उद्धार पा गये हैं।"

पाठकों को यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि शास्त्रीजी में अन्य छायावादी कवियों की तरह नैराश्य की भावना ही प्रधान है, बल्कि सच्ची प्रगतिशील चेतना के निष्ठावान कवि का रूप भी पूर्ण गति तथा तीव्रता से व्यक्त हुआ है। उदाहरण के लिए देखें—"बना घोंसला पिजड़ा पक्षी" में आशा के अरुणिम-आलोक की भव्यता है। इसी तरह दो पुलिनों से बंधकर भी कितनी स्वतन्त्र है जीवन-धारा में उमङ्ग और तज्जनित मौज की भावना। "तीर-तरंग"

के उपर्युक्त दोनों पदों से पाठक इस सत्य को सहज रूप से समझ सकता है।

कवि (कलाकार) संवेदनशील प्राणी होता है। अतः जीवन के अनेक क्षण, मनोभूमि और परिवेश-जनित अनुभव उसकी लेखनी के माध्यम से व्यक्त होते रहते हैं। शास्त्रीजी के कवि के साथ भी यही सत्य है। इसके साथ ही, उनकी अनेक कविताओं में वैयक्तिक भावानुभूति, विरह, वेदना तथा दार्शनिक चिन्तन का प्रकर्ष अभिव्यक्त है, रूपायित है। "शिप्रा" काव्य संग्रह की "पार्वती का वाग्वाण", "पतझर", "सुमित्रा की शेष स्मृति" आदि कविताओं में सामाजिक, वैयक्तिक-व्यथा की प्रखर धारा है, जो पाठकों को निश्चित ही आन्दोलित किये बिना नहीं रहती। 'मेघगीत" में भी कवि की पुष्ट सामाजिक, प्रगतिशील चेतना से युक्त कई रचनाएँ पढ़ने को मिलती हैं। जैसे—"जीवन प्रसू भू पर घन, जीवन बरसाओ।" और "उतर रेत में, आक जवासों-भरे खेत में, पागल बादल आदि। कवि ने तो स्पष्ट आह्वान किया है—"शून्य गगन में व्यर्थ मगन मंडलाता है।" यहाँ पर कवि ने जीवन-जगत् की सार्थकता, महत्ता और कवि-कर्म का लक्ष्य आँकते हुए सर्वथा महत्त्वपूर्ण बात कही है। हिन्दी के महाकवि निराला ने भी "अनामिका" में अपनी धारा से शीतल करने की कामना मेघ से की है।

शास्त्रीजी की दृष्टि विश्व की ओर सदैव निष्पक्ष और खुली रही है। वह युग की राजनैतिक स्थिति से भी पूर्णभिज्ञ हैं। इसलिए उन्होंने बड़े ही स्वाभाविक ढंग से पूर्व और पश्चिम की तुलना करते हुए लिखा है—"पूर्व दिशा में बादल उमड़े पश्चिम बिजली चमकी। और पूर्व पूर्ववत् शान्ति उपासक, पश्चिम देता धमकी।" आज भी पूर्व और पश्चिम का स्वभावगत अन्तर विश्व के समक्ष स्पष्ट है। परन्तु इस विषम परिस्थिति में भी कवि आशावान बना दीखता है। उसकी लेखनी से ओज स्वर में आशा का स्रोत फूट पड़ा है—"अंधकार का मार्ग दुरूह, भेद सकूँगा मैं यह व्यूह।" ऐसी पंक्तियों को देखकर यह कहना सार्थक होगा कि शास्त्री जी केवल रूप-विलास और कल्पना-वैभव के कवि नहीं, बल्कि चिन्तनधारा तथा जीवन-जगत् के यथार्थ के भी सफल संयोजक हैं। आलोच्य कवि की "अवन्तिका" पुस्तक में भी कई ऐसी कविताएँ हैं, जिनमें आधुनिक जीवन की विषमता से क्षुब्ध मानसिक व्यथा, दलितों के प्रति सहानुभूति, जीवन के सत्यों का मौलिक आग्रह तथा शक्तिमत्ता की उद्घोषणा है, जो प्रगतिशील चेतना के पुष्ट बीज हैं।

शास्त्रीजी की नवीनतम प्रकाशित कृति "बाललता" की कुछ रचनाओं में इस चेतना का तीव्र वेग सहजरूप से अनुभव किया जा सकता है। उदाहरण के लिए "शिशु का रक्त व्योम में फैला, "राजा के बगीचे में, "कपोत-कपोती", "विधवा", "भिक्षुक", "मन न हारे", "काम रहने दो", "बादल राग (2) और (3)", "गोरी सरकार", "जग और युग", "जागो", "आज का आदमी", "मुंशी", "परिष्कार", "जीवन-कला", "शुष्क काष्ठम", "साधना", "जीने की कला" आदि को देखा जा सकता है। कवि का संवेदनशील हृदय जहाँ आज की सामाजिक विकृतियों / विषमताओं से क्षुब्ध है, वहीं दूसरी ओर उसकी वाणी में युग की चुनौतियों को स्वीकार करने का ओज है और नवीन दिशा के निर्माण की उत्प्रेरक उद्घोषणा भी है। समाज की त्रुटिपूर्ण व्यवस्था की ओर इंगित करते हुए कवि ने लिखा है "शिशु का रक्त व्योम में फैला"। पूँजीपतियों, जमीन्दारों के शोषण से गरीब, मजदूरों के अबोध बालक का रक्त मूल्यहीन होकर फैल रहा है। उनके माँ-बाप बेगार में पीसे जाते हैं और उनके बालक अन्न और दूध के अभाव में मृत्यु के गाल में तड़प-तड़पकर चले जाते हैं। इसीलिए कवि क्रान्ति का बिगुल फूँकता है—

डंस कर साँप पताल में छिपा
शिशु का रक्त व्योम में फैला
डूबा सूरज, हुई शाम,
उग गया एक तारा मटमैला!

—बाललता, पृ०-१३

इसी तरह, आज के समाज में दुर्भाग्यवश नारी के वैधव्य होने पर क्षोभ से कहा है—

चिता-भूमि की कुसुमित लतिका—
लज्जित, सौरभ - भार वृथा!
किसे सुनाऊँ करुण कथा?

—विधवा

सचमुच विधवा भी मनुष्य है, उसमें भी हृदय और चेतना होती है, इसकी परवाह आज का पुरुष-प्रधान समाज कदापि नहीं करता है, जैसे— विधवा मनुष्य नहीं, मिट्टी की मूर्ति हो। आज की राजनीति पर भी उसकी दृष्टि सहज भाव से जाती है और खुले स्वर में वह कहता है—

जनता धरती पर बैठी है, नभ में मंच खड़ा है,
जो जितनी है दूर मही से, उतना वही बड़ा है!
यही त्रिपर्यय, यही व्यतिक्रम मानदंड नव,

मानी बादल

तू भी ऊपर ही से सैन चलाता है ?
तेरी बिजली राह दिखाती नहीं नई रे ?
यह परम्परा तो तू भी न ढहाता है ?

और इसी उद्वेलन में ही सृजनात्मक-रचनात्मक दृष्टि की आह्वानमूलक घोषणा वह करता है—

गिरि-शिखरों की उठा बाहुएँ, स्वर न अधर तक आता ।
आ रे आ, तुझको बुला रहीं तेरी धरती माता !

और इसी प्रतीक योजना में ही जीवन की सार्थकता के लिए उद्घोषित करता वह कहता है—

"उतर रेत में, आक-जवासों-भरे खेत में
पागल बादल,
शून्य गगन में व्यर्थ मगन मँडलाता है !
इतराता इतना सूखे गर्जन-तर्जन पर,
झूम-झूम कर निर्जन में क्या गाता है ?

कवि की दृष्टि कभी भी यथार्थ से अलग नहीं हुई है। वह जानता है, कठिन कार्य में सहयोगी का मिलना कठिन होता है। इसी युग-सत्य को व्यक्त करता वह कहता है—

कौन देगा हाथ जलती आग में ?
कौन देगा माथ खूनी फाग में ?
याद हैं पीयूष-पायी मित्र, पर —
कौन देगा साथ इस विष-पान में ?

—बादल राग–३

कवि ने अपनी प्रारम्भिक कविता में, जब देश परतंत्र था, यहाँ गोरों का शासन था, तब स्वतंत्रता की अभिलाषा में उद्बोधन का गीत गाते हुए कहा था—

अशन–वसन से हीन हम,
क्षुधित–तृषित हम, दीन हम,
× × × ×
मगर न हम गमगीन हैं,
जड़ें हमारी पीन है।

और—

यह प्रबोध का काल, चतुर्दिश शब्द, नाद बलशाली !
अभी फूटने ही वाली है, नव-प्रभात की लाली !!

कवि की अनुभूतिशील दृष्टि प्रखर है। उसने जगत् की यथार्थ स्थिति का अवलोकन करते हुए "जग और युग" शीर्षक कविता में स्पष्ट लिखा है—

"जग कि उदर, युग भूख—प्यास है,
जग जीवन, युग अश्रु—हास है।

इसीलिए उसने जागरण का गान करते हुए लिखा है—

जागो निद्रा-तन्द्रा के कर बिके हुए बेमोल।
उड़े सुरभि सब ओर भोर के सरसिज, सम्पुट खोल॥
× × ×
जागो, जैसे गरल-बुझे वाणों से बिंधा मृगेन्द्र !
फन फैलाए, व्यास—वृन्द लख चंचल-चंचु खगेन्द्र॥
जागो, आततायियों के सम्मुख ज्यों शतमुख क्रोध !
अवमानित, धूमिल आत्मा में ज्वलित अनल-प्रतिशोध !!

कवि को विज्ञान की विभीषिका भी विकराल रूप में दीख पड़ती है। इसीलिए तो कवि ने 'आज का आदमी' शीर्षक कविता में नाश का कारण बना विज्ञान और पतन का पर्याय अभ्युत्थान कहा है। ओले की तरह जिस शक्ति ने पनपती मानवता पर कहर ढा रखा है, उस विज्ञान को सचमुच में अभिशाप और पतन मानना उचित ही है। विज्ञान-युग ने ईमान को बाजार में बेच दिया है, फिर भी क्षुधा ऐसी है कि "सर्वग्रास रक्त पीकर" अपनी प्यास मिटाना वह चाह रहा है। इसीलिए उसने निर्भीक स्वर में समाज को ललकारते हुए कहा है—

बस बहाने ही सुराज—दुराज
आदमी क्या हो गया है आज !!

इसीलिए भावुक कवि की आत्मा पुरजोर शब्दों में, युग का आह्वान करती प्रगतिशील दृष्टि से क्रान्ति का गान गा उठी है—

तुम जलन लो, ज्वाला लो, चिनगारियाँ लो,
वर्तमान समाज को झट फूँक डालो !
जायगा पक जो घड़ा कच्चा अभी है,
जिन्दगी होती नहीं कच्ची कभी है।

"परिष्कार" में रामकथा के सीता उद्धार-प्रसंग के आधार पर युद्ध और प्रतिरोध को आवश्यक मानते हुए कवि कहता है—

वहाँ उपेक्षा कायरता है, जहाँ उचित प्रतिकार,
क्रोध से न प्रतिरोध, तो न हो सीता का उद्धार।
—"परिष्कार" शीर्षक कविता से

अन्त में, मैं यह भी स्पष्ट कहना चाहता हूँ कि इस दिशा में शास्त्रीजी के कवि में संकल्प शक्ति का ओज भी है जो यथार्थ से साक्षात्कार करने वाले कलाकार में ही होता है—

किन्तु अन्तर्देव, कर फैला खड़ा आगे तुम्हारे :
दु:ख कितने भी मुझे दो, ठान कर प्रण मन न हारे।

इस प्रकार, कवि ने "जीवन-कला", "साधना", "जीने की कला" आदि में भी मानवीय प्रगतिशील दृष्टि का परिचय दिया है। कवि की इस चेतना को विस्तारपूर्वक समझने में उनकी सद्यः प्रकाशित कृति "हंस बलाका" सहायक सिद्ध हो सकती है।



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-यात्रा

—डा० सियाराम शरण प्रसाद

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी-छायावादी काव्य-धारा के प्रमुख कवियों में हैं, ("काव्य ज्योति अरूप का, पर रूप छायावाद"—'रूप अरूप") जिन्होंने व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, रवीन्द्र और निराला के प्रभाव को ग्रहण कर भी अपना स्वतंत्र और प्रतिभापूर्ण मौलिक व्यक्तित्व रखा है। निराला के आग्रह से हिन्दी में आकर कला और दर्शन से हिन्दी साहित्य का किया हुआ श्रृंगार निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है, श्लाघनीय है। संस्कृत में सरस काव्य "काकली" के सृजन की प्रसिद्धि प्राप्त कर "रूप अरूप" के व्यक्त-अव्यक्त जगत् की भावानुभूति, मार्मिक दृश्यविधान को हिन्दी-पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर शास्त्री जी ने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। प्रथम कृति द्वारा इतनी स्वीकृति तथा प्रसिद्धि बहुत कम कवियों को प्राप्त हुई है या निकट भविष्य में होगी।

"रूप अरूप" में कहीं दैनिक जीवन की विश्रृंखलित क्रिया-कलाप, कहीं पीड़ा का मार्मिक उद्वेलित स्वर-निनाद तो कहीं आत्म-चेतना की दृढ़ता तथा उद्बोधात्मक शक्ति-समन्वित मनोराज्य का प्रतिष्ठापन है। कहाँ संस्कृत-गर्भित-निराला-अभिव्यक्ति-शैली-सा सौन्दर्य, कहाँ सरलतम भाषा में दारिद्र्य का सत्य परन्तु व्यंगात्मक चित्र, कहीं अभावापन्न नैराश्यग्रस्त विरह-वारिधि आलोड़ित है, कहीं आत्मचेतना का प्रस्फुरण। छायावाद की युग-चेतना, चतुर्दिक परिव्याप्त दैन्य-हिंसा-क्षोभ की समस्त विशेषताओं को "रूप अरूप" की छोटी-छोटी किन्तु, कालजयी रचनाओं में देखा जा सकता है। अभावग्रस्त वेदना के व्यंजित स्वर में आध्यात्मिकता (Sprituality) का

सर्वत्र आरोप आत्मावलोकन शक्ति के ह्रास का परिचय देना होगा। जिस भावना का स्पष्टीकरण "मेघगीत" में विस्तार के साथ देखा जा सकता है और व्यंगात्मक शैली का अनुपम प्रयोग "गाथा" में, जो अपनी दिशा में प्रकाश-स्तंभ है। "रूप अरूप" के "विश्व तुम्हारी माया',, "जीवन की छन-छन ममता", "मैं स्वर हूँ, तू है शब्दाकार" आदि गीत दार्शनिक हैं। डा० रामकुमार वर्मा और महादेवी के काव्य में जहाँ रहस्य प्रधान है वहां निराला और शास्त्री में दर्शन प्रधान हैं। परन्तु "तू निष्काम, कामना तेरी / नित्य वृद्धि पर, मति मेरी" में रहस्यमूलक भावना का अभि-व्यंजन है। "जीवन की ध्रुवतारा री", "चल रहे सांस के तीक्ष्ण तीर", "कुछ न होता ताप तो बनता कभी मुझसे न रोते", "जाग कर सोये", "बहुत पास मैं रहा तुम्हारे" आदि में दुःख और वेदना पूरी व्यापकता से प्रकट हुई है। "मैं न चातकी खो दूँ, अब अपनापन खो दूँ?", "तू मिले बेच दूँ प्राण भी" आदि निश्चय ही उच्चतम कोटि की कला-सृष्टियाँ हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में प्राकृतिक सौन्दर्य (Natural beauty) का भी बड़ा सुन्दर, सरस और मोहक चित्रण है। निश्चय ही पंत और Wordsworth से कम प्राणवत्ता शास्त्री जी के प्राकृतिक चित्रण में नहीं है। अन्त में प्रो० केसरी के मतानुसार कहा जा सकता है कि "यदि "काकली" स्वर सधान है तो "रूप अरूप" उसकी मूर्च्छना।" शास्त्री जी उन छायावादियों मे नहीं जो जीवनगत विषमता, पीड़ा से करुणार्द्र हो मात्र स्वप्न-संसार का प्रयाण करें, प्रत्युत् वे समस्त सामाजिक पक्षों पर दृष्टिपात करते हैं और अस्वस्थकर प्रवृतियों पर गहरा व्यंगपूर्ण चोट करते हैं। ड्रायडन के कथित व्यंग के अन्तर्हित स्वस्थ-सुधार भावना को शास्त्री जी ने बड़े सुलझे ढ़ंग से ग्रहण किया है। "गाथा" निश्चय ही ऐसा ही प्रयोग है जिसमें सामान्य स्तरों की जीवनानुभूत कहानियां हैं।

कवि खुली आँखों से दुनियां को देखता है। गरीबी और विवशता के सभी पक्षों का बड़ा तीखा, मार्मिक और कटु सत्य 'गाथा" में चित्रित है। वह नारी को भी आत्मबोध और चेतावनी देता है। पूजा के समय गंगा चढ़ौती का जो चित्र "गाथा" में उपस्थित किया गया है वह बड़ा व्यंजक और करुणा का सागर उद्वेलित करने वाला है। हरिहरक्षेत्र-मेला का वर्णन भी बड़ा अनूठा है। वे मनुष्यता के चित्रकार The Prisonyard की तरह मानवता के विस्तृत रूप को यथार्थ चित्र देना चाहते प्रतीत होते हैं। स्मरण रहे चौसर की प्रसिद्धि में यथार्थचित्रण (Realistic portraiture) बहुत बड़ा कारण है।

कुछ प्रगतिशील कवियों में भी इस प्रवृति का प्राधान्य है। भाषा की दृष्टि से नलिन विलोचन शर्मा के शब्दों को कह सकते हैं-"जेम्स ज्वायस, लारेंस और जान डास ने इस सम्बन्ध में जो प्रयोग अपने गद्य में किया है, वही शास्त्री जी ने अपने पद्य में किया।"(गाथा की भूमिका) निश्चय ही "गाथा" शास्त्री जी के महत्त्वपूर्ण कला-कौशल और यथार्थ अनुभूति एवं जीवंत दृष्टि चेतना का सरलतम भाषा में प्रतीक है। प्रयोग और व्यंग-क्षेत्र में "गाथा" का शीर्ष स्थान सुरक्षित रहेगा, ऐसा मेरा पूर्ण विश्वास है।

"तीर-तरंग" (१९३८-४३ तक की कुछ रचनाओं का संग्रह शास्त्री जी के ही शब्दों में—'अन्तरंग की कुछ जड़-चेतन प्रवृतियों की प्रतिच्छाया है।—मेरे जीवन की करुणा क्रमहीनता उसके गीतों में यथारूप प्रतिबिम्बित हो गयी हैं, इसलिए यह आश्वासन मुझे अनायास प्राप्त हो सकता है कि "तीर—तरंग" जीवन संगीत ही है।—इस सग्रह में भक्ति और अध्यात्म के साथ प्रेम और शृंगार के गीत हैं।—(भूमिका)

शास्त्री के "तीर-तरंग" में डा० रामकुमार वर्मा की तरह कहीं मिल–नाकांक्षा है, कहीं विरह–मिलन की धूप छाँह है। परन्तु जहाँ रामकुमार में सर्वत्र अलौकिक प्रणयभावना है वहां शास्त्री जी में यत्र-तत्र लौकिक-पक्ष सबल हो उठा है। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि शास्त्री जी आवेष्टन (Environment) की मनोभूमि को, सामयिक प्रेरणा (Contemporary inspirations) को ग्रहण अवश्यमेव करते हैं। यदि "मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ, जिस नाम से मुझे पुकारो उसी रूप का बना वही हूँ " में दार्शनिकता परिव्याप्त है तो "दो पुलिनों से बंधकर भी कितनी स्वतन्त्र है जीवन-धारा" में उमंग और तज्जनित मौज की भावना मुखर है। कलापक्षीय महत्त्व भी "रूप अरूप" से "तीर-तरंग" का अधिक है। उदाहरणस्वरूप देखें—

"मैं गाऊँ तेरा मंत्र समझ जग तेरी वाणी कहे, कहे।
मेरी तो कला वही, जिसमें हो तेरा सतत निवास।
मैं गढ़ूँ प्राण-प्रतिमा तेरी दुनिया पाषाणी कहे, कहे।
वह सुख न कभी भी मिले मुझे जिससे दुख ही होता दूना।"

उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रेम और साधना की गहरी संबंध–भावना का द्योतक है। संगीतात्मकता, सौन्दर्य-अंकन, भाषा-सौन्दर्य, भाषा-माधुर्य आदि दृष्टियों से भी इसका मूल्य आंका जा सकता है। "कैसे बन्द रखूँ चल

लोचन प्रिय अति सुन्दर हे" जैसी रचनाएँ शास्त्री जी ही की नहीं वरन् हिन्दी -साहित्य की अमूल्य निधि है। "तीर-तरंग" में कुछ मेघ-परक एवं उद्बोधनात्मक, प्रेरणात्मक, स्वस्थ भावना की प्रतिच्छाया है। "बना घोंसला पिजड़ा-पक्षी" में आशा के आरुणिम सूर्य की भव्यता है जो नैराश्य-जनित वातावरण (Despondence environment) में कवि की आशामूलक भावना का द्योतक है। आलोच्य कृति के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि दार्शनिकता की दृष्टि से शास्त्री जी कवि निराला के समक्ष हैं।

"शिप्रा" में भी विभिन्न मनोदशाओं और भावनाओं के व्यंजक मधुर तिक्त गीत विभिन्न छन्दों में व्यक्त हैं जिसमें प्रत्येक पद के आरम्भ में परिस्थिति, क्षण विशेष एवं मानसिक वातावरण पर प्रकाश डाला गया है, जिस क्षण अमुक भावना, अनुभूति और प्रेरणा से उद्वेलित हो कवि की पैनी लेखनी दौड़ पड़ी है और पृष्ठभूमि स्वरूप उल्लेखित गद्य भी कविता-सी सरसता, भावुकता और कोमलता की छोटी-छोटी लहर-सदृश है। स्मरण रहे कालिदास, वर्डस्वर्थ के प्रकृति-चित्रण की अपूर्व क्षमता और सौन्दर्यपूर्णता "शिप्रा" के प्रकृति-दृश्य-विधान में देखा जा सकता है। निश्चय ही, हिन्दी के छायावादी कवि पंत, रामकुमार, अंचल तथा शास्त्री के प्राकृतिक चित्रण का विश्व-साहित्य में अपना स्थान सुरक्षित रहेगा।

"नयन-मन-उन्मादनी, आज निकली चांदनी।
छा रहा दृग में नशीला एक सपना,
आज जिससे अवनि अपनी, गगन अपना,
आसमाँ बरसा रहा ज्यों नूर केवल।"

"पार्वती के वाग्वाण", "पतझर", "सुमित्रा की शेष स्मृति" आदि रचनाओं में सामाजिक, वैयक्तिक-व्यथा की प्रखर धारा है जो पाठकों का निश्चय ही मर्मस्पर्श किए बिना नहीं रहती; तो "ध्रुव-पद" में जीवन व्यंजना और अभिव्यक्ति-शैली निराला-सदृश्य है, सामासिक और संस्कृत-गर्भित है।

"किसने बांसुरी बजाई ?
जनम-जनम की पहचानी वह तान कहाँ से आई ?"

निश्चय ही, वह बड़ी कलात्मक रचना है जो शास्त्री-साहित्य में गौरव स्वरूपिणी सिद्ध हुई है। निम्न कविता में आधुनिक संघर्षशीलता, कोलाहलमय वातावरण और स्वार्थपरता का बड़ा accurate (यथार्थ) चित्र है—

"सब अपनी-अपनी कहते हैं,
कोई न किसी की सुनता है,

नाहक कोई सिर धुनता है।"

प्रस्तुत स्थल पर Arnold की निम्न पंक्तियाँ स्मरण हो आती हैं जिसने भौतिकवादी, स्वार्थान्ध वैज्ञानिक और एकांगी कर्म--प्रधान युग का चित्र अंकित करते हुए लिखा है—

Yes, while on earth a thousand discords rings,
Man's fitful uproar mingling with him toil,
Still do thy sleepless ministers move on,
Their glorious tasks in silence perfecting,
Still working, blaming still our vaintur moil,
Labourers that shall not tail, when man is gone.

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है "शास्त्री जी संस्कृत के मार्मिक विद्वान हैं। उनकी सहृदयता विद्या की आँच में सूख नहीं गयी है, बल्कि और भी द्रवित होकर प्रकट हुई है"—(विश्व भारती, शान्ति निकेतन के अप्रैल-जून अंक में)। कला के प्रति शास्त्री जी में कितनी जागरूकता है वह "शिप्रा" की भूमिका से ही पता चल जायगा—'जीवन के आवेग का अतुल आग्रह रखकर भी मैं काव्य में कला-तत्त्व के समुचित समावेश का तीव्र पक्ष-पाती हूँ---सुन्दर सरणि से सत्य को अभिव्यक्त करना ही कला है।—कहने का प्रयोजन यह कि कला केवल सौन्दर्य नहीं प्रत्युत् सौन्दर्यमय सत्य का दूसरा नाम है।"

"शिप्रा" के पश्चात् कोमल, मधुर गीतों का संग्रह "मेघगीत" भी वैचारिक विकास और कलात्मक परिपक्वता का द्योतक है।

मेघ भारतवर्ष की प्राकृतिक सम्पत्ति है जो आदि मानव से आज तक के प्राणावेष्टित, सहृदय प्राणियों को रस की मन्दाकिनी से अभिसिंचित करता रहा है, उनके कोमलतम हृत्तन्त्री को झकृत करता एवं कला-सृष्टि की भूमि की उर्वरता बढ़ाता आया है। नैसर्गिक दृश्य सत्य की प्रांजलता से भी हमारा कवि-समाज युग से अभिभूत एवं अनुप्राणित होता रहा है। मेघ व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, तुलसी, मीरा; प्रसाद, निराला, पंत, अंचल सभी को रससिक्त, भावावेष्टित करता रहा है—यह निर्विवाद स्वीकृत सत्य है। वैज्ञानिक वस्तु-सत्यान्वेषियों ने जहाँ कार्य-कारण श्रृंखलित तत्त्वों की विवेचना का यदाकदा प्रयत्न ही नहीं वरन् विभीषिकावतार करना चाहा है वहाँ कलाकारों ने अनुभूति को सजग रख कर, आनन्द के प्राणभूत तत्त्वों को अक्षुण्ण रखने का प्रयास किया है।

प्रत्येक साहित्य में मेघ को लेकर नाना दृश्य-विधान एवं रंगीन कला-चित्र उपस्थित किये गये हैं जो एक साथ हृदयग्राही और सुन्दर हैं। कालिदास के यक्ष का दूत "मेघ" भले ही वैज्ञानिकों को हास्यास्पद प्रतीत हो, परन्तु उसमें जो आनन्द संचरणशीलता है, उसे कोई भी सहृदय व्यक्ति अस्वीकार नहीं कर सकता। एक ही मेघ को "आषाढस्य प्रथम दिवसे" देख यक्ष अपनी प्रेयसी से मिलने को आतुर हो उठा, सूर की गोपिका का "पावस ऋतु प्रथम सुरति करि माधव जू आवैरी" की प्रतीति होती है, विद्यापति की नायिका कामातुर हो कह उठती है; "मत्त दादुर डाक डाहुक फाटि जायत छातिया" और मीरा की व्यथा बढ़ जाती है। कोई परोक्ष रूप से अपनी वेदना "देखी राम बरषा ऋतु आई, रोम-रोम दुःख हो आई" व्यक्त करते हैं। अर्थात् मेघ कलाकार को, मानव की भावभूमि को, विभिन्न प्रकार से स्पर्श करता रहा है। प्रकृति के बीच रहने वाले कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री को मेघ कभी रोमांचित करता है, कभी उनके गूढ़-दर्शन के कठिन अवगुंठन के रहस्य का उद्घाटन करता है तो कभी अन्य रसमय भावों का सृजन करता है। निःसन्देह महाकवि निराला की तरह 'मेघगीत" में आलोच्य कवि की विभिन्न मनःस्थितियों का सुन्दर संकलन हुआ है।

मानव जीवन नश्वर है इसलिए कवि को कभी "बादल चल जीवन की छलना" मालूम पड़ता है "जिसे सहारे ही समीर के, जल्दी-धीरे चलना" है। प्रकृति का बड़ा ही सजीव रूप शास्त्री जी ने निम्न पंक्तियों में चित्रित किया है—

> जो पत्र-पुटों पर टप-टप टपक-टपक कर
> आता जल, विहगों का दल लपक-झपक कर
> है उसे पी रहा झुक-झुक, उझक-उझक कर
> गीले डैने फड़का, सुलझा उलझे पर,

उपर्युक्त पंक्तियों में पक्षियों का हास-विलास, उनका अकृतिम सौन्दर्य साकार हो उठा है। सचमुच ऐसी चित्रात्मकता प्रशंसनीय है।

वर्षाकालीन चित्रों का अंकन करते हुए हमारा कवि कहता है :—

> यह हवा बीच से चली सजल मेघों के
> ऊदी-ऊदी, इठलाती, खाती झोंके,
> इतनी ठण्ढी कि कपूर-तुहिन-छवि छीनी,
> भरती सुगन्ध केतक की भीनी-भीनी,

मन-भावन मेघ को देख रवि बाबू का भी मन-मयूर नाच उठा था और तब वे कह उठे थे—

"आबार ऐसे छे आषाढ़, आकाश हेये
आसे वृष्टिर सुवास बातास वेये
एइ पुरातन हृदय आमार आजि
पुलके दुलिया उठिछे आवर वाजि
नूतन मेघेर धनिमार पाने चेये।

मेघ के पीछे भारतीय अध्यात्मवाद का नियम है, परन्तु उसका वैज्ञानिक कारण भी है। शास्त्री जी ने बादल का कलात्मक रूप अक्षुण्ण रखते हुए वैज्ञानिक सत्य की उपेक्षा नहीं की है—

"रवि-रश्मि-सहारे खिंचा स्वरस सागर का।"

रवीन्द्र-भावधारा से छायावाद बहुत अधिक प्रभावित है—इस कथन में कोई अतिशयोक्ति नहीं।

निराला ने भी गीतिका में इसी प्रकार लिखा है "बादल के पंखों पर उड़कर सावन की श्याम परी आई" और "पीत बदन पर धानी चुनरी, सौ शृंगार लजाते" में छायावादी कला और भी स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त हुई है। रवीन्द्र ने भी मेघों की आड़ में प्रियतम की मुस्कान आदि को नाना रूपों में देखा था।

जो मेघ संयोगावस्था में तो पीयूष की धार बनकर प्रेमी जनों को रससिक्त करता है, वही वियोगावस्था में दारुण परिस्थिति उपस्थित कर देता है। पावस में जब नायिका का नायक पास नहीं है तब वह स्पष्ट कहती है-"सूने घर-आंगन में क्या बरसात सुहाय।" जब पावस के शृंगार मेघ उमड़-उमड़ कर बरसा की झड़ी लगाते हैं, उसे मिलन की तीव्र उत्कण्ठा हो आती है—"मेघ के दिन किस तरह कोई बिताये। ....रैन में किस ठौर कोई चैन पाये।" (प्रस्तुत उद्धृत पदों का दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है; परन्तु मुझे यही अर्थ प्रिय है।)

कभी नायिका वर्षा के बादलों को देख प्रियतम के आने की आशा में सहेलियों से कहती है—"आओ आंगन में, सखि आओ, झूम-झूम, झुक-झुक, टुक गाओ।" नायिका को अटल विश्वास है कि ये बादल नायक के यहाँ भी छाये होंगे जिसकी प्रेरणा से वशीभूत होकर वह मेरे पास आ जायगा— "वहाँ भी घिरे होंगे ये घन, वहाँ भी भरा होगा सावन।" किसी ने ठीक ही कहा

है—'मुंच-मुंच सलिलं दयानिधे नास्ति नास्ति समयो विलम्बने, अध चातक कुले मृते पुनः वारि वारिधर किं करिष्यसि ?" सचमुच उपर्युक्त पंक्तियों तथा "मेघगीत" के अन्य पदों में एक विरहिणी बाला के मार्मिक व्यथाओं से आप्लावित सच्चे उद्‌गार पाठक के दिल पर चोट करते हैं। पावस की बूँदों के साथ पाठक के नेत्रों से भी जलकण टपक पड़ते हैं। 'गीला ही रहता आंचल यह बादल के दिन री' में भी व्यथा का स्वर तेज है। जब विरह की उत्ताल उर्मियाँ संयोग के अतल सागर में निमज्जित हो जाती हैं तब नायिका मेघों को निमन्त्रण देती हुई कहती है—"अब उमड़ो-घुमड़ो घन, मेरे जीवन-धन घर आए।"

संयोगावस्था की श्रृंगारिक चेष्टाओं की झाँकी "धुली केशराशि खुली रहने दे। मेघ-माल होती मालूम उन्हें"—जैसे पदों में देखी जा सकती है।

शास्त्री जी "बच्चन" की तरह क्षयशील कवि नहीं, जो विलासिता और हाला के मृदु निनाद में अपने को खो देना अपनी महत्ता समझते हों। उनके अन्तर में कलकल करती बहने वाली मंगल की पवित्र धारा प्रस्तुत पंक्तियों में स्पष्ट हो गई है—"जीवन-प्रसू भू पर घन, जीवन बरसाओ।" "दहन ज्योति ज्वाल-माल, तरुण तिमिर छाओ।" ऋग्वेद के मनीषी ने भी मेघ से प्रार्थना करते हुए कहा था—'शनैः कनिकद्रद्‌देवः पजन्योऽअभिवर्षुत।"

कवि ने प्रतीकार्थ लेकर "उतर रेत में, आक जवासों भरे खेत में, पागल बादल" में बड़े ही महत्त्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डाला है। कवि आह्वान करता हुआ आगे कहता है— —"शून्य गगन में व्यर्थ मगन मंडलाता है" कवि ने जीवन की सार्थकता, महत्ता एवं कवि-कर्म का लक्ष्य आंकते हुए महत्त्वपूर्ण बातें कह दी है।

निराला ने भी "अनामिका" में मेघ को अपनी धारा से शीतल करने की कामना की है। प्रत्येक देश अपनी विशेषताओं से पूर्ण है। पूर्व यदि नवीन विचारों का, आदर्श भावों का जन्मदाता रहा तो पश्चिम ध्वंस के लिए प्रसिद्ध रहा। आज की समसामयिक राजनैतिक घटनाओं से भी उक्त मत की पुष्टि होती है। कवि बड़े ही स्वाभाविक और सुन्दर ढंग से पूर्व और पश्चिम का तुलनात्मक चित्र आँकते हुए लिखता है—"पूर्व दिशा में बादल उमड़े, पश्चिम बिजली चमकी।" और "पूर्व पूर्ववत् शान्ति उपासक पश्चिम देता धमकी।" मनुष्य के जीवन में दुःख-सुख अनवरत आते जाते रहते हैं, यह प्राकृतिक साम्यवाद है, जिसका व्यतिरेक मानव की शक्ति से परे है "पथ अनन्त में भटक गया है बादल यही अकेला" में इसी भाव की व्यंजना है।

परन्तु कवि निराशावादी नहीं, वह तो स्पष्ट कहता है--"अंधकार का मार्ग दुरुह, भेद सकूँगा में यह व्यूह।"

शास्त्री जी केवल रूपविलास और कल्पना-वैभव के कवि नहीं प्रत्युत् उनमें शास्त्रीयता है, चिन्तन-धारा का अन्तःस्रोत निनादित होता दीख पड़ता है। शास्त्री जी की विविध विशेषताओं पर दृष्टिपात करते हुए हम यह स्पष्ट ही कहेंगे कि नृत-भंगिमाओं का शब्द रूप में चित्रित करना, ध्वनि-नाद का इतना सुन्दर अंकन करना "मेघ-रन्ध्र में मन्द्र-सान्द्र ध्वनि द्रिम-द्रिम-द्रिम उन्मत मृदंग की" शास्त्री जी जैसे सिद्धहस्त कलाकारों से ही सम्भव है। अन्ततोगत्वा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गीति-काव्य के सभी अपेक्षित तत्त्वों से जैसे गीतात्मकता, भावों का केन्द्रीयकरण, संक्षिप्तता आदि से सन्तुलित "मेघगीत" का रसास्वादन कर कोई भी पाठक स्वाभाविक रूप से सौन्दर्यान्वित हो उठेगा। सचमुच—

> बादल री, बिन्दु-बिन्दु मधु बरसे
> तरसे भूतल पागल री।

—जैसी रचनाएँ गीत-साहित्य में अलभ्य हैं।

"अवन्तिका" शास्त्री जी की विशिष्ट कृतियों में एक है, जिसमें कहीं गूढ़तम दार्शनिकता, कहीं आधुनिक-जीवन की विषमता से क्षुब्ध मानसिक व्यथा, सहानुभूति, सहजता का उद्रेक एवं जीवन के सत्यों की मौलिक आग्रह-शीलता, भावनाओं की अजस्र गंगा साहित्यभूमि की शक्तिमत्ता उद्घोषित करती हुई प्रणयनकर्त्ता को सफलतम श्रेष्ठ गीतिकाव्यकारों में स्थान सुरक्षित करती है। "रूप अरूप", "शिप्रा", "मेघगीत" आदि की भावमयता, कल्पना, सौन्दर्य, "गाथा" की मानसिक दुर्वृतियों पर व्यंगात्मक आक्षेप-शक्ति तथा "राधा" महाकाव्य आदि की प्रबन्धात्मक तथा कथात्मक सृजन-शीलता-समन्वित "अवन्तिका" में निश्चय ही अभूतपूर्व विषय वैविध्यपूर्ण रचनाएँ संग्रहीत हैं। वस्तु-पद्य-कौशल, भाषा आदि की विशदता और विविधता से संयोजित "निर्झरणी", "जीना एक कला है" की ऊर्ध्वगामी भावनाओं का संवहन करती जीवन-दर्शन पर प्रकाश डालती "बादलों से उलझ, बादलों से सुलझ ताड़ की आड़ में चाँद झाँकता" कहती एक प्रशस्त भावान्वित पथ की ओर निरन्तर अग्रसर हो रही है।

> "नीली पाखों वाली आँखों की झुक गयी हिलोर
> चाँद उतर आया, लो, भू पर, ऊपर उड़ा चकोर।"

ऐसी गीति-कविताएँ निश्चय ही सफल रचना-कर्म पर प्रकाश डालने में समर्थ हैं। ओज और माधुर्य का अपूर्व समिश्रण है "अवन्तिका"। निम्नलिखित पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं :—

"कर्ण हूँ, क्या कर्म से भी सूत मैं ?
तो कुमाता हो कहीं कि कपूत मैं !

किन्तु ब्राह्मण-देवता, क्यों भूलते——
पुष्प पूजा के कहाँ हैं फूलते ?

जाति पूछी है कभी मृगराज से ?
सत्य की सत्ता मिटाते व्याज से ?"

शास्त्री जी हिन्दी-साहित्य के महार्घ और गौरव-नक्षत्र हैं। इनके काव्य में तीन शैलियाँ व्यवहृत हुई हैं—व्यंगात्मकता, प्रबन्धात्मकता और गीति-काव्यात्मकता। इनमें अनुभूति, कल्पना-सौन्दर्य, नैराश्य-जनित व्यथा, प्रेरणा-मूलक भावना, रहस्यात्मकता तथा दार्शनिकता आदि तत्त्वों की विशदता "बाललता", "धूपतरी" और "श्यामा संगीत" की कविताओं में भी विविध रूपों में देख सकते हैं।

महाकाव्य की पूर्ण मौलिकता और उत्तरदायित्व से युक्त 'राधा' महाकाव्य हिन्दी-संसार में गौरव-स्तम्भ है, जिसमें राधा के शारीरिक पक्ष पर नहीं, प्रत्युत भावना की सिद्धि पर ध्यान केन्द्रित है :

राधिका कोई न नारी एक,
भावना वह हृदयहारी एक !
रक्त-मज्जा की नहीं वह देह;
राधिका का अर्थ निश्छल नेह !

शास्त्री जी की अभी अनेक अभूतपूर्व कृतियाँ अप्रकाशित हैं, जिनके प्रकाशन से हिन्दी साहित्य के गौरव की अभिवृद्धि होगी, ऐसी मेरी दृढ़ धारणा है।

— अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
रामेश्वर महाविद्यालय, मुजफ्फरपुर



'रूप-अरूप' की भाव–रमणीयता

□ प्रो० बिहारी लाल मिश्र

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से "रूप-अरूप" महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री की पहली काव्यकृति है। इसके दो खण्ड हैं—तनिमा और नीलिमा। तनिमा में १९३५-३७ ई० के पचास प्रारम्भिक गीत संगृहीत हैं; नीलिमा में १९३८-३९ ई० के इक्यावन गीत हैं। तनिमा अरूप है; नीलिमा रूप। इस प्रकार इस संग्रह से कवि के अरूप से रूप की ओर, अज्ञात से ज्ञात की ओर, भावना से बुद्धि की ओर बढ़ते जाने की सहज प्रवृत्ति द्योतित होती है।

'रूप-अरूप' के गीतों में नवीन युग की चेतना के सन्दर्भ में नए रूप-विधान, भव्य भाव-सौष्ठव और सुरुचिपूर्ण विचार-दर्शन की सृष्टि हुई है। यहाँ ब्रह्म और माया, जीवात्मा और परमात्मा, द्वैत और अद्वैत, आत्म और अनात्म, विद्या और अविद्या, क्षणिक और शाश्वत में संकल्प-विकल्पात्मक विवेचन की परिधि से बाहर निकलकर स्वतन्त्र रूप से सरस भाव-गीतों की रचना का उत्साह देखा जा सकता है। यहाँ काव्य और दर्शन के संयोग से उत्पन्न एक सरस अध्यात्म की अवतारणा की गई है।

कवि का आराध्य ब्रह्म का कोई पर्याय प्रतीत होता है। तभी वह कभी 'विश्व तुम्हारी माया-जैसी शाङ्कर अभ्युक्तियों के द्वारा, कभी 'जग के सजग ताप में निखरी कनक तुम्हारी काया' जैसी आत्मानुभूतियों के द्वारा, और कभी—

> महारण्य में मुझे छोड़ते यह भी याद न आया,
> जहाँ-जहाँ आलोक, रहेगी वहीं-वहीं पर छाया ?
>
> (पृष्ठ—६७)

जैसी तार्किक उक्तियों के द्वारा 'उसकी' सर्वव्यापकता प्रतिपादित करता है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" अथवा 'सर्व शिवमयम्' की पृष्ठभूमि में वह असन्दिग्ध रूप

से 'उसके' प्रति अवैकल्पिक आत्म-समर्पण का भाव रखता है। 'तू मिले, बेच दूँ प्राण भी।' और 'कैसे बन्द रखूँ चल लोचन, प्रिय अति सुन्दर हे!' आदि अनेक उक्तियों के द्वारा उसने निःशेष भाव से इसी अप्रतिबन्धात्मक और निर्विकल्प आत्मार्पण की भावना को अविकल अभिव्यक्ति दी है।

इस आत्म-समर्पण में वह असीम आनन्द का अनुभव करता है। तभी वह अपने-आपको 'उसकी' जीवित छाया तक घोषित कर देता है। यही नहीं, वह अपने लौकिक जीवन का प्रत्येक कार्य 'उसी' के अव्यक्त संकेतों से संचालित होता देखता है—

तेरी चपल उँगलियों से कम्पित साँसों के तार,
मेरे अखिल-निखिल कलरव का यही मर्म रे सार!

(पृष्ठ—७८)

और आत्मार्पण के इस लोभ में वह यहाँ तक कह जाता है कि–'पथ-भ्रम क्या? उसके पद–क्रम से अलग तनिक मैं डोल न सकता।' 'उसकी' भक्ति के मार्ग में चलते जाने की लगन यदि 'उसके' शाप से प्राप्त हो तो कवि को वो भी स्वीकार है। हाँ, वह शाप भी 'उसके' पथ पर चलते जाने का ही होना चाहिए—

दो शाप, तुम्हारे पथ पर चलते
रहने का हो अन्त नहीं। (पृष्ठ–१०२)

और जीवन के अभावों की पूर्ति के लिए, स्वाभाविक दोष-दुर्बलताओं के निवारण के लिए, पन्त जी के––

वंशी से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ सरस वचन।

के स्वर पर हावी होकर 'उसी' से याचना करता है—

बहु छिद्रों से भरा, हरा पर,
मेरा जीवन–वेणु सरलतर;
भर दो अपना स्वर अविनश्वर,
मेरे देव! सत्य, शिव, सुन्दर! (पृष्ठ–२)

उस अरूप आराध्य के प्रति कवि की आस्था इतनी अडिग है कि 'उसके' प्रति किसी कठोर शब्द के व्यवहार की संभावना नहीं! किन्तु यह एक निर्मम सत्य है कि 'उसके' भक्तों ने ही उसके लिए 'निष्ठुर' शब्द का प्रयोग कर दिया है। यही हमारे कवि को सबसे अधिक खलता है। जो प्रतिदिन

सुन्दर से सुन्दर सपने बनकर आँखों में आता है, जो अरूप होकर भी करुणा का रूप है उसके प्रति संसार की यह निर्ममता उसकी उदात्त भक्ति-भावना को ठेस पहुँचाती है। सो वह मानों आकृष्ट होकर कह उठता है—

हे देव, तुम्हारा 'निठुर' नाम !
किस कृपण कोष से यह सुवर्ण
पा गया नि:स्व यह विश्वधाम ? (पृष्ठ—६३)

हमारा कवि ऐसे सम्बोधन को 'प्रेम-लपेटे अटपटे' बैन नहीं मान सकता। वह इस आराध्य के निष्ठुर प्रेम का प्रकाशक नहीं है। वह तो उसकी पक्ष-पात-रहित करुणा का सन्देशवाहक है, कहता है—

तेरी उदार करुणा प्रकटित
करता हूँ, निष्ठुर प्यार नहीं। (पृष्ठ—६९)

जहाँ कवि ने स्वयं 'निष्ठुर' शब्द का प्रयोग किया है वहाँ भी ध्वनि करुणा की ही व्यञ्जित होती है।

कवि का आराध्य वह अखण्ड सत्ता है जिसे सत्य, ज्ञान, प्रेम और आनन्द का सजल समन्वय कहा जा सकता है। सत्य, ज्ञान, प्रेम और आनन्द की पृथक् अनुभूतियों को पृथक-पृथक् अभिव्यक्ति देने वाली सरल रचनाएँ भी हैं, किन्तु अधिकांश रचनाओं में इनका संयुक्त रूप ही दिखाई देता है। 'रूप-अरूप' में वस्तुत: वैदिक काल से लेकर अबतक प्रवाहित होती आ रही आध्यात्मिक चेतना की विभिन्न धाराओं का वह संगम है जिसपर आधुनिक विचारधारा में बहने वालों की आस्था भी टिक सकती है।

रहस्यमय सत्ता की अभिव्यक्ति की आकुलता के कारण संग्रह के अधिकांश गीतों का स्रोत छायावादी काव्य-प्रवाह की रहस्यवादी धारा से फूटता, दिखाई देता है। आराध्य को प्रियतम बनाकर कवि ने कहीं-कहीं फारसी-ईरानी सूफियों की तरह एकान्त वाटिकाओं और वन-उपवनों में प्रेम-परिचर्या और आध्यात्मिक आराधना द्वारा उसे प्रसन्न करने का प्रयास किया है। प्रणय-गीतों की नायिकाओं के माध्यम से भी दार्शनिक रहस्य-भावना भावित हुई है। वे भी अदृष्ट की आराधना में इतनी लीन हैं कि आत्मसमर्पण की उमंग में अपने-आप को खो देती हैं। जैसे—

कैसे लौट चलूँ ? पद-पद पर प्रियपद-रेखा री !
आज मिलें शायद, अदृष्ट को किसने देखा री ? (पृष्ठ—७९)

फिर भी ये गीत सूफी कवियों के अनुकरण नहीं हैं, क्योंकि कवि का आराध्य सूफियों के सगुण-निराकार इष्ट से भिन्न कबीर के 'लाल' की तरह निर्गुण-निराकार है। वह स्पष्ट कहता है—

> चला तुरत तब कलाहीन लेकर मैं
> वही पुरानी बीन क्षीण-गुण, निर्गुण !
>
> (पृष्ठ—७)

यहाँ तक कि एक स्थल पर 'साईं तेरा तुज्झ में' के स्वर में स्वर मिलाता हुआ कहता है—

> फिर-फिर जाता हूँ भूल-भूल,
> रहते तुम मेरे पास-पास। (पृष्ठ-१२)

यद्यपि तुरत ही स्वर बदल जाता है, और वह अपने लहजे में, अपने ढंग से 'उसकी' असीम दयालुता, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का सहारा लेकर कहने लगता है—

> अन्तर्यामी, हो जान रहे—
> विस्मृति का मेरा महाभ्यास;
> पर तुम तो भूल सके न, शूल-दल-
> विकल वृन्त पर खिलने आए। (पृष्ठ-१२)

वस्तुत: हमारे कवि की साधना-सरणि कबीर के ज्ञानाश्रयी भक्ति-मार्ग से भी भिन्न है। उदात्त, उदार, कोमल, सुकुमार भावनाओं की अभिव्यक्ति की आकुलता रखने वाले किसी भी समर्थ कवि के लिए पिटी-पिटाई लीक पर चलना संभव भी नहीं है।

'रूप-अरूप' का कवि वादविशेष के साम्प्रदायिक दायरे में बन्द रहना नहीं चाहता। वह सृजन-मार्ग पर स्वच्छन्द होकर चलना चाहता है, तो भी उसके काव्य में अनेक वादों का समावेश हो गया है।

कवि न नियति के क्रूर-कठोर चक्र से भयभीत है न संसार को असार और लोक-जीवन को मिथ्या ही मानने को बाध्य है। अत: उसकी प्रवृत्ति पलायनवादी नहीं है। वह अरूप के लिए रूप की, लोकातीत की आराधना के लिए भौतिक यथार्थ की और आध्यात्मिक उपलब्धि के लिए सांसारिक जीवन की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसकी दृष्टि में अलौकिक सत्ता की स्वीकृति के लिए लौकिक सत्ता की, अदृश्य जगत् के लिए दृश्य जगत् की, अनन्त आत्मा के लिए सान्त जीवन की, असीम आकाश के लिए ससीम पृथ्वी

की, कल्पना के लिए वास्तविकता की अस्वीकृति अनिवार्य नहीं है। अभावों से ग्रस्त और दुख-दर्दों से व्याकुल देश, रूढ़ियों, अन्धविश्वासों और निरर्थक निषेधों से जकड़े समाज तथा राजनैतिक कुचक्रों में फँसे राष्ट्र की उलझी-पुलझी समस्याओं से किनारा करना उसके लिए संभव नहीं है। सन्देह नहीं कि उसमें रहस्यमय सत्ता की अनुभूति की इच्छा है, किन्तु उससे मिलने की इच्छा उत्कट नहीं है। बल्कि सांसारिक सम्बन्धों से छुटकारा पाने की अपेक्षा उसे उसके' विरह-वियोग में जलते जाना कहीं ज्यादा पसन्द है। वह कहता है—

सिन्धु-मिलन की चाह न उतनी,
मुझको तो बहते जाना है ! (पृष्ठ ४४)

उसे विश्वास है कि अगर कोई रहस्यमय सत्ता है और अगर यह सच है कि सत्कर्मों के फलस्वरूप, अन्त में जीवात्माओं का मिलन 'उसी' से होता है तो निश्चित है कि उनका मिलन आप से आप हो जाएगा। आवश्यकता केवल सत्कर्म संकुल जीवन को बारहमासी नदी की धारा की तरह अक्षुण्ण बनाए रखने की है। धारा अगर निरन्तर बहती जाए तो वह 'पत्थर-चट्टानों की कारा' तोड़ती हुई, अपना पथ आप गढ़ती हुई किसी-न-किसी दिन महासागर तक पहुंच ही जाएगी। लेकिन यदि वह बीच राह में सूख गई तो 'सिन्धु-मिलन की चाह' रखकर भी उस तक नहीं पहुँच सकती।

इसी तरह जीवन की धारा यदि सूख जाए तो आत्मा का विकास कौन करेगा और परमात्मोन्मुख कौन होगा ? माना कि जैसे नदी दो कछारों के बीच बँधी चलती है वैसे जीवन भी जन्म-मरण के अभंश कगारों के बीच बंधा चलता है। किन्तु अनुकूल अवस्था आने पर जैसे नदी कछारों को तोड़-कर, सैकत-पुलिनों को आप्लावित कर बाहर बहुत दूर तक फैल जाने के लिए स्वतन्त्र रहती है वैसे ही जीवन भी जन्म-मरण के कगारों को तोड़कर उनके आर-पार निरन्तर बहते जाने की प्रचुर क्षमता रखता है। यदि इस क्षमता को पहचाना जाए तो अनन्त सत्ता से जीवात्मा का मिलन अवश्यम्भावी है, उसे कोई रोक नही सकता। कवि सश्लेष कहता है—

दो पुलिनों से बँधकर भी
कितनी स्वतन्त्र है जीवनधारा !
रोक रखेगी मुझको कबतक
पत्थर-चट्टानों की कारा ? (पृष्ठ ४४)

कवि के मन पर एक आनन्दमय विरह का प्रभुत्व छाया हुआ है। इस अद्भुत विरह-भोग का खास कारण है। हमारा कवि निःस्वार्थ है। वह जानता है कि उसके विश्वजनीन प्रियतम पर एक उसी का नहीं, सबका अधिकार है। ऐसे में वह 'उसे' अपना लेने की हिमाकत कैसे कर सकता है? इस स्वार्थपरता से तो 'उसके' विरह में तड़प-तड़पकर जीवन बिता देना कहीं अच्छा है। वह कहता है—

कह, कैसे अपना घर भर लूँ?
वह सबका धन है!
कैसे रोक रखूँ जब सबका
वह अनिकेतन है? (पृष्ठ ५१)

वह इस सत्य को भी नज़रअंदाज़ नहीं कर सकता कि सीमित जीवन की छोटी परिधि में विराट् की असीमता को समेट लाने का दुस्साहस सूर्य को पृथ्वी पर उतार लाने की दुश्चेष्टा की तरह कुपरिणामी और भयावह होगा। वह 'उसकी' संपूर्ण प्रकाश-दीप्ति की त्वरा को सँभाल लेने के असम्भव उद्घोष की ढिठाई नहीं करना चाहता। वह जानता है, 'उसकी' एक झलक से हज़रत मूसा को मूर्छा आ गई थी। अपनी इस बेबसी को वह ईमानदारी से आंकता है—

कैसे विकल कलश में भर लूँ
सकल समुन्दर है? (पृष्ठ ५६)

तर्क-बुद्धि से लैस इस कवि-केसरी का दृढ़ विश्वास है कि उस अदृष्ट के विरह बिछोह से ही दृश्य जगत् का अस्तित्व क़ायम है। यदि विश्व 'उसको' मिल जाए तो 'उसी' की तरह निर्गुण-निराकार होकर अदृश्य हो जाएगा। और वह नहीं चाहता कि विश्व अनस्तित्व में बदल जाए, चाहे वह तड़प-टीस, आह-कराह से विकल ही क्यों न हो। इसलिए वह आराध्य को सम्बोधित कर कहता है—

तेरे वियोग से, बिछुड़न से
है बना विश्व यह दृश्यमान,
इसलिए तो यहाँ तड़प-टीस
उच्छ्‌वास-विकल हैं सकल प्राण! (पृष्ठ ६५)

फिर मिलन की सार्थकता के लिए भी तो विरह का होना आवश्यक है! यदि विरह हो ही नहीं तो मिलन की आवश्यकता क्या होगी? यदि दुःख न हो तो सुख का स्वाद कैसे मिलेगा? इसीलिए कवि कहता है—

चाहूँगा क्यों बिना दुखों के
मैं क्षण भर भी सुख पाना ?
नित नूतन रखने को तेरा
मिलन विरह बिछुड़न भी हो। (पृष्ठ ६६)

ऐसी दशा में कवि की रचनाओं में विरहाकुल भावोद्गारों की अधिकता हो गई है, और वह सचित, घनीभूत पीड़ को इन शब्दों में व्यक्त करता है कि –

आया तू न आजतक, तेरी
राह आह भर हेरी ! (पृष्ठ ६)

तो वह सहज ही व्याख्यायित हो जाता है। वस्तुतः कवि की प्रत्येक रहस्यानुभूति, प्रत्येक आध्यात्मिक स्फुरणा विरह की इस अनिवार्यता से ओत-प्रोत है। इससे उसे सुख भी मिलता है। वह कहता है—

बड़ी सुखद री पीर विरह की,
तूने हाय न जानी ! (पृष्ठ ७२)

विरह की इस अद्भुत कल्पना ने कवि की रहस्यात्मक अनुभूतियों में अनोखापन तो ला ही दिया है, उसकी भावाभिव्यक्ति को मार्मिकता भी प्रदान कर दी है। सन्देह नहीं कि विरह की मार्मिक अभिव्यंजना मध्य-कालीन कवियों ने भी की थी। परन्तु उनकी विरहाभिव्यक्ति का उद्देश्य सांसारिक जीवन की सार्थकता सिद्ध करना नहीं था। कहा जा चुका है, हमारे कवि के लिए प्रियतम-वियोग आध्यात्मिक ऊँचाइयों से लोकजीवन के समतल पर उतरने का मङ्गलमय माध्यम है। प्रिय-विरह की भावना जितनी ही तीव्र होती गई है उतना ही वह दृश्य जगत् के पास आता गया है। और जब यह भावना और तीव्र हो गई है तब—

बड़ी साध, उजड़ी कुटिया में
तुझे बुलाऊँ, बिठलाऊँ;
तेरे चरणों पर अर्पण को
मेरा निज जीवन भी हो ? (पृष्ठ—६६)

—जैसी पंक्तियों द्वारा कवि ने अप्रत्यक्ष रूप से यह कहना चाहा है कि तुम मुझे मेरे जीवन की ओर ही जाने दो; जीवन होगा तभी तो तुम्हारी आराधना भी होगी ? अन्त में वह यहाँ तक कह जाता है कि यदि तुम्हारी लगन न लगी होती तो मैं ईमानदारी से संसार को सँवारने में लगा रहता, और

तब सारी दुनिया मेरे साथ होती। तब मैं उस तरह न फिसलता न डगमगाता—

भूल जाता मैं कहाँ जब सब बटोही साथ होते !
क्यों फिसलता इस तरह ? जग के सँभाले हाथ होते;
जगी जगमग ज्योति होती, स्वर्ण-संध्या-प्रात होते,
क्या न होता, एक मेरे आज तुम कोई न होते ?

(पृष्ठ—१८)

इस प्रकार अरूप का रूप में, अगोचर का गोचर में पर्यवसान हो गया है और कवि की जीवनोन्मुखता बढ़ गई है। इतना ही नहीं, वह साधों के नव-बन्धन में बँध गया है। सांसारिक जीवन को भोगना उसका लक्ष्य हो गया है। अतः वह अपने मन-भृङ्ग को अनासक्ति के विरुद्ध चेतावनी देता है—

साधों ने बाँधे नव वन्धन।
मुझे मुक्ति प्यारी न, शुक्ति मैं,
गुप्त अभी मेरे मुक्ता-गण।
मुद्रित-मुख बालारुण-उन्मुख
हृदय-पद्म चल सजल-सद्म-सुख,
मत असङ्ग हो भृङ्ग ! अभी सब
जन्मजात अज्ञात सुरभि-धन। (पृष्ठ—४३)

क्रमशः मन के अदृश्य व्यावर्तन से अब वह संसार की प्रत्यक्ष सत्ता और सम्पूर्णता के प्रति ऐसा आस्थावान् हो गया है कि उसके रोदनमय **प्यार** के आगे स्वर्गीय रास-रंग और हास-परिहास भी स्पृहणीय नहीं रहा—

जो प्यार विश्व का रोदनमय,
लूँगा मैं हँसी उधार नहीं। (पृष्ठ—५०)

'महासागर' लहरों के हाथ तट तक लाकर कहता जाता है, लो मैं स्वयं लिवाने आ गया। चलो, इस असार संसार को छोड़ उस पार चलो। जंजालों से मुक्ति पाओ। लेकिन कृतज्ञ कवि नहीं भूल सकता कि विश्व ने उसे बहुत कुछ दिया है। अतः वह उस पार जाने से साफ इनकार कर देता है, कहता है—

पर मुझपर जग-आभार-भार,
जाऊँगा मैं उस पार नहीं। (पृष्ठ—५०)

'आसमाँ की आस तज भूपर पड़े मेरे सितारे' जैसी अनेक उक्तियाँ प्रमाणित करती हैं कि कवि आसमान में उड़ने की अपेक्षा धरती पर चलते जाना कहीं बेहतर समझता है। वह आसमान ताकता नहीं, उसके खोखलेपन को धिक्कारता है। उसे पृथ्वी की पूर्णता पर विश्वास है—

गगन में उड़ना न उन्नति,
शान्ति क्या, जड़ता ?
पूर्ण भू तज शून्य तक
आते लगेगी देर। (पृष्ठ—५५)

उसका सर्वस्व इस पृथ्वी के लिए है। वह अपना सारा वैभव इसी पर लुटा देना चाहता है, अपना सारा सौरभ सजग हो धरातल पर बिखेर देना चाहता है—

प्रिय वसन्त बसा हुआ
मेरे गहन मन में
× × ×
बाग में जग के चलूँगा
सरस सुरभि बिखेर। (पृष्ठ—५५)

वह केवल बसी-बसाई दुनिया का, लगे-लगाए बागों का आनन्द लूटने नहीं आया है, बल्कि वह उजड़े दयारों को बसाने, सूने भूखण्डों में फल-फूल लगाने भी आया है। वह भावी मनुष्य के लिए कुछ स्थायी, फलोत्पादक कार्य कर जाना चाहता है—

सूने, उजाड़ में बाग लगाने
आया हूँ पहले ।
× × ×
पल्लव-पल्लव में राग जगाने
आया हूँ पहले । (पृष्ठ—५६)

हमारा कवि न भाग्यवादी है न भोगवादी, वह विशुद्ध कर्मवादी है। उसने जीवन की संघर्ष-शीलता पहचानी है। वह जानता है कि जीवन की सुनहरी नौका को लहरों और तूफानों से घिर-घिरकर, लड़-भिड़कर तिरना पड़ता है। आलस-घन घिरने से डूबने का भय रहता है। अतः वह निरन्तर कर्म-निरत रहने की प्रेरणा देता है, साथ ही कर्म-फल से अनासक्ति की भी। प्रशंसा-पुरस्कारों से फूल उठने की प्रवृत्ति उसमें नहीं है। वह इनके बोझ से दबकर, इनके व्यामोह-बन्धन से बँधकर कर्त्तव्य-पालन में ढीलाई लाना नहीं चाहता—

मैं पहन सकूँगा हार नहीं
लगता यह मुझको बन्ध-सा ।
उन्मुक्त प्राण मेरे, सह सकते
हैं क्या घेरा नेह का ?
संकीर्ण गली में तो मुझसे
चलना न बनेगा अन्ध-सा । (पृष्ठ—१०३)

तो कवि कर्मठ है । अतः प्रगति उसके 'दृग का घेरा' (field of vision) हो गई है । वह अविकल, अखण्ड, प्रगतिपूर्ण जागतिक जीवन यापित करना चाहता है । अतः उसने अपने काव्य-पोत को अव्यय और अव्यक्त सत्ता के शून्य में मग्न नहीं होने दिया है, बल्कि उसे व्ययशील और व्यक्त जीवन की धारा पर सन्तरित कर दिया है । उसके सन्तुलन के लिए उसने मग्नता (draught) और अमग्नता (freeboard) का उचित अनुपात स्थिर रखने की अनिवार्यता महसूस की है—जीवन की वास्तविकता और अध्यात्म की अलौकिकता के सन्तुलित उत्कर्ष को सरस वाणी दी है ।

कवि की आध्यात्मिकता मध्यकालीन आस्तिकता से भिन्न तो है ही, आधुनिक साम्यवादी नास्तिकता से मुक्त भी है । इसमें न भावनात्मक अभिव्यक्ति के लिए बुद्धिवादी भौतिकता की उपेक्षा की गई है न बुद्धिवादी भौतिकता के लिए भावनात्मक अभिव्यक्ति की । यहाँ वस्तुजगत् और भाव-जगत् के आनुपातिक संयोग से, लोक और परलोक के सन्तुलित समन्वय से आधिभौतिक अध्यात्म का सृजन हुआ है । अतः एक ओर जहाँ वह प्राणि-मात्र में एक दुर्दम जिजीविषा प्रतिष्ठित करते हुए यह घोषित करता है कि—

तोड़-तोड़कर प्रस्तर के स्तर
झरता जीवन-निर्झर झरझर । (पृष्ठ—३)

वहाँ दूसरी ओर—

मेरा जीवन-घट भरा हुआ,
किसलिए सिन्धुतट जाऊँ मैं ?
छुपकर बैठा वह प्राणों के
है तार-तार झनकार रहा········ (पृष्ठ—६८)

कहकर प्रत्यक्षतः ऐहिक जीवन की सार्थकता और परिपूर्णता प्रतिष्ठित करते हुए भी वह अप्रत्यक्षतः अलौकिक सत्ता की आराधना की अनुपेक्ष्यता भी घोषित कर देता है । कवि न श्रेय के लिए प्रेय का बलिदान करना

चाहता है न प्रेय के लिए श्रेय को तिलाञ्जलि देना। वह दोनों का सन्तुलित सामञ्जस्य चाहता है। उसका कहना है, जीवन-निर्माण भी एक शिल्प है, 'जीना भी एक कला है। इसे बिना जाने ही मानव बनने कौन चला है?' माना, जीवन सुखधाम नहीं है। पर मरण भी तो उसका विराम नहीं है! जीवन तो मरण की क्षीणकाय सरिता के आर-पार निरन्तर लहराता रहता है। अतः कवि को जीवन की जटिलताओं से भागना स्वीकार नहीं है और इसीलिए वह जीवन की ममता नहीं त्याग सका है। इसीलिए वह उसके निर्माण के लिए सतत जागरूक है—

जीवन की क्षण-क्षण ममता,
दो प्रभु, इसकी नव-निर्मिति की
मुझमें परम चरम क्षमता। (पृष्ठ—७१)

धरती की ठोस वास्तविकता के बीच रहकर, प्रगतिपूर्ण जीवन में विश्वास रखते हुए, मानव-जीवन के सुख-दुख, आशा-निराशा, हार-जीत, इष्ट-अनिष्ट, सौन्दर्य-असौन्दर्य की भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हुए, जीवन-मरण, लोक-परलोक और सामयिक संस्कृति की जटिल समस्याओं को नए निदान देते हुए कवि ने एक समन्वित जीवन-दर्शन दिया है जो उसकी आंतरिक ऊष्मा से भावित और अनुप्राणित है। वह सांसारिक सुषमा की क्षणभंगुरता तो मानता है, पर उससे वह जीवन की निरर्थकता नहीं सिद्ध करता।

मरण के विषय में कवि की अपनी एक अलग धारणा है। वह उसे ऐहिक जीवन से स्थायी मुक्ति नहीं, बल्कि नव-जीवन का स्रोत मानता है। हाँ, उसे वह सांसारिक दुख-दर्द से क्षणिक छुटकारा अवश्य मानता है। तभी वह उसके लिए भी उतना ही उत्कलित होता है जितना जीवन के लिए। उसकी दृष्टि में मरण वह प्रेम-पात्र है जिसके वियोग में मनुष्य आजीवन जलता रहता है, जीवन के सारे शोक-सन्ताप झेलता-सहता रहता है। कवि कहता है—

अधिक अधीर चपल थे लोचन,
दिया इन्हें उज्ज्वल नव जलकण,
चिर-विरही सूने प्राणों में
चुपके स्वयं समाया!
मरण प्रेम बन आया! (पृष्ठ—४४)

जीवन के बाद मरण और मरण के बाद जीवन के सातत्य को सृष्टि का एक क्रम माना गया है। अतएव कवि सतत क्रियाशीलता और निष्कम्प

कर्मप्रवणता का हिमायती हो गया है। कमंठता की इस भावना ने उसे मरण के बीच जीवन, दुःख के बीच सुख, अभाव के बीच भाव को प्रतिष्ठित करने की प्रेरणा दी है।

काल के प्रति भी कवि का दृष्टिकोण न्यारा ही है। ठीक है, भविष्य के अपरिचय और अतीत के अनस्तित्व के कारण उसे वर्तमान पर अधिक आस्था है, लेकिन अतीत और भविष्य पर अनास्था नहीं है। वह जानता है, काल शाश्वत, सर्वप्रबल और सर्वस्वतन्त्र है। वह निर्मम है, किसी का इन्तजार नहीं करता। वह क्रूर भी है, आयु-अवस्था का भेद नहीं मानता, जो उसके गाल में पड़ जाता है, कवलित हो जाता है, चाहे वह नवजात शिशु हो, चाहे भुक्तायु स्थविर। अपने रथ के चरमराते चक्के में वह किसे नहीं पीस देता ? प्राणियों की साँसें क्या हैं उसके द्रुतगामी और तीखे तीर हैं। वे चलती जाती हैं आहत हो-होकर असु-पल झरते जाते हैं, आयु क्षीण होती जाती है।

किन्तु काल की क्रूरता से कवि भयभीत नहीं है, वह उससे साहस और पराक्रम का ही सन्दोहन करता है। अतीत चरका देकर चला जाता है, वर्तमान कायम नही रहता। पर इससे क्या ? उज्ज्वल भविष्य तो है ! शिशिर की सूखी हवा आगामी वसन्त की सूचना देती है, ग्रीष्म की लहकती लू वर्षा के आगमन की। वस्तुतः काल को जितना मोह भविष्य के लिए है उतना न अतीत के लिए है न वर्तमान के लिए। वह निरन्तर भविष्य की ओर ही बढ़ता जाता है। भविष्य की यह सुखद कल्पना ही कवि को वर्तमान के ताप से मुरझाने नही देती, विपरीत हवाओं से हारने नहीं देती, बाधाओं के सिर चढ़ बढ़ने का बल देती है। इसलिए अगर एक आधार दुर्बल हो जाता है तो वह दूसरा आधार ढूँढ़ निकालने के लिए तत्पर रहता है। वह कहता है—

> तपती जो भूमि तवा-सी है,
> तपने दो, मन नभवासी है;
> तनु तन भी यदि टूटी कुटीर,
> रहने दो, प्राण प्रवासी है। (पृष्ठ—१४)

हमारा कवि सांसारिक ताप से छुटकारा पाने के लिए आध्यात्मिकता का और अध्यात्मजन्य अकर्मण्यता से बचने के लिए जागतिक जङ्गमता का सहारा ले लेता है। भौतिक तन यदि टूटता प्रतीत होता है तो वह यह कह

सन्तोष कर लेता है कि प्राण तो इसमें केवल प्रवास करने आए हैं, यह उनका कोई स्थायी आवास तो नहीं है। फिर समय का बदलाव एक अटल नियम है। उद्भव के बाद विकास और विकास के बाद ह्रास सृष्टि का सहज धर्म है। अतः ह्रास से हतवीर्य होने का कोई कारण नहीं। एक का तिरोभाव हुआ तो दूसरे का उदय-अभ्युदय भी तो हुआ? वर्तमान गया तो गया, भविष्य का आगमन तो हुआ। कवि कहता है, यदि रात ढलती है तो ढलने दो, नई उषा का उदय तो होगा? देखो, नक्षत्रगण केवल इसलिए बुझने को तैयार हैं कि उनके बुझने से नई सुबह की रोशनी जगमगा उठेगी—

हो उषा-उदय, ढलने को तो
नक्षत्र कभी से हैं अधीर? (पृष्ठ—१४)

यह सोचकर कि उसकी साँसों के तीर तेजी से छूटते जा रहे हैं, इसलिए तरकश एक-न-एक दिन खाली हो जाएगा, कवि को कोई बेकली नहीं होती, बल्कि सन्तोष ही होता है कि उसके बाद लोक-मञ्च पर नई प्रतिभाओं का प्रकाश फैलेगा। कितना उदार है वह! कितना महान्!

कवि अन्तर्मुखी नहीं है, बाह्य सत्ता और उसकी अनुभूतियों से भी उसका हृदय स्फुरित-पुलकित होता रहता है। असल में उसके गरिमा-विहारी मन ने अन्तर्जगत् की समरसता और बाह्य जगत् की बहु-रसता के बीच तारतम्य स्थापित कर लिया है।

प्रत्येक प्राणी मनःस्थिति, अवस्था और पार्श्विक परिवेश से प्रतिपल प्रभावित और नियन्त्रित होता रहता है। अतः जो वस्तु अभी अनावश्यक प्रतीत होती है वही कभी आवश्यक भी हो जा सकती है। प्रातःकाल नीड़ छोड़ निकला हुआ पछी घोसले को, और घर छोड़ निकला हुआ पथिक घर को महत्त्वहीन समझता है। पंछी आनन्द से अच्छ्वसित होकर, गाने-चहकने लगता है, मानों घोसला छूटने का उसे कोई ग़म न हो, मानों वह कह रहा हो—

क्या निविड़ नीड़ से नाता? (पृष्ठ—४७)

यह सुन घर छोड़ बटोही भी विभोर हो उठता है। उसे लगता है जैसे पंछी उसी के मन की बात कह रहा हो। अतः वह भी उसी के स्वर में स्वर मिलाकर गा उठता है—

घर ओर व्यर्थ मन मोही। (पृष्ठ—४७)

दिनभर न पंछी को घोसले की याद आती है न पथिक को घर की। पर जब साँझ होती है तब दोनों थककर चूर हुए रहते हैं। तब उन्हें घर-घोसले की याद आती है। तब पंछी—

किसको न नीड़ से नाता ? (पृष्ठ—४७)

गाता हुआ घोसले की ओर लौट पड़ता है। पथिक भी घर की ओर मुड़ जाता है। तब उसे लगता है, घर से बढ़कर और कुछ नहीं है। इसी तरह मनुष्य जब धरती पर पाँव रखता है तब उसे अपने मूल स्रोत की न आवश्यकता होती है न उसका ज्ञान होता है। लीला-क्रीड़ाएँ, कामना-वासनाएँ उसे इतना उलझा-भरमा लेती हैं कि वह आत्म-परमात्म-सम्बन्ध के बारे में सोच भी नहीं पाता। पर जब 'ज़ईफ़ी ज़ोर पर आती' है, हाथ-पाँव चलने नहीं लगते तब कहीं उस अनदेखे के प्रति उत्सुकता जगती है, तब अकिञ्चित्त्व से आई आत्मा अकिञ्चित्त्व के निबिड़ नीड़ में जाकर सो जाना चाहती है।

इस सत्य के प्रकाश में कवि मानव-जीवन को निष्कपट, निःस्वार्थ, निष्कलुष, निष्कलङ्क, निस्तामस, नीराजस बनाना चाहता है। वह मन के नैतिक उत्थान के द्वारा मानवता को विकसित-परिष्कृत करना चाहता है। 'टूटी प्रिय डाल' जैसी रचनाओं द्वारा व्याधवृत्ति का मूलोच्छेद कर उसने दया-अहिंसा को भी प्रतिष्ठित किया है। किन्तु उसका ध्यान स्वार्थपरता और अतृप्ति नामक दो मानवीय दुर्बलताओं की ओर अधिक गया है। मनुष्य दुनिया की सारी सम्पत्ति अकेले ही हथिया लेना चाहता है। इतना ही नहीं, उसे कितना भी मिलता जाए, उसे तृप्ति नहीं होती। यह कवि को सह्य नहीं है। माना, व्यक्ति विशेष में जीने की इच्छा प्रबल है। पर दूसरों को भी तो जीने का अधिकार है ! भला स्वार्थ के साथ परार्थ को, अपनी आवश्यकता के साथ दूसरों की आवश्यकता को समझे बिना आदमी आदमी कैसे बन सकता है ? अतः कवि कहता है—

माना, प्रथम तुम्हीं आए थे,
पर इसके क्या मानी ?
उतने तो घट सिर्फ तुम्हारे,
जितना नद में पानी !
और कई प्यासे, इनका भी
सूखा हुआ गला है ! (पृष्ठ—८१-८२)

कहना न होगा, कवि आदर्शोन्मुख है। अतः कहीं-कहीं वह उपदेशोन्मुख (Didactic) भी हो गया है। 'पड़ा सूखा काठ' और 'जागकर सोए' जैसी

रचनाओं में उसका उद्बोधक रूप ही उजागर हुआ है। किन्तु उसकी उद्बोधकता प्रत्यक्ष नहीं, अप्रत्यक्ष है, अभिधात्मक नहीं, व्यञ्जनात्मक है। ऐसे स्थलों पर भी उसने अपना कवि-रूप नहीं छोड़ा है। अत: वह अधिक प्रभावशाली है। फिर उसने थोथे आदर्शों का समर्थन नहीं किया है, बल्कि युग की आवश्यकताओं के प्रतिकूल पड़नेवाली रूढ़िग्रस्त नैतिकता का प्रतिवाद भी किया है। वह कहता है—

क्या पुरानी बीन में रत ?
—कह रहा अब तरुण भारत—
रूढ़ि को कर क्षार भारति !
उतर लेकर ज्वाल री ! (पृष्ठ—३५)

वह रीति-नीति में समयानुकूल परिवर्तन चाहता है। अत: उसकी काव्यात्मा में सामयिक जीवन की सुषमा का प्रतिबिम्ब, सामयिक ईप्सा-आकांक्षाओं की पूर्ति की उमंग और सामयिक समस्याओं के समाधान की उत्कण्ठा देखी जा सकती है। जैसे परोक्ष के प्रति प्रणत रहकर भी वह प्रत्यक्ष की इन्द्रिय गम्य सौन्दर्यानुभूति के प्रति अधिक उत्सुक है वैसे ही अतीत और भविष्य के प्रति आभार-अवनत होकर भी वर्तमान के प्रति अधिक आकृष्ट है। अत: एक ओर जहाँ वह निष्कलुष आध्यात्मिक जीवन जीने की प्रेरणा देता है वहाँ दूसरी ओर, समय आने पर, क्रान्ति की आवाज भी बुलन्द करता है। उसकी अनेक रचनाओं से ध्वनित होता है कि वह समाज के आर्थिक-सांस्कृतिक विकास के साथ साथ राष्ट्र के राजनैतिक उत्थान के लिए भी उतना ही व्यग्र है। देश-भक्ति और राष्ट्र-प्रेम की बलि-वेदी पर मर मिटने की दृढ़ता कैसी निर्भीकता से व्यक्त करती हैं ये पंक्तियाँ !—

हँस-हँसकर जलनेवालों पर
आँसू बरसाया न करो।
बादल ! तुम सूने नभ में
आँसू भरकर आया न करो। (पृ०-९९)

कवि क्रान्तदर्शी है। विदेशी शासन के विरुद्ध उठी आवाज की शहादत करता हुआ भी वह यह महसूस करता है कि आन्तरिक सामाजिक और आर्थिक विषमताओं के विध्वंस से ही राष्ट्रीय उत्थान का नया ढाँचा ज्यादा मजबूती से खड़ा किया जा सकता है। उसे शोषित, दलित, उपेक्षित वर्ग से सहानुभूति है। निम्नोद्धृत पंक्तियाँ प्रमाण हैं—

बड़े-बड़े थे उनके बाल,
गोल, गुलगुले, गन्दे गाल,

चलते-फिरते, आते-जाते—
बाबू के बेटों के—
हँसकर सहने के आदी थे—
घूँसे, चप्पत, कोड़े ! (पृष्ठ—३४)

जहाँ अभाव से पीड़ित दलित-वर्ग के ढहते अरमानों का कारुणिक चित्र अंकित है, जहाँ बाबू-वर्ग और सेवक-वर्ग की आर्थिक विषमता के साथ पूर्व-वर्ती का अत्याचार भी व्यंजित है। इसी तरह नीचे की पंक्तियों में दरिद्रता का चरम दुष्परिणाम दिखाया गया है, सब कुछ खो चुकनेवाले एक अकिंचन (सर्वहारा ?) परिवार के प्रति सहानुभूति व्यक्त की गई हैं—

गई काटने गेहूँ अम्मा,
बाप गया बेगारी में है,
खा अफीम घर के कोने में
बच्चा पड़ा खुमारी में है। (पृष्ठ–२६)

और नीचे की पंक्तियों में भारत की विधवा की धुआँती-धुँधुआती भावनाओं को मार्मिक वाणी दी गई है, जो संसार भर की नारियों में सर्वाधिक उपेक्षित है—

मैं न बुझूँगी, अमर दीप की ज्वाला हूँ, बाला हूँ !
पलभर किसी कण्ठ से लगकर छिन्न हुई माला हूँ ! (पृष्ठ--२४)

दलित-वर्ग के प्रति कवि की सहानुभूति इतनी तीव्र है कि उसने आस्तिकता-आध्यात्मिकता भी उसी पर न्योछावर कर दी है। वह अपने आराध्य को इसी वर्ग में प्रतिष्ठित पाता है। उसका विश्वास है 'उसे' गुदड़ियों में लिपटे दीन-दुखियों की निरीह आत्माओं में देखा जा सकता है। अतः यदि उनकी सेवा-सहायता की जाए तो 'उसकी' अर्चा-आराधना हो जाए। और यदि उन्हीं जैसा बाना भी बना लिया जाए तो 'उसकी' प्राप्ति भी हो जाए और 'उसे' कोई छीन-चुरा भी न सके। गुदड़ी के 'लाल' को भला कौन पहचानेगा ?—

छीने कौन, गुदड़ियों में
किसने तुझको पहचाना ?
आह, तभी जीवन धन मैंने
लिया फकीरी बाना। (पृष्ठ—७३)

"रूप अरूप" के कवि ने चित्र संगीत का प्रयोग प्रचुरता से किया है। किन्तु ये दोनों तत्त्व यहाँ एक-दूसरे से इतने घुले-मिले हुए हैं कि इन्हें अलग-

अलग देखना उचित न होगा। हाँ, कहीं एक की और कहीं दूसरे की प्रधानता अवश्य देखी जा सकती है, जैसे—

सुमन-भार-नत तरु-वल्लरि-वन,
सौरभ-भार-अधीर समीरण,
प्राण-भार-बेसुध तनु तन, मन
छन-छन, छिन-छिन री !
घिर-घिर तिमिर भरे दिशि-अन्तर,
मिलित आज अलि, अवनी-अम्बर,
साँस ले रही एक अकेली
मैं ही गिन-गिन री ! (पृष्ठ—६१)

में 'सुमन-भार-नत तरु-वल्लरि-वन', 'घिर-घिर तिमिर भरे दिशि-अन्तर' और 'मिलित आज अलि, अवनी-अम्बर' के यथातथ चित्रों की विराट्ता की उपस्थिति होने पर भी मुख्यत: उच्च कोटि के शब्द-अर्थ-और भाव-संगीत का समवेत स्वर ही मुखर है जिससे यह प्राणवान् विरह-गीत और प्राणवान् हो गया है। इसके विपरीत—

सन-सन पवन-झकोर, मोर के पंख हिलोरें लेते,
बाल-बकावलि पाल, तरल जलधर-तरणी सुर खेते,
दोल डोलते; खोल नयन प्रतिबिम्ब कदम्ब निरखते,
पड़ती पाँती, गातीं सखियाँ, ताल वलय चल देते ! (पृष्ठ—२८)

में 'सन-सन पवन-झकोर', 'तरल जलधर-तरणी', 'ताल वलय चल देते' आदि की सानुप्रास संगीत ध्वनि की मुखरता के बावजूद पावस के गत्यात्मक, मोहक, प्राकृतिक चित्र ही उभर आए हैं। इसी तरह—

चटुल चरण धर मलिन पुलिन पर री,
मधु सन्ध्या उतरी !
नवल नील द्युति, अमृत-मधुर स्मिति री,
गति शिञ्जन-सिहरी ! (पृष्ठ—३३)

में भी 'चटुल चरण' 'मलिन पुलिन', 'नवल नील', आदि के शब्द-संगीत के रहते हुए भी सन्ध्या का राग-रञ्जित, पारदर्शी चित्र ही सामने आता है।

साहित्य, संगीत और चित्र के नैसर्गिक अवदान और साधनात्मक उपलब्धि के सुकर संयोग से कवि की भाषा-शैली में वह सर्वाङ्ग सबलता आ गई है जो गूढ़ से गूढ़ मानवीय चित्तवृत्तियों और गहन से गहन भाव-भङ्गि-

माओं को भी साकार कर देने में समर्थ है। उच्च स्तर के व्यञ्जनात्मक भाव-सङ्गीत से भरे इस प्राण-गान की मार्मिक अभिव्यञ्जना अनुभाव्य है—

चित नित चञ्चल री !
प्राण न मान बचा सकते, खुल–
पुलकित अञ्चल री ! (पृष्ठ—५०)

स्पष्टतः, नारी के मनोभावों के चित्रण में कवि को अपूर्व दक्षता प्राप्त है। देखिए, वयःसन्धि की देहरी पर खड़ी श्यामा की यह उन्मद चपलता किस स्पष्टता से अंकित हुई है।—

लो, लगी पेड़ गिनने भौंहें औ'
ललित उँगलियाँ नचा-नचा;
मुश्किल उन चञ्चल आँखों से
रखना खुद को अब और बचा ! (पृष्ठ—५२)

कहना अनावश्यक है, मानव-जीवन के सुख-दुख और संयोग-वियोग से संबन्धित भाव-सूक्ष्मताओं को कवि ने सजल, सबल अभिव्यक्ति दी है; और प्रणय-गीतों की मधुर भाव-व्यञ्जना में तो वह लोक-गीतकारों को भी मात दे गया है। भाषा की सरलता और शैली की सरसता से सिंची इन पंक्तियों की प्राणोन्मादकता देखिए और देखिए कि किस प्रकार लोक-जीवन में पैठकर कवि एक ग्राम्या के मर्म में छिपी प्रणय-भावना को उसी के लबोलहजे में उठा लाया है—

कैसे आई याद आज
तुमको घर अपना परदेशी ?
भूल गए क्या राह ? सुनी या
कहीं पपीहे की बोली ?
या बहार की वही बेरहम
है बयार फिर से डोली ?
जान लिया कैसे मैंने जो
देखा सपना परदेशी ? (पृष्ठ—९७)

संग्रह में व्यक्तिगत भावनाओं को भी प्रश्रय मिला है। कवि का जीवन दुःखमय रहा है। गैरों ने तो व्यंग-बाणों की बौछार की ही है, अपनों ने भी कम दुःख नहीं दिया है। उसके अपने आँसू भी अपने न हुए हैं, वे भी वास्तविक व्यथा नहीं व्यक्त कर पाए हैं। अतः करुणा उसके जीवन-रूपी महाकाव्य

का प्रधान रस बन गई है; और इसलिए करुणा ही उसके गीतिकाव्य का भी प्रधान रस है। बघारनेवाले चाहे जितना बघारें, किन्तु काव्य से करुणा का निष्कासन और व्यक्तित्व की नितान्त नि:सङ्गता असम्भव है। जब जीवन में ही व्यक्तिगत सुख-दु:ख, आशा-निराशा, हास-रुदन के जोड़े जुड़े हों तब काव्य में विशेषत: गीति-काव्य में उन्हें फूट कैसे किया जा सकता है? इसी-लिए तो समीक्षा-सिद्धान्त के विवेचक व्यक्तिगत सुख-दु:ख की सजल, भावो-च्छल अभिव्यक्ति को गीति-काव्य कहते हैं। फिर हमारे कवि को आशा-उल्लास और हँसी-खुशी से परहेज भी नहीं है। यदि स्नेह-विटपों की छाँव बीच बीच में मिलती जाए तो वह तपन-ताप में भी मुस्कुराता चल सकता है, बीच-बीच में मांझी का सहारा मिलता जाए तो वह भँवर में पड़ी, तूफानों में डगमगाती कश्ती को भी मस्ती से खेता जाए। वह कहता है—

पड़ भँवर-बीच नैया मेरी डगमग-डगमग है डोल रही,
लहरा-लहरा आतीं लहरें विकराल विकट मुख खोल रहीं,
पतवार नहीं, परवा न मुझे, उस पार पहुँचकर क्या करना?
मेरे माझी, तुम पास रहो, मिटने को तो मझधार रहे!
(तुम) रहो, तुम्हारा प्यार रहे!
(पृष्ठ—८६)

निराशा से भरे जीवन में भी कवि आशा के ही गीत गाता है। आँसुओं पर उसे अधिक ममता नहीं है। उसके लिए उनसे अधिक महत्त्वपूर्ण जीवन है, क्योंकि जीवन महासिन्धु है और आँसू केवल कुछ बिन्दु। दु:ख-शोक से अनुद्विग्न होकर, सुख-भोग से निर्लिप्त होकर वह विस्तृत-विशाल जीवन-पथ पर चलते जाना चाहता है। कहता है—

क्यों अधिक आँसुओं पर ममता?
यह तो केवल कुछ बिन्दु-बिन्दु,
पर जीवन निस्तल महासिन्धु!
क्या इन्हीं छलकने वालों से
उस जलनिधि की होगी समता? (पृष्ठ—१०१)

इसमें सन्देह नहीं, वक्त-बक्त पर कवि रोता भी है, पर अपने लिए कम, औरों के लिए ज्यादा। वह कहता है—

जलते प्रदीप से लिपट जुड़ाने
को जब आया परवाना,
कैसे तब मैं हँसता रहता? (पृष्ठ—९०)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने इस प्रथम संग्रह में प्राकृतिक सौन्दर्य की रहस्यात्मक अनुभूति और अदृश्य की छायात्मक अभिव्यक्ति देने के साथ मानव-जीवन के मानसिक और बौद्धिक घात-प्रतिघातों का मर्मस्पृक् चित्रण किया है। उसने अतीत और वर्तमान में सामञ्जस्य लाकर भविष्य की ओर बढ़ने की ऊर्जस्वल उमंग दिखलाई है, और बौद्धिक प्रकर्ष से लोकरुचि का मार्जन किया है। "रूप अरूप" विकासशील समाज की संस्कृत वाणी है। इसका कवि छायावादी काव्यधारा की उस बौद्धिक प्रणाली का प्रतिनिधि है जिसमें अनेक वादों का समावेश हो जाता है। इतने पर भी यदि किसी को उसकी शक्ति-सामर्थ्य के विषय में सन्देह हो तो मैं कवि की ओर से उसी के शब्दों में निवेदन करूँगा—

गरल पिया इसने भर प्याला,
कहती—दिखता और उजाला,
खोकर पगली मोती - माला
लाई उठा धूल का हीरा!
कितना सुख, मेरी बेसुध—
वाणी ही आज बनी है मीरा! (पृष्ठ—१०६)

और सच है कि कवि की वाणी में वही लगन और तन्मयता है जो मीरा की भक्ति भावना में थी। अतः उसे इसकी चिन्ता नहीं कि आलोचक उसे प्रशंसा का पीयूष-पात्र देगा या निन्दा का विष-पात्र। वह (वाणी) तो दोनों को एक ही तरह पी-पचा जाएगी। तनक़ीद के तीखे-से-तीखे ज़हर से भी वह वाणी मरेगी नहीं, बल्कि उसकी जोत और जगमगा उठेगी।



शास्त्री-सदन
गया कॉलेज के पश्चिम
गया (बिहार)
823 001

'राधा' में सुन्दरम्

☐ डॉ० तालकेश्वर सिंह

'राधा' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-साधना का राशीभूत रूप है। रचना और रचनाकार की प्रौढ़ता की व्यञ्जना है। भीतर की साधना एक आकार पा गयी है—एक ऐसा आकार जिसमें विस्तार के साथ गहराई है। आन्तरिकता की गूँज बाहर भी स्पन्दन भर रही है। 'राधा' काव्य-कृति से अधिक साधना की आकृति है। कृष्ण और राधा का अरूप रूप बन गया है। कवि का स्वीकार है—"ऐसे मेरी साध और साधना ने 'राधा' में आकृति पायी है, कृति भला यह क्या होगी।"

(राधा: प्रणय-पर्व, संदर्भ, पृ०–१)

साहित्य की शाश्वत धारा में जब भी राधा और कृष्ण के अरूप को रूप से जोड़ने का प्रयास हुआ है, मन्त्र कविता में ढल गया है। संवेदना से जुड़कर हृदय-वीणा के तारों से नया सरगम फूट निकला है। सरगम के स्वरों से पहचान में दिक्कत भी हुई और राधा कृष्ण 'सुमिरन' का बहाना भी बने; किन्तु भव-बाधा-हरण के लिए युगल मूर्त्ति से प्रार्थना भी करनी पड़ी। सुन्दरम् पर समर्पित भाव से मुग्ध होना पड़ा।

परमात्मा की कला जीवन में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की भूमि रचती है। धार सतत आ रहा है—परम केन्द्र से। देखने में तीनों शब्द की दृष्टि से अलग हैं, पर एक दूसरे में अनवरत ढल रहे हैं। प्रतिपल एक ऐसी त्रयी रच रही है, जिसके लिए यह कहना मुश्किल है कि सत्यम् में कितना शिव और सुन्दर है; शिवम् में कितना सत्य और सुन्दर है तथा सुन्दरम् में कितना सत्य और शिव है। मनुष्य के जीवन-दर्शन के ये विधायक तत्त्व हैं। तो स्पष्ट है कि रचनाकार के हृदयस्थ अंशी का अंश-रूप सत्य, शिव और सुन्दर

उसकी कला में अभिव्यक्ति पाता है। अन्तर का सुन्दर कला में बहिर्प्रकाश पाता है। शास्त्री जी लिखते हैं, "जीवन में सौन्दर्य का उत्स न हो, तो वह कला में कहाँ से आयेगा।" पुनश्च "किन्तु मेरे मन ने जीवन के सत्य और शिव से असंपृक्त किसी सौन्दर्य का सन्धान ही नहीं किया।" (वही, पृ०–१०) सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् एक ही परमसत्ता के व्यक्त रूप हैं। मनुष्य के जीवन-वृत की पूर्णता हैं।

राधा का हृत्कंपन सजल नयन की भाषा बन गया है। शब्दार्थ का अभिनव सहभाव रच गया है। स्वर और लय का संवेदनशील वितान बन गया हैं। शब्दार्थ की सामर्थ्य के खंडित होने पर भी अन्तर की लय बनी रहती है। भाव का नया संसार बनता है, जिसमें द्वन्द्व होता है और अन्तस्सघर्ष भी। 'राधा' में चित्रित जीवन की समग्रता के आधार हैं—सत्य, शिव और सुन्दर। शब्द, रंग और रेखायें इनके ध्वनन के प्रमाण हैं। मौन को एक निश्चित वाणी मिली है। शब्द-तूलिका राधा के चित्र में नयी लय उत्पन्न कर सकी है। यह ऐसा चित्र है जिसके मौन में एक सुन्दर कविता है। प्रत्येक शब्द बोलता है, रंग बोलते हैं और रेखायें बोलती हैं। चित्र बाहर से ही केवल आकर्षक नहीं है, भीतर की व्यञ्जना ऊपर छलक रही है।

कृष्ण एवं राधा के चरित्र-निर्माण में कुछ नया जोड़ा गया है। रचनाकार का स्पष्टीकरण है : "मैंने अनुकार्य चरित्र को ज्यों का त्यों न स्वीकार कर उसे अपने व्यक्तित्व, विचार, रुचि और मोह से संक्रान्त एक नयी व्यञ्जना देने की अनुबन्ध-हीन चेष्टा की है। वस्तुतः मैंने चरित्र की आत्मा को विविध आवेग-संवेगों के दर्पण में प्रतिच्छायित करने का संकल्प लिए-लिए ही स्वरों और रंग-रेखाओं को सोत्साह निहारा है, परम्परा की आवृत्ति के विलोम यथार्थ का प्रक्षेपण मात्र लक्ष्य होता तो शास्त्रीय और लोकगीत के बीच से काँगड़ा और अभिव्यञ्जनावादी शैलियों के समानान्तर, काठ खोदनेवाली चोंच से, कला मर्म क्यों छेदता ?" (वही, पृ०–१४) पात्र चरित्र में ढलने पर नूतन संवेदना तथा भाव-छवि के साथ प्रकट होता है। साहित्य के सातत्य से संपृक्त होकर भी अपना व्यक्तित्व प्रदर्शित करता है। इसी से चरित्र और रचना की निजी पहचान बनती है।

सिसृक्षा रचना-प्रक्रिया में आकार पाती है। कोई क्षण ऐसा होता है जिसमें रचना की संभावना रेखांकित हो उठती है। यही संभावना कला के सत्य को सृष्ट करती है। काव्यांकित सत्य में शिव और सुन्दर के सहभाव से

कवि की कल्पना प्राण-प्रतिष्ठा करती है। महत्त्व उस क्षण का होता है जो काल का अंश होकर भी अपनी स्वतन्त्रता में पूरी गहराई लिये होता है। वंशी की टेर गुदगुदी पैदा करती है। किन्तु वंशी की धुन कैसी रही होगी, जब वह बजी थी, महारास रच गया था? लोक एवं मर्यादा उस महारास में डूब गये थे। किसी प्रकार का भटकाव शेष न था। भटकाव वहाँ होगा जहाँ संवेदना से दूरी होगी। 'राधा' की रचना-प्रक्रिया में उस क्षण का महत्त्व है। शास्त्री जी का कथन है, "एक दिन औचक ही जीवन-बन में अनसुनी बाँसुरी की टेर देर-देर तक भटकती रही और फिर वह अप्रत्याशित रूप में शब्द-गुणक आकाश के मूँद जाने, अर्थवान् अवकाश के सिमट-सिकुड़ जाने पर कोई और विकल्पित ठुर न पा, देश और काल की कल्पित बाधा पार कर 'राधा' का गहन मन बन गयी।" (वही, पृ०–१४) बाँसुरी की तान पर मन-मयूर नाचता है और राधा-मन आकृति पाता है। यह तो अलग से निर्णीत होगा कि टेर कितनी प्रतिश्रुत है और कितनी अनुभूत। अनुभूति का वियोग व्यक्ति को बहाने के महाजाल में उलझाता है।

कृष्णार्पित राधा-मन समय की रज से अप्रभावित रहता है। गौर वर्ण पर श्याम सुन्दर जड़ गये हैं। यह जुड़ाव कितना बाहरी है और कितना आन्तरिक, कहना मुश्किल है। यहाँ अन्तर-बाहर की दूरी विलीन हो गयी है। कृष्ण में राधा और राधा में कृष्ण पूर्णत्व तथा ह्लादिनी के पूर्ण संभार पर अधिष्ठित हैं। मुरली नीली है और कृष्ण नीले हैं। नील वर्ण व्यापकता और गहराई की प्रतिध्वनि है। वेणु-नाद पर सब कुछ समर्पित हो जाता है:

नीली री मुरली! तूने मुझे पुकारा?
क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा!

ध्वनि जहाँ से आ रही है वहाँ राधा-मन ही पहुँच सकता है। अतिशय व्यापकता के अभिसार का रस राधा को अभिज्ञात है। राधा भाव है और कृष्ण उस भाव का आधार। पुनः कृष्ण भाव हैं और राधा उस भाव का आधेय। आधार-आधेय के अभिन्नत्व का स्वर नीलवर्णा मुरली से टपक रहा है। फिर भी राधा के मानस में एक द्वन्द्व है, संघर्ष है। समाज जीने से रोक रहा है और मोहन-मोह मरण में व्यवधान बन रहा है। राधा की मानवीय धरातल पर यह प्रतिष्ठा उसके चरित्र को विश्वसनीय बनाती है। मोहन उसके जीवन के अर्थ हैं और समाज उस अर्थ की विडम्बना:

जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का,
मरने न दे रहा अमर मोह मोहन का !

उसका नीरव मन सिसकी भरता है पर वह सिसकी बाहर प्रकट नहीं होती। देह, प्राण और मन सब विकल हैं :

कोई बतलाए : मेरा रथ पथ हारा ?
नीली री मुरली, क्योंकर मुझे पुकारा ?

मुरली से राधा का यह प्रश्न वंशी-छवि के लिए क्षण-प्रति-क्षण परिवर्तनशील मानसी विकलता का द्योतक है।

राधा के चरित्र और व्यक्तित्व की भंगिमा को एक व्यञ्जक चित्र-फलक पर अंकित करने के प्रयोजन से कवि ने राधिका छन्द का प्रयोग किया है। अनुभूति और कल्पना किस रूप में इस छन्द की लय बन पायी हैं, विचारणीय है। रचनाकार की उक्ति है, "राधिका छंद के संपर्क में रहकर अनुभूति ने कितना ग्रहण किया और कल्पना ने क्या रचा, इसका लेखा-जोखा लेना मेरा काम नहीं। मैं तो केवल अनुभूति की तीव्रता को स्वर के कच्चे धागे से बाँधने वाले छन्द की अन्तःस्पन्दित शक्ति की बात बता रहा हूँ।" (वही पृ० १८) वास्तव में राधा और राधिका छन्द की यह अन्विति काव्य का स्वर बन गयी है।

निस्सीम सुन्दर काला ब्रज में उपहास का विषय बनता है। उपहास से राधा का मन विद्ध हो जाता है, क्योंकि उसका समर्पण आहत हो रहा है:

उजागर—

ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास-उजाला,
सोलहों कला वाला जब निकला काला,

पीड़ा सो रही है। राधा प्रकट करना नहीं चाहती। उसके जीवन की अनकही कहानी ने 'राधा' में अभिव्यक्ति पायी है। 'राधा' राधा की व्यथा-कहानी है। कवि दर्द लिखता है। वियोग को स्वर देता है। संवेदना को वाणी देता है। व्यष्टि से प्रारंभ कर समष्टि से जोड़ता है। श्लथ संवेदना को गति देता है। मन के शून्य को भरता है। संवेगों में नया आवेग पैदा करता है। धुँआती आग की तरह जलने वाले संवेगों को धधका देता है। धूप पर चन्द्र ज्योत्स्ना का लेप चढ़ाता है। इसी तरह राधा की चेतना की अरगनी पर किसी का आर्द्र पीताम्बर फैला है :

अरगनी चेतना मेरी, जिस पर गीला—
है और किसी का अम्बर फैला पीला !

चेतना की अरगनी पर वस्त्र का फैलाव दूरारूढ़ बिम्ब-विधान का उदाहरण भले प्रतीत हो, पर प्रेम की पीर यहाँ बोल उठी है। यह कष्ट कल्पना से अधिक हृदय की भावना की विवृति है। पीताम्बर गीला हो गया है–प्रेम-जल से। प्रेम-सरोवर में भींगा है, किसी साधारण पानी में नहीं। यह वस्तुतः प्रेम-वीणा से बजने वाला वेदना-राग है।

रंगों का वर्णन वर्ण-परिज्ञान का परिचायक भर नहीं हैं, अपितु हृदय की वेदना ही रंगों में प्रतिध्वनित हो उठी है। एक निश्चित आकार पाने का उपक्रम है। ये वेदना के रंग हैं और रंगों की वेदना हैं :

उड़ता पराग, मकरन्द बिन्दु हैं झरते,
कुछ स्वर्ण वर्ण, कुछ केसर के स्वर भरते !
अकाव असंभव रंग तरंगों का था,
सुलगाव इन्द्र धनु-जड़े स्फुलिङ्गों का था !
इस ओर रंग उस ओर रंग, रंगों में—
कुङ्कुमी तड़ित कौंधी ज्यों जड़ अङ्गों में !
यह हरित और वह पीत-केतकी गाभा,
फैली-सी बीचों बीच तरुण अरुणाभा !
रंगों का यह संभार, चमत्कृत अन्तर,
बाहर भीतर का भेद हुआ छू-मन्तर !
परिवेश हुआ रंगीन, रँगी नभ-छाया,
अपने को देखूँ—कहाँ नहीं थी माया !
क्या असंपृक्त ? मैं डूबी और उतराई,
तर रंग–ज्वार फिर नील झील-तर आई !

पराग उड़ते हैं। मकरन्द-बिन्दु झरते हैं। रंग की तरंगें उल्लास से परिपूर्ण हैं। एक सीमा के भीतर समेटना कठिन है। स्फुलिङ्गों में सतरंगी धार बिम्बित होती है। चारों ओर रंग ही रंग है। जड़ में भी स्फूर्ति भर रही है। कुंकुम में तड़ित की कौंध समा गयी है। हरित, पीत, अरुण आदि रंगों के संभार से चमत्कृत मन के बाहर-भीतर का भेद मिट गया है। संपूर्ण परिवेश रंगों में डूब गया है। और, निजी परिवेश की रेखायें भी उभरी हैं। भीतर की सुगंध मे खोयी राधा रात भर बँधी नाव खेती रह जाती है :

खोई अन्तस्तल की सुगन्ध में अपनी,
जागरण–काल की सुनी नहीं आगमनी !
रह गई रात भर बँधी नाव मैं खेती,
सुर-धनुषी क्षितिज, पुलक के सपने सेती !
निस्सीम नील नीवरता को स्वर देती,
हँसता प्रभात : फैली री निर्जल रेती !

अन्तःकरण की यह सुगन्ध भावना की सुगन्ध है। प्रेम की मधुर गंध है।
जागरण के क्षण अनुभूति में डूब जाते हैं। सपनों के रंगीन संसार में रात
भर बँधी नाव खेती है। राधा दृश्य दर्शन दोनों है। वेणु-गीत राधा की
प्रेम-वेदना का आधार है। उसके निश्वास और बिश्वास एक मात्र श्री
कृष्ण हैं। यह संसार श्री कृष्ण का लीला-विलास है। इसलिए वे संसारी
हैं। मन से अच्युत होकर भी तन से शृंगारी हैं :

संसार तुम्हारा, तुम निश्चय संसारी,
मन हो अच्युत, तन तो विशुद्ध शृंगारी,
—तो स्वीकारो संभार मरण का मेरे !
हो नाम प्यास–इस प्राण–हरण का मेरे !!

संसार परम सत्ता की रचना है। श्री कृष्ण वही परम केन्द्र हैं जिनसे संसारी
गुँथा हुआ है। संसार उससे बँधा है पर संसार से वे बंधे नहीं हैं। व्यक्ता-
व्यक्त और रसरासेश्वर हैं। अव्यक्त और अच्युत 'रसो वै सः' ने अपने तन को
लीला के संप्रसार-संप्रेषण के लिए शृगांर से जोड़ दिया है। प्यार की
मूर्त्ति बन गये हैं। सुन्दर प्रेम में उतर आया है। एक विराट् फलक पर
प्रेम-चित्र अंकित है। प्रकृति की सुषमा प्रेम के भाव-चित्रों में व्यञ्जित है।
संगीत का स्वर काव्य-ध्वनि में रस-बस गये हैं। देश और काल की सीमा
से परे निरुपाधि, चिन्मय और अनन्त का रूप-अरूप स्वर मुरली से प्रकट हो
रहा है। श्री कृष्ण सबकी आत्मा और परमात्मा हैं, पर राधा के तो
अविचल प्यार हैं। भाव-भक्ति से अधिक प्रणय के आधार हैं। सुन्दर का
ध्यान और सत्य की पूजा हैं। जड़-चेतन के जीवन हैं। और राधा का
प्यार आज के जीवन में चेतना रस डाल रहा है। जीवन के मरुस्थल में
रसधार घुल रही है। उद्भव में लय और लय में उद्भव का समाहार
रेखांकित हो रहा है। प्रणय से प्रणव झर रहा है और प्रणव में प्रणय लयीभूत
हो रहा है। समग्र के इसी फलक पर 'राधा' अधिष्ठित है।

काव्य-भाषा में नयी शक्ति और संवेदना भरने का सफल प्रयास 'राधा' में हुआ है। जन-जीवन में घुले मिले शब्द काव्य की भूमि पाकर अभिव्यक्ति-सामर्थ्य से प्रसाधित हो गये हैं। छायावाद की काव्य-भाषा से शास्त्री जी की 'राधा' की भाषा भिन्न है। 'राधा' (पुरुषार्थ-पर्व) में संकेत में थोड़ी बहुत समानता झुरमुट मारती दिख सकती है। पर इस युग की ग्रन्थिलता हमारी अभिव्यक्ति की पृथक् प्रणालियों को उजागर करने भर जरूर झोंका खाती है। मेरे सिर ठीकरा फोड़ने की बात और है कि मैंने योजनापूर्वक काव्य-भाषा को अज्ञेय के आलोक से छाया-लोक की ओर खदेड़ देने की हिमाकत की है।" (वही, पृ० ८) कवि की घोषणा है कि पन्त और महादेवी की एकरसता 'राधा' की भाषा में नहीं है। छायावाद की काव्य-भाषा को अपने रचना संसार के लिए वे स्वयं अस्वीकार करते हैं। डॉ० मारुतिनन्दन पाठक ने लिखा है, "वह छायावादी कवि हैं, यह धारणा व्यापक रूप से आबद्ध हो गयी है। छायावाद के अन्तिम प्रतिनिधि कवि के रूप में उन्हें उपस्थित किया जाता रहा है। वह छायावाद के आखिरी दिनों (१९३५) से लिख रहे हैं और आजतक लिख रहे हैं। तो क्या छायावाद को ही वह दुहरा रहे हैं ? और यदि दुहरा रहे हैं तो बाद के युगों में, जो उनका रचना-काल है उसमें उनकी प्रासंगिकता क्या रह जाती है।" (आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : समकालीनों की दृष्टि में, आलोक वर्त्म, पृ० १२) आज भी कुछ लोगों का मोह-भंग नहीं हुआ है। शास्त्री जी का, उनके निजी रचना-वैभव और भाषा संसार के विपरीत, छायावाद के खाते में 'इन्दराज' करना चाहते हैं। 'राधा' में कवि का सुन्दरम् काव्य-भाषा के अन्तस् से मानवीय संवेदना को समाहित कर प्रकट होता है।

प्रणय हृदय का धर्म है। पुरुष के कर्म में सरसता प्रेम-भाव से संभव है। प्रेम-दर्शन से शून्य कर्म-दर्शन निरर्थक होता है। शास्त्री जी के रचना-संसार में प्रेम के साथ कर्म का भी स्वीकार है और यही सत्य है :

कर्म-दर्शन सत्य, औ' सब कल्पना !
मुक्ति कर्म-विहीन जाली जल्पना !!

× × ×

कर्म देता स्वर्ग को आकार है
क्षीर-सार कि स्वप्न वारि-विकार है !

'राधा' में प्रेम और कर्म दोनों दर्शन का गौरव पा गये हैं। प्रेम पीड़ा की कल्पना है और कल्पना प्रेम की पीड़ा है। कर्म पत्थर पर भी दूब उगा देता है। कर्मपथी वैषम्य पर प्रहार करता है। निस्संग होकर कवि जीवन की मर्म-कहानी लिखता है :

अस्थियों की ठठरियाँ दिन काटतीं
भूख, ठिठुरन, तड़प-राते बाँटतीं।
भाग्य पर निर्भर घुटन सब सह रहे
कौन करने कर्म-धर्म उन्हें कहे?
मची गड़बड़ घोर अत्याचार हो,
सिसकते जन पर तनी असि-धार हो,
खो चुका हो न्याय पर विश्वास जब,
उचित कौन कहे समय, संत्रास जब

आज के युग-धर्म के प्रसंग में 'राधा' की प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। असुर, रावण और कंस का विध्वंस समाज की रचनात्मक स्थिति की सुरक्षा और दृढ़ता के लिए अपरिहार्य है। बाहर और भीतर एक नहीं अनेक असुरों, रावणों और कंसों का गुणात्मक प्रभाव बढ़ रहा है। इसलिए जन-जन में सत्य, शिव और सुन्दर के अवतरण की अनिवार्यता बढ़ जाती है :

सत् सुरासुर, राम-रावण सत्य शिव
कंस का विध्वंस सुन्दर, सत्य, शिव !

नये समाज की रचना का आह्वान कवि करता है :

मांगती विस्तार जीवन की परिधि
नई भूमि, नया गगन, नूतन प्रविधि
मानसिकता अद्यतन, नव चेतना
गढ़ समाज नया न जो पहले बना।

जीवन-परिधि का नव्य विस्तार कवि का अभीष्ट है। नयी भूमि और नये आकाश उसके लक्ष्य हैं। प्रविधि, मानसिकता और नयी चेतना का वह आकांक्षी है। कवि दृष्टि-विस्तार, अनुभव-संसार और लोकहित "राधा" की काव्य-चेतना में अनुगूँजित है। पहले के समाज से सर्वथा भिन्न एक नये

समाज को कवि गढ़ना चाहता है जहाँ विषमता का विष नहीं होगा, प्रेम का अमृत होगा। ऐसी महत् काव्य-संभावना को लेकर 'राधा' की संरचना खड़ी की गयी है। स्वार्थ की भूमि पर परार्थ का विरवा उगाना कवि का प्रयोजन है। दंभ के कर्दम को कल्लोल के जल से धोना उसकी नियति है। गोचारण-काव्य को फिर से एक नयी भाषा दी गयी है। लोरी की स्वर-गूँज से श्रवण-रन्ध्र आपूरित हैं। कवि का जातीय संदेश है :

> कौन है तू, यह कभी मत भूलना,
> कुसुम, काँटों में तुझे है फूलना !
> गरलपायी को पिला बहुधा सुधा,
> तीव्र करनी है मृतक-जीवन-क्षुधा !

लिखित तथा उच्चरित शब्दों के अनुच्चरित शब्दों में नया अर्थ घोलना कवि का अभिप्रेत है। तन्द्रा से जागरण की ओर प्रयाण लक्ष्य है। पलायन का वह स्वर 'राधा' में नहीं जो छायावाद के काव्य-दर्शन में घुस आया था। सुन्दर में सत्य का रसायन डालकर शिव-निलय का निर्माण कवि-चेतना का धर्म बन गया है :

> सत्य सुन्दर में कहीं मङ्गल-निलय,
> तो सकल संसार हो जयकार-मय !
> सत्य पर न निधान यदि कल्याण का
> तीव्र मध्यम शुद्ध स्वर के गान का,

और—

> प्रेरणा, का स्फूर्ति का स्वर-स्रोत हो !
> प्यार की जग में उजागर जोत हो !!

'राधा' भाषिक संस्कृति से आगे नव्य सांस्कृतिक आन्दोलन का जयघोष है। भक्ति-काल में प्रेम जन-मन को बाँधने का भावनात्मक उपकरण था और 'राधा' में इस प्रेम-तत्त्व का अभिनव संस्कार हो गया है। प्रेम की शीतल जोत से ही अन्तस् का विद्वेष-तम छँट सकता है। अतएव बन्दना के छंदों में कर्म-सुर का अभिनिवेश सांप्रतिक जीवन का संदेश बन गया है। प्रेम-मूर्ति राधा 'तरल नीहारिका', 'पुरातन प्रिया', 'युग-चैतन्य'—'समकालिक-क्रिया' निमीलित दृष्टि, 'गगन की सुरधुनी' 'कुसुम में कुञ्ज', अमूर्त विधान', 'तरल अनुभूति', 'साधना', 'सुमन की चेतना', 'स्मितमुखी', अवनि.आह्वान', 'चित्त में सद्वृत्ति',

'पवन की चपलता' 'सजलनयना की चिरन्तन मीनता' आदि सब कुछ है। देह मन-प्राण की समष्टि है। सत्य, शिव और सुन्दर की धारिका ही शास्त्री जी की राधिका है। अधरों में संगीत की थिरकन है।

कहीं कहीं राधा का चित्र स्तुति का दर्जा पा गया है। शास्त्री जी के अन्तर का भक्त गा रहा है :—

शक्ति हे भ्रू-क्षेप-भव सञ्चारिणी,
अन्ध-तामस-सिंधु-तरणी, तारिणी !

दे मुझे साहस विषम, विद्रोह का,
कर सकूँ मैं शमन मन के मोह का !
अल्पतर संकल्प भू पर स्वर्ग का
लोकहित निश्शोक प्राणोत्सर्ग का !

प्रिय-प्रकृतिके, मातृ-जाति-प्रशंसितके !
सर्वतोभद्रानुशासिनी, स्वस्तिके !
साँसपूरक बाँसुरी के रन्ध्र की !
पूर्व प्रतिध्वनि शङ्ख-शायी मन्द्र की !
स्मृति चरम, विस्मृत गऊ-गोपाल की !
विश्वजननी, निःस्व-जन-सुख-साधिके !
चिरविदा, प्राणाधिके, श्री राधिके !

राधा स्तुति का स्वर भी है और आधुनिक संवेदना से संवलित नारी भी। हिन्दी की राधा-भावना अनेक भाव तथा विचार-छवियों के साथ अतीत में वर्तमान का रुधिर डालती हुई विकसित हुई है। 'राधा' उस विकास-क्रम की महत्त्वपूर्ण कड़ी है, आत्मान्वेषण है और यही उसके निर्माण की नियति है।

नित नूतन सुन्दर के सृजन की इच्छा 'राधा' में व्यक्त हुई है। अव्यक्त जब व्यक्त होता है तब दृश्यमान् जगत् में सौन्दर्य की लहरें फैल जाती हैं :—

अमर सुन्दरता सिरजती
नित नया सौन्दर्य्य
दृष्टि देती सृष्टि में खुल
अतुल पौर्वापर्य्य !

सुन्दर का रहस्य जीवन का रहस्य होता है। सृष्टि में सुन्दर का निस्सीम पौर्वापर्य्य दृष्टिगोचर होता है। कवि-मानस उन कलाकारों के

कलाकार के कला-चातुर्य पर मुग्ध हो जाता है। शताब्दियों से मनुष्य सुन्दर से अभिभूत रहा है। सुन्दर को परिभाषित करने का प्रयास भी होता है, पर वह शब्द का विषय बन नहीं पाता। सुन्दर ही जीवन है। सौन्दर्य सुन्दर का सार्वत्रिक धर्म है। ब्रह्माण्ड की रमणीयता एवं संगति सुन्दर से प्रकट होती है। गणना तथा विचार से सुन्दर आस्वाद का विषय नहीं बनता, अपितु चिन्तन से आस्वाद्य होता है। संसार पंचमृतों से निर्मित है। इन पंचमृतों को जोड़ने वाला तत्त्व प्रेम है। प्रेम के कारण जीवन में संगति है, रमणीयता है। अमैत्री से विभक्त संसार कुरूप का गढ़ बन जाता है। जीवन में अव्यवस्था और कुरूपता फैल जाती है। सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग प्रेम है। प्रेम का सुन्दर और सुन्दर का प्रेम 'राधा' का प्रतिपाद्य है। इसी सूत्र के माध्यम से 'राधा' में चित्रित जीवन के समग्र से पहचान बन सकती है। 'राधा' सुन्दर की रचना और रचना का सुन्दर है। जीवन का समग्र बनकर सुन्दर 'राधा' में ध्वनित हो रहा है। वही जीवन-स्रोत है। राधा सुन्दर की प्रतिकृति नहीं मूलकृति है। व्यक्त रूप में देह और अव्यक्त रूप में भाव है :—

राधिका कोई न नारी एक
भावना वह हृदयहारी एक
रक्त मज्जा की नहीं वह देह
राधिका का अर्थ निश्चल नेह !

राधा विश्वास है। वह न केवल भक्तों की आराधिका है, अपितु जन की जीवन-निष्ठा है।

कवि के बोध-व्यापार का विस्तार सांसारिक वैषम्य एवं विद्रूपता तक है :—

हुआ जग जा रहा है सर्वग्रासी !
समय वह आ रहा है सर्वनाशी !

गोचारण-काव्य का यह विशिष्ट उदाहरण है :—

पीछे भारी भीड़ खड़ी थी आगे सब ब्रजवासी
कुछ ने घुटने टेके, कुछ थे हाथ जोड़ उच्छ्वासी !
सभी देखते थे अपलक सबकी आँखों में पानी
छिपा रहे थे कृष्ण स्वयं को, प्रकटे ऋत्विक ज्ञानी !

मानवता की चरम विजय कवि का लक्ष्य है। 'उत्सर्ग पर्व' से एकाधिक पंक्तियाँ :—

मानवता की यह चरम विजय :
तुम ऊपर की भू पर आई,
गायत्री ही परिधान बदल
हो गई ज्योति की परछाई !

सुन्दर के अन्तस् से नव जीवन के निर्माण की कामना से कवि अभिभूत है।



: हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया (बिहार)

निरख जिसे हो प्रणत स्वर्ग भी

□ कविवर जानकीवल्लभ शास्त्री की राष्ट्रीय-चेतना

□ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का ग़ज़ल-लेखन

□ प्रतिभा और पाण्डित्य की प्रतिमूर्त्ति आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

□ डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

कविवर जानकीवल्लभ शास्त्री की राष्ट्रीय-चेतना

☐ डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

छायावाद मात्र अँगरेजी के रोमांटिक काव्य का अनुकरण या कुछ कल्पना जीवी कवियों का वाणी-विलास नहीं था। उसका जन्म युगीन परिस्थितियों के गर्भ से हुआ था और उसके मूल में एक गहरी सांस्कृतिक चेतना और जीवन-दृष्टि वर्तमान थी। इसीलिए उसमें यदि एक ओर स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह देखने को मिलता है तो दूसरी ओर राष्ट्रीय जागरण का स्वर और दीनों-उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी है। जयशंकर प्रसाद से लेकर महादेवी वर्मा तक का काव्य-साहित्य इसका प्रमाण है। निराला में यह क्रांतिदर्शिता और दलित-जन के प्रति करुणा सबसे तीव्र रूप में वर्तमान है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री इसी छायावाद की "'तरंगों से फेंकी मणि एक" हैं। स्वभावतः उन्होंने भी जहाँ 'रूप-अरूप' के गान गाए हैं, 'तीर तरंग' का संधान किया है, 'उत्पलदल' की छवि आँकी है, वहीं देश-दशा की ओर दृष्टिपात भी किया है और उसकी वेदना-विषमता को वाणी दी है। उन्होंने बहुत पहले, स्वाधीनता-प्राप्ति की प्रथम वर्षगांठ पर कामना की थी—

> विजय-वैजयंती भारत की विश्वशिखर पर फहरे !
> निरख जिसे हो प्रणत स्वर्ग भी,
> उच्छृंखल हो न अपवर्ग भी,
> जंजीरें हों युक्ति मुक्ति की, नूतन-स्वन धन घहरे।

फिर गणतंत्र के जन्म पर उन्होने गाया—

> जनगण-मन की नलिनी, आज जगी कुंडलिनी,
> उर्ध्व किरण झूम-झूम चूम रही अंबर !

कहते हैं, सामान्य व्यक्तियों में कुंडलिनी अधोमुख रहती है, जिसे साधक साधना से जगाता है। गणतंत्र की घोषणा भी पददलितों-पीड़ितों को ऊर्ध्वमुख करने का एक ऐसा ही संकल्प है। इसके कुछ बाद का, उनका एक और गीत है "हमारा देश", जिसमें कवि ने भारत के गौरव-गान के साथ उसकी सांस्कृतिक उपलब्धि को भी रेखांकित करने का प्रयास किया है—

मंगलमय यह देश हमारा !
हरित भरित धरती मंगलमय, मंगलमय नभ रवि शशि तारा !
नभ के नीचे विश्व समूचा,
धरती करती नभ को ऊँचा,
भारत ने तात्त्विक समता हित द्यवा-पृथ्वी को ललकारा !
अस्त्र-शस्त्र का बल मत तोलो,
भारत कहता गरल न घोलो,
जिओ और जीने दो सबको, पंचशील का गहो सहारा !

लेकिन इतिहास का इससे बड़ा व्यंग्य और क्या होगा कि पंचशील का समर्थन करनेवाले देश ने ही एक दिन अकस्मात भारत की सीमाओं को रौंद डाला और उसकी कई हजार वर्गमील भूमि हड़प ली। इस अप्रत्याशित आक्रमण से देश का कण-कण क्षुब्ध हो उठा और कवियों ने अपनी कलम को तलवार बनाकर उसकी नोंक से कविताएँ लिखीं। शास्त्री जी जैसे साहित्यकारों के लिए यह एक द्वन्द्व का काल था। एक ओर भारत की शांतिकामी सांस्कृतिक परंपरा उनके सामने थी, दूसरी ओर सामाजिकता की पुकार भी। सन् १९६२ के लगभग अंत में लिखी अपनी कविता 'हिमालय के प्रति' में उन्होंने देश की चिरंतन संस्कृति और आपातकालीन कर्त्तव्य दोनों की मार्मिक व्यंजना की है। यथा—

की सदियों रखवाली अब हम खड़े कि अपने पाँव पर,
नक्काशी करते किरणो की फैली - फैली छाँव पर,
टेढ़ी नज़र किसी की पड़ती अगर नगर पर, गाँव पर,
लगती होड़, लगाए पहले प्राण कौन इस दाँव पर ?

कायरता से हिंसा अच्छी
—यही अहिंसा मर्म है !
ठंडे - ठंडे देख हिमालय,
खून देश का गर्म है !

अपनी अहिंसक संस्कृति की शालीनता और मर्यादा के साथ शूरता और दंडनीति की आवश्यकता पर शास्त्री जी ने पहले की अपनी एक कविता में भी बल दिया था। 'शिप्रा' की 'चाणक्य' शीर्षक रचना में इस विलक्षण राजनीतिज्ञ के मुख से कवि कहलाता है—

राष्ट्रोदय के लिए उचित है दंडनीति ही,
कात्यापन, कर बंद, व्यर्थ है वार्त्तिक रचना,
मंडलाने हैं लगे विदेशी सपाती अब,
पाठ पढ़ाना उन्हें उचित या लच कर बचना ?
कला-विलासी मंद नंद ने पुरुष-राष्ट्र को
नारी की सारी पहना दी थी सँवार कर,
घुँघरूवाले पैरों को मारू बाजे पर
कठिनाई से सके सिखा चलना दुधार पर;
सतरंगी कंचुकी फाड़ लोहे का कंचुक
चढवाना है हमें राष्ट्र के अरुण वक्ष पर,
यही राष्ट्र केशरि-किशोर जैसा दहाड़ कर
टूटेगा अभिमानी अरि-करि लक्ष-लक्ष पर !

स्मरणीय है कि "चाणक्य" शीर्षक इस आत्मसंभाष कविता की रचना १९४९ ई० में हुई थी, जब हमारे नवोन्मेषशाली राष्ट्र को आजादी हासिल किए अभी मुश्किल से दो बरस बीते थे और उस पर अनेक शक्तियों की गृद्ध-दृष्टि भी थी तथा कश्मीर के प्रश्न पर उसे पाकिस्तान के साथ युद्ध में उलझना पड़ा था। इससे कुछ पूर्व दिनकर ने कुरुक्षेत्र की रचना कर युद्ध का औचित्य प्रतिपादित किया था और इसी समय प्रभात जी "कैकेयी" प्रबंधकाव्य की सर्जना द्वारा राष्ट्रीयता का रूप उभार रहे थे। इस प्रकार दिनकर, प्रभात और जानकीवल्लभ बिहार की इस त्रयी ने स्वाधीनता प्राप्ति के अरुणोदय-काल में न केवल अपने-अपने ढंग से स्वातंत्र्य-सूर्य का अभिनंदन किया, प्रत्युत नवोदित राष्ट्र की धमनियों में शक्ति और शौर्य के संचार का कलात्मक आयोजन भी किया।

पर स्वाधीनता-प्राप्ति के समय जो सुखद सपने सँजोए गए थे, जनसमाज के जिस स्वर्णिम भविष्य की कल्पना की गई थी, धीरे धीरे वे सपने बिखरने लगे, आशाओं पर तुषारपात होने लगा। अतएव प्रबुद्ध और संवेदनशील कवियों में क्षोभ और निराशा का उदय स्वाभाविक था। उधर दिनकर ने लिखा—'सात वर्ष हो गए, राह में अँटका कहाँ स्वराज ?' इधर शास्त्री जी ने मेघ के व्याज से शासन और समाज में व्याप्त मूल्यहीनता और भ्रष्टाचार पर तीखा प्रहार किया—

कुपथ - कुपथ रथ दौड़ाता जो पथ-निर्देशक वह है,
लाज लजाती जिसकी कृति से धृति उपदेशक वह है !
जनता धरती पर बैठी है, नभ में मंच खड़ा है,
जी जितनी है दूर मही से, उतना वही बड़ा है !

बादल शास्त्री जी के काव्य का प्रिय अलंकार है, जो भारत जैसे कृषि-प्रधान देश के कवि के लिए उचित भी है। बादलों को लक्ष्य कर उन्होंने अनेक कविताएँ लिखी हैं, जिसमें व्यक्ति और समाज दोनों की अनुभूतियों का समंजन हुआ है। "मेघगीत" उनके वेदना-तरल गीतों का एक मर्मस्पर्शी संग्रह है। अभी कुछ दिनों पूर्व "मेघगीत" शीर्षक एक अन्य कविता प्रकाशित हुई थी, जिसके अंतिम छंद हैं—

महक उठी फुलबगिया, उड़ी उजड़ झोपड़ियाँ,
मालाएँ ढक लेंगी, टूटें भी खोपड़ियाँ;
दादुर बाँचे गुरु-गुरु श्रुतिधर श्रुति माजें।

'गजल' उर्दू-साहित्य का एक नितांत वैयक्तिक का व्यरूप है। लेकिन हिंदी के कवियों ने इसे केवल आशिक माशूकों के संलाप और आहो-कराह तक सीमित नहीं रहने दिया है। उन्होंने इसे सामाजिक विसंगतियों की व्यंजना का माध्यम भी बनाया है। शास्त्री जी की गज़लों का पाट काफी चौड़ा है, जिसमें वैयक्तिक वेदना से लेकर सामाजिक चेतना और प्रकृति-प्रेम से लेकर राष्ट्र-प्रेम तक की लहरें तरंगायित हैं। यहाँ अनायास उनकी ग़ज़ल के कुछ शेर याद आ रहे हैं—

'देश दुनिया का था सिरमौर, हमीं भूल गए !
नज़र गगन में गड़ाई कि जमीं भूल गए !
घेर कर तीन तरफ से लहर रहे सागर,
लब जो सूखा दिखा, आँखों की नमी भूल गए !
गैर की ज्यादतियाँ, शौखियाँ, दरिंदगियाँ,
—सब की सब याद हैं, बस अपनी कमी भूल गए !

इस प्रकार, गीतिकाव्य के सुकुमार स्रष्टा होकर भी शास्त्री जी निराला की भाँति बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा के धनी हैं। उनकी संवेदना व्यापक और युगबोध प्रखर है। इसीलिए उनका काव्य गंभीर दार्शनिक चिंतन से समृद्ध और सामाजिक-राष्ट्रीय चेतना से संदीप्त है। यह और बात है कि उन्होंने विचारों को भी भावना की आँच में तपा कर तरल और कला के साँचे में ढाल कर सुघर बना दिया है। उनके यहाँ कोरे नारे नहीं, अनुभव की मार्मिकता वर्तमान है। उन्होंने कहा भी है—

> कलम हाथ में है अगर, जिंदगी लिख,
> नहीं काम अपना है परचम उड़ाना !



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का ग़ज़ल–लेखन

—डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

पिछले दिनों में ग़ज़लों के प्रति आकर्षण काफी बढ़ा है। ग़ज़ल उर्दू–काव्य की एक अत्यंत समृद्ध और लोकप्रिय विधा है। यहाँ तक कि इसे "उर्दू शायरी की आबरू" कहा गया है। 'ग़ज़ल' का शाब्दिक अर्थ है प्रेमिका के साथ संलाप। इसमें सामान्यत: पाँच-सात से लेकर बारह-तेरह तक शेर हुआ करते हैं, जो अपने आप में स्वत: संपूर्ण होते हैं। परस्पर निरपेक्ष दिखनेवाले ये शेर छांदिक एकता और रदीफ़-काफ़िए की समानता से जुड़े होते हैं। यों, उत्कृष्ट ग़ज़ल के विभिन्न शेरों में भावना का एक सूक्ष्म अंत:-सूत्र भी वर्तमान रहता है, जो माला के मनकों की तरह उन्हें संग्रथित रखता है।

ग़ज़लों का विशेष प्रचलन फारसी और उर्दू भाषाओं में ही रहा, पर हिन्दी के लिए भी यह साहित्य-रूप सर्वथा अपरिचित नहीं। अमीर खुसरो से लेकर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और जयशंकर "प्रसाद" तक ने ग़ज़ल-लेखन का प्रयास किया है। लेकिन प्रसाद की ग़ज़लों का भाषिक भिन्नता के अतिरिक्त उर्दू ग़ज़लों से कोई मौलिक अंतर नहीं। हिन्दी-ग़ज़लों की पहली बार पहचान बनाई महाकवि निराला ने। जैसे साहित्य के अन्य क्षेत्रों में, वैसे ही ग़ज़ल की ज़मीन पर भी निराला ने अपनी क्रांतिकारिता की छाप छोड़ी है। उर्दू ग़ज़लों की भाव-भूमि निरपवादत: शृंगारिक रही है। वहाँ आहो-कराह के बादल उठाए गए हैं, माशूकों की बेवफाई का राग अलापा गया है और नितांत वैयक्तिक अनुभूतियों को वाणी दी गयी है। इसके विपरीत "बेला" में निराला की घोषणा थी—

संकोच को विस्तार दिए जा रहा हूँ मैं !
छंदों को विनिस्तार दिए जा रहा हूँ मैं !

इसी संग्रह की एक दूसरी ग़ज़ल का मतला (पहला शेर) है—

भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है !
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है !

मगर निराला ने ग़ज़ल के अखाड़े में हाथ-आजमायश तब शुरू की, जब उनका मानसिक संगठन शिथिल पड़ने लगा था। इसलिए उनकी अधिकतर ग़ज़लों में प्रयोग की नवीनता जितनी है, उपलब्धि का उत्कर्ष उतना नहीं। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी जैसे निराला के प्रशंसक ने भी स्वीकार किया है—"बेला में उन्होंने उर्दू-शैली की ग़ज़लों का प्रयोग किया है, किंतु इसमें उनकी सफलता आंशिक ही है।"

निराला के इस प्रयोग को परिणति तक पहुँचाने का कार्य किया दुष्यंत कुमार ने। उनका "साए में धूप" हिन्दी-ग़ज़लों का अनूठा संग्रह है, जिसका तेवर बिल्कुल नया और उर्दू के लिए भी अपरिचित है। तीव्र युगबोध से अनुप्राणित दुष्यंत की ग़ज़लें इस बात के सबूत हैं कि ग़ज़ल एक बहुत संभावनापूर्ण काव्यरूप है और इसके माध्यम से प्रेम की पीड़ा की अनुभूतियों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ कहा जा सकता है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने ग़ज़ल लेखन की शुरूआत निराला और दुष्यंत कुमार दोनों से पहले की थी। उनके "रूप-अरूप" (सन् '३८) नामक हिन्दी के प्रथम काव्य संग्रह में ही एक ग़ज़ल है—

जिन्होंने हो तुझे देखा नयन वे और होते हैं !
कि बनते वंदना के छंद क्षण वे और होते हैं !

तब इतना जरूर है कि "ग़ज़ल" नामक काव्यरूप में निहित संभावनाओं की ओर उस समय शास्त्री जी का ध्यान नहीं गया था। दूसरी बात यह कि वह छायावाद के उतार का युग था और रामकुमार वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र, नेपाली आदि अधिकतर प्रमुख कवि गीतों की माला ही पिरो रहे थे। शास्त्री जी ने भी आस्थापूर्वक "गीत" नामक विधा की नवीन पगडंडियों का संधान किया और उसके माध्यम से वैयक्तिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की अनुभूतियों को वाणी दी। इतना ही नहीं, उन्होंने गीति-कविता के द्वारा युगीन विषमताओं और असंगतियों की भी मार्मिक व्यंजना की। गीतों के क्षेत्र में असाधारण सफलता अर्जित करने और उनकी संभावनाओं को अच्छी तरह

संकोच को विस्तार दिए जा रहा हूँ मैं !
छंदों को विनिस्तार दिए जा रहा हूँ मैं !

इसी संग्रह की एक दूसरी ग़ज़ल का मतला (पहला शेर) है—

भेद कुल खुल जाय वह सूरत हमारे दिल में है !
देश को मिल जाय जो पूँजी तुम्हारी मिल में है !

मगर निराला ने ग़ज़ल के अखाड़े में हाथ-आजमायश तब शुरू की, जब उनका मानसिक संगठन शिथिल पड़ने लगा था। इसलिए उनकी अधिकतर ग़ज़लों में प्रयोग की नवीनता जितनी है, उपलब्धि का उत्कर्ष उतना नहीं। आचार्य नंद दुलारे वाजपेयी जैसे निराला के प्रशंसक ने भी स्वीकार किया है—"बेला में उन्होंने उर्दू-शैली की ग़ज़लों का प्रयोग किया है, किंतु इसमें उनकी सफलता आंशिक ही है।"

निराला के इस प्रयोग को परिणति तक पहुँचाने का कार्य किया दुष्यंत कुमार ने। उनका "साए में धूप" हिन्दी-ग़ज़लों का अनूठा संग्रह है, जिसका तेवर बिल्कुल नया और उर्दू के लिए भी अपरिचित है। तीव्र युगबोध से अनुप्राणित दुष्यंत की ग़ज़लें इस बात के सबूत हैं कि ग़ज़ल एक बहुत संभावनापूर्ण काव्यरूप है और इसके माध्यम से प्रेम की पीड़ा की अनुभूतियों के अतिरिक्त भी बहुत कुछ कहा जा सकता है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने ग़ज़ल लेखन की शुरूआत निराला और दुष्यंत कुमार दोनों से पहले की थी। उनके "रूप-अरूप" (सन् '३८) नामक हिन्दी के प्रथम काव्य संग्रह में ही एक ग़ज़ल है—

जिन्होंने हो तुझे देखा नयन वे और होते हैं !
कि बनते वंदना के छंद क्षण वे और होते हैं !

तब इतना जरूर है कि "ग़ज़ल" नामक काव्यरूप में निहित संभावनाओं की ओर उस समय शास्त्री जी का ध्यान नहीं गया था। दूसरी बात यह कि वह छायावाद के उतार का युग था और रामकुमार वर्मा, बच्चन, नरेन्द्र, नेपाली आदि अधिकतर प्रमुख कवि गीतों की माला ही पिरो रहे थे। शास्त्री जी ने भी आस्थापूर्वक "गीत" नामक विधा की नवीन पगडंडियों का संधान किया और उसके माध्यम से वैयक्तिक तथा सामाजिक सभी प्रकार की अनुभूतियों को वाणी दी। इतना ही नहीं, उन्होंने गीति-कविता के द्वारा युगीन विषमताओं और असंगतियों की भी मार्मिक व्यंजना की। गीतों के क्षेत्र में असाधारण सफलता अर्जित करने और उनकी संभावनाओं को अच्छी तरह

टटोलने के उपरांत ही दूसरी बार ग़ज़ल लेखन की ओर शास्त्री जी का ध्यान जा सका।

शास्त्री जी की ग़ज़लों का क्षेत्र भी उनके गीतिकाव्य के समान ही व्यापक है। उन्होंने अनेक प्रकार की ग़ज़लें लिखी हैं—नितांत वैयक्तिक भावना से अनुप्राणित, सामाजिक चेतना से स्पंदित, व्यंग्य वृत्ति से विदग्ध। एक ओर यदि कोमलता और सौंदर्य के प्रतीक फूलों की पीड़ा-भरी कहानी सुनाते हुए वे कहते हैं—

गुलशन न रहा, गुलचीं न रहा, रह गई कहानी फूलों की!
महमह करती-सी वीरानी आखिरी निशानी फूलों की!
जब थे बहार पर तब भी क्या हँस-हँस न टँगे थे काँटों पर,
हों क़त्ल मजार सजाने को यह क्या कुर्बानी फूलों की?

× × ×

जीने की दुआएँ क्यों माँगीं सौगंध गंध की खाई क्यों?
मरहूम तमन्नाएँ तड़पीं गुमराह गुमानी फूलों की!

तो दूसरी ओर युगीन विसंगति और मूल्यों के विघटन की ओर संकेत करते हुए वे यह भी कहते हैं—

रौशनी तेज़, रौशनी मद्धम!
किस अँधेरे को, रौशनी का गम?

× × ×

पैरवी की पहुँच कहाँ तक है?
चाँद-सूरज पे उड़ रहे परचम!

इन्हीं विसंगतियों और विरूपताओं का अंकन एक अन्य ग़ज़ल में और भी आक्रामक शैली में हुआ है—

काम तिकड़म के सिवा जिसने कुछ नहीं जाना,
कोई इंसान कहे—उसकी नसल क्या होगी?
सुन्दरी, स्वर्ण, सुरा, लब पे बात जनता की,
आँसू घड़ियाल के, पुरजोर मसल क्या होगी?

जैसा मैं अपने एक निबंध में प्रदर्शित कर चुका हूँ, शास्त्री जी के गीति-काव्य में प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय चेतना अंतर्व्याप्त रही है। यह बात उनकी ग़ज़लों के संदर्भ में यों कही जा सकती है। उनकी ग़ज़ल का मतला है—

देश दुनिया का था सिरमौर, हमीं भूल गए!
नजर गगन में गड़ाई कि जमीं भूल गए!

इसी क्रम में देश के कर्णधारों को आत्म निरीक्षण की प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं—

गैर की ज्यादतियाँ, शोखियाँ, दरिंदगियाँ—
सब की सब याद हैं, बस अपनी कमी भूल गए !

जानकीवल्लभ जी केवल एक अतिशय सवेदनशील कवि ही नहीं, भारतीय संस्कृति और दर्शन के गहरे मर्मज्ञ भी हैं। उन्होंने जहाँ युग की विसंगतियों का क्लेश झेला है, वहीं मनुष्य की आत्मिक शक्ति पर उन्हें अटूट आस्था है। एक ग़ज़ल में उन्होंने अपनी इसी आस्था को उभारने का प्रयास किया, युग की मूल्यहीनता के संदर्भ में व्यक्ति मानव की क्षमता को परखा है—

धूप दुपहर की मुख्तसर-सी थी !
रात भर मैं ने चाँदनी पी थी !
किन अँधेरों में नज़र चुँधियाती,
मैं ने हर सिम्त रोशनी जी थी !

× × ×

मौत बेमौत मर गई होती,
मैंने ही उसको जिंदगी दी थी !

कहना अनावश्यक है कि उपर्युक्त ग़ज़ल न सिर्फ कुंठा और निराशा के वातावरण में आत्मिक शक्तियों पर विश्वास, प्रत्युत भाषा की प्रयोगधर्मिता की दृष्टि से भी स्मरणीय है। दुपहर की मुख्तसर-सी धूप के परिप्रेक्ष्य में रात भर चाँदनी पीना और हर सिम्त रोशनी जीना भाषा की सर्वथा अनूठी और कुछ-कुछ अछूती भंगिमाएँ हैं और इन्हें मात्र लक्षणा का चमत्कार कहकर टाला नहीं जा सकता। इसी तरह मक़ते का (अंतिम) शेर भी अपनी भाषिक संरचना के द्वारा अनुभूति के तनाव को रेखांकित करता है।

शास्त्री जी की एक और ऐसी ही ग़ज़ल है, जिसका प्रारम्भ तो हल्की उपदेशात्मकता से होता है, पर परिसमाप्ति गहरी कर्त्तव्यनिष्ठा और अपराजित आत्मविश्वास के देश में हुई है। यथा—

कर्म ऐसा कोई एक कर जायँ हम !
जग न जाए बिसर जब कि मर जायँ हम !
साफ-सुथरी नहीं राह कोई यहाँ,
धूल से है अटी, शूल से है पटी,

सांस से दें उड़ा जो जमी धुंध है,
पूछना पाँव से क्या किधर जायँ हम ?
जुर्म सहना सितारों का भी है सितम,
जय-विजय की ध्वजाएँ न लहरायेंगी,
चोंच में दो परिन्दे ले तिनके उड़े,
हाथ खाली पलट कर न घर जायँ हम !

ऐसी रचनाओं को कोरी आदर्शवादी (यूटोपियन) कहना उचित न होगा। इनके मूल में गहरी सामाजिक निष्ठा और अदम्य आत्मविश्वास वर्तमान है और आज के अकर्मण्य अथवा विकर्मण्य युग में इनका अपना महत्त्व है। साथ ही, सितारों को भी चुनौती देने की बुलंदी तो इनमें है ही।

शास्त्री जी की ग़ज़लों में भावों का जैसा बहुवर्णी विस्तार है, भाषा का वैसा ही इन्द्रधनुषी संभार ! यों, संस्कृत के अतलदर्शी अध्येता होते हुए भी प्रायः उन्होंने ग़ज़लों की भाषा को फारसी-बहुल रखा है, जिसे कभी-कभी तो सामान्य जनों के लिए समझ पाना भी कठिन होता है, जैसे यह शेर—

गुंचों की हँसी का क्या रोना, वह इक लम्हे का तसब्बुर था !
है याद सरापा आरज़ू-सी बरबाद जवानी फूलों की !

लेकिन दूसरी ओर वे उसी सहजता से प्रांजल हिन्दी का भी प्रयोग करते हैं, यथा—

जिन्होंने हो तुझे देखा नयन वे और होते हैं !
कि बनते वंदना के छंद क्षण वे और होते हैं !

और इसके साथ ही मुहावरे दानी का यह चमत्कार भी दर्शनीय है—

लाल गोटी हुई कि मुँह काला,
बहती गंगा में हाथ धोते रहे !

इन सीमांतों के बीच भाषा का बहुआयामी ऐश्वर्य जानकीवल्लभ जी की ग़ज़लों में अनायास देखा जा सकता है। शास्त्री जी एक प्रौढ़ भाषाविद् हैं। हिन्दी के साथ संस्कृत, बँगला, उर्दू आदि पर भी उनका विशद अधिकार है। इस अधिकार का उपयोग उन्होंने जिस कुशलता से अपने गीतों में किया है, उसी सलाहियत से ग़ज़लों में भी। इसी प्रकार उनकी ग़ज़लों की छांदिक विविधता भी सहज ही दर्शनीय है। उन्होंने "धूप दुपहर की मुख्तसर-सी थी" जैसी छोटी ज़मीन की चीजें भी कही है और "गुलशन न रहा, गुलचीं न

रहा, रह गई कहानी 'फूलों की" जैसी बड़ी ज़मीन की चीजें भी। उनकी रदीफ़-काफिए की योजना भी वैविध्यपूर्ण है। अभी कुछ दिन पहले उनकी एक ग़ज़ल छपी थी, जिसके छह शेरों में एक ही रदीफ़ "सितारों को" दुहराया गया है, फिर भी एकरसता लक्षित नहीं होती। समासतः शास्त्री जी की ग़ज़लें संख्या में चाहे बहुत अधिक न हों, पर उनका पाट बहुत चौड़ा है। अपने वस्तुगत विस्तार और संरचनात्मक सौष्ठव के बल पर उन्होंने निजी पहचान बनाई है और उनसे निस्संदेह हिन्दी भाषा की श्री वृद्धि हुई है। हिन्दी-उर्दू के पारस्परिक सद्भाव-सेतु के रूप में तो उनका महत्त्व है ही।

●

प्रतिभा और पांडित्य की प्रतिमूर्त्ति आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

डॉ० आनन्दनारायण शर्मा

यदि जयशंकर प्रसाद के पांडित्य के साथ सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला" की तेजस्विता का समाहार किया जा सके तो उससे जो मूर्त्ति बनेगी, उसे आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का नाम देना अनुपयुक्त न होगा। इतना ही नहीं, शास्त्री जी प्रसाद के समान निस्संग और निराला की भाँति चिर-विद्रोही भी हैं। वे प्रारम्भ से ही सांध्यतारा की तरह अपनी डगर पर एकाकी चलते रहे हैं। उन्होंने कभी इस बात की चिंता नहीं की कि कितने लोग उनके साथ हैं और न इसकी परवाह की कि कौन उनकी आलोचना कर रहे हैं। इसके मूल में लोकरुचि को सर्वोपरि न मानने का साहस और अपनी साधना पर अदम्य विश्वास ही है।

शास्त्री जी का लेखन संस्कृत से प्रारम्भ हुआ था। उनकी संस्कृत-कविताओं का पहला संग्रह "काकली" शीर्षक से १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह की सराहना करते हुए महाकवि निराला ने लिखा था कि इसमें उन्होंने "अपने तारुण्य की पहचान पाई है।" हिन्दी की ओर शास्त्री जी का झुकाव भी अंशत: निराला की प्रेरणा से ही हुआ।

जानकीवल्लभ जी ने जिस समय हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया उस समय छायावाद का पानी उतार पर था और प्रगतिवाद का डंका पिट चुका था। तब माना जाने लगा था कि गीतों का जमाना लद गया और युग के वैषम्य तथा उत्ताप को रूक्ष तथा कर्कश छंदो मे ही बाँधा जा सकता है। शास्त्री जी ने इस कथन की तनिक भी परवाह न की और सभी प्रकार की कोमल-तीव्र अनुभूतियों को गीतों में ढालते रहे। उन्होंने अपने

गीत-संग्रह "तीर-तरंग" की भूमिका में चुनौती भरे स्वरों में कहा है—"ऋग्वेद से रवीन्द्र नाथ तक या मीरा से महादेवी तक की गीति-परंपरा यदि क्रियाशील नहीं तो मेरे विचार से निष्क्रियता ही काव्यकला का सर्वश्रेष्ठ मानदंड है।"

इसी प्रकार शास्त्री जी केवल अनुभूति की प्रखरता के कायल नहीं, वे अभिव्यक्ति-सौष्ठव के भी आग्रही हैं। जीवन की तीव्रतम अनुभूति को भी यदि अभिव्यक्ति की अपेक्षित भंगिमा न मिल सके तो उसके प्रभाव में निश्चित रूप से क्षति होगी। अपने एक अन्य कविता-संग्रह "शिप्रा" के प्रारंभ में ही कवि का कथन है—"जीवन में आवेग का अतुल आग्रह रखकर भी मैं काव्य में कलातत्त्व के समुचित समावेश का तीव्र पक्षपाती हूँ। मेरे अनुभव के अनुसार कलाहीन पंक्तियाँ तुकबंदियाँ हैं और तुकबंदियों में काव्योचित जीवन-ज्योति की पूरी-पूरी पहुँच संभव नहीं।" अपनी इन्हीं मान्यताओं के कारण उनकी "काता और ले दौड़े" वाले लोगों से नहीं बनी और न उन्होंने युग-देवता की प्रत्येक करवट को कविता का जामा पहनाने का प्रयत्न किया। शास्त्री जी के इस कलाप्रेम और गंभीरता को बहुत बार यथार्थ से पलायन समझा गया और इस हेतु उनकी आलोचना भी हुई। पर न तो इन आलोचनाओं का उत्तर देने की उन्होंने आवश्यकता समझी और न इनसे घबरा कर अपनी राह ही बदली। मगर इसका यह अर्थ नहीं कि शास्त्री जी पलायनवादी हैं अथवा युगीन विषमताएं उन्हें आलोड़ित नहीं करतीं। जिस कवि ने—

> निरपराध सिर काट रक्त के अश्रु बहाती असि है,
> लिखे विश्व इतिहास नया, प्रस्तुत वैज्ञानिक मसि है!
> स्वर्ण-प्रसू-भू कृषक रो रहे हैं दाने-दाने को,
> श्रमिक नारियाँ देह दिखातीं देह छिपा पाने को!
>
> — शिप्रा

अथवा

> ऊपर-ऊपर पी जाते हैं जो पीनेवाले हैं,
> कहते : ऐसे ही जीते हैं, जो जीनेवाले हैं,
>
> × × ×
>
> जनता धरती पर बैठी है, नभ में मंच खड़ा है,
> जो जितनी है दूर मही से, उतना वही बड़ा है!
>
> —मेघगीत

जैसी तीव्र अनुभूतिदग्ध और युगसत्य-व्यंजक पंक्तियाँ लिखी है, उसे यथार्थ से बिमुख या पलायनवादी कैसे कहा जा सकता है? लेकिन शास्त्री जी का कसूर यह है कि उन्होंने अपने आस-पास प्रशंसकों का दल नहीं खड़ा किया, 'अहो रुपम्' कहनेवालों की जमात नहीं बटोरी ! उनका स्वभाव भी कुछ ऐसा है कि उनके निकट टिक पाना, कम-से-कम उनके लिए जो लोभ-लाभ की प्रत्याशा में हों, असंभव-सा है। वे विरोधियों को ही नहीं, गलत समय पर सिर हिलानेवाले प्रशंसकों को भी नहीं बख्शते। उन्होंने कहा भी है—"अर्थ समझे ही बिना सिर धुन रहे तुम !" अपनी बेलौस स्पष्टवादिता के कारण ही राजे-महाराजों से लेकर नेता-अभिनेताओं तक के लिए उन्हें झेल पाना मुश्किल हो जाता है। दूसरी ओर उन्हें नकार पाना भी उतना ही कठिन है। महीयसी महादेवी जी ने महाप्राण निराला के सम्बन्ध में लिखा है—वे तो अनगढ़ पारस के भारी शिला खंड हैं। न मुकुट में जड़कर कोई उसकी गुरुता संभाल सकता है और न पद-त्राण बना कर कोई उसका भार उठा सकता है।" यही बात जानकीवल्लभ जी के लिए भी कही जा सकती है।

शास्त्री जी की अनासक्ति का यह आलम है कि वे जिस सहजता से रायगढ़ के राजकवि का पद त्याग सकते हैं, उसी साहस से राज्य-सरकार की ओर से मिलनेवाला दस हजार रुपयों का पुरस्कार अत्यधिक आवश्यकता होने पर भी ठुकरा सकते हैं। उनकी आत्मीयता इतनी विशाल है कि एकाकी होकर भी उन्होंने अपने आसपास गायों, कुत्तों और बिल्लियों का विशाल परिवार जोड़ लिया है। अभी इन्हीं के कारण जाँघ की हड्डी तुड़वा कर उन्हें कई महीने अस्पताल में रहना पड़ा। इसी अनासक्ति और संसक्ति परुष और कोमल, परंपरा और प्रयोग, पांडित्य और प्रतिभा की संगमभूमि शास्त्री जी का इन्द्रधनुषी काव्य-साहित्य है।

●

माणिकशा चौक,
बेगूसराय
(बिहार)

प्रातिभ कवि
आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री

- आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-प्रतिभा

- पाषाणी का कला-सौष्ठव

डा० विद्यानाथ मिश्र

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य प्रतिभा

□ डा० विद्यानाथ मिश्र

प्राचीन कवियों में कालिदास एवं साम्प्रतिक काव्य-जगत् के श्रेष्ठ कलाकार, लोक-प्रसिद्ध, भावों की विभूति, विश्वकवि रवीन्द्र के गुणग्राही तथा उन्हीं के से भावविस्तृत काव्य पल्लवों की काकली के मधुमय गीतों में सुर मिलाने वाले, एक अश्रुतपूर्व लय में निलय हो रूप में और अरूप में आँख मिचौनी की क्रीड़ा करने वाले, कमनीय कानन के विहारी विश्व के परमाणुओं में भी तो वही सत्ता निहित देखते हैं, जैसी उस विश्व सृजक में। काव्य भी तो वही है और हैं भी वे ही कलाकार, जिनके भावों एवं विभावों में प्रकृति के भाव और विभाव हों। जिनकी दृष्टि में—

"मानव भी देव हुआ करते मर-मर कर जो कि जिया करते
यह प्रथम-प्रथम हमने जाना, पत्थर भी आह किया करते !
कुछ भी न असम्भव इस जग में अचला भी जबकि चला करती
उठ उठ कर धुआँ कहा करता—पानी में आग जला करती
जिन का प्रिय दरस-परस पाने को कुसुम मृदुल उर बिंधवाते
तीखे-तीखे काँटे उनका ही दामन थाम लिया करते !
दिन सब दिन जलता रहता है, रजनी-रजनी भर है रोती
जग चाह रहा जलता सोना, जग माँग रहा निर्मल मोती
रोए न कलेजा फाड़ कहो कैसे फिर काला बादल ही ?
तुमने न सुना कुछ तृषित यहाँ हँस-हँस कर अश्रु पिया करते।"

—रूप-अरूप

जो अपने अरमानों को जग-जन सुखार्थ लुटाये फिरते हैं, आँसू पीने तथा गम खाने में ही जिन्हें यथार्थ सुख की अनुभूति होती है, वे ही कृश काय,

अस्तव्यस्त बाल, न जाने किसके दर्शन का निदर्शी, चतुर्दिक बिकच विलोचन द्वय फिराते; जब किसी भी स्थान पर बैठकर सुमधुर ध्वनि में गाते हैं, अगर मेरी आँखें धोखा न खाती हों—प्रकृति का प्रत्येक अवयव—

... ...trees
And mountain tops that freeze
Bow themselves, when he did sing:
To his music plants and flowers
Ever Sprung, as Sun and Showers
There had made a lasting Spring
Every thing that heard him sing
Even the billows of the Sea,
Hung their heads, and then lay by
His poems such have art,
Hilling care and grief of heart
Fall asleep, or reading die.

इतना ही नहीं, जिनके पर्यवेक्षण में "जीना भी एक कला है" वह भी यह जानकर कि—

इसे बिना जाने ही मानव बनने कौन चला है !
फिसलें नहीं, चलें चट्टानों पर इतनी मनमानी !
आँख मूँद तोड़ें गुलाब, कुछ चुभे न, क्या नादानी !
अजी, शिखर पर जो चढ़ना है तो कुछ संकट झेलो,
चुभने दो दो-चार खार जी भर गुलाब फिर ले लो !
तनिक रुको, क्यों हो हताश, दुनिया क्या भला बला है ?

क्यों न सच्चा कवि है ?

कवि मस्तिष्क का नहीं हृदय का होता है, पर मुझे तो काव्यकलाविद, साहित्य के आचार्य, संस्कृत के पन्त, हिन्दी काव्य में निराला, राष्ट्र-वाणी के बर विभूति, कवि, लेखक, दार्शनिक तथा गायक "ललित ललाम" के रूप और अरूप में दोनों का सम्यक् समन्वय मिला है। इनके प्रकृति-वर्णन की कोमलता एवं सुकुमारता में अनुपम भावुकता का वैज्ञानिक आलोक है तथा सरसता का पुट मानवात्मा से प्रकृत्यात्मा के योग के रूप में है। एक ही सत्ता का दृष्ट और अदृष्ट रूप सत्य का निदर्शक है।

अपने ढंग के बेजोड़ कवि ने किस तरह पावस का प्राकृतिक सौन्दर्य पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया हैं—

"झलमल-मुक्तादल-नव-जल-धर-जलधर-कुन्तल-जाला,
कज्जल-कल चपला-चल-लोचन, गोरोचन-रुचि-भाला,
विमल-बलाका-'माला', सुर धनु-अनुरंजितवर 'अम्बर'
मदिर-मन्द-मन्थर-गत-आगत स्वागत पावस बाला !"

जिसमें शब्द माधुर्य, गम्भीर भाव, आलंकारिक चमत्कार तथा शैलीप्रवाह अनुपम हैं। ऐसे सुन्दर पावस का वर्णन कवि की काव्य-प्रतिभा का निर्णायक है। शास्त्री जी के कलित काव्य-ग्रन्थों में वर्णन करने का सुन्दर ढंग और सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन एक दूसरे में इस तरह विलिप्त हैं कि दोनों एक दूसरे से सर्वथा अभिन्न हैं और वर्णनाएँ आधार सम्भूत 'in reliance on the uniformity of Nature." हैं। विचार वीथियों में यथार्थता तथा समानता इनके काव्य-जीवन के अंग हैं। इन्होंने प्रकृति को अपना मूक शिक्षक माना है और इन्हें जो भूत, वर्तमान एवं भविष्य में सम है वही अरूप है—ऋक् है; और सत्य वह रूप है जिसमें परिवर्तन है। इसी को लेकर इनका अवतरण हिन्दी काव्य-जगत् में हुआ है जो "निराला" का अक्षय प्रसाद है। इनकी रचनाओं में आत्मा की करुण पुकार है। ठीक ही है "वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजे होंगे गान"। अमर वेदना का हृदय से सम्मान ही तो कवियों का अक्षय धन है। रूप और अरूप में हमें करुणा-ही-करुणा झलकती है।

अपने समाज के एक उदीयमान कलाकार, जिनके किशोर मानस जनित प्रौढ़ विचारों की अनुभूति बड़े-बड़े साहित्य महारथियों ने की है और मुक्त कण्ठ से अमर कवि "जयदेव" कह मानवर्धन किये हैं, उन्हीं की कलित काकली की मधुतर ध्वनि में हमें उनके सजल और प्यासे जीवन के अगीत संगीत रूप और अरूप में व्यक्त दृष्टगत हैं। सोने की परख कसौटी पर होती है और कलाकारों की परख उनकी कमनीया कृतियों पर। और वस्तुतः वही कलाकार भी है जिसके काव्य-कलापों में पाठकों की सुरुचि हो। अस्तु, सब तौर से आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के काव्य, अगर मेरे हृदय ने सच्ची परख जानी है, अनुपम हैं और हैं बेजोड़। जिसे जोरदार आवाज में इतना ही कहा जा सकता है कि रूप और अरूप का मननशील तथा गम्भीर अध्ययन, जिसमें शास्त्री जी ने अपने दैनिक आत्म चिन्तन से उद्भूत भाव, जो सचमुच में सुनसान निशीथ मे पपीहे की पुकार से करुण और भाषा जैसे, शरद पूनो की

चाँदनी से धुला आसमान तथा शैली जैसे विश्व कवि रवीन्द्र और निराला का काव्य प्रवाह एवं जिस रूप और अरूप में अपने साहित्य, संगीत तथा दर्शन का हृदयग्राही प्रतिबिम्ब दिखलाये हैं, अवश्य ही किन्हीं विशेष क्षणों में ये सहृदय पाठकों को बहुत ही सुन्दर जँचेंगे। अगर लालसा, कोई बुरी चीज नहीं और वह भी सुन्दर भावों की; मैं भी आचार्यवर के हृदय निसृत कल्लोलिनी प्रवाह से अमल विमल भावों के उद्धरण का लोभ सम्वरण नहीं कर सकता। आशा है यह अपूर्ण प्रकाश ही हमारे बन्धु पाठकों की दृग-दृष्टि खोल जातीय साहित्य के उत्थान हेतु हृदय को सतत प्रयत्नशील रखने को काफी होगा। आधुनिक यति गति के कवि "प्रसाद", "निराला", "पन्त", "महादेवी" तथा "रामकुमार वर्मा" का अध्ययन मैंने किया है और साथ ही काव्य-धारा के प्रवाह में मैंने शास्त्री जी के रूप और अरूप का भी अध्ययन किया है। जैसा कि हिन्दी कविता की आधुनिक प्रगति के साथ-साथ छायावाद का प्रचुर प्रचार हो रहा है, यह कहना व्यर्थ न होगा कि अब वह विरोध की वस्तु नहीं। यह अपनी सुनिश्चित धारा भी बना चुकी है तथा अध्ययन की वस्तु बन गयी है। रूप और अरूप का अध्ययन तो हमें यही संकेत करता है। जैसा कि महादेवी ने कहा है—"स्वच्छन्द छन्द में चित्रित मानव अनुभूतियों का नाम छायावाद है" और फिर पन्त ने भी तो छाया को—"अविदित भावाकुल भाषा-सी" ही बतलाया है। इस विचार-बिन्दु से जानकीवल्लभ शास्त्री हमारे सामने एक छायावादी कवि के रूप में आते हैं।

छायावाद का प्रथम लक्षण है आत्मानुभूति का स्वर। यह स्वर इतना आगे बढ़ जाता है कि अन्त में अध्यात्म में विलीन हो जाता है। छायावादी कवि जग के सुख दुख दोनों को प्रकाश तथा अन्धकार के समान अपनाता है और दोनों में आनन्द अनुभव करता है। कभी तो मुदित हो हृदय वीणा पर संयोग गीत अलापने लगता है और कभी वियोग का करुण क्रन्दन कर उठता है।

> निश्चय जब पार पहुँचना ही—
> कितनी भी दूर किनार रहे"

हर्षातिरेक गा तो रहा था, पर कौन जानता था कि उसके अन्तस्तल से यह भी निकलेगा ही—

> कितना परवश हूँ आह ! कौन जाने फिर आऊँ; ना आऊँ !

× × ×

जब सब दिन रहा मोह मृग में फिर, भर लूँ आज तुझे दृग में,
जाता हूँ अब खुद को खोने, तुझको फिर पाऊँ, ना पाऊँ !

× × ×

'नयनों से कर रस दान तनिक'
अधरों पर धर मुसकान तनिक,
दुख में रुक-रुक, सुख में झुक-झुक
बढ़ता चल तू योगी रमता !'

छायावादी कवि निराकार ब्रह्म की ओर बन्द दृग नहीं दौड़ाता बल्कि उसकी कल्पनाओं में प्रकृत पदार्थ के मूर्त भाव निहित रहते हैं। सूक्ष्म कल्पना, कोमल भाषा, स्निग्ध भाव तथा परिमार्जित शैली छायावादी कविताओं की विशेषताएँ हैं। कल्पना के द्वारा कवि अपने अभीष्ट को एक पार्थिव रूप प्रदान करता है तथा प्रच्छन्न को सर्वदा व्यक्त करने की चेष्टा में रहता है। उसे दृश्य-जगत में लाने के लिए विह्वल हो उठता है। कवि बराबर प्रयत्नशील रहता है कि उसकी प्रेयसी जो अव्यक्त रूप में है और व्यक्त रूप में हो, फिर तो कवि की आत्मानुभूति काव्य रूप में फूट पड़ती है जिसमें हम अप्राप्य को प्राप्त करने का सतत उद्योग, आत्मा की पवित्र पुकार तथा नैसर्गिक वीणा की मधुर झंकार कवि के काव्य में देखते हैं। कवि भाव जगत में विलीन हो जाता है। फिर अपने को भी उसी अनन्त में रख छोड़ने की कोशिश करता है, जहाँ पर—

"सुनता हूँ उस ओर सभी का होता रैन बसेरा है।"

शास्त्री जी मृत्यु को ही जीवन का एक मात्र लक्ष्य मान बैठे हैं जिसकी अभिव्यक्ति अपने काव्यगत निम्न भावों में की है :

—रोते आयें, पर गाते-गाते जाएँ

× × ×

मैं चला मृत्यु की आँखों का आँसू बन,
मेरे जीवन के गान रहे जाते हैं।

× × ×

मृत्यु हे ! इस तिक्त जीवन से मिटेगी प्यास ?

× × ×

मैं मिटने की साध लिए, मुझ पर ममता माया न करो।

× × ×

मरण प्रेम बन आया !—दूर देश है जाना।

फिर एक जगह लिखते हैं :

जीवन अमरण कर न वरण री।

× ×

खलता पल भर भी नहीं आज

—चिर दयित मृत्यु का नव विछोह।

झरता जीवन निर्झर झर-झर,
मरण, यहाँ पाने को जीवन, शरण तुम्हारी आया।

इस तरह देखते हैं, शास्त्री जी की कविताओं में करुण रस का स्रोत प्रवाहित है ! जीवन में संघटित घटनाओं के चित्रण के साथ-साथ मानवोचित भावों को व्यक्त करने में वे बड़े ही सिद्धहस्त हुए हैं। "जीना भी एक कला है" शास्त्री जी का (Master Piece) है। संसार में बिना जीने की कला जाने हुए जीवन यापन करना दुरूह है। इसी को किस तरह व्यक्त किया है—

इसे बिना जाने ही मानव बनने कौन चला है
कितनी साधें हो पूरी तुम रोज बढ़ाते जाते
कौन तुम्हारी बात बने तुम बातें बहुत बनाते
माना प्रथम तुम्हीं आये थे, पर इसके क्या मानी ?
उतने तो घट सिर्फ तुम्हारे जितना नद में पानी
और कई प्यासे, इनका भी सूखा हुआ गला है
बर्फ ही सही, बहुत न पीना इसकी गर्म प्रकृति है
दुख-सुख, आग बर्फ दोनों से बनी हुई संसृति है
तपन ताप से नहीं, तुहिन से कोमल कमल जला है।

"सुमित्रा की शेष स्मृति" में शास्त्री जी फूट पड़े हैं। पढ़ते समय आँखों में आँसू छल छला जाते हैं। शायद कवि ने शतधार आँसू बहाते हुए लिखा है। इनकी व्वथा का पता इन शब्दों से ही लग सकता है—

"मेरे बाँटे इस दुनिया में खोना ही खोना था
लवण सिन्धु में अपने दिलके छालों को धोना था"

× × ×

तू न जानती बहन आह क्यों व्यर्थ पुकार रहा हूँ
तू स्वीकार करे न करे क्यों मैं कर प्यार रहा हूँ ?
अब न किसी का मैं भाई, मेरी न बहन अब कोई
आज यही झुठे भायप का भार उतार रहा हूँ।
अब आखिरी विदा लेता हूँ आह यही इतना कह
मुझ-सा भाई हो न किसी का, तुझ-सी बहन सभी को"।

इसी भाव सृजन में इन्हें पुरानी बातें याद आ जाती हैं जब इनकी माँ ने केवल चार वर्ष और चार महीने की दो संतानें छोड़ इहलोक लीला समाप्त की थी। उस समय इनके परिवार में इनके पूज्य पिताजी के अतिरिक्त देख-रेख करने वाला दूसरा कोई नहीं था। उसी की याद में आपकी आत्मा चीख उठी है—

"रैन बिताई जिनने खग सा दो अण्डों को ले कर
दिन काटे दोनों कन्धों पर हम दोनों को लेकर
उन्हीं पिता की नाव पुरानी डग-मग डोल रही अब
कैसे तट तक लायेंगे वह एक बाँह से खेकर !"

इस तरह हम देखते हैं कि शास्त्री जी की काव्य प्रतिभा सचमुच प्रोत्साहन के काबिल है। इतनी छोटी अवस्था में इनने हृदयगत भावनाओं के सजीव चित्र खींचे हैं; वस्तुतः इनके काव्य-ग्रन्थ अपनाने की चीजें हैं। हिन्दी जगत इनके अदम्य उत्साह का सर्वदा ऋणी रहेगा और आशा है, आधुनिक काव्य का विकास अक्षुण्ण रखने में ये सब तरह से सहयोग देंगे।

(चैत्र सं० १९९८)



पाषाणी का कला-सौष्ठव

□ डा० विद्यानाथ मिश्र

'पाषाणी' में पाषाणी नाम्नी संगीतिका कदाचित् संगृहीत संगीतिकाओं में कलात्मक प्रौढ़ि तथा मानवीय स्पर्श की सर्वाधिक विशदता के कारण शीर्ष स्थानीय कही जा सकती है। कृती की ओर से भी प्रस्तुत कृति शीर्षकीय प्रतिष्ठा प्राप्त है। यह गौतम-पत्नी अहल्या के जीवन पर आधारित है, अतः इसकी ख्यात-वृत्तता की नाट्य-प्रतिष्ठा सहज सिद्ध है। काव्य में अहल्या और गौतम की सर्वप्रथम चर्चा आदि-कवि वाल्मीकि ने अपनी अमर-कृति 'रामायण' में की है। वाल्मीकि ने अहल्या का जो चित्र प्रस्तुत किया है, वह एक व्यभिचार-भ्रष्टा नारी का चित्र है। इन्द्र ने उससे अपनी कामुकता की परितुष्टि की है और अहल्या ने भी उसे गुप्त रखा है। वहाँ गौतम ने अहल्या को शिला बन जाने का शाप दिया है, क्योंकि गौतम के साथ उसने, अपनी वासना की पूर्ति के लिए, छल किया है। अहल्या यहाँ प्रातः स्मरणीया नारी नहीं है, वह पुंश्चली-जैसी है। शास्त्री जी की पाषाणी में अहल्या का चरित्र नितान्त नूतन है। वाल्मीकि की अहल्या प्रतीकात्मक होकर ही कथा की मर्यादा सिद्ध करती है। शास्त्री जी ने उसे मानवी रूप दिया है। शास्त्रीजी की पाषाणी में अहल्या एक युवती नारी है और गौतम वृद्ध ऋषि। मनोवैज्ञानिक फलक पर अहल्या की अतृप्त वासना की अभिव्यक्ति शास्त्रीजी की पाषाणी का उद्देश्य है। इसमें कहीं भी अस्वाभाविकता के लिए स्थान नहीं रहने दिया गया है। कहानी के पौराणिक होने मात्र से ही प्रस्तुत संगीतिका को शास्त्रीय (classical) नहीं कहा जा सकता; इसमें कवि नाट्य-कार शास्त्रीजी ने मानवीय धरातल पर अहल्या के अन्तर्द्वन्द्वों एवं भावनाओं के माध्यम से मनुष्य मात्र के अन्तर्द्वन्द्वों एवं भावनाओं का तदनुकूल परिस्थिति

में चित्र उपस्थित किया है अतः देश, काल और पात्र की निरपेक्षता ही इसका मूल स्वर है।

पाषाणी के कथ्य की योजना तीन दृश्यों में हुई है। सन्ध्या से प्रारम्भ कर प्रभात में पर्यवसान काल संकलन की दृष्टि से शास्त्रीजी की अपूर्व कला-दक्षता के अतिरिक्त 'तमसो मा ज्योतिर्गमय'–जैसे श्रुति-वाक्य में उनकी निष्ठा को भी द्योतित करता है। अहल्या की भावनाओं की तमिस्रता के अनुरूप, सान्ध्य कालीन वातावरण से इस संगीतिका का प्रारम्भ हुआ है।

अहल्या का गीत—

"पावन वन-अञ्चल में क्योंकर,
चञ्चल मन का दीप !"

उसके विषाद-ग्रस्त जीवन की निषिद्ध हलचल को ही नहीं व्यक्त करता, वातावरण-काल का भी उससे सकेत हो जाता है। यह गीत अहल्या के चिन्ताकुल जीवन का भावोच्छवास है; जिसमे उसका अन्तर्द्वन्द्व भी मुखर है और उसकी अतृप्त वासना भी झांक रही है। वह युवती है—वृद्ध ऋषि की पत्नी। उसकी अनाघ्रात कुसुम-जैसी वासना 'इन्द्राय स्वाहा' के निरन्तर श्रवण से इन्द्र के गठित युवत्व से कल्पना-विलास करने लगी है। इन्द्र के प्रति ऋषि का सर्वस्व हवि है तो अहल्या क्यों नहीं ? वह उस हवि से किस प्रकार भिन्न है ? किन्तु नैष्ठिक जीवन की दुनिया में उसके मन का 'गगन-विहार' अनैतिक आचरण-जैसा उसे भी मालूम होता है। उसके गीत से स्पष्ट है कि वह अतृप्ति-जन्य व्यथा की विह्वलता का लक्ष्य बनी हुई है। उसके चित्त की अवस्था के अनुकूल ही उसके मुँह से अवसाद भरा स्वर भी फूट पड़ा है। अहल्या की अवसाद ग्रस्त स्थिति में सघनता एवं गम्भीरता लाने के लिए कवि द्वारा आश्रम-द्रुमों पर पंछियों के कोलाहल, हवन करते हुए ऋषियों का मंत्रोच्चार तथा ऋषि कन्याओं के खेलने और चहकने की ध्वनि-योजना की गयी है। यहाँ रेडियो रूपक की सीमा में कलात्मक दृष्टि से कलाकार ने स्थान, कार्य तथा पात्रों को ध्वनि के माध्यम से दृश्यत्व प्रदान किया है।

तपोवन के पवित्र वातावरण में अहल्या के हृदय में काम-वासना की धारा उद्दाम वेग से बढ़ने लगी है। वह समझ नहीं पाती कि क्यों उसका मन इतना उन्मन हो उठा है। उसे संयम का किनारा ढहता हुआ अनुभव होता है—उसकी चेतना उसके तपःपूत जीवन की दिशा बदलने लगी है। इसी उधेड़बुन की स्थिति में मल्लिका का प्रवेश हुआ है। मल्लिका राजकुमारी है—

स्वर्ण-सौध की स्वप्निल सुन्दरता। उसकी आश्रम-जीवन मे अनुरक्ति अहल्या की अभुक्त वासना को जोर से झकझोर देती है। जब वह अहल्या से कहती है—

आत्म-दमन ही नहीं लक्ष्य आश्रम-जीवन का एक,
जीवन का संगीत यहाँ भी आत्मा का अभिषेक !

तो जैसे अहल्या की प्रणय-पिपासित आत्मा आहत हो उठती है। मल्लिका के लिए अपनी स्थिति से असन्तोष के कारण आश्रम-जीवन भले ही शान्त, पवित्र हो, वह उसके प्रति अपना अनुराग और श्रद्धा भले ही व्यक्त करे, किन्तु अहल्या के लिए वह उसकी अतृप्ति को कुहुकाने वाली सराहना के सिवा और क्या हो सकती है ? अहल्या तभी अपने को भूलने के लिए अपनी वास्तविक स्थिति से थोड़ा-सा विराम लेने के लिए अपनी जीवन-गाथा मल्लिका को सुना देती है। वह भी किसी राजा की ही बेटी है। उसके माता-पिता ने 'पुत्रैषणा' से उसे आश्रम की तपस्विनी बनने के लिए महामुनि गौतम के चरणों में अर्पित कर दिया है। वहाँ उसका दम घुटता-सा रहता है। संयम और तपश्चर्या ने उसके जीवन में आग लगा दी है। उसकी कामना सदैव धुँधुआती रहती है। उसकी अभिव्यक्ति में—

बालापन में मुझे तपोवन मिला : शिला का स्नेह,
छाँव पेड़ की, धुँआ होम का और यूप की देह !

हाँ, यूप की देह ! वलि-पशु को बध के निमित्त बाँधे रहना ही तो यज्ञ के खम्भे—यूप का कार्य है ? और अहल्या की यौवनवती देह की, इससे भिन्न क्या सार्थकता है ? वह भी तो जीवन की सुकुमार कामनाओं की हत्या का वलि-स्तम्भ मात्र है। इस कथन में कितनी हृदय द्रावकता है जिसे सुन कर मल्लिका भी चौंक उठती है। उसकी आश्रमीय शान्त वातावरण की धारणा की दुनिया में जैसे अचानक वह्नि विस्फोट हो उठता है। अहल्या के दुःख-भरे जीवन की भाप से मल्लिका के मन का गगन जलने लगता है, उसे तपोवन की सुषमा भयानक प्रतीत होने लगती है। उसे अनुभव होने लगता है कि उसने भ्रम से कामना के तिल-तिल जलने के कारण धुएँ की उष्णता को ही शान्ति की शीतलता समझ लिया था। मल्लिका और अहल्या के विरोधी-स्वरूपों में शास्त्रीजी एक कलात्मक चमत्कृति ला सके हैं। अहल्या के यौवन में संयम की एक अपूर्व क्षमता है परन्तु नारी के लिए अपनी भावनाओं एवं चिन्तनाओं पर अधिकार रखना भी उतना ही कठिन है। मल्लिका जैसी समवयस्का की

अहल्य । के लिए नितान्त आवश्यकता थी, अपनी भावनाओं को प्रकट करने के लिए। तभी वह अपने जीवन की यथार्थ कठोरता की ओर संकेत कर कहती है—

'मैं तो वैसी रात कि जिसका होता कभी न भोर !'

अहल्या के इस कथन में केवल मार्मिक निराशा की ही व्यंजना नहीं है, कथा का एक पताका-स्थानकीय संकेत भी है। अहल्या तपोवन की पवित्रता में अपनी आत्मिक दुर्बलता से अपरिचित नहीं है। वह समझती है और अच्छी तरह समझती है कि उसके जीवन में वासना का अदम्य संचार हो चला है तभी वह संयम को मन का गुण और विवेक को ही जीवन कह कर अपनी वासना की आग को संयम की राख के नीचे दबा देने का असफल प्रयत्न भी करती है।

शास्त्रीजी ने अहल्या को अतृप्ति की सुलगती प्रतिमा के रूप में अवतीर्ण किया है। तपोवन के संयमित जीवन ने उसकी अभुक्त वासना की आग को और उभार दिया है। इसीलिए 'पावन-वन-अंचल में' उसके मन का दीप चंचल हो उठा है। इसी प्रारम्भिक दृश्य में कवि ने अपनी कला-प्रौढ़ि की एक बानगी रंग-संकेत में दी है। कहा जा चुका है कि अहल्या 'इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय' की ध्वनि बार-बार सुनती रही है। अतः अहल्या के स्वप्न में इन्द्र के साथ राग-योग की पृष्ठभूमि यहीं कवि के द्वारा संकेतित है। वाल्मीकि की अहल्या यौवन के आवेगपूर्ण प्रवाह में बह गयी है। उसने इन्द्र का वास्तविक समागम सुख प्राप्त किया है और अपने उस पापपूर्ण कर्म को ढकने की भरपूर चेष्टा भी की है। शास्त्रीजी ने अहल्या की इस दुराचारिता का प्रक्षालन किया है—अहल्या के दूषित मन को मानवी दुर्बलता का आधार देकर। इसी दृश्य में राजकुमारी मल्लिका का प्रवेश भी नाटकीय महत्त्व रखता है। अहल्या अपनी दुर्बलता और कसमसाहट को प्रकट करती तो किस पर ? उसे तो उस आश्रम में उसी की अवस्था की एक नारी ही तो चाहिए थी !

मल्लिका का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि उसकी उपस्थिति से अहल्या की वासना और भी उद्दीप्त हो उठी है। जिस 'इन्द्र' की कल्पना से अहल्या का अचेतन आलोड़ित-विलोड़ित था, उसकी अभिव्यक्ति मल्लिका के साथ वार्त्तालाप में अनायास ही हो गयी है। अहल्या की चंचलता और भी उग्र हो

चली है, जबकि मल्लिका ने आश्रम-जीवन की मुक्त कण्ठ से सराहना की है, तभी अहल्या की यह उक्ति—

'भेद नहीं, मेरे जीवन को समझो पंचम वेद,
यह न अनास्वादित रस, नूतन यह पुराण का स्वेद !'

अपने मर्म-वेधी लक्ष्य में सफल सार्थक भी है। अहल्या का यह कथन, संक्षेप में, शास्त्रीजी की प्रबन्ध-वक्रता के सम्बन्ध में, उनकी अपनी रहस्योक्ति-जैसा भी लगता है। चार वेदों में मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों ने जो कुछ कहा और किया, उसी में ऋत निःशेष नहीं हो गया। जीवन की दुर्बलता-सबलताओं की प्रत्यक्ष अनुभूति की पहली नहीं तो पाँचवीं संहिता-जितनी भी तो महत्ता होनी है और जीवन के इस पुराने पंचम वेद से जो मन्थन का रस निकला है, वह पुराण-शैली में आस्वादित होकर भी पाषाणी की रमणीयता में नूतन है— इसमें क्या सन्देह ?

दृश्य के अन्त में, मल्लिका के लिए मल्लिका की सखियों की आशीर्वाद याचना—

देवि अहल्ये, आप इन्हें झटपट दें आशीर्वाद,
वर अनुकूल मिले कि मिले जीवन का सच्चा स्वाद !

ने तो अहल्या के विवेक को और भी कुण्ठित कर दिया है। जिसे स्वयं अपने जीवन में 'जीवन का सच्चा स्वाद' दुर्लभ रहा वह दूसरे को क्या आशीर्वाद दे सकेगी ? यहाँ तो अहल्या की अतृप्त वासना और भी उद्दीप्त हो उठी है। शास्त्रीजी का व्यंग्य-विधान इन पंक्तियों में उनकी कलात्मक विदग्धता का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। पाश्चात्य आधुनिकों में शॉ अपनी व्यंग्यात्मक उपलब्धि के लिए प्रख्यात हैं। किन्तु उनमें अनभिप्रेत रूक्षता इतनी अधिक है कि उनके कथन से केवल तीव्र दर्शन की पीड़ा होने लगती है। शास्त्रीजी में शॉ की व्यंग्यात्मक सजगता के साथ ही साथ अभिव्यक्ति में माधुर्यपूर्ण आभिजात्य और शिष्टता का भी आग्रह सहज द्रष्टव्य है।

द्वितीय दृश्य में गौतम अहल्या के पारस्परिक वार्तालाप के सहारे कथ्य को विस्तार दिया गया है। कवि ने अहल्या के स्वप्न-विधान के पूर्व गौतम द्वारा संयत जीवन के महत्त्व का उपदेश दिलवा कर अहल्या की द्वन्द्वात्मक स्थिति को प्रखर बना दिया है। मनोविश्लेषण की शब्दावली में द्वितीय दृश्य अहल्या के Regression की स्थिति का चित्र है। वास्तविकता से पलायन करने की प्रवृत्ति अहल्या में इतनी प्रबल हो उठी है कि वह गौतम के नैतिक

उपदेश को बिलकुल सुनती ही नहीं। यहाँ कवि ने अहल्या की अतृप्ति में उन्मत्तता की आकृति उपस्थित की है। उसकी आँखों में मादकता की अरुणिम रेखाएँ तनी हुई हैं। उसके चित्त का चापल्य गौतम की दृष्टि को सहज ही अपनी ओर खींच लेता है। वे भी उसकी अतृप्ति का अनुभव करते हैं किन्तु उनके पास उसकी सान्त्वना के लिए मात्र उपदेश का ही बल है, जिसका प्रयोग उन्होंने किया भी—

'तुम तो मनस्विनी हो ! तपस्विनी —
का उन्नत संयत जीवन !'

किन्तु अहल्या की चेतना तो तप-जपपूर्ण जीवन की निस्सार बातें सुनते-सुनते थक गयी थीं। उसका जीवन तो यौवन-जन्य वासना के उद्दाम प्रवाह में वह चला था। उसके तन के तनाव ने मन में ललित लचीलापन को एक बारगी ही छोड़ दिया था। मन पर नियन्त्रण रखना अब उसके लिए सम्भव भी तो नहीं था। तभी वह गौतम से पूछती है—

तरुणाई मन की कोमलता
तो क्यों इतना तन तनता है ?
क्यों भँवें खिचीं रहती ? हम से
सीधा न देखते बनता है !

गौतम के लिए अहल्या का यह प्रश्न उतना ही कठिन है जितना शंकराचार्य के लिए मण्डन मिश्र की पत्नी भारती का प्रश्न। संन्यासी शुकदेव की तरह वह संसार के प्रलोभनों को 'ततः किम्' कह कर टाल सकता है किन्तु जिज्ञासा की ऐसी सुकुमार उन्मुखताओं का उत्तर उसके पास नहीं है। सुन्दरता के ऐसे प्रश्नों के सामने सत्य सदा से घुटने टेकता आया है।

सचमुच—अहल्या का मन मृग अपनी तरुणाई की संकेत-ध्वनि से पागल बना हुआ है। और ऐसी स्थिति में गौतम उसे संयम का कठोर पाठ पढ़ा रहे हैं। युवती अहल्या वृद्ध गौतम के साथ किस तरह अपनी अलस तरुणाई में जीवन काट रही है, उसका अनुभव तो उसे ही होता है; वृद्ध गौतम उसकी विवशता का अनुमान भी नहीं कर सकते। उन्हें तो यही मालूम होता है कि अहल्या की सात्विकता के पंकज को मल्लिका के राजस भाव के संस्पर्श ने पंकिल बना दिया है। वे सात्विकता को जीवन की महती उपलब्धि के रूप में स्वीकारते हैं और अहल्या को भी उसी का आचरण करने की निर्मम शिक्षा भी देते हैं। किन्तु अहल्या इसे स्वीकारती नहीं। वह तो

स्पष्ट शब्दों में कहती है कि जीवन में केवल रूखी-सूखी सात्विकता ही अपेक्षित नहीं होती, उसे सरस बनाने के लिए राजस-रस की भी आवश्यकता होती है। नहीं तो जीवन की धरती पथरीली हो जाती है—

सात्विकता की सूखी पपड़ी,
राजस रस से गीली होती,
मिट्टी की धरती नम होती,
अन्यथा कि पथरीली होती !
सात्विकता छुईमुई ऐसी,
जीवन कठोर, नीरस ऐसा !
ऐसे में कैसे हो विकास ?
गतिहीन हृदय परवश कैसा !

इस पर गौतम (उपदेश की मुद्रा में) कहते हैं—

सात्विकता की उपलब्धि कठिन,
इसलिए साधना की महिमा !
जैसे-तैसे बहना ही जो—
उद्देश्य, व्यर्थ लघिमा-गरिमा !

इसी स्थल पर गौतम द्वारा कात्यायनी और मैत्रेयी की कथा सुनाई जाती है। गौतम कथा के द्वारा अहल्या के विकल मन में शान्ति की स्थापना चाहते हैं किन्तु अहल्या ने तो उसे बिलकुल सुना ही नहीं। अहल्या के Regression का यह चरम-बिन्दु है। गौतम अहल्या की इस स्थिति पर दुखित हो उठते हैं और सोच्छ्वास कहते हैं—

हा रे गौतम, तेरे तप का,
साधन-विराग का, जीवन का—
क्या मूल्य अहल्या के दृग में,
क्या दबा भाव उसके मन का !

कवि ने यहीं गौतम के अस्वाभाविक जीवन में मानवी चेतना का संचार करा कर उनके ऋषित्व की रक्षा की है। यह दृश्य अहल्या के स्वप्न की पृष्ठभूमि भी है, जिसमें कवि द्वारा कात्यायनी और मैत्रेयी की कथा में प्रकारान्तर से मल्लिका (राजस-भाव) और अहल्या (सात्विकता) के प्रारम्भिक द्वन्द्व की आवृत्ति हुई है। प्रासंगिक कथाओं के समानान्तरीण (Method of Parallelism) संयोजन को आधिकारिक कथा की सन्धि के रूप में प्रयुक्त करने में यहाँ शास्त्रीजी को अनूठी सफलता मिली है।

रागात्मिका वृत्ति (कात्यायनी) और विरागात्मिका वृत्ति (मैत्रेयी) की कहानी अहल्या के जीवन की घोर अतृप्ति को और भी अधिक घनीभूतता प्रदान करती है, जिसकी भुक्ति आगे स्वप्न प्रकरण में हुई है। अहल्या के स्वप्न में (आगे के दृश्य में) उसकी इसी उत्कट अतृप्त वासना की पूर्ति हुई है। अहल्या की अतृप्त वासना को गौतम के उपदेश ने तृप्ति प्रदान नहीं की, बल्कि उलटे उसके अचेतन में उसे रंगीन स्वप्नों की सृष्टि के लिए फेंक दिया। अहल्या के स्वप्न में उसकी अभुक्त वासना का विस्फोट है। वह स्वप्न में अपनी कामना का स्वरूप देखती है। स्वप्न में सुरभित तरंगों में तैरने की फ्रायडीय मनोविज्ञान की प्रतीकाभिव्यक्ति से सहज संगति है। मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जल में तैरने, आकाश में उड़ने, मछली, [सूर्य या चिड़ियाँ पकड़ने का स्वप्न प्रायः उद्दाम वासना से अभिभूत दुर्बल चरित्र की निशानी है।

अहल्या तो किसी युवक के साहचर्य की आकांक्षा रखती थी। उसकी वासना उसके वृद्ध पति से सन्तुष्ट नहीं थी। किन्तु चेतन का सेंसर-सतीत्व की चेतना के सुप्त रूप में भी, उसकी दमित इच्छा के सद्योभाव से तृप्त होने में बाधक हैं। उसकी इच्छा को विष्टंभन के सोपानक्रम से गुजरना पड़ता है। उत्कण्ठा की नदी में सतीत्व-मर्यादा के किनारे की चोट से जो भँवर बना है, उसमें उतराती हुई उसे भ्रमर की याद आना स्वाभाविक है और भ्रमर तो लीला-पुरुषोत्तम की परकीया वियोगिनियों की सरस अन्योक्तियों का सदियों से वाहक रहा ही है। फिर सम्पूर्ण भ्रमरगीत साहित्य इसका प्रमाण है कि भ्रमर और नटनागर में दक्षिणनायकत्व का सीधा सम्बन्ध है और नटनागर की खातिर विवाहिता गोपियों ने अपने पति को छोड़ कर धर्म, समाज को छोड़ कर भी कुछ ऐसा उत्तम तत्त्व पा लिया, जो ब्रह्मप्राप्ति के समकक्ष कहा जाता रहा है। पर इस स्थिति में आकर भी अहल्या की अवदमित उत्कण्ठा मुग्धा के 'भाव' से अधिक उत्कट नहीं हो पाती। हिन्दू ललना के सतीत्व भाव का सेंसर कुछ इतना कठिन है। अतः अपनी भावना के अनुरूप ही उसने भँवर के दृश्य से नटनागर (कृष्ण) को देखा। भँवर और नटनागर की शाब्दिक बिम्ब-योजना के समान ही 'देवराज हो या हो देवर ?' जैसी अभिव्यक्ति में अहल्या की पतिरूप में इन्द्र की कामना व्यक्त हुई है। 'देवर' शब्द में अहल्या की धृष्टता प्रकट होती है। स्त्रियाँ अपने देवरों से मनोविनोद भी तो करती हैं। स्पष्ट है कि 'इन्द्राय स्वाहा' की ध्वनि सुन कर अहल्या के मन में जिस इन्द्र की कामना जग गयी थी, उसी की अभिव्यक्ति यहाँ हुई है। अहल्या

पतिरूप में इन्द्र-जैसे व्यक्ति को चाहती थी। देवराज और देवर में ध्वनियोग से कवि ने अहल्या की इसी कायिक कामना को रूप दिया है।

इसके दो कारण हैं। एक तो नटनागर कृष्ण की देवराज से पुराण-प्रसिद्ध शत्रुता—प्रतिस्पर्द्धा का भाव जिस कारण सेंसर के दबाब से नटनागर के प्रति क्षुण्ण उत्कण्ठा उसके प्रतिस्पर्द्धी (rival) के प्रति सहज ही उन्मुख होती है, दूसरे ऋषि के सर्वस्व की इन्द्रनिमित्तता, जिसका सूचन प्रथम दृश्य के आरम्भ में ही इस ध्वनि से हो जाता है; इन्द्राय स्वाहा, इदमिन्द्राय।

'न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति' पिता उसे पति के हवाले व्यक्ति की भाँति नहीं, वस्तु भी भाँति कर देता है, और पति उसी प्रकार चाहे तो दूसरे के हवाले। ऋषि का संपूर्ण सर्वस्व जिस इन्द्र की खातिर हवि है, उस सर्वस्व के एक क्षुद्र अंश के रूप में अहल्या भी क्या उस होमकुण्ड के साकल से पृथक है? देव-राज के प्रति उसकी समर्पण-भावना स्वप्नेच्छा द्वारा तब और ढीली हो जाती है जब देवराज से देवर के शब्द-योग (verbal association) के अर्थाबतरण से संबंध स्पष्ट हो जाता है। यास्क ने देवर को द्वितीय वर कहा है। यहाँ तक आते आते विष्टम्भन का सोपान क्रम लगभग पूरा हो जाता है। तब भी एक दिखाऊ अनिच्छा स्त्री कला विब्बोक के रूप में प्रकट हो ही जाती है किन्तु उसका अर्थ मनुहार की याचना से अधिक नहीं है।

तुम्हें निहारें सुर-सुन्दरियाँ,
क्या पाओगे मुझे घूर कर?

× ×

मेरा मन तो महारण्य है,
और कहीं ढूँढ़ो अपना घर!

इन्द्र का निम्नोक्त कथन स्वप्न की क्रिया की वह कवि-निबद्धपात्र-प्रौढ़ोक्ति-सिद्ध टीका है जो अहल्या के मन में अवदमित आकांक्षा के मन की सृष्टि में ही निःशेष हो जाने की कहानी को स्पष्ट करती है और उसे मान-सिक पाप से अधिक नहीं होने देती :

सुन्दरी मुझ से न होना भीत,
मैं तुम्हारी कामना का मीत!
है तुम्हें मुझ से अछूता प्यार,
मैं तुम्हारे स्वप्न का विस्तार!

अहल्या की वितृष्णा का भी एक चित्र देखिए, जो प्रकारान्तर से रीति-कालीन सुरतान्त को भी ध्वनित करने के लिए पर्याप्त है :—

मैं छुड़ा लूँ, छोड़ दोगे बाँह या ?
या करूँ कोई उपाय अभी नया ?

ऐसी वितृष्णा उसे पुरुष स्वर से 'ऋषि-ऋचे' सुनते हुई है और तब संयमित जीवन का भी ध्यान आ गया है। स्वप्न में इन्द्र के बलात्कार से मुक्ति पाने के लिए वह चिल्ला उठती है—

'ऋषि कहीं 'इन्दाय स्वाहा' कर न दें।
भाग जाएँ आप, मुझको वर न दें।'

'वर' शब्द अपने श्लेषार्थ में यहाँ वस्तुविन्यास की ध्वनि-संपत्ति के रूप में भी विचारणीय है। एक वर से वह भर पा चुकी है। अग्नि के साक्ष्य में वह जिसे सौंपी गई वह उसे तिल-तिल कर अग्नि में ही डालते रहे हैं। इसलिए उसे दूसरा वर—देवर अब नहीं चाहिए, भले ही वह वरदान-सा लुभावना होकर उसकी अतृप्त आकांक्षाओं को ही तृप्त करने का बहाना करता क्यों न प्रकट हुआ हो।

शास्त्री जी ने पाषाणी (अहल्या) की कारुणिक जीवन-गाथा का प्रारम्भ 'इन्द्राय' स्वाहा से किया है और उसका अन्त भी स्वप्न में अहल्या के 'इन्द्राय स्वाहा' की अभिव्यक्ति से। अहल्या की इस अदम्य कामना को कवि ने ऋषि से अभिशप्त कराया है।

संस्कृत साहित्य की परंपरा से संपन्न प्रतिभा की यहाँ वह सफलता बड़ी लुभावनी हो गई है। रवींद्रनाथ ठाकुर ने अपने 'प्राचीन साहित्य' नामक ग्रंथ में कालिदास के शृंगार की बड़ी मार्मिक व्याख्या की है। "जिस प्रेम में कोई नियम नहीं, संयम नहीं, धर्माधर्म का विवेक नहीं, वह भर्तृशाप से दारुण, दैवकोप से भस्म और ऋषिशाप से प्रतिहत होगा ही।" तभी मेघदूत का यक्ष भर्तृशाप से अस्तंगत महिमा हुआ है, कुमारसंभव की उमा दैव क्रोध से भग्नमनोरथा हुई है और शकुन्तला ऋषिशाप से पति-लांछिता होकर मरीचि के आश्रम में अपने प्रमाद को विसूरती रही है। पाषाणी की अहल्या भी प्रेम के उसी प्रमाद के कारण ऋषिशाप की अधिकारिणी हो जाती है। पुराण की अहल्या ने इस प्रकार कालिदास की नायिकाओं की भाँति आदि से अन्त तक हमारी सहानुभूति के केन्द्र में प्रतिष्ठित रह कर अन्त में अपनी अभिशप्तता से जो एक प्रकार की दुःखान्तोचित विश्रान्ति (tragic relief) प्रस्तुत करती है उसकी पृष्ठभूमि में यह समंजन कवि-दर्शन की ही कान्ति है।

कवि की पारदर्शी प्रतिभा ने अतृप्त वासना की पुत्तलिका अहल्या की मानसिक व्यथा का अंकन बड़ी ही सुन्दर कला-परिधि में किया है। देवराज की प्रणय याचना और अहल्या का उनकी पाशबद्धता से मुक्ति का उपक्रम दोनों ही मनोविश्लेषण के सिद्धान्त के अनुकूल हैं। जीवन की कृत्रिम साधना ने स्वाभाविक भावना का गला दबोच दिया है। अहल्या चौंक कर उठ बैठती है। गौतम जब उसकी अनिष्ट-शान्ति के लिए इन्द्र का नाम लेते हैं तो अहल्या की बेचैनी और बढ़ जाती है। फिर शीघ्र ही उसकी विह्वलता रोष में बदल जाती है। वह इन्द्र को ही सारे अपकर्मों का कारण बताती है। यहाँ अहल्या अपने दोष को दूसरे पर आरोपित करती है। मनोविश्लेषण की भाषा में इसे ही 'Misplacement of accusation' कहते हैं।

इन्द्र का मत नाम लो, कर जोड़ती,
मैं नहीं हूँ धर्म से मुँह मोड़ती,
किन्तु क्या है इन्द्र, तुम क्या जानते ?
वही भक्षक, जिसे रक्षक मानते !

प्रातःकाल हो चला है। गौतम जाना ही चाहते हैं कि अहल्या का भय उन्हें रोकना चाहता है। वह कहती है—

"मैं तुम्हारे पाँव पड़ती मत तजो,
पास बैठो, फिर जिसे चाहो भजो ;"

यहाँ अहल्या की नारी सुलभ दुर्बलता की अभिव्यक्ति है। इसी स्थान पर गौतम की तृप्ति के आचरण में उनकी लुकी-छुपी अतृप्ति कराह उठती है। वे कहते हैं—

आप से तुम पर उतर कर आ गई,
चाँदनी-सी चेतना पर छा गई !
भाव-विह्वलता कभी निरखी नहीं,
माधुरी ऐसी कदापि चखी नहीं !
आज जर्जरता न मेरी खल रही,
स्नेह-हीन प्रदीपिका है जल रही !

फिर वे उमंग की तरंगों में बहने लगते हैं और अन्त में अपनी लालसा जताते हैं—

पास आओ, तो बताऊँ प्रेयसी !
स्वर्ग में ऐसी न रम्भा, उर्वशी !!
हार कर प्रत्यक्ष गृह के स्वर्ग को,
यज्ञ से था जीतता किस स्वर्ग को ?

किन्तु अहल्या के उन्मुक्त प्रणया कुल जीवन पर सात्विकता का रंग जम गया था; वह क्षोभ और आक्रोश से भर कर नहीं-नहीं कहती हुई पीछे हट जाती है। गौतम के तपश्चर्या पूर्ण जीवन की संगिनी के रूप में रहकर भी मनसा भ्रष्टा हो गयी थी, वह गगन चढ़ कर नीहारिका को ही झाँकती थी। उसकी चेतना इन्द्र का स्वप्न देखकर अपवित्र हो गयी थी। उसकी इस स्पष्टोक्ति ने गौतम की चेतना को आहत कर दिया। गौतम ने उसे यज्ञ-पत्नी के रूप में रखा था किन्तु गौतम जिस इन्द्र की पूजा-अर्चा करते उसकी कल्पना-प्रसूत मूर्त्ति अहल्या के मन-प्राणों में भ्रष्ट होकर बसती जाती। अहल्या की कामना के समक्ष गौतम की कृच्छ साधना अपदस्थ हो गयी। वे नारी हृदय की एक-एक धड़कन का अर्थ समझने लगे, तभी कम्पित स्वर में कहा भी—

यज्ञ क्या हो स्वर्ग का तुम सार !
तप गया तुम से अहल्ये, हार !!
नाम मेरा तुम पुकार-पुकार,—
कहो,—गौतम, है तुम्हें धिक्कार !

एक ओर अहल्या अपने को पाप का पुञ्ज समझती है तो दूसरी ओर गौतम अपने को आत्मवंचक मानते हैं। गौतम की भावनाओं को चोट लगती है। वे मूर्छित हो जाते हैं तब अहल्या लम्बी साँस लेकर कहती है—

आज अनावृत आत्मा लेकर खड़ी हुई जो सामने,
दिशा-दिशा से गूँज उठ रही-'धिक्-धिक् असफल कामने !

इसी समय ऋषि-कुमारों का गीत सुनाई पड़ता है—

वे स्वप्न न आए आँखों में
जो दीप्त नहीं हो लाखों में
मन-गगन समेटे पाँखों में–
उड़ते जो सत्य-सहारे हों।
प्रिय प्राण प्रबुद्ध हमारे हों ॥

ऋषि कुमारों का गीत अहल्या के हृदय को झंकृत करता है— मैं क्या हूँ ? मैं क्या हूँ ? तभी मूर्छित गौतम के मुख से सहसा एक उष्ण उच्छ्वास निकल पड़ता है—'पाषाणी !' 'पाषाणी !'

ऋषि के इस कथन में केवल अपना दैन्य और उसके प्रति उपालंभ है किन्तु "ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्त्तते।" और अपनी वाणी की इस शक्ति को रोकने की सामर्थ्य ऋषि की अपार करुणा में भी नहीं है। किन्तु

हठी अहल्या ऋषि के इस उपालंभ को भी अस्वीकार करती हुई शील के क्षेत्र में भी अन्तिम रूप से अपने को पाषाणी के रूप में चरितार्थ कर ही देती है :–

सूखी आँखों का पानी हूँ !
कैसे कहते पाषाणी हूँ ?

पाषाणी अन्तर्द्वन्द्वों में जले-बुझे जीवन की तृषित कहानी है। इसकी कथा में कवि–नाटककार ने घटनाओं के स्थान पर भावनाओं का सूत्र पकड़ा है और शब्द-योग से कथा-वस्तु में विस्तार आया है। गौतम और अहल्या में भावनाओं का संघर्ष प्रकर्ष पर पहुँचा हुआ है। अहल्या मानव जीवन की मूल वृत्ति की प्रतीक है और गौतम उस मूलवृत्ति के अवरोध के प्रतीक हैं। इस प्रकार अपने रूपक पक्ष में कामायनी की तरह पाषाणी भी एक मनोवैज्ञानिक कथा हो जाती है। अहल्या की अतृप्ति स्वाभाविक है, तृप्ति की कल्पना के घेरे में वह बँध नही सकती, उधर गौतम की तृप्ति कृत्रिम है, अतः अतृप्ति के उच्छ्वास में फूट पड़ती है। न तो वृद्ध गौतम ने युवती नारी के हृदय की धड़कन पहचानी है, और न युवती अहल्या ने वृद्ध गौतम के साधन के महत्त्व को आँका है। अतः कवि की कथा की सीमा-रेखा में प्रवृत्ति-निवृत्ति का वह संघर्ष चरम चोटी पर पहुँचा हुआ है जिसका समाधान ढूँढ़ने में ज्ञान के शास्त्रकारों ने भी कदाचित् सफलता नहीं पायी।

कवि ने कथावस्तु के उपादानों के संघटन में काफी सतर्कता बरती है। पौराणिक कथा को मनोवैज्ञानिक प्रतिपत्ति देने के लिए युगानुरूप परिवर्त्तन की पूरी चेष्टा की गयी है। देवराज इन्द्र अहल्या की वासना के छायारूप हैं जिसके साथ अहल्या ने स्वयं मानसिक व्यभिचार किया है। वासना का यह रस उसके अपने ही हृदय का अपनी दाढ़ों में लिप्त अंश है, जिसके लिए उसकी सफाई भी सहानुभूति की परिधि से सर्वथा बाहर की वस्तु नहीं हो जाती ! बच्चन के शब्दों में—

देख मेरे होठ भींगे और कुछ सन्देह मत कर।
रक्त मेरे ही हृदय का है लगा मेरे हृदय में ॥

पाषाणी संगीतिका की रूप-विधि का एक उत्कृष्टतम आदर्श है, जिसके शिल्प-विधान में कवि नाटककार ने अद्भुत कलाकारिता को प्रश्रय दिया है। नाट्य, काव्य और संगीत के त्रिवेणी-संगम पर स्थित संगीतिका की अपनी एक अलग विशेषता होती है–ऐसी स्थापना पाषाणी जैसी संगीतिकाओं के आधार पर ही दी जा सकती है। संगीतिका गीतिकाव्य की एक विशिष्ट

विधि होने के नाते भाव के क्षेत्र में प्रायः अन्तर्मुखी होती है। पाषाणी प्रारंभ से अन्त तक अन्तर्भावों के उतार-चढ़ाव तथा संघर्ष का ही ध्वनि-चित्र है। अहल्या तो बिलकुल भावनाओं की जीवित प्रतिमा है। उसके प्रथम गीत में उसकी भावनाओं एवं अन्तर्द्वन्द्वों का चित्र उभरा है जिसकी चरम परिणति उसके अन्तिम गीत में हुई है। गौतम के द्वन्द्वमय जीवन का चित्र

"ओ अहल्ये, अन्त तक तुम ठीक !

चली पकड़े आदि से ही लीक !" —वाले गीत में उमड़ा है

और उसकी परिणति 'बस करो, अब तो न बोलो और !

मर चुका, मत गरल घोलो और !' में द्रष्टव्य है।

शिल्प एवं भाषा-शैली की दृष्टि से भी 'पाषाणी' विशेष गौरव की अधिकारिणी है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री मूलतः गीतिकार कवि रहे हैं। अतः उन्होंने गीति-काव्य के विशिष्ट तत्त्व उपादानों से अपनी सभी संगीतिकाओं और उनके उपकरणों—पात्र, रंग-संकेत, वस्तु आदि का स्वरूप-निर्माण किया है और सांस्कृतिक चेतना का रंग उनपर चढ़ाया है। उनके गीत जैसे उनकी आत्मा की ललित-कलित अभिव्यक्ति हैं, वैसे ही उनकी संगीतिकाएँ भी। पाषाणी में जीवन की जैसी निगूढ़तम भावनाओं की अभिव्यक्ति है, भाषा भी तदनुकूल ही शक्ति बंधुर है। पात्रों की मनःस्थितियाँ जैसी हल्की-फुल्की या भारी-भरकम रही हैं, भाषा की सतह भी वैसी सीधी-टेढ़ी सिकनों में अवतीर्ण होती गयी है किन्तु शास्त्री जी की परिमार्जित भाषा-शैली अभिव्यक्ति की उन विभिन्नताओं में भी प्रायः सर्वत्र अक्षुण्ण है।

पाषाणी में जितने भी प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, वे सभी अन्त्यानुप्रास युक्त हैं। इससे कहीं भी भावनाओं की अनुरूप-अभिव्यक्ति में व्याघात नहीं हुआ है; बल्कि लयात्मकता की रक्षा में ये प्रयोग सफल प्रहरी जैसे हैं।

जैसे, मल्लिका अहल्या से

संन्ध्या की शीतल बेला में छेड़ा दीपक राग !
आज बात क्या देवि अहल्ये, लगी सलिल में आग ?
मैं कल प्रात चली जाऊँगी, आई बन्दन हेतु,
देख रही रसधार यहाँ भीतर, ऊपर स्वर-सेतु !

गौतम अहल्या से—

है देवि, दिख रहा मुख सूखा, रक्ताभ, नमित ज्यों सान्ध्य कमल !
क्या बात, तुम्हारा चित चंचल ? क्या बात, तुम्हारे दृग छल छल ?

अहल्या गौतम से—

बस, बस तप की मत बात कर, तपते-तपते मन ऊँबा है ?
मेरे जीवन का फुल्ल कमल आंसू के सर में डूबा है।

नाटकीय घात प्रतिघात के लहजे में पाषाणी में सर्वत्र ही कथोपकथनों में ऐसा ही अन्त्यानुप्रासयुक्त निर्वाह अनायास ही बन पड़ा है। गीति-नाट्य के लिए जैसे अनाकुलित भाव प्रवाह तथा लयात्मकता की अपेक्षा होती है, वह कवि के इस प्रकार के प्रयोग में सब प्रकार से परिणत ही हुई है। कवि ने स्वयं लिखा है—'किन्तु मैंने अपनी अभीतक की नाट्य रचनाओं में संगीतिका की शाब्दिक सार्थकता को लक्ष्य करते हुए जैसे, गेय पदों ही क्यों, परिसम्वादों के लिए भी अन्त्यानुप्रासों की अनिवार्य्यता-सी स्वेच्छया स्वीकृत की है। जिन्हें पूर्वाग्रहवश इनमें अस्वाभाविकता की प्रतीति हो उनसे मेरा नम्र निवेदन होगा कि आत्यन्तिक स्वाभाविकता तो ठेठ गद्य नाटकों में ही सुरक्षित रह सकती है, संगीतिका के अपने आयाम और सीमाएँ हैं।'' स्पष्ट है कि संगीतिका के लिए संगीतात्मकता की नितान्त अपेक्षा होती है। संगीतिका में जहाँ केवल जीवन की गम्भीर घटनाएँ, मार्मिक अनुभूतियाँ और तीव्र मानसिक संघर्ष की ही पद्य-बद्ध अभिव्यक्ति काम्य होती है, वहाँ पद्यों में लयात्मक प्रवाह की अक्षुण्णता के लिए उपर्युक्त पद्धति ही अधिक उपयोगी सिद्ध होती है। संगीतिकाओं में पात्रों की संवेदनाओं की विशेष प्रकार से अभिव्यक्ति होती है। ऐसी स्थिति में वह अभिव्यक्ति लयात्मक ही होती है। स्पष्ट है कि 'पाषाणी' में संगीत-योजना उसके परिवेश, कथ्य और पात्र को जीवन्त रूप प्रदान करती है। संगीतिका के समस्त वैशिष्ट्य अपनी सम्पूर्णता में इस कृति को विशिष्ट पहचान देते हैं, जिससे हिन्दी गीति-नाट्य की परम्परा में एक नयी संभावना का द्वार खुलता है।

(जुलाई; १९६० ई०)



हिन्दी का सबसे विद्वान् कवि

□ डॉ० ब्रजकिशोर प्रसाद

जो हिन्दी के बड़े-बड़े कवियों को भी कठिन कार्य लगने वाले, कष्टसाध्य दीखनेवाले, आड़ाचौताल में न जाने कितने सुन्दरतम गीत अबाध गति से लिख सका; जो विषम मात्राओं में भी अनति-नीरस बौद्धिकता की उत्ताल-तरङ्गों पर अपनी मृदुल भावना-प्रतिभा-रश्मि विकीर्ण कर अलौकिक काव्य का शुभ्र शत-दल खिलाता रहा; विधान तथा रूप-आकार से विसंवादी युग में अपने प्रथम हिन्दी काव्य-संग्रह 'रूप अरूप' में विधान तथा रूप (टेकनिक और फार्म) पर जो प्रथम-प्रथम दृष्टिपात कर सका तथा 'मैं न चातकी'—जैसे छन्दों की अवतारणा कर सका; खड़ी बोली में मध्यानुप्रास के आदि प्रवर्तक 'निराला' जी से भी अधिक जो मध्यानुप्रासों को अपनी अनुवर्त्तिता कराने में सफल हो सका :—

झलमल मुक्तादल नव जलधर
जलधर कुन्तल-जाला,
कज्जल-कल चपला-चल-लोचन
गोरोचन-रुचि-भाला; —'रूप-अरूप'

जो आगे चलकर 'गाथा' में जीवन की कटुता-विषमता को भी पूर्णरूपेण व्यक्त कर सका; अपनी कहानियों में भी जो नवीन विधान तथा गीत-नाटकत्व दे सका; आलोचना में जो नई धारा के सर्वश्रेष्ठों में एक तथा निराला-साहित्य का सर्वोत्कृष्ट समालोचक हो सका; जो एक ओर निराशावाद की पहली पुकार हिन्दी संसार में दे सका तथा दूसरी ओर विषम वेदनाओं के आवर्त्त-विवर्त्त में अडिग अचंचल रहकर मृत्यु के मध्य भी जीवन की जय घोषणा कर सका—

रिक्त निरन्तर मेरा अन्तर
अपनी ही शुचि रुचि से दो तुम
निर्मल परिमल, सुमधुर मधु भर।

जो गीत में गीत की सहज सुकुमारता अथवा मृदुल मधुरता के साथ-साथ परिपक्व बुद्धितत्त्व के रहते भी संगीत की प्राण-प्रतिष्ठा उसी रूप में कर सका जिस प्रकार अङ्गरेजी-साहित्य के 'एलिजाबेथन युग' के गीतकारों ने किया था; जो निराला की 'बेला' के निकलने के पहले ही 'रूप-अरूप' में गजलें लिखकर भी दिखला सका था—

जिन्होंने हो तुम्हें देखा, नयन वे और होते हैं

× × ×

क्या बताऊँ आज तो मैं धूल हूँ उस राह की —'रूप-अरूप'

उसी विद्वान् कवि आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री का संक्षिप्त जीवन-परिचय यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

प्रश्न यह उठ सकता है कि किसी कवि का जीवन-चरित उसकी कविता को हृदयंगम करने के लिए आवश्यक नहीं, जीवन-परिचय इतर ज्ञान के लिए सहायक हो सकता है कविता के समझने में नहीं। पर यह विचार उतना युक्ति संगत नहीं दीख पड़ता और तब जब हम किसी गीतकार को ले रहे हैं! गीत का सबसे बड़ा मानदण्ड उसकी गेयता को मान लेना मेरे विचार से बहुत बड़ी भ्रांति है। गीतों के द्वारा जो कवि जितना ही व्यक्तित्व प्रकाशित कर सकता है, अपने सत्य को शिव और सुन्दर बनाकर रख सकता है, वही महान् गीतकार है और उसी के गीत वास्तव में गीत हैं; यदि गेयता ही वास्तविक वस्तु हो तो उसे गीत न कह कर 'गाना' कहना ठीक होगा, जो बाजारों में सिनेमा की पुस्तिकाओं में भरे रहते हैं। इस दृष्टि से संक्षिप्त परिचय को समझने के लिए तो सहायक होगा ही, समीक्षकों को यह देखने में आएगा कि कहाँ तक अपने व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में शास्त्री जी सफल हुए हैं।

वेदना—चाहे वह दार्शनिक आध्यात्मिक ही क्यों न हो—की जो गहरी अन्तर्धारा इनके साहित्य में प्रवाहित होती है और अत्युच्चकोटि के व्यंग भी तरङ्गित होते रहते हैं; इसका एक मात्र कारण यह है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री वैसे व्यक्तियों में हैं, जिन्हें मनोवैज्ञानिक आघात विकल कर अतिशय भावना-कल्पनामय बना देता है और पग-पग की ठोकरें सदा-सर्वदा धरातल की याद दिला-दिला कर गंभीर और यथार्थवादी बनाती रहती हैं।

चार-पाँच वर्ष की अवस्था में ही माँ के देहावसान से उन्हें एक प्रलयंकारी आघात पहुँचा। उसके बाद जिसे सारा गाँव 'डायन' कह-कहकर प्रताड़ित

किया करता था, उसी तरुणी विधवा ने इन्हें आठ वर्ष की उम्र तक प्यार के पालने पर छुप-छुपकर झुलाया, क्योंकि वहाँ वे बेरोक-टोक नहीं जा सकते थे। इस तरह अपनी आठ वर्ष की अवस्था में ही इन्होंने शरच्चन्द्र के साहित्य को पढ़ने-समझने के बदले हृदयंगम भी कर लिया। तो वह विधवा भी गाँववालों की प्रारम्भ से होती हुई निर्ममता के अति हो जाने के कारण स्वर्ग सिधारी। तभी 'रूप-अरूप' में—

उनके तो रिपु भी जग में हैं,
पर मेरा क्या कोई !

–से प्रारम्भ होनेवाली एक कविता भारत की विधवाओं पर है। यद्यपि यह पन्द्रह-बीस पंक्तियों का एक छोटा गीत है, अपनी भाव-सघनता तथा व्यंजित दुःखातिशयता के कारण 'निराला' तथा पन्त जी की विधवाओं पर लिखी कविताओं से भी अच्छा है। ऊपर उद्धृत की हुई दो 'पंक्तियाँ' पुकार-पुकार कर जैसे चुनौती देती हैं कि हमसे तुलना करो किसी अन्य कविता की भाव-प्रवणता की।

तत्पश्चात् सर्वाधिक प्रिय बहन सुमित्रा ने भी एक सन्तान छोड़कर विदा ली, और आँसुओं भरी कविता 'सुमित्रा की शेष-स्मृति' हमारे सामने है जिसकी मिल्टन के 'लीसिडस' पोप की 'टू दी अनफौरचुनेट लेडी', वर्ड्सवर्थ की 'लूसी' शीर्षक कविताओं, शेली के 'एडोनिस' जिससे 'दिनकर'जी ने बेतरह भावापहरण किया है, आर्नल्ड के 'थीरसिस' आदि से ही तुलना नहीं हो सकती बल्कि 'निराला' की 'सरोज-स्मृति' से भी हो सकती है और तब भी वह उन्नीस नहीं पड़ेगी। जहाँ मिल्टन और शेली प्रसंगात्मक शैली तथा एक-तानता के फेर में पड़ गए हैं और जहाँ शेली ने कीट्स के मरण दुःख के कारण नहीं, बल्कि सदा की अपनी अतिशय अहं भावना तथा स्वदुःख प्रदर्शन-क्रिया में अपना ही वर्णन किया है; जहाँ पोप में करुणा के बदले रोष अधिक है, जहाँ वर्ड्सवर्थ केवल यह दिखाने की चेष्टा में कि करुणा के आधिक्य से बड़ी कविता नहीं लिखी जा सकती, उसी विचार-भावना पर पाँच-पाँच कविताएँ लिखकर शोक-गीत संक्षिप्तता की दुहाई देते-देते कला का ही अधिक प्रदर्शन करता है, जहाँ निराला जी में बौद्धिकता तथा कला की दोतरफी धार में विषाद विलीन होने लगता है; वहीं सुमित्रा की शेष-स्मृति में केवल दर्द ही दर्द है, वह हमारे हृदय को छू जाता है—और इसलिए इसमें प्रच्छन्न कला है; हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि ने कालिदास की भाँति अपनी विद्वत्ता, बौद्धिकता,

कला को उबल कर प्रकट होने दिया, गला-पचा डाला है। यह गुण उनमें सर्वत्र वर्तमान है; आए दिन मार्क्स को पढ़कर तथा उनकी भावनाओं का वमन करने वाले तथा निराला, पन्त को रट-रटकर कवि बनने वाले, क्रमशः 'घास-सी कच्चे कवियों की कसी पाँति-जैसे प्रगतिशील कवियों, तथा वर्षा की बाढ़ सदृश ह्रासोन्मुख छायावादी कवियों के लिए आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री एक बहुत बड़ा मानदण्ड हैं, सबसे बड़ी कसौटी हैं।

जन्म लेने के बाद क्रम-क्रम से शास्त्री जी ने मौत-ही-मौत देखी—माँ की, चचेरे भाई की, चाची की, शादी के थोड़े ही दिनों बाद विधवा हुई बहन को तो रोज ही देखा; अपनी माँ के मरने के बाद, इनके पिता द्वारा पाली गई बुआ की एक मात्र लड़की सावित्री का मरण देखा, और बाद को सुमित्रा का मृत्यु-संवाद सुना। अपनी पत्नी के मरने पर अग्नि-संस्कार भी अपने घर मैंगरा, जिला गया से दूर मुजफ्फरपुर में रहने के कारण स्वयं न कर सके। फिर भी, वे मृत्यु के साज पर जीवन के गीत गाते रहे।

प्रतिभा सदा सर्वदा इनकी होकर रही, उसने ही आगे का रास्ता साफ किया। छात्र-वृत्ति ही इनका आधार थी। वे स्वतः निर्मित पुरुष हैं। उच्च कोटि के शास्त्राचार्य, साहित्याचार्य, वेदान्ताचार्य, साहित्यरत्न, कविरत्न आदि परीक्षाओं में सर्वप्रथम रहे। जानकीवल्लभजी कैसे विद्यार्थी थे, जो प्रथम श्रेणी में भी कभी द्वितीय न हुए, अद्वितीय रहे। इस प्रकार इनका विद्यार्थी जीवन हिन्दी के ख्यातनामा लेखक, संस्कृत के विद्वान् गुलेरीजी से भी अच्छा रहा।

इसी कारण पचीस वर्ष की आयु में ही अखिल-भारतवर्षीय-संस्कृत-साहित्य सम्मेलन में कवि-सम्मेलन के सभापति हुए तथा कवि-सम्मेलन भी वैसा सफल कभी न हुआ था और न अब तक हुआ है—हिन्दी के अखिल-भारतीय कवि-सम्मेलन के कुछ सभापतियों-जैसा नहीं कि उनकी अयोग्यता के कारण उसमें कोई बड़ा कवि आया ही नहीं!!

तो संस्कृत में इतने आदरणीय होकर भी, संभवतः निराला जी के समीक्षक होने के कारण; जिनके सुसंपादनवशात् कितने खरे साहित्यिक खोटे होकर मैदान छोड़, सर पर पाँव रख भाग खड़े होने को विवश हो जाते हैं—वैसे संपादक प्रवर सुसाहित्यिक बनारसीदास जी की पैनी दृष्टि से शास्त्री जी भी नहीं बच सके, इसीलिए बनारसीदासजी तथा एक और आलोचक-पुंगव को छोड़कर सभी निर्णायकों—जिनमें डा० रामकुमार वर्मा तथा श्री शिवपूजन सहाय जी जैसे थे—से प्रथम मानी गई 'शिप्रा' देव-पुरस्कार के अयोग्य, द्वितीय

ठहराई गई, और 'घास-पात' पर देव-पुरस्कार के दो हजार रुपये बह गए ! 'संसार' ने इनके तथा तृतीय हुए 'नेपाली'जी के चित्रों को छापकर, स-विशेष परिचय देकर काफी विरोध किया, पर वह तो नक्कारखाने में तूती की आवाज ही भर हो पाई !

आए दिन कितने कवि किसी राजनीतिक नेता पर कविता बनाकर, तलवे चाटकर नाम पाने के लिए मुँह बाए रहते हैं; शास्त्रीजी ने यदि किसी नेता का स्वागत किया तो महात्मा गाँधी का—सर्वप्रथम उन्हें ही माला पहनाई, संस्कृत में श्लोक सुनाए। और इसी कारण, बाह्यतः तो नहीं, पर अन्तर में गाँधीजी के लिए अपार श्रद्धा रखने से कहीं-कहीं वे भी गाँधीवादी दीख पड़ते हैं—

'किसी तरह ढँक जाए ?' यह ऐसी भारत की माता ?
'किसी तरह ढँक जाए !' जय हे भारत भाग्यविधाता। —गाथा

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ से दो-दो बार मिले। बालकपन से ही निराला, प्रसाद, राय कृष्णदास जैसों के संसर्ग में, काशी में रहने के कारण, शास्त्रीजी अति गंभीर हो गए, लघुत्व (Inferiority complex) आ गया और इसी कारण वे कभी छिछले उथले नहीं दीखते। 'विश्व तुम्हारी माया' —जैसी पहली कविता लिख सके, जिसे बिहार के चोटी के कवि अब समझ पाये हैं और 'रूप-अरूप' में देखने, छपे रहने के बावजूद ख्वाहमख्वाह 'शिप्रा' के बाद की रचना मानते हैं !

सत्रह-अठारह साल तक ही, 'काकली' के प्रकाशन के पश्चात् तो वे अभिनव जयदेव के नाम से विख्यात हो गए।

पर हिन्दी में उनकी रचनाओं को देखते हुए हम उन्हें अभिनव जयदेव नहीं मानते, अभिनव कालिदास मानते हैं। मैं नहीं जानता कि अभिनव कालिदास कहकर मैंने कुछ साम्प्रदायिक हिन्दी आलोचकों की भीड़ों के छत्ते पर ढेला मारा है, पर यदि मैं मनुष्य हूँ तो कीड़ों से कहाँ तक डरूँ, उनके हाथ-पांव पर धावा मारने के पहले ही हाथ-पाँव फुला लूँ ?

पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'शिप्रा' की आलोचना में 'झंकार' से पाँच-छः पंक्तियाँ उद्धृत कर 'विश्व भारती' में लिखा है कि कालिदास को हृदयंगम करने के कारण शास्त्रीजी पर कालिदास की शैली और भावधारा अपना प्रभाव दिखा रही हैं। पर द्विवेदीजी ने केवल वाह्यालङ्कार देखा है; मनोवैज्ञानिक पकड़, गहरी सौन्दर्यानुभूति, जीवन को व्यापक रूप में देखने की

प्रवृत्ति, 'भावाभिव्यक्ति की शक्ति मुखर', भाषा पर असाधारण अधिकार आदि पर दृष्टिपात नहीं किया है, अन्यथा वे दूसरी श्रेणी की कविता 'झंकार' को ही उदाहरणस्वरूप न लेते ।

यह ठीक है कि 'झलमल मुक्तादल....' में जयदेव शैली है, पर दृष्टिकोण में अन्तर है। वहाँ केवल शास्त्रीय सैद्धांतिक दृष्टि का वर्णन नहीं, बल्कि कालिदास के सदृश व्यापक सौन्दर्यानुभूति है। 'ध्वनि' की प्रधानता तो शास्त्रीजी की निजी प्रधानता है, पर इसी कविता से एक दृष्टांत लीजिए—

'दिङ्मुख मुखर मृदङ्ग-मुरज-रव'

यहाँ ककुभ, दिशा आदि नहीं कहा गया, 'दिङ्' जैसे मृदङ्ग पर थाप तथा 'धिन्नन' की ध्वनि देता है। किन्तु इस प्रकार की ध्वनि ही नहीं है, बल्कि अर्थगांभीर्य भी है।

जीवन को व्यापक रूप में देखने की प्रवृत्ति कितनी है, यह 'रूप-अरूप' के बाद ही प्रकाशित 'गाथा' से जानी जा सकती है। इस पुस्तक को शास्त्री जी की पृथक् मानसिक दशा तथा विभिन्न मार्ग कहकर बाद दे देना पक्षपात तथा संकीर्ण मस्तिष्क के पुष्ट प्रमाण हैं। .... 'दिनकरजी' ने, जिन्होंने 'रूप अरूप' को खूब ठिकाने से पढ़ा होगा—यह खूब ठिकाने की बात मैं इस-लिए चला रहा हूँ कि शेली के 'एडोनिस' के सहारे 'द्वन्द्वगीत' के बहुत सारे पदों, जिसमें प्रथम पद मुख्य है, की रचना की है –

A Dear Some Dream has loosened in his brain,
And the cloud had out wept its rain. —Shelley

मेघ आँसू का पारावार लिये— दिनकरजी




And morning Sought
Her eastorn watch tower, her hairs bound
Wet with tears which should adorn the ground.—Shelley

पुजारिन उषा विफल उपहार लिये— दिनकरजी




The wild wind flowing round, Sobbing in dismay.
—Shelley

रोती चली बयार— दिनकरजी

वहीं शास्त्रीजी की कविता—'दूर देश है जाना' के भावों को ही नहीं, शब्दों को भी लेकर उन्होंने 'द्वन्द्वगीत' के ४१वें तथा ४२वें पदों की रचना की

है; तो देखा होगा कि 'गाथा' के भाव सिर्फ 'गाथा' में ही नहीं, 'रूप अरूप' से भी गृहीत हैं।

प्रश्न हो सकता है कि एक-आध पंक्ति मिल ही जाती है, इसलिए शैली से भावापहरण नहीं; पर यह भी कह दूँ कि जिस तरह 'दिनकर'जी के एक ही पद की ये पंक्तियाँ हैं, उसी तरह शैली के एक ही 'स्टेंजा' की लाइनें।

पता नहीं, 'दिनकर'जी के भक्तगण क्या कहेंगे; क्योंकि 'दिनकर' जी के भक्तों की कमी नहीं है। शिवचन्द्र ने 'प्रगतिवाद की रूप-रेखा' जैसी किताब में निरालाजी से भी बढ़कर 'दिनकर'जी को प्रगतिवादी माना है। मालूम होता है कि शिवचन्द्रजी स्वयं ही प्रगतिवाद को नहीं समझते, नहीं तो विध्वंसवादी क्रान्तिवादी 'दिनकर'जी को एक ओर प्रगतिवादी कहना तथा 'हो जाओ रंगरूट बन्दे, हो जाओ रंगरूट बन्दे' के चारण-सदृश कवि को दूसरी ओर राष्ट्रीयतावादी मानना, प्रगतिवाद और राष्ट्रीयतावाद के प्रति अन्याय करना है।

प्रगतिशील तो प्रगतिशील, 'दिनकर'जी तो गीतकार भी हो गए! वे क्या न हो जायँ यदि रामखेलावनजी जैसे सहृदय समालोचक हों। उस पूरी किताब में जानकीवल्लभ जी–जैसे सर्वश्रेष्ठ गीतकार की चर्चा तक न होना इस बात प्रमाण है कि किसी खास कवि को बढ़ावा देने के लिए ही उस 'गीतकाव्य' की रचना हुई है, क्योंकि बहुत सारे सैद्धांतिक भाव तो रामखेलावन जी के नहीं, अङ्गरेजी-निबन्धकारों के हैं।

इस प्रकार तो किसी खास कवि के प्रचार से हिन्दी साहित्य रसातल को ही जायगा। 'मिट्टी की ओर' जिसमें सर्वत्र दिनकर जी का प्रच्छन्न अहं बोलता है, जिसमें बड़े-बड़े कवि भी आलोचक के नपे-तुले-न्यारे दृष्टिकोण से कवि संज्ञाप्राप्त करने के भी अधिकारी नहीं!–जो पुस्तक गंभीर मस्तिष्क की उपज नहीं, बल्कि लेखक के शब्दों में ही जमीन के लोगों के तकाजे को पूरा करने के लिए भाषण ही भाषण का संकलन है–वही 'मिट्टी की ओर' बी०ए० में निर्धारित पाठ्य-पुस्तक है। अभी रामखेलावनजी की किताब निकली नहीं कि खबरें उड़ने लगीं कि एम० ए० में वह प्रस्तावित होगी। इस प्रकार लेखक की द्वन्द्वगीत, 'मिट्टी की ओर' और एक तरह से 'गीति-काव्य'––तीन-तीन रचनाएँ बी० ए० से एम० ए० तक हों और निराला, प्रसाद, गुप्त, हरिऔध की भी उतनी नहीं! यह स्पष्ट प्रमाण दलबन्दी, और भक्तों के स्तुतिवाद का है।

ज्ञात होता है, जिस तरह बिहार की राजनीति जातिवाद से अत्यन्त गन्दी है साहित्य भी उसी का पीछा करने जा रहा है।

तो मैं बहक गया। मुझे कई-कई बातों का उत्तर देना है। पहला, शास्त्रीजी से ही क्योंकर कविता में निराशाबाद का प्रारम्भ हुआ, जब महादेवी वर्मा और प्रसाद थे ही। दूसरा, एलिजाबेथन कवियों ही का उल्लेख मैंने क्यों किया, जब लोग शेली, बर्न्स, स्वीनवर्न की संगीतात्मकता के लिए दुहाई देकर बाग-बाग हैं। तीसरा, सर्वश्रेष्ठ गीतकार कहकर पहला दौंगरा गिराया जो लोग सह नहीं सकते।

महादेवी वर्मा ने—'तुमको पीड़ा में ढूँढ़ा, तुममें ढूंढ़गी पीड़ा', लिखें या और भी कुछ, वे दुखवादिनी हैं, और यदि संस्कृत के दार्शनिक शब्द को छोड़ दें, तो वेदनावादिनी हैं। 'प्रसाद'जी बौद्ध दर्शन से प्रभावित दुःखवादी हैं। 'निराला'जी वेदान्त-दर्शन के कारण आशावादी। पन्तजी 'ग्रंथि' में भी निराशा-वादी नहीं हुए, और अब तो बुद्धि से प्रगतिवादी होकर यदि वें कहें भी तो हम उन्हें निराशावादी नहीं मान सकते। कोई भी कवि बुद्धि से प्रगतिवादी होकर यदि उसमें कुछ भी आलोचक दृष्टि है, हृदय से निराशावादी नहीं हो सकता। यदि वे कहें भी तो केवल भावावेशी (Sentimentalist) हो जायगा। मैंने शास्त्रीजी को निराशावादी कहकर उनका सम्मान इसी अर्थ में किया है कि वे इसके आदि प्रवर्त्तक हैं। निराशावाद की अक्षमता को परखने के कारण इससे स्वयं विमुख-विलग हो उन्होंने मृत्यु के बीच जीवन की जयघोषणा की।

एलिजाबेथन युग में संगीत और कविता का अभिन्न सम्बन्ध था,नैसर्गिक। शेली, स्वीनवर्न में संगीत है पर बाहर से लादा हुआ, नहीं तो अपने उच्च स्थान में वाह्य होने पर भी आभ्यन्तर आत्मा-सदृश प्रतीत होनेवाला। जानकी वल्लभजी के गीत और संगीत एकप्राण हैं।

'प्रसाद' में शास्त्रीय दृष्टिकोण, गरिमा तथा संयम अत्यधिक है; पन्तजी में कला, कारीगरी तथा सुकुमारता है; 'निराला'जी में ऊर्जस्विता, शब्द-शिल्प तथा मधुरता भी है पर उनका निजी गुण ओज है; महादेवी में चित्रकारी है, उनमें विषाद का भी चित्रण मिलता है, वे अवसाद को भी बढ़ाती हुई दीख पड़ती हैं, एक भाव को प्रसार-विस्तार देती हैं, गीत उनमें भी स्फुरण के सदृश नहीं आता; जानकीवल्लभ जी के गीत प्राणों के स्फुरण हैं, स्पन्दन हैं, कठिन से कठिन होते हुए भी वे कष्टसाध्य नहीं हैं। यदि महादेवी वर्मा 'शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी' लिखने के बाद भाव को विस्तार देती हुई व्याकरण और छन्द शास्त्र के नियम पालन करती हुई दीख पड़ती हैं तो शास्त्री जी 'तीर-तरंग' के 'मैं न गगन हूँ, मैं न मही हूँ' या 'वना घोंसला पिंजरा

पंछी' तथा 'रूप-अरूप' के 'बहुत पास मैं रहा तुम्हारे' आदि में श्रम-परिश्रम करते नहीं दिखाई देते और न यहाँ दार्शनिकता नीरसता ही लाती है।

सबसे बड़ी विशेषता इनके गीतों में यह है; जो अभी तक तो किसी भी हिन्दी कवि में नहीं पाई जाती—यहाँ तक कि टी॰ एस० इलियट से प्रभावित 'अज्ञेय'जी में भी नहीं—वह है भावों का एक-एक पद में समाप्त हो जाना, मनोविज्ञान के 'फ्री एसोसिएशन' का होना। इसका पुष्ट प्रमाण सरल-सहज लगने वाली कविता 'ध्रुव पद' या 'जीवन की यह चाह नहीं है' ही है। यहाँ कितनों को भाव उखड़े-बिखरे दीख पड़ते हैं पर बात ऐसी नहीं है, प्रत्येक अनुच्छेद में भाव अलग-अलग हैं।

शास्त्रीजी का अङ्गरेजी-ज्ञान 'साहित्य-दर्शन' पढ़ने वाले मानेंगे ही। पर उन्होंने अपने को रोमांटिक कवियों, शेक्सपियर तथा कुछ अंशों में मिल्टन तक ही सीमित रखा है।

हाँ, तो एक बात और भूल गया। 'गाथा' की बार-बार याद दिलाना तो ठीक है पर वैसे विचार के लिए 'रूप-अरूप' को छाँटी कर देना ठीक नहीं। उस पुस्तक में ही यदि एक ओर दार्शनिक कविताएँ हैं, तो दूसरी ओर आर्थिक, सामाजिक वैषम्य के प्रति इस प्रगतिवाद के हो-हल्ला के पहले—'गयी काटने गेहूँ अम्मा' तथा 'मिट्टी के हाथी-घोड़े' से शुरू होनेवाली जैसी प्रगतिवादी कविताएँ हैं, जो कवि का विस्तृत जीवन-दर्शन बताती हैं।

संगीत के बारे में मैंने बहुत जोर दिया है; पर इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने संगीत को एक गायक के नाते ग्रहण किया है; उनमें स्पेन्सर या स्वीनबर्न-जैसा संगीत का गोंद नहीं रहता जो भावों को बे-वजह चस्पाँ कर दे; वहां महान् कवि की आलोचक-दृष्टि सर्वदा वर्तमान है जो भावों के प्रवाह में व्याघात नहीं पहुँचाती। यदि वे—

> तज रे, ब्रज की रज-कीर्ण गली
> नागिन लट, मृदु पट, कनक कली
> वृषभानुलली छल चले छली चंचल पद
>
> —शिप्रा

जैसी पंक्तियाँ लिख सकते हैं, वहीं इसकी सहज संगीतात्मकता पर मुग्ध होकर बह नहीं जाते, झट रोक लेते हैं अपने को, संगीत का गोंद धोखा नहीं देता और दो पंक्तियाँ इस प्रकार लिख जाते हैं—

गा रहे सूर—'प्रभु अब ठगौ न'
मीरा बिसूरती—कौन कौन।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् कवि ने केवल भावनाओं ही की नहीं, वरन छन्द शास्त्र की वृद्धि करने का भी गुरुतर कार्य किया है, जिसे स्वयं 'दिनकर' जी ने अपने 'छन्द शास्त्र' वाले लेख में लिख दिया है।

प्रो० नलिन विलोचन शर्मा ने 'दृष्टिकोण'-जैसी गंभीर आलोचना-पुस्तक में लिखा है; जो काम लारेंस, डांस पैंसौस, ज्वाएस ने गद्य में किया है, वही काम जानकीवल्लभ जी पद में करते हुए दीख पड़ते हैं। विद्वत् प्रवर शर्मा जी यहां न जाने क्यों 'निराला'जी का नाम नहीं लेते। पर इसमें एक कारण अवश्य दीख पड़ता है। यह ठीक है कि निराला तथा शास्त्री जी ने अपनी प्रतिभा से शब्दों को तराश कर चमका दिया है, पर जहाँ 'निराला' जी में कोष के अव्यवहृत शब्द खिल उठे हैं वहीं शास्त्रीजी ने 'भड़कें बैल निगोड़े; मेहरारू करिया-करिया' आदि त्याज्य शब्दों से काव्यालंकार द्वारा एक निखार ला दिया है। और अन्त में, खड़ी-बोली की परवर्त्ती-धारा में 'त्रयी' और महादेवी के पश्चात् एक ही साथ रवीन्द्र की कविताओं से होड़ लेने वाले 'रूप-अरूप' तथा डी० एच० लारेंस की रचनाओं से भारतीय दृष्टि से आंखें मिलाने वाली गाथा' के रचयिता आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स बड़ी-बड़ी आशाएँ की जा सकती हैं।

'प्रसाद'जी अब नहीं रहे। पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने शुभ मुहूर्त्त में 'त्रयी' नामकरण किया था। अब हिन्दी की 'त्रयी' निराला, पन्त, शास्त्री को लेकर ही है। वाजपेयी जी के समय उतना विरोध नहीं हुआ था, हो सकता है, मेरे समय बिहार में ही हो; पर विरोध विद्रोह के बाद की स्थापित वस्तु से अधिक स्थायी तथा विशेष आनन्दकर होता है।

'साधना' (कलकत्ता, १९४८ ई०) में प्रकाशित।



सुकुमार भावानुभूति और ललित व्यंजना के विधायक गीतकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

□ प्रो० विपिन विहारी ठाकुर

आधुनिक हिन्दी कविता की छायावादी परम्परा को सुदीर्घता प्रदान करने वाले उत्तरवर्ती कवियों में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री का व्यक्तित्व सर्वाधिक उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण है। शास्त्री जी के व्यक्तित्व में मौलिक प्रतिभावान् कवि एवं विद्वान् समीक्षक का समीकरण मिलता है। उनके व्यक्तित्व को शब्दबद्ध करते हुए प्रो० केसरी कुमार ने निम्नांकित पंक्तियाँ लिखी हैं—'मुख पर विषाद की घनी रेखा और चंचल आँखों में सबको भूल कर आगे बढ़ने की अभिमान-भरी साध, आनन के इर्द-गिर्द करीने से बिखरे हुए बाल और वस्त्र में लापरवाही, माथे में वेद-वेदान्त, ज्ञान-विज्ञान और दिल में सितार के तुनुक तार, विषमताओं का एक बण्डल, एकान्त का गायक और बिहार का सबसे विद्वान् कवि।'

जानकीवल्लभ शास्त्री जी ने संस्कृत और हिन्दी में बहुमुखी प्रतिभा का परिचय दिया है। हिन्दी भाषा में उन्होंने समान अधिकार से गीत, काव्य, संगीतिका, नाटक, आलोचनात्मक निबन्ध-प्रबन्ध, कथा-आख्यान प्रभृति विधाओं में कला-सृष्टि की। उनकी काव्य-प्रतिभा का मौलिक एवं नैसर्गिक विकास गीतों के क्षेत्र में हुआ है। उनकी गीत काव्यात्मक प्रतिभा का स्वरूप उनकी रूप-अरूप, तीर-तरंग, मेघ-गीत, हंस-किंकिणी, शिशिर-किरण, सुरसरि, उत्पलदल, संगम प्रभृति कृतियों में अपनी सम्पूर्ण गहनता के साथ अंकित है। इन कृतियों में कवि को छायावादी संस्कारों से आपूरित गीत-प्रतिभा की विविध पर्तें दीख पड़ती हैं। कहना न होगा कि छायावादी प्रतिभाओं ने

अपनी अनुभूतियों की व्यंजना के लिए गीत-विधा का ही वरण किया था। शास्त्री जी ने भी अपने कलात्मक गीतों के द्वारा उसी छायावादी गीति-परम्परा को सामर्थ्य एवं सक्षमता प्रदान की है।

जहाँ आज के साहित्य-समीक्षकों की एक शाखा गीत-सृष्टि को साहित्यिक रचना की मान्यता नहीं प्रदान करती, वहीं शास्त्री जी जैसे कवि के मतानुसार गीत-रचना अन्य विधाओं की तुलना में अभी भी महत्त्व-पूर्ण एवं कठिनतर है। वे गीत लेखन के मूल में जीवन को ही केन्द्रित करते हैं—

'गीत तो हृदय के सबसे खुले बोल हैं। भाव के स्रोत अनेक हो सकते हैं, सबके धरातल भी भिन्न-भिन्न हो सकते हैं, किन्तु सब अर्थों को स्वर और लय देने वाला तत्त्व एक ही होता है। और वह तत्त्व स्वयं जीवन है। मैंने जीवन को ही केन्द्र में रख कर प्राकृतिक, दार्शनिक किंवा आध्यात्मिक अनु-भूतियों को स्वरित किया है, तभी तूफान का वृत्त नहीं बनाया, लहरों को परिधि नहीं माना।'

—उत्पल-दल

गीत की सृजन-प्रक्रिया पर बल देते हुए उन्होंने उसकी कतिपय प्रमुख विशिष्टताओं का उद्घाटन किया है—

'गीत में मानसिक स्तर पर सहसा किसी केन्द्रीय अनुभूति का उद्घाटन होता है जिसकी क्रमशः फैलती हुई गूंज दूसरी संवादी अनुभूतियों को उकसाती है और उन्हें मूल स्वर में गूंथ देती है। बहिर्मुख पद्यकारों ने भी यत्न-पूर्वक कुछ 'गाने' लिखे हैं, अतः किसी घनीभूत लयात्मक अनुभूति के क्षण-विशेष में स्वरित होने पर ही गीत-सृष्टि संभव है। कहना न होगा, घनीभूत लयात्मक अनुभूति संक्षिप्त ही हो सकती है।'

— उत्पल-दल

शास्त्री जी ने अपने गीतों की सृजन–प्रक्रिया में प्रायः सभी स्वीकृत आधारों को विन्यस्त किया है। उनके गीतों में रचनाकार का वैयक्तिक 'स्व' अकुंठित रूप में अपनी सम्पूर्ण भाव-प्रवणता एवं कल्पना-शक्ति के साथ व्यंजित हुआ है। गीतात्मक भावनाओं एवं अनुभूतियों की गेयात्मक व्यंजना में ही उनके कवि-कर्म की उच्च स्तरीय निपुणता का प्रमाण मिल जाता है। ऐसे भावप्रवण एवं लयात्मक गीतों की दृष्टि से उनके मेघगीत, अवंतिका, संगम, उत्पल-दल जैसे काव्य-संकलन महत्त्वपूर्ण एवं उल्लेखनीय सिद्ध होते हैं। इन संकलनों की रचनाएँ कवि की गीति-प्रतिभा के उत्कर्ष को उपस्थापित करती हैं।

कवि के मन-प्राणों की आकुलता में शृङ्गार का आत्मिक पक्ष व्यंजित होता है—

कौन मेरे प्राण को पागल किए है !

डालियों से फूल झर-झर झर रहे है,

तर रहे हैं, बिखर-बिखर निखर रहे है,

कौन अंचल दिग्वधू का भर दिए है।

कौन मेरे प्राण को पागल किए है !!

—उत्पल-दल

शृङ्गार-भावना के अतिरिक्त उसकी रुझान आस्था और विश्वास की ओर भी कम नहीं है। कवि अपने को अंधकार और निराशा से मुक्त कर प्रकाश एवं आशा के वृत्त में बढ़ाता जा रहा है—

अंधकार का द्वार पार कर

मैं प्रकाश की ओर बढ़ रहा !

—उत्पल-दल

कवि सन्देह एवं अनिश्चय की स्थिति में आत्मविश्वास और शक्ति का पथ अपनाता है !

गीत नहीं, मैं गीता गाता !

दुर्बल मन अर्जुन जब साहस

का गाण्डीव फेंक पछताता।

—उत्पल-दल

कवि प्रकृति के सौन्दर्याङ्कन के निमित्त वसन्त की शोभा-सुषमा को रूपायित करता है—

यह बबूल का कटा-कटा-सा पेड़

यह बंजर की टेढ़ी-मेढ़ी मेड़

इस पथ से ऋतुराज भला कब आता ?

वह आता जिस ओर भवन, उद्यान

कोकिल कलरव कम्पित लता-बितान

मधु विह्वल को रूप-रंग-रस भाता !

—उत्पल-दल

कवि के भावप्रवण गीतों की दृष्टि से 'मेघगीत' एक सफल कृति है। 'मेघगीत' में कवि ने मेघ को लक्षित करके सुन्दर एवं सुकुमार भावों की व्यंजना की है, किन्तु यहाँ भी उसके दृष्टिकोण की नव्यता का रूप निखर

उठता है; क्योंकि उसके मेघ मात्र हर्ष, उल्लासादि के ही बोधक नहीं हैं, बल्कि वे यथार्थ एवं रचनात्मकता के प्रतीक भी हैं—

गिरि शिखरों की उठा बाहुएँ, स्वर न अधर तक आता,
आ रे आ, तुझको बुला रही तेरी धरती माता।
समय बीतता जाता है, बीता न बहुर कर आता,
आ रे आ, मरघट को नव फूलों का देश बनाता।
—मेघगीत

व्यंग्य आज के साहित्यकारों का एक विशिष्ट एवं अनिवार्य उपकरण बन गया है। वस्तुतः व्यंग्य कथन की वह विशिष्ट एवं वक्र भंगिमा है, जो किसी असंगति के परिणामस्वरूप उत्पन्न होती है। कवि की काव्य-चेतना में स्वाभाविक रूप से व्यंग्य-वृत्ति का पैनापन उपलब्ध होता है। वह आज के श्रद्धाविहीन एवं विज्ञानासक्त मनुष्यों पर व्यंग्य करता है—

'ज्ञान गँवाकर ही पाया विज्ञान !
ऐसा क्या अर्जन, ऐसा क्या अर्जन
निर्जल बादल का-सा कोरा गर्जन
आत्महीन भौतिक माया का सर्जन
श्रद्धा खोकर मनु करता अभिमान ?
—उत्पल-दल

कवि पूर्व युग (प्रस्तर युग) की तुलना में समकालीन युग को अपेक्षाकृत अधिक भीषण मानता है। वह आज की दानवी सभ्यता को लौह युग की संज्ञा देता है और उसकी विकृतियों का उद्घाटन करता है—

'प्रस्तर-युग से किस प्रकार है बड़ा लौह युग आज का ?
कर पाई दानवी सभ्यता क्या कल्याण समाज का ?'

× ×

अब लोहे के खानों से लोहा लेने की बात है,
भूमिगर्भ में तारकोल से पुता चाँद-सा गात है,
लौह-यन्त्र हैं, कठपुतले हैं, दानव या यमदूत हैं।
युग-साँचे में ढले या कि मनु के ही सगे सपूत हैं ?
प्रस्तर युग से आगे कैसे भला बड़ा युग आज का ?
काले धब्बों वाला यह क्या साँचा गढ़ा समाज का ?
—संगम

यथार्थ-दर्शन और आदर्श-निर्माण कवि के दृष्टिकोण की विशेषता है। वह यथार्थ की विकृतियों के साथ ही आदर्श की भव्यता को भी परखता है। राष्ट्र-पिता के चरित्र के संदर्भ में उसकी यही आदर्शात्मक धारणा निम्नांकित पंक्तियों में स्पष्ट होती है—

'भव्य भवन हो, मन्दिर हो, परती धरती हो,
राष्ट्र तुम्हारे आत्मतेज का सदाव्रतो हो!
अनासक्ति वैयक्तिक सुख-दुख से हो मन की,
समवेदित हो पीड़ा जग-जग के जन-जन की!
राष्ट्र तुम्हारा विश्व बन्धुता का प्रतीक हो,
राजमार्ग वह न हो, भले वह नई लीक हो!
शान्ति-सुधा वसुधा पर बरसाए अन्तर से,
राष्ट्र-पिता, हो सुन्दर विश्व तुम्हारे वर से!'

—संगम

शास्त्री जी के गीतों में न केवल भावनाओं एवं अनुभूतियों की मनोहरता एवं सुकुमारता रहती है, प्रत्युत उनमें लघुता एवं गेयता के कारण एक उत्कर्ष-पूर्ण कलात्मकता भी अवस्थित रहती है। गीतों में क्षणस्थायी भावों की व्यंजना होती है एवं यह क्षण स्थायिनी व्यंजना नातिदीर्घ ही हो सकती है एवं गेयता से ही गीतात्मक प्रकर्ष की प्राप्ति हो सकती है। कवि की रचनाओं में ये गुण सहज ही उपलब्ध होते हैं। ये गुण मौलिक शिल्प-नैपुण्य के परिणाम-स्वरूप उभरते हैं जो कवि व्यक्तित्व की अन्तिम प्रौढ़ता के सूचक हुआ करते हैं।

शिल्प के क्षेत्र में भी शास्त्री जी का कृतित्व अनेकविध उत्कर्षों से आपूरित है। उनकी भाषा में भावानुकूल, कोमल, मधुर एवं संगीत-प्रधान शब्दों की योजना नैसर्गिक रूप से मिलती है। उनके छन्द-विधान में परम्परा स्वीकृत वर्णों के अतिरिक्त नए साहसिक प्रयोग भी उपलब्ध होते हैं। शास्त्रीय छन्दों से पृथक् मुक्त छन्दों के प्रयोग उनकी इसी प्रयोगधर्मी काव्य-शक्ति को प्रमाणित करते हैं। उनके मुक्त छन्द-प्रयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

गोरी गङ्गा सङ्ग साँवली यमुना के
दो रङ्गों की तरल तरंगें,
दो छोरों से उठती, बढ़ती मिल जाती हैं!
ऐसा दिखता :
वर्षों की बिछड़ी दो बहनें
श्याम-गौर—

संदली कपूरी-क्वाँरी कुहरी
क्वार-दुपहरी और झाँवरी साँझ सावनी,
श्याम-गौर बाँहें उछाल कर,
हुलस-ललक कर
गले-गले मिल
लिपट रही हों,
सिमट रही हों आपस की गोदों में,

—संगम

शास्त्री जी कविता और सङ्गीत के पारस्परिक सहभाव को सैद्धान्तिक धरातल पर प्रतिपादित करते हैं—

'अवश्य काव्य शब्दों द्वारा अङ्कित आकृति है और स्वर पर निर्भरता उसकी प्रकृति नहीं है। स्वर का झरना सङ्गीत का क्षेत्र सींचता है, किन्तु अभिव्यक्ति की आकुलता कभी-कभी शब्दों से आगे भी निकल जाती है, तब स्वर ही उसे बढ़ कर सहारा देते हैं।'

—उत्पल-दल

इसी सैद्धान्तिक धारणा से परिचालित होकर वे अपने गीतों को सङ्गीत की विविध राग-रागिनियों में आबद्ध करते चलते हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके काव्य का एक सङ्गीत-शास्त्रीय पक्ष भी निर्मित हो जाता है।

निष्कर्षतः सुकुमार भावानुभूतियों एवं ललित व्यंजना के विधायक कवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने कृतित्व से उत्तर छायावाद युग में भी पूर्व संस्कारों को शक्तिमत्ता प्रदान की है।



आचार्य-श्री की 'राधा'

□ डॉ० सियाराम शरण सिंह 'सरोज'

याद नहीं, कभी किसी ने कहा था—"पर्वत के पार से बजाओ न बाँसुरी !

आचार्य-श्री की 'राधा' पढ़ते हुए यह पंक्ति स्वतः स्मरण हो आयी। इतनी बेसुध, विवश, तन्मय और आपा खो चुकनेवाली प्रणयिनी—राधा जैसी दूसरी नहीं मिली। 'संपूर्ण महाभारत' में न राधा कहीं दिखी, न 'भागवत' में ! आचार्य-श्री की राधा 'सूरसागर'-सहित समस्त रीतिकालीन आचार्य-कवियों से से भिन्न, न्यारी नारी रूपसज्जा में सजी-लजी अतिशय सांगीतिक, रागानुराग-मधुर, वेदना-बहुल, प्रणयार्पिता, प्रणयी कृष्ण की समर्पिता, अनमिल आखर, अतिशय दुःखिनी—अश्रु पुलक पारावार ही मिली। जीवन के सुख-दुखात्मक सांगीतिक नाद के आरोह-अवरोह पर लुटती झुकती "बावरी बीन की अनमिल धुन पर जीवन हारनेवाली हिरनी की कहानी ही है"—यह राधा ! सहसा लगा कि प्रेमी कृष्ण हमारे मनों में जितना समा सके, राधा सबके दिलों 'में' कहीं गहरे, पहले ही पैठ चुकी है ! सदियों पहले पंचतत्त्वों की विदा-बेला से लेकर आजतक धनुष की काँपती प्रत्यंचा की तरह वह प्रणय-द्वार का अधिकार माँगती जन-गण के हृदय-गह्वर में स्पंदित, पुनः-पुनः पुलक प्रकंपित है !!

'राधा'—तन से विलग, मन के मर्मी संवेदनगत संस्पर्शों के करील-कुंजों की छाँव में कठोर नैतिक मर्यादा की जंग लगी सामाजिक शृंखला परम्परा को व्यतिक्रमित करनेवाले रूपाभ कृष्ण की देह से नहीं, 'नीली मुरली' के शब्द स्पर्श, अर्थ और गंध के नादमय सांगीतिक आस्वाद पर अपनी पूरी उम्र से निछावर है। कर्मकांडी जीवन-दर्शन की आस्थाओं में व्यस्त, देही कृष्ण से

यहाँ राधा का कुछ लेना देना नहीं ! प्रणय की अमर आकांक्षा से संयुक्त जिजीविषा लेकर मनुष्यता का स्थापत्य गढ़नेवाले के समक्ष वह 'जनम-जनम की पहचानी धुन' पर लुंठित, अपना सर्वस्व निछावर करने पर कटिबद्ध है। जीवन-वन की निर्जनता में उन्मत्त मन की ऐकांतिकता ने जब जो कुछ कहा-— मुरली की तान में अमृत और विष, जितना भी बहा, श्रवण ने सब सुना, अधरों ने अथक पिया है। अभिशप्त जीवन की बाधा कुछ यों ही 'राधा' नहीं बनी ! सलिल को लहर बनने में यातना सहनी ही पड़ती है; शब्द को अर्थ बनने में क्लेश होता ही है; गूँज-अनुगूँज को रागों के साँचे में ढलना ही पड़ता है। कहना न होगा कि महाकाव्यत्व की पूर्णता से भाव-भरित इस 'राधा' काव्य को भी संगीत के अमर, किन्तु, दुर्लंघ्य पदक्रम से ही चलना पड़ा है।

भागवत अनुभूति का अनुभावन जीवन-दर्शन से स्वतः अनुप्रेरित, अध्यात्म से उद्वेलित और मनोवैज्ञानिकता से परिचालित होकर ही अपना संश्लेष, सामञ्जस्य और संतुलन अनुशासित करता है। जीवन में सौन्दर्य का एक अपना ही महत्त्व होता है। कला अपनी तूलिका फेरकर उसकी साज-सज्जा या रंग-सज्जा करती है। जीवन-उद्यान में खिले फूलों का सौरभ पवन-झकोरों पर झुलता ही रहता है। सत्य और शिव-तत्त्व इसे जीवनानुकूल रंगाकार देते हैं। व्यक्त-अव्यक्त को एक ही क्षमता से देख सकनेवाली आँखें तो सविशेष होंगी ही ! तन की जड़ता त्याग, मन की आग में एक विशेष दृष्टि से देख सकनेवाली 'राधा' 'देहांधकार के पार ज्योति-आत्मा की' अनुराधा है। कृष्ण की 'नीली मुरली' में अध्यात्म के अव्यक्त-परमात्म को भी इसीलिए वह पूरी सक्षमता से प्रतिपल देख रही हैं।

"रस का अपार विस्तार, राग का सागर
उस दिन देखा अनदेखा-सा नटनागर !"

(पृष्ठ—३७)

—'नीली मुरली' की तान ने राधा को औचक ही पुकारा है। उसका प्रेमाग्रही मन कदाचित् इसीलिए कृष्ण से भी अधिक मोहक मुरली से ही ज्यादा घिरा है। उसके मन की प्यासी पीर को मुरली ही जगाती है। अनसुनी बाँसुरी के राग-माधुर्य पर वह देर तक घुलती, गहरे गीत के तलातलों में अथक भटकती रहती है। संगीत स्रोत का तरल जल जमकर हिम हो जाता है, तो मननशील मन का मौन वागर्थ से संयुक्त होकर स्वर के हल्के सहलाव

पर भी सांगीतिक नाद से चौंक उठता है। वह अनियंत्रित हो उठती और मोहन का चिदाकाशी महामोह-भरे वृन्दावन में उसे बेचैन कर देता है—

"यों प्राण न अपने हाथ, अवश, कृश काया,
आलोक न बाँधे बँधता, हारी छाया !
दी छिपा आग, अब धुआँ छिपा लूँ कैसे ?
पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे ?"

राग की आग हर प्राण में जलती है। जीवन-जहान का संघर्षी द्वन्द्व समस्त जड़-चेतन को ज्ञान और कर्म की विवेकी धरती पर निष्कंप रहने ही कहाँ देता है ? ज्ञान जितना एकांत है, कर्म उतना ही गत्यात्मक ! बीहड़ व्यस्तता में ध्वनि-गति की लयलीनता राग को स्वतः 'तुमुल कोलाहल कलह' के बीच मन का गीत बनाकर गा उठती है। मुरझे-थके मनों पर तभी वसंत झूम उठता और कोयल कूक उठती है। अस्तित्व तभी किन्हीं स्मृति-स्वप्नों में खोने लगता है। मोहक मुरली की मादक तान पर लुब्ध-लीन आचार्य-श्री की 'राधा' यहीं इतर कवियों की राधा से कहीं ज्यादा प्रकृत, नैसर्गिक होकर सबके मनों की अपनी 'राधा' बन जाती है। 'राधा' की रचना प्रक्रिया में अंतःस्फुरण का यह जादुई क्रम साद्यंत सांगोपांग है—संगीत के प्रति काव्यकार का मोह भी सहज ! पवन के चलने में जो ध्वनि है—लय उससे वियुक्त हो ही नहीं सकती। ध्वनि और लय का यही सांगीतिक एकाकार राग-रागिनियों को भी नव-निर्माण प्रदान करता है। फिर हर्ष-हँसी की स्थिति जितनी क्षण-भंगुर है—सर्द दर्द की उमर उतनी ही अनंत ! 'राधा' संयोगी सुखों से कदाचित् कम, वियोगी बिछुड़न से सजल-नयन ही अधिक रही है। प्रेम की पीर, 'राधा' जैसी इसीलिए खोजे नहीं मिलती। उसका जन्म ही ज्यों, पीड़ा से हुआ था—

"मेरा तो जन्म हुआ पीड़ा के उर से
कब हँसी मिलाकर सुर-फूलों के सुर से !
रोई थी निस्संवेदन मन के वन में
क्रंदन की नीरवता गूँजी जीवन में !"

(पृष्ठ—७३)

लगता है, पूरी कृति ही काव्यकार ने आँसुओं की कलम से लिखी है। दर्दानुभूति की अभिव्यक्ति के लिए कवि ने जिस समग्रता को सहेजा है—स्वयं दर्द की रंग-रेखाएँ, स्वर-मुद्राएँ, शब्द-अर्थ और उपमा-उपमाएँ राधा-रूप में

स्वरारोहों के सम ऊँचे चढ़ती उतरती हृदय गह्वर के तलातल संस्पर्शों तक उभरती चली गई हैं। जल और हिम, हिम और जल की रूपांतरितता राधा जैसा दर्दीला प्रणयी मन पाकर उत्थान-पतन के थपेड़े खाकर भी प्रेम-वियोग की ज्वाला कभी निःस्तव करना नहीं चाहती। इसी ज्वाला ज्योति के उत्सर्ग पर राधा ने कृष्ण को भी लोकाराधन का अमर पूजनीय श्रेयस् प्रदान किया है। आज भी कृष्ण के जिस स्वरूप की पूजा होती है, उसमें राधा-कृष्ण और मुरली तीनों की संयुक्त स्थिति है—मुरली के साथ संगीत अनुस्यूत ! सांगीतिक गतानुगतिकतागत यह साधना यहाँ बिलकुल 'ओऽम्' रूपों में की गई है। पुराने जमाने में सांगीतिक सुरों की अन्विति के मात्र तीन ही मुख्य राग-स्वर अलंकृत थे। उन्हीं में आज के सातों सुरों की संयुक्ति है। कहना न होगा कि सांगीतिक समारोहों की उठान-ढलान पर आचार्य-श्री की साद्यंत सतर्क शास्त्रीय दृष्टि रही है। राधा की विशेष पहचान, सविशेष प्रकृति, तरल-सजल-करुणा, मधुर शाश्वतता, आर्द्र-स्पर्श की व्याकुल बरबस दृष्टि हमारा केन्द्रण केन्द्रीभूत करती रही है। राधा न ठेठ समकालीन, न कटिबद्ध मान्यताओं से टूटकर चिर-नवीन न चिर-पुरातन है, न ही किन्हीं सनातनताओं से बँधी होकर नितांत सरल ही है, बल्कि अपरिमित अनुभूतियों के असंख्य ऋजु-कुटिल संभारों से बहुल होकर हृत्पटल पर धराकाश की ऊष्मा से वाष्प-सघन बन वह केवल वेदनामयी ही प्रतीत होती है। इस वेदना के क्रोड़ में मोहन की मुरली-धुनि का सहज आर्द्र स्पर्श है। इसी स्पर्श के वशीकरण से बँध ब्रज भर में बदनाम होकर भी वह मुरली मनोहर को अपना सर्वस्व समर्पित कर चुकी है। अथक चेष्टाओं के बावजूद मुरली के इस राग-प्रभाव को वह अपने तईं मिटा नहीं पाती ! कदाचित् इसीलिए मुरलीमनोहर जैसे मुक्त-पुरुष के लिए वह क्षितिज नहीं, पंथ ही बनना कहीं श्रेयस्कर समझती है। यह भी इसलिए नहीं कि साहित्येतिहास के स्वर्णाक्षरों में कृष्ण के साथ अनंत-जीवन जीने के लिए वह भी कहीं टँके, बल्कि इसलिए कि जनम-जनम तक प्रणय-बाँसुरी के बजते ही कृष्ण के करील-कुंजों में राधा की पायल की खनक भी चुप न रहे, प्रेम-पीर के बोल कभी अबोल न रहें !!

"प्रिय-मिलन-भीख निष्ठुर जग से मत माँगें
हूँ सावधान ये प्राण निकल मत भागें !
वह सप्तपदी, वह सात सुरों की भाँवर,
क्वाँरी न रही सिंदूरी साध, उजागर !

ब्रज हुआ, छा गया क्या उपहास-उजाला,

सोलहों कलावाला दिखता था काला !"

(प्रणय पर्व, पृष्ठ—७)

राधा की जीवनानुभूतियों के साथ यह 'नीली मुरली' केवल कठोर काठ की बाँसुरी ही न रही,—आत्मा का अनंत आह्वान बन गई। प्रचंड ज्वाला में प्रतप्त ताप ही नहीं, मधुर-ज्योति भी होती है; आग में राख, राख में आग भी होती है ! बचनेवाले बचकर जाएँगे कहाँ ! समस्त चतुर्दिक एक केंद्रण से घिरा है, सब इसी घेरे में घेरा डालते हैं;—'नीली मुरली' के ध्वनि-केंद्रण से राधा भी घिरी है। राजकाज सँभालने वाले कर्मकांडी से इसकी प्रणय डोर को बाँधना गलत होगा ! आचार्य-श्री की 'राधा' की यही मौलिक स्थापना है। यों, तन-मन दोनों पर राधा का स्वयं नियंत्रण निर्वंश हो चुका है।

"मैं पंख कटी विहगी, आँधी की कदली,

अधजली पतंगी, मरु-तट-उछली मछली,

× × ×

दी छिपा आग, अब धुआँ छिपा लूँ कैसे ?

पी गई जहर, अब लहर सँभालूँ कैसे ?

(प्रणय पर्व, पृ०—१०—११)

प्रणय पर्व की बेला में 'नीली मुरली' की पुकार पर तन-मन हारनेवाली, सामाजिक शृंखला में नीति और धर्म की वर्जना का ताना सहकर भी आत्म-जागरण के प्रकाश में जागती 'राधा' जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के त्रिकूट पर प्राकृत अवगुंठन का सर्वथा परित्याग कर देती हैं। उसका संगीताग्रही मन-सुरों की लचीली छुवन पर प्रेमातुर हो भावानुभूतियों में आवर्जन का आक्रामक झोंका सहकर भी अपने को रोक नहीं पाता, लोकापवाद की चिंता से भी परे हो जाता है। धुन छिड़ते ही मुरली पर लुब्ध-लीन उसके विभोर दृग-मन बंद हो जाते और भीतर ही भीतर वह क्या से क्या होने लग जाती है ! दरअसल इस छुवन में ही उर की गहराई तरने का एक जादू होता है कि धरती भी आकाश छूने चल देती है, गम्भीर नद-नादों के अट्टहास पर किनारे कटने लग जाते और लहरों का प्रसार असीमतर होने लग जाता है। तट का बँधान भी तब क्षणभंगुर और तन भी मन से आन जुड़ने लग जाता है;

राधा भी कुछ और ही हो जाती है। उसका मन संतरित होने लग जाता और प्राणों का भुलावा मन का छलावा रचने लग जाता है। तब लगता जरूर है कि मन निरुद्देश्य उड़ा जा रहा है, किन्तु केन्द्रण कभी टूटता नहीं, रीझन मुख मोड़ती नहीं! देखिए, राधा की गंध-अंध मार्मिकता—

"गुंजन में गूँथी हुई लहरियाँ मेरी"
हैं प्रलय-ज्वार में तिरती तरियाँ मेरी!
मैं गति हूँ, जीवन हूँ, बहा पानी हूँ,
शाश्वत सागर-संगम की अभिमानी हूँ!"
(पृष्ठ—५)

मुरली का प्रभाव विष-वेल की तरह राधा के अभ्यंतर तक फैल गया है; आकाश का नीलापन कुछ यों ही नहीं गहराया! तभी तो मरण भी चिरंतन जीवन बना, चिदाकाश की आग अबुझ बन गई। रोर-भरी-हिलोर में राधा के पुरुषार्थ ने पूरी तरह झकझोरा; व्याधे का तीर ज्यों मृगी को लग गया,—राधा ने चिल्लाकर कहा—'मैं मृगी नहीं, राधा हूँ',—फिर भी रोर मानी नहीं, उर चीर ही गई।

राधा मन से वनवासी, तन से गृहस्थ थी। सपनों में ही ज्यों दोनों मिलते रहे। स्वप्न के इस जागरण को राधा कभी सुषुप्त नहीं होने देना चाहती; उसे डर है कि सो जाने पर उसका सर्वनाश ही हो जाएगा। उसने तन को साधने के लिए मन को बाँधा। फिर भी, प्रणय का वरण सब पर प्रकट हो ही गया।

"मेरा मन और कहीं, माँ मान गई है,
गोरस का रस उतरा, पहचान गई है!'
(पुरुषार्थ-पर्व—१७)

राधा कठिन कशमकश में है—

उस ओर खींचता प्रेम, जहाँ प्रियतम है,
लज्जा कहती है—उधर न जा सखि! तम है;
हैं प्राण चाहते मन का मान मिटाना,
पर मान चाहता प्राणों के सँग जाना!"
(दर्शन-पर्व—२३)

मुरलीमनोहर को राधा ने जब से देखा, हाल उसका यह हो गया है कि चैतन्यहरण को वगैर चित्त से चिपकाए अब कोई दूसरा विकल्प उसके पास रह ही नहीं गया। सारा परिवेश अब हरित और पीत पटों में रंगवाया और उसकी दृष्टि के सम्मुख मुरली की महामोह माया सर्वत्र झूमने लगी। धुन बजते ही उसके पागल-पाँव थिरक उठते। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों में यही 'शरीयत', 'तरीकत' के बाद 'हकीकत' की स्थिति मानी जाती है।

"कंगन उतार कर पहन रही हथकड़ियाँ,
क्या इसी घड़ी के लिए गिनी थीं घड़ियाँ ?
जोराजोरी खूँटा उखाड़नेवाली—
मानेगी छाँद-नथान ? करें रखवाली !"

(दर्शन-पर्व पृ०—२६)

राधा राग के सागर में रस का अपार विस्तार देख अनदेखे नट-नागर को तब से ही अपलक देखती आ रही है। मुरली के मधुर नाद से श्रवणाकाश के गुंजित राधा-मन-मंदिर के कपाट तभी खुले और वह स्वयं पूजा-सी उसके आगे समर्पित हो गई। प्रणय के सुप्त-तारों की रागिनी तभी जागी,—वंशी साँसों में और गहरे गड़ी, गड़ती ही गई। हृदय-भावना की ठंढ़ी सिकुड़न से जमी बर्फ मुरली की ऊष्मा से जल-स्रोतों में बह चली। स्वयं कृष्ण भी जब परवश हो आते, तो साँस पीकर यह बाँस भी स्वर-गरल उगलने लग जाता, कि लगता—

'ज्यों गंध-धार में प्राण बहे जाते हों,
तल-कल्लोलों में गान रहे जाते हों,
खुल गई गाँठ पँचगुनी गुणी के गुण से,
ध्रुव खिंचा चला आया ज्यों-मन की धुन से !"

(विनोद-पर्व पृ०—४१)

अतः, स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण का द्वित्व कुछ ऐसा एकमेक हो गया था कि कहीं घने अँधेरे में वे घिर भी जाते, तो, राधा तम को पीकर ज्यों स्वयं ज्योति बन जाती और कृष्ण भी प्रकाशमय हो उठते ! अन्योक्ति में, यहाँ आचार्य-श्री की 'राधा' इतर-कवियों की राधा-जैसी नहीं जो कृष्ण को लेकर

अलंकृति पा गई हो बल्कि, वह तो अपने ही उत्सर्गी सुयश से कृष्ण को भी पुजापा प्रदान करने वाली स्वाभिमानिनी प्रणयिनी है, जिसके लिए उसकी अनंत-यात्रा गतिमान थी—

'परछाईं देती छोड़ अँधेरे में है,
मैं ज्योति, अँधेरा मेरे घेरे में है !
मैं तुम्हें जानती, तुम केवल, निर्मम हो !
मेरी अनंत-यात्रा के चिर संभ्रम हो !'

(पृष्ठ—४२)

और यह अनंत-यात्रा भी इसलिए कि—

'पा सकता पार नहीं कोई हो कैसा,
है पारावार अपार प्यार का ऐसा !'

(पृष्ठ—४५) ।

तन्मयी भाय की स्थिति में मुरली की फूँक से कृष्ण के होंठ खुलते ही ज्यों, वंशी सुर-स्वरों में—राधे ! ओ राधे !!—के बोल गूँज उठते थे। अजीब फाँस थी दोनों की ! राधा बिंदु सम सिंधु में—ज्यों सरिता सागर में—और कृष्ण राधा में, ज्यों, सिंधु एक बूँद में ! समंततः, पूरा सागर ही एक गागर में आ गया था, एक ही राग में अनंत रागिनियाँ समा गई थीं, ज्यों, एक ही कृष्ण में समस्त गोपियाँ ! 'एकोऽहं बहुस्याम' का अद्वैत भी तो यही है ! सारा राज आँसू के पारावार में छिपा था—मधुर वंशी के स्वर में सारा हाहाकार ! स्पर्श बेधक व्यंग्यों की पुकार रूप की छाया में ईश्वरी सत्य का निदर्शन बन चुका था। वंशी अपनी टेर में केवल नाम जप रही थी। शब्दों के घेरे में पूरे अर्थ घिर नहीं रहे थे कि धुन बजती जा रही थी। दृश्यमान विश्व के परे का रूप-नाममय यह एकमेक अनन्वय था। बड़ी गंभीरता से राधा कहती है—

"होती प्रतीति क्यों नहीं तुम्हें, तुम जानो,
जो मुझे नहीं, अपने को ही पहचानो !

(विनोद-पर्व—४६)

दुःखिनी राधा के दर्दीले अनुताप को काव्यकार ने अनुराधा छंद में बाँधा है। 'दुःख ही जीवन की कथा रही'.........जैसी राधा—पराकाष्ठा पर पहुँची अपनी आस्थाओं में निर्भ्रांत अकेली है। मुरली-पुकार पर अनंत यात्राओं में अकेली रात—राधा के साथ होती है, जो डगमगाते पाँवों के मिस मन के

रथ को आगे कर देती है। राज मार्ग के भी सो जाने पर केवल वन-पथ राधा के लिए जागते होते हैं। अपयश बौछार ने राधा-विश्वास को और भी सघन कर दिया है। उसकी रुग्ण-चेतना इतनी असह्य वेदना वाली है कि रोदन-क्रन्दन भी उसके लिए मतवाला रस बन जाता है। मन की कस्तूरी-गंध में फूलों का रसायन घुल गया है। अनुभूति के हठीलेपन के बाँध को राधा की मधुर-कल्पना का लचीलापन टूटने से बचाता हुआ मन की ऐकांतिकता में अपना प्यार क्रमशः सघन करता जाता है। प्रकृति का निर्दय आशीर्वाद भी तब उसके लिए निर्भय निर्बन्धता का हुलास बन जाता है। राधा का आत्मविश्वास सघोष कह उठता है—

"जब मैं न रहूँगी, तब जग अगम न होगा,
मृत अमृत न होगा, विष भी विषम न होगा।" (पृष्ठ–५८)

मुरली-धुनि में प्राण-आह्वान की मर्म-धर्म भाषा चाहे जिसने भी पहले गुनी हो, राधा ने ही दरअसल निस्सीम प्रणय-पथ का शुद्ध अन्वेषण किया था। तब से जानें कितनी बार जगती में तृप्ति स्वयं छली, तृष्णाज्वाला में सलभ-सी जली—किन्तु, इस ज्वलन का कभी अंत नहीं हुआ। मुरलीमनोहर के रूप-दीप पर राधा अहर्निश जलती रही; बुझी भी, तो प्रिय की पूजा को ही विश्व में अमर कर गई। निज को उत्सर्ग कर आदि और अन्त का ज्यों उसने अन्तराल ही मिटा दिया, अपने समर्पण से ही निर्वाण के गान को भी अमरता प्रदान कर दी।

काव्यकार ने बड़े सधे स्वरों में इस मार्मिकता को अपनी अभिव्यक्ति दी है—

"मैं जली, तुम्हारा रूप दीप-सम दमके
मैं बुझी, तुम्हारी ज्योति गगन-भर चमके !
मैं जली-बुझी, पर कर दी पूजा पूरी,
मिट गई मिटा कर आदि-अन्त की दूरी !
आरम्भ हुआ मेरी बलि से, बलि जाऊँ,
ओ रूप-दीप, निर्वाण-गान क्या गाऊँ !
× × × ×
इस शिला-भेद का भेद बताए निर्झर !"

(प्रणय-पर्व, पृष्ठ–५१)

अन्योक्ति से, राधा कृष्ण के अभाव में निर्जन-वन की दुस्सह स्थिति से अपनी दुर्दम स्थिति का हवाला देती है—"वन, जो है तेरी दशा, वही इस

जग की !"—भिन्न-विप्रलंभ-दशाओं में यह स्मरण की दशा है । यों, अभि-लाषा, चिंता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मूर्च्छा और मरण तक की समस्त दशाएँ यहाँ राधा में चित्र-प्रत्यक्ष हुई हैं । राधा के भाग्य-क्षितिज का जीवन-पथ अंगारों से भरा है । कृष्ण महान् होकर यशस्वी बन जाते हैं । सारे खिले फूलों की माला उनके ही गले चढ़ जाती है—राधा के पाले—जग-निंदा के केवल काँटे-ही-काँटे हैं । फिर भी वह समर्पण के स्वरों में अपने को सराहती ही है, क्योंकि, मुरली ने ही उसके हृदय-सागर की सोई प्यास जगाई है । वह मानती है कि जिसने भी इस बंशी-स्वर का नाद नहीं सुना—उसने जीवन में दरअसल, मधु का स्वाद ही नहीं जाना ! इसीलिए, प्रणय के प्रणय-पथ पर पाँव बढ़ाकर भी वह अन्ततः प्रसन्न है । वस्तुतः, जीवन के पथ फूलों से नहीं, काँटों से ही पाटे गए हैं—

> "कैसे दुख का सागर वह पार करेगा,
> उच्छ्वास छोड़ जो तट पर हहर मरेगा !" (पृष्ठ–६३)

उसे अच्छी तरह याद है, जब कृष्ण रास-रस में उसे खींच ले गए और उसके मन को अपने मुक्त-प्रभावों में बाँध लिया—तो उसने सामाजिक नैति-कता के लोकोपवाद का गरल हँसते-हँसते कबूल कर लिया था । सागर की विकल-लहरियों का परिज्ञान उसे तभी पहली बार हुआ था—विस्मृति के वरदान का आह्लाद उसने प्रथम-प्रथम जाना था । 'राधा'—नाम के साथ प्रणय में प्रलय शायद उसी दिन जुट गया था । आँसू का पारावार तब उत्ताल-तरंगों में लहराया था । राधा की मर्मोक्ति है—

> "तन पहुँच न पाए तुम तक, दोष न देना,
> बढ़कर मन को अपने तट तक खे लेना !
> मन को पहचाने बिना मान देती थी,
> मेरा न हुआ, किसलिए प्राण देती थी !
> जब उतर जाय यह बाढ़, तभी तन देखूँ,
> मिट्टी चेतन हो जाय, अचेतन देखूँ !" (पृष्ठ–६६)

—उसने सघोष घोषणा की—'ओ जग ! मुझे छलावे में कुल-मर्यादा का स्मरण न दिला, घर का गरल पिलाकर भुला मत—मैं तेरे सारे वज्र-दुर्ग तोड़कर मुरली-मनोहर के मिलन के लिए चल पड़ी हूँ । अब तो अपने निजत्व के उत्सर्ग का मन में एक ही भाव है—चाहे वह अग्नि-पथ हो या तलवार की धार !' उस निर्जन आह्वान में पहली बार उसे भान हुआ कि

वह सम-सामान्य से कुछ ऊपर चढ़ चुकी है; पवन, किरण, गंध-सुगंध और आत्मा—आज सब मेरे साथ ही चल पड़े हैं ! 'प्रणय' शब्द जितना छोटा है, उसका समर्पण उतना ही विराट् ! राधा का जीवन-व्यक्तित्व, कहना न होगा कि इस स्थापत्य का अन्यतम निदर्शन है कि प्रणय में मिलन—प्रलय के पश्चात् ही होता है; और वह मरण—मिलन की साधनात्मक अन्तिम परिणति है ! राधा—सचमुच, हम आज भी अनुभव करते हैं कि 'जनम-जनम जानकीनाथ के गुन-गुन तुलसिदास गायी—जैसी जन्म-जन्मांतर की साधना बन चुकी है। मुरली-सुर के आरोह-अवरोह की तरह राधा इस साधना-पथ में ऊपर चढ़ती, और मिलन के लिए जन्मांतरों में अवरोह की तरह नीचे उतरती है—

"संवेग और संयम का सेतु कहाँ है ?
उर-गड़ी निविड़ता परिमिति-हेतु कहाँ है ?
यह भूमि नहीं, भूमा ने मर्म उभारा !
नीली मुरली, तूने था यहाँ पुकारा ?" (पृष्ठ–७१)

—और अब, अन्तिम क्षण मुरली-धुनि को प्रत्युत्तर देती वह दौड़ी जा रही है—

"आई मैं, आई मैं, यह लो मैं आई !
अब असमंजस क्या, धुन सुनते ही धाई !
तुम कहो और आगे बढ़ने, बढ़ जाऊँ,
उभरे कोई सोपान नया, चढ़ जाऊँ !
यों, यह सप्तम सोपान, ढहे पहले छह,
प्रत्यावर्तन की आशंका न गई रह !"

(प्रणय-पर्व, पृष्ठ–७१)

अस्तु, राधा आज जहाँ पहुँच गई है—कोई देही—सदेह कभी नहीं पहुँचा। गुण और निर्गुण के पार उसने अपना सर्वस्व मुरलीमनोहर पर निछावर कर दिया है। 'जो होनी थी बस, आज रही वह हो के !'—बिलकुल मीरा की तरह—'मीरा राम लगन लागी'—जैसी समरूप स्थिति हो गई है राधा की भी यहाँ ! प्रणय-जीवन में तन को नितान्त असंपृक्त रख, केवल मन से कसक भोगने-जैसी मानसिकता की भी दूसरी सानी नहीं—जहाँ, घन में विद्युत् की तड़प होती है। यही 'क्लाइमेक्स' है। अपना नाम-रूप मिटाकर भी आनन्द-सिन्धु में बिन्दु बनने की यातनामय साधना है यह ! रात्रि के

तम में तन को विलुप्त कर मन से प्राण तक खिंच आई है वह ! प्रात-किरणों ने भी मन के अणु को जलाकर इस पूर्णता को विकार रहित निर्मलता प्रदान कर दी है, जहाँ असीम का अनंत मिलन हो गया है।

"मैं चित्प्रमोद, हूँ सदानन्द हित आई,
बिछड़े बछड़े के पीछे गौ-सी धाई !
आनंदमयी अनुभूति आत्म-विलयन की,
अब रूप नहीं --वह तो है तृषा नयन की !" (पृष्ठ-८८)

शताब्दियाँ बीत गई हैं आज राधा के गए। प्रणय-पथ के पथिकों को चुनौतियों के स्वर राधा की खुली घोषणा है—

"तू गाल बजा बेताल, न कोई बाधा,—
लाँघे जो कुल-मर्याद कहाए राधा !
जन्मांध कमल-लोचन को क्या सूझेगा !
तू देव-पदों में आत्मार्पण बूझेगा ?
देहांधकार के पार ज्योति आत्मा की,
तू अष्ट सिद्धि देखेगा परमात्मा की ?" (पृष्ठ-८९)

सारतः, इस पर्व में वियोगावस्था की इतनी अधिक मार्मिक दशाएँ दिखाई गई हैं कि देखते ही बनता है। विगत समस्त काव्यकारों द्वारा विरचित राधा—जितनी भी रची गई—आधी ही रही—पूरी तो केवल आचार्य-श्री की मर्म-भिदी उँगलियों ने ही की है। यहाँ पंक्ति-पंक्ति में राधा व्यक्तित्व का महाकाव्यत्व स्वतः आ खड़ा होता है—

"मेरे आँसू वंशी-स्वर—से तुलते थे,
उर के भीतर से कितने उर खुलते थे !"

× × ×

"तुम थे सुदूर, पर आसपास दिखते थे,
परदेश—कहीं से प्रिय पाँती लिखते थे !
मैं आँख मूँद पढ़ती संदेश निरक्षर,
सुध-बुध खो सुनती व्योम-सुधा-निर्झर-स्वर !"

(पृष्ठ-९०-९२)

जीवन, जन्म-मरण के अध्यात्म को स्पष्टता देते बड़े निस्पृह, निर्द्वन्द्व-स्वरों में राधा जीवात्मा के लिए सदय मन की भी याचना करती है कि आगत संततियाँ तुम्हारे नमन की अभिलाषी बनें ! मन तो केवल वशीकरण

की ही भाषा समझता है। सतर्कता इतनी ही है कि प्यास कभी दिग्भ्रमित मरीचिका की फाँस न फँसे ! बिंदु का सिंधु बन जाना ही श्रेयस्कर है। श्रेय-मिलन के बाद मन कुछ और चाहता भी नहीं ! सर्व संशयों का नियामक और नाशक भी श्रेयस् ही है ! प्रणय की निर्भयता के तहत अहंकार का परित्याग परमावश्यक है। जीवन की सार्थकता चरणों में चरम-विश्वास और शुद्ध-बुद्धि का अर्पण है। जीवात्मा का कोई और अत्युत्तम लक्ष्य हो ही नहीं सकता। 'भगवद्गीता' की तरह आचार्य ने भी राधा-मुख से यही कहा है—

"मैं क्या, मेरी स्थिति क्या, स्थिति का भी क्या फल ?
तुम जानो, मैं तो तुम पर निर्भर केवल !
पाना ही तुम्हें प्रयोजन तन-धारण का—
था एक कार्य : संधान कार्य-कारण का !
संसार तुम्हारा, तुम निश्चय संसारी,
मन हो अच्युत, तन तो विशुद्ध श्रृंगारी !
—तो स्वीकारो सभार मरण का मेरे !
हो नाम प्यार—इस प्राण-हरण का मेरे !"

(पृष्ठ—९३)

समंततः, काव्यकार ने अपनी मौलिक स्थापनाओं में राधा के एक तिहरे स्वरूप की भी विवृति की है। कृष्ण ने उसे ही अनादिशक्तिस्वरूपा—'जगज्जननी' अथवा 'विश्ववंदिनी माँ'—कहा है ! परमात्मा के समस्त स्वरूपों का सत्-चित् में इसी ने देखा है और वे आँखें भी दी हैं कि सब उसे अच्छी तरह देखें।

इस 'राधा'—काव्य की परिसमाप्ति के साथ मिलन से सम्बद्ध एक वांछित, किन्तु अवांतर चित्र प्रसंग भी प्रक्षिप्त है। कुरुक्षेत्र के प्रभास-तीर्थ में श्रीकृष्ण यज्ञ करने पधारे और स्वयं यज्ञशाला में बैठे हैं। चतुर्दिक् से लोग झुंड-के-झुंड आ रहे हैं। ब्रज से यशोदा के साथ समस्त गोपिकाएँ भी चली हैं। नन्द आमंत्रण के अभाव में और राधा—(स्वाभिमानिनी होने के कारण) नहीं जाते। मातृ-हृदय यशोदा बेटे से आमंत्रण की अपेक्षा नहीं रखतीं। माता और पिता में फर्क भी तो यही है।

यज्ञ-स्थल पर अपार भीड़ है; व्यवस्था राजसी ! गाँव गँवई की इन ग्वालिनों को भीतर कोई जाने नहीं देता। यशोदा हाँक लगाती हैं। प्रथम दो बार तो व्यस्त-कृष्ण ने नहीं सुना, किंतु जब 'गो-पा-ल' की हाँक लगी, तो यज्ञ वेदी

पर ही सब फेंक-फांक कर कृष्ण माँ के चरणों में दौड़े आए और लिपट गए। प्रणाम के बाद ऊपर उठी उनकी अवाक् आँखें जब सबने देखीं, तो हैरत में पड़ गए। कुछ खोजती हुई-सी बड़ी परेशान दिखीं वे आँखे! दरअसल वे जिन्हें जोहती थीं, वह, वहाँ थी ही कहाँ! वह तो समंत प्रस्थान के क्षण ही, अकेले, वेणु-वन को चल पड़ी थी। वहाँ—जहाँ से उसके प्रणय का प्रारम्भ हुआ था, जहाँ से करील वृक्ष के नीचे खड़े होकर मोहन ने मुरली बजाई थी! भूखी, प्यासी—व्याकुल-वियोग में अतिशय निर्बल, वह, राह में ही मूर्च्छित हो गई थी। लोगों ने जब उपचारा तो आँखें खुलते ही क्षितिज-कोरों से कानों में मुरली ध्वनि आती सुनाई पड़ी थी, और दूसरे ही क्षण सबने सुना था कि दूसरे क्षितिज-कोर से पायल की झंकार भी जागृत हो गई थी! यही था कृष्ण-चरणों में राधा का अनंत समर्पण!!

आचार्य श्री की आँखें उस राधा के लिए आज भी वैसी ही सावन-भादो हैं—मैंने (लेखक ने) बार-बार चर्चाओं में प्रत्यक्ष देखा है।



आचार्य, हिन्दी विभाग
रामेश्वर महाविद्यालय
मुजफ्फरपुर।

पाषाणी : एक दृष्टि

☐ डॉ० रमाकान्त पाठक

हिन्दी साहित्य के जो महारथी छायावाद को अलंकृत प्रगीत की शैली समझकर उसकी संभावनाओं को समाप्त मान बैठे हैं, वे कदाचित् शास्त्री जी की 'पाषाणी' को देखकर भी चौंक उठेंगे, क्योंकि छायावाद के विकास में 'कामायनी', 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' की भाँति दूसरी दिशा में वैसी ही ऐतिहासिक घटना 'पाषाणी' का प्रकाशन भी है।

'पाषाणी' में शास्त्रीजी के पाँच गीत-एकांकी—गंगावतरण, उर्वशी, पाषाणी, वासन्ती, और मंजरी संगृहीत हैं। भारत के भिन्न-भिन्न रेडियो स्टेशनों से, रेडियो-रूपक के रूप में प्रसारित होकर ये रचनाएँ, अपने ग्रन्थाकार प्रकाशन के पूर्व ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुकी हैं। गीतकार के रूप में शास्त्री जी का छायावादी कवियों में अपना विशिष्ट स्थान है। कथा-गीतों के रचयिता के रूप में भी वे अपनी कृति 'गाथा' को लेकर हिन्दी-साहित्य के पाठकों के लिए सुपरिचित हो चुके हैं। 'पाषाणी' में उनके काव्य की इन दोनों दिशाओं से भिन्न एक तीसरे प्रकार का प्रयोग किया गया है, जो केवल उनके पाठकों के लिए ही नहीं, सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य के लिए एक नवीन वस्तु है।

'गंगावतरण' इस संग्रह की, क्रम की दृष्टि से, प्रथम रचना है। यह 'गाथा' में और 'पाषाणी' में संगृहीत अन्य रचनाओं के बीच की कड़ी है। 'गाथा' में वर्णनात्मक अंश कथाकार के हैं पर 'गंगावतरण' में सूत्रधार कथाकार का स्थानापन्न हो गया है। 'गाथा' में यदि गुप्त-स्कूल की कथाएँ होतीं तो उपर्युक्त अन्तर नगण्य हो जाता, पर चूँकि उसमें जो कथाएँ कही गई हैं उनमें वैसे वर्णनात्मक अंश विरल-से हैं और यों उनमें कोरे पद्य में, पुराण

शैली में वर्णित घटनाओं के पौर्वापर्य-संकलन के बजाय गीत के उतार और आलोड़न में घटनाओं को भाव बनाने से परिणत एकलता एक नूतन सिद्धि के रूप में आ गई है, अतः 'गंगावतरण' का सूत्रधार गाथाकार का सर्वथा अभिन्न नहीं है।

यों सूत्रधार ने इस रचना में वर्णनात्मक अंश के अतिरिक्त रंग-संकेत, स्वगत-कथन, प्रसंग-क्षेप और 'छद्मवेशी' की स्थानापन्नता का जो विवदास्पद कार्य किया है, उसके लिए भी; 'गाथा' के कथा-गीतों का यही उत्कर्ष उत्तरदायी भी है। गुप्त-स्कूल की कथाओं के रूपकीभूत रूप में सूत्रधार को इतने कार्य नहीं करने पड़ते, वर्णन के अतिरिक्त अधिक से अधिक वह 'जय जानकी जीवन कहो' की रस्म भर अदा कर देता।

पर इससे 'गंगावतरण' का महत्त्व पाषाणी में कम नहीं हो जाता। भरत ने द्विपदी, शाम्या, रासक, स्कंधक आदि रूपक भेदों की चर्चा की है; हेमचन्द्र ने उन्हें गेय रूपक कहा है और प्राप्त साहित्य में ये सारे गेय रूपक अब रूपक रहे ही नहीं, कथा-काव्य बन गये हैं। आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा ने भामह के काव्यालंकार की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि रंगमंच की असुलभता से, पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक मुखस्थ रह कर हमारे गेय-रूपकों की अनेक लोक-प्रचलित विधियाँ अब कथा-गीतों के रूप में विकसित होकर बच रही हैं। 'गंगावतरण' उनके इस कथन की तफसील में ऐसे गेय रूपकों को अपने स्वाभाविक रूप में समझने की खातिर अध्येताओं के हित में अनुमानतः उपादेय होगा।

'गंगावतरण' उस युग की विधि है जिस युग में रेडियो रूपक के रचयिता प्रायः ऐसा समझते थे कि 'श्रव्य-कथा' को संवाद शैली में लिख देने भर से उनकी कला निभ जाती है। 'पाषाणी' में संगृहीत अन्य रचनाओं से यह प्रतीत होता है कि शास्त्रीजी की मान्यता इससे निश्चय ही भिन्न है। कार्य (action), उपक्षेपक, रंगसंकेत और पताका-स्थानक को वे संवाद का वर्णनात्मक अंश प्रायः बनाना नहीं चाहते। 'पाषाणी' शीर्षक कृति इस कथन के प्रमाण-स्वरूप संपूर्णतः उद्धृत की जा सकती है। 'गंगावतरण' में ऐसा हुआ है, इसका कारण उसके वृत्त (Story-Stuff) की प्रकृति है। रूपक के कथानक (Plot) में जिस किसी कथा-द्रव्य को ढाला नहीं जा सकता, रूपक के लिए ऐसा वृत्त चाहिए, जिसकी घटनाएँ पात्रों के संपर्क से घटित, संवाद में विस्फूर्जित और अन्वित तथा कार्य से विकसित होकर फल में पर्यवसित हो जायँ, और उनके

तान की अवकाश-संधि में दृश्येतर अंश 'सूचित' (Suggested) हो जायँ। 'गंगावतरण' की कथा अवश्य ही ऐसी नहीं है। उदाहरणार्थ पृ० १० में सूत्रधार को जो कहना पड़ा है, वह भगीरथ की स्वगतोक्ति होने के कारण भगीरथ के द्वारा कहा जा सकता था। भगीरथ की तपस्या का ध्यान रखकर कवि ने ऐसा नहीं होने दिया है। तपस्वी तपस्या में निरत है और उसकी तपस्या निष्काम नहीं है, जैसा कि वह ब्रह्मा से कहता है—'मैं नहीं था तप रहा निष्काम।'—इसलिए कामना की गूंज तो उसके मन में है, पर तपस्यारत होने के कारण उसका वैखरी वाणी में उच्चारण स्वयं उसके द्वारा न किया जाना ही स्वाभाविक है।

फिर रेडियो रूपक की अपनी सीमाएँ भी तो हैं। 'दृश्य' को दृश्य साधनों के द्वारा व्यक्त करना उसमें संभव है नहीं। रूपक के सभी तत्त्वों—कथा, पात्र, कार्य, रंग, देश, काल आदि को भी उसमें संगीत और संवाद की ही भाँति नाद के माध्यम से व्यक्त करना होता है। यह एक नितान्त कठिन कार्य है। साधारणतः दृश्य को मात्र श्रव्य बनाकर भी यह कार्य हो सकता है जैसा कि 'गंगावतरण' के ७ वें पृष्ठ पर द्वितीय दृश्य के प्रारम्भ की इन पंक्तियों में :

> 'आधी रात, दूध की धोई-सी छिटकी थी चांदनी,
> वातावरण प्रशान्त, हवा थी बहती प्राणोन्मादिनी !
> पर्वत आत्म-विभोर, मोर-वन नीरव, रोर-विहीन थे,
> और भगीरथ खड़े स्तूप से घोर तपस्या लीन थे।'

श्रव्य-काव्य की पंक्तियों के रूप में अत्युत्कृष्ट होकर भी गेय रूपक के अंश के रूप में ये पंक्तियाँ कवि की उन्मेषिणी शक्ति का उत्कर्ष नहीं प्रकट करतीं। क्योंकि रेडियो-रूपक में माध्यम के रूप में नाद को स्वीकार करते हुए भी प्रेषण श्रव्य का नहीं, प्रधानतः दृश्य का करना अभीष्ट रहता है। नाद के द्वारा दृश्य की यह योजना प्रधानतः दो प्रकार से संभव है, एक तो अर्थ के रूप-बिंब के सहारे और दूसरे शब्दों के मात्र नाद-बिंब के सहारे। इनमें से प्रथम पद्धति का प्रयोग रंगमंचीय नाटकों में, विकसित रंगमंच की स्थिति में कम होता है, क्योंकि दृश्यपटों और सज्जाओं (Spectacles) के द्वारा पात्रों और देशकाल को इष्ट रूप में रंगमंच के अन्य साधनों के द्वारा दृश्य बनाकर उसमें उपस्थित किया जा सकता है। भाषा को उसमें उन साधनों की स्थानापन्नता प्रायः नहीं करनी पड़ती; जो अंश घटना के रूप में कथावस्तु के

अनिवार्य अंग होकर भी, दृश्य के रूप में वर्जित अथवा कठिनता से उपस्थित किये जाने वाले होते हैं उन्हें अर्थोपक्षेपकों के द्वारा सूच्य बना दिया जाता है। पर कुछ अंश तो दृश्य साधनों के रहते भी वर्णित रूप में ही दृश्य बनाये जाते रहे हैं जैसे 'किंग लियर' में डोवर पर्वत का दृश्य :

How Fearful,

And dizzy' tis to cast one's eyes so low !
The Crows and choughs that wing the mid-way air
Show scarce so gross as beetles : half way down
Hangs one that gathers samphire-dreadful trade !
Methinks he seems no bigger than his head,
The fishermen that walk upon the beach
Appear like mice; and yond tall anchoring bark
Diminished to her cock, her cock a bucy
Almost too small for sight murmuring surge.
That on the unnumbered idle pebbles chafes
Cannot be heard so high-I, ll look no more
Lest my brain turn and the deficient sight,
Topple down head long.

साधारण रूपकों में इस प्रकार दृश्य के कुछ अंशों को अर्थ के रूप-बिंबों के द्वारा घटित करने का विकल्प पाया जाता है। रेडियो रूपक में यह पद्धति वैकल्पिक नहीं अनिवार्य है। उसमें पात्रों को मेकअप और मुद्रा के द्वारा तथा देश और काल को दृश्य-पटों तथा रंगविधियों के द्वारा प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है, अत: उन सब कुछ की रूप-योजना भाषा के अर्थ-पक्षीय रूप-बिम्बों के द्वारा ही की जा सकती है। 'पाषाणी' में देश, काल, कार्य और पात्र की एतद्विध प्रस्तावना में अधिकांश स्थल अत्यन्त सफल हैं।

बानगी के तौर पर कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :—

'मेनका—········ छोड़ दें जो भरतमुनि तो ठीक है'
यदि नहीं, तो पीटनी ही लीक है !!

(भरत मुनि)

चरण कहाँ पड़ते हैं, जाते किधर हैं नयन !
सावधान उर्वशी, आज तू उन्मन-उन्मन !!

आज कपोताञ्जलि तक तुझसे नहीं बन रही !
बाहें लचतीं नहीं, झूलकर तुरत तन रही !!
कंकण चमक रहे हैं, पर क्या करते कण् कण् ?
कटितट लटकी नहीं बज रही किङ्किणी किण्-किण् !
रणन-झनन नूपुर करते सुरताल-बद्ध क्या ?
चरण-कमल जम्बाल-जाल से हुए नद्ध क्या ?
शंख-चक्र की मुद्राएँ भी तो अशुद्ध हैं !
पद्म बने जैसे-तैसे, पर अप्रबुद्ध हैं !
द्रिम्-द्रिम्--द्रिम्-उन्मद-मृदङ्ग से ध्वनि जब निकली—
मुद्रित मोर विभोर हुआ न मयूरी मचली !
वीणा के जब तार मानसर से लहराए !
नूपुर-सुर के हंसों ने कब पर फहराए !
कुन्द-मुकुल तेरे कुन्तल से टूटे, बिखरे,
शिशिर-निशा-अभिनय में तेरे श्रमकण निखरे !
जब वासन्ती फूली, छिपकर श्यामा बोली,
तब तूने की 'आह' ! खड़ी हो तनिक न डोली।
यह सब क्या ? रही उर्वशी तू तो भोली !
मुखर दुष्टता सीखी कैसे रह अनबोली ?
ललित चेतना तुझमें सबसे अधिक खिली थी !
नाट्यकला को आत्मा-सी उर्वशी मिली थी !!

(उर्वशी : पाषाणी, पृ० ३७-३८)

इन पंक्तियों में कवि ने कार्य के चित्रण में अर्थ-बिंबों का सफलता-पूर्वक उपयोग किया है। यह कार्य भी, रूप से सम्बन्धित होने के कारण, अंगहार, या रूपमुद्रा के स्पष्टीकरण के लिए ही, व्यंजित हुआ है। अतः शास्त्री जी इन पंक्तियों से कार्य के साथ साथ रूप का भी श्रव्य-साधनों के द्वारा प्रत्यायन कर सके हैं। इस सिलसिले में प्रत्येक संकेत के साथ जिन नाद-संकेतों का ध्वनन होता है, उन्हें श्रव्य-रूप से अतिरिक्त रूप में घटित करना वैकल्पिक हो जाता है, जिससे अर्थ-बिम्ब का व्यपदेश और स्पष्ट है, क्योंकि कवि ने ऐसा रंग-संकेत नहीं दिया है कि जब संवाद को—'द्रिम् द्रिम् द्रिम् उन्मद मृदंग से ध्वनि जब निकली'—आदि जैसी पंक्तियाँ उच्चरित हों तो मृदंग आदि की तदनुरूप ध्वनियाँ भी प्रस्तुत की जायँ। इससे स्पष्ट है कि श्रव्य से केवल दृश्य की ही

नहीं श्रव्य की भी अर्थबिम्ब-मयी अभिव्यक्ति गेय रेडियो-रूपक में कभी-कभी कला की दृष्टि से आवश्यक हो जाती है। 'मंजरी' की इन पंक्तियों में खड़ाऊँ की आवाज से प्रवेश का 'कार्य' सूचित हो जाता है। यह शुद्ध नाद-बिंब का 'कार्य' के प्रत्यायन के लिए प्रयोग है। पर संवाद की पंक्तियों से, अर्थ-बिम्बों के द्वारा उस रूप का व्यंजन हुआ है जिसका स्थानापन्न, साधारण रंगमंच पर 'मेकअप' होता—

'विदूषक .... (किसी की खड़ाऊँ की आवाज सुनकर चौंकता है, फिर मुँह बना बनाकर कहने लगता है।)

मुण्डित सिर, मस्तक पर टीका
फीका मंगल तारा !
वज्र-कपाट-सपाट-वक्ष—
पर अक्षत, चन्दन, माला !
अद्‌भुत रूप, निराली सज-धज,
पतली कटि नाहर-सी,
चरण-पादुका से धँस जाती
धरती, गति करिवर-सी,
भैरव-सा आकार, शूल-धर,
कौन चन्द्रशेखर-सा ?
आया है मधुमय वसन्त में
यह पागल पतझर-सा ?

(रानी)
[तिनक कर]

बन्द करो बकवास विदूषक,
ये मेरे गुरुवर हैं !

(विदूषक)
[गिड़गिड़ा कर]

क्षमा महादेवी, हम इनके
भक्त, दास, किंकर हैं !

(राजा)
[विदूषक से]

नाम भैरवानन्द विदूषक,
ये रमते योगी हैं !

देवी के नाते हम भी

इनके प्रसाद-भोगी हैं !

[भैरवानन्द अट्टहास करता है : 'योगी और भोगी ! अच्छा जोड़ा मिलाया महाराज ने ! अच्छी जोड़ी है न यह, महारानी ! राजा-रानी ! योगी-भोगी !' ठठाकर हँसता है ।]

(मंजरी : पाषाणी, पृ० ९६-९७)

उद्धृत संवाद की इन पंक्तियों और रंग-संकेत में पात्र का सम्बन्ध, (relation), परिस्थिति (situation), संवाद (Dialogue) तथा कार्य (action) इन चारों ही उपकरणों के प्रयोग से जैसा सफल ध्वनन हुआ है, वह हिंदी के रूपक-साहित्य की, अवश्य ही एक आश्चर्यजनक सिद्धि है। इसमें पात्र के रूप के साथ ही शील की मुखरता भी प्रेषित हो जाती है ।

'उर्वशी' का प्रथम दृश्य अर्थ-बिंब के प्रकर्ष के निदर्शन के लिए संपूर्णतः उद्धरणीय है । कवि ने वहाँ वातावरण, देश, काल, पात्र और कार्य को अर्थ-बिंब की प्रत्येक रेखा से, साथ-साथ गोचर किया है जो एक बहुत बड़ी सफलता है, फिर भी कहीं वातावरण, कहीं देश, कहीं काल, कहीं पात्र, कहीं कार्य अधिक प्रधानता से प्रतीत होता है ।

सुदूर से आती हुई नारी-कण्ठ की आर्त्त पुकार—"आर्यों, रक्षा करो; बचाओ ! कोई आओ ! कोई आओ !!" —से नारीहरण का 'कार्य' भी ध्वनित होता है, पर उससे भी अधिक वातावरण व्यक्त होता है, क्योंकि बाद की पंक्तियाँ क्रमशः देश और फिर काल (चन्द्र-चूड़) को व्यंजित करती हैं :—

नारी-कण्ठ ! आर्त्त स्वर ! कातर क्रन्दन ! द्रवित निवेदन !
त्रस्त, अजल आह्वान ! विकल-विह्वल, अनाम आमन्त्रण !!
यह सब उस उतने ऊँचे से ! चन्द्रचूड़ भूधर से ?
क्रन्दन, तू भी बरसा करता धरती पर ऊपर से ?

इसके बाद की पंक्तियों में पात्र का शील पक्ष के द्वारा व्यंजन सर्वाधिक प्रधानता प्राप्त कर लेता है :—

रुको देवियों, मैं पुरूरवा मिट्टी का रखवाला;
पर ऊपर भी आ सकता हूँ, शून्य न सहे कसाला !

धरती की सहायता से जो बच सकता है स्वर्ग,
सच मानो देवियों, छोड़ दूँ करतल गत अपवर्ग !

इन पंक्तियों के बाद कवि नाद-बिंब (घर्घर) का सहारा लेकर रथ के जिस अवतरण के कार्य को व्यक्त करना चाहता है उसी की अर्थ-बिम्ब से आगे की पंक्तियों में सूचना होती है :

यह लो, मैं आ गया, कौन हो तुम सब ? है कैसा डर ?
दुर्विनीत वह सुर कि असुर है? नर है अथवा किन्नर ?
स्पष्ट कहो, कोई हो, मेरा धनुष आत्म-निर्भर है,
वाण प्राणहर हैं; कृपाण यम का अग्रज सोदर है !

निखालिस शब्दों के नाद-बिंब से दृश्य का प्रस्तावन इससे भी कहीं उत्तम कला है। 'वासन्ती' में पतझड़ के अंधड़ का गीत शास्त्री जी की इस कला की एक अनूठी परिणति है।

"मैं पतझड़ का अन्धड़ !
हर्-हर् हर्, मर् मर्-मर
थका मारवा का स्वर !
डमरू का डम्-डम्-डम्
तत्-तत् थै, तत्-तत्-थै,—
मैं नाचूँ छम्-छम्-छम्,
मुरज बजे धम्-धम्-धम्
बादल बरसे झम् झम्,
बिजली चमके चम्-चम्
ओले तड्-तड् तड् !
मैं पतझड़ का अन्धड़ हूँ !!

'पाषाणी' और 'मंजरी' के रंग-संकेत (पृ० ७६, ८६, ९९) नाद-बिम्ब से दृश्य-चित्रण के उत्कृष्ट स्थल हैं।

नाद की इसी दृश्यता की अभीष्टता के कारण ही हमारे काव्य-शास्त्रियों ने रूपकों को दृश्य-काव्य कहा है। लिपि की दृग्विषयता के बावजूद लिखित या मुद्रित मुक्तक जिस प्रकार व्यपदेश से श्रव्य कहे जाते हैं उसी प्रकार रूपकों के ही रूपक भी दृश्य काव्य ही कहे गए हैं। टी० एस० इलियट ने यूनानी दुःखान्तों को श्रेष्ठ कहा है, क्योंकि उनकी भाषा दृश्य (Concrete and visible) है। रूपक में भाषा मात्र वचन के रूप में नहीं, कार्य (action) के रूप में अभीष्ट है और इसे कर दिखाना, शास्त्री जी से पहले यदि किसी और दूसरे से, और सो भी रेडियो रूपक में, उसके भी गेय रूप में, संभव हुआ हो

तो हिन्दी-साहित्य के एक नए प्रजापति के रूप में आज नहीं तो कल उसकी गणना होगी; ऐसा कोई भी आस्थाशील पाठक महसूस करेगा।

'पाषाणी' में छन्दों का प्रयोग एक नूतन कौशल के सहित किया गया है। संगीतशास्त्र के नियमों से परिचित और मधुर-मेदुर स्वर से सम्पन्न गायक-कण्ठ की दायित्वानुभूति और आभिजात्य के कारण शास्त्री जी ने इस क्षेत्र में कवि-शिल्प के कुछ ऐसे रेशे पिरोये हैं, जिन्हें मात्रा, तुक और यति के गुरों से पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। इस सम्बन्ध में कुछ नितान्त आवश्यक संकेत उन्होंने अपने ग्रन्थ के 'प्रस्तुत' में संक्षेप में दिये हैं, जो निश्चय ही, जिज्ञासुओं के लिए बड़े उपादेय हैं।

बड़े छन्दों का प्रयोग प्रायः वर्णनात्मक अंश में किया गया है; जहाँ संवाद के चटुल अंश आये हैं वहाँ या तो छोटे छन्दों के प्रयोग किये गये हैं या बड़े छन्दों की ही अर्थ-यतियों के द्वारा छोटी-छोटी लड़ियाँ बना दी गई हैं। 'उर्वशी' के प्रथम दृश्य में पुरूरवा की, प्रारम्भ की उक्ति, उदाहरणस्वरूप देखी जा सकती है। छन्द की सममात्रिक गति और अवधि एवं तुक की अक्षर-मैत्री के निर्वाह के लिए शास्त्री जी को अपने भावों के साथ बल-प्रयोग नहीं करना पड़ता है, तभी उन्होंने मुक्त-वृत्तों का प्रयोग, निराला-युग और छायावादी सम्प्रदाय में दीक्षित होकर भी, नहीं किया है। इस सम्बन्ध में उनकी संस्कार-स्फूर्ति 'पाषाणी' के १६ वें पृष्ठ में उस रंग-संकेत से स्पष्ट है जिसमें आगे पीछे की संवाद पंक्तियों से सममात्रिकता ही नहीं, तुक की अक्षर-मैत्री का निर्वाह भी अनायास, अविचारित ही हो गया है :

(रथ का घर्घर नाद : अवतरण-लाघव : उद्दीप्त स्वर)
यह लो, मैं आ गया, कौन हो तुम सब ? है कैसा डर ?
दुर्विनीत वह सुर कि असुर है ? नर है अथवा किन्नर ?

'पाषाणी' में संगृहीत गेय-रूपकों की सबसे बड़ी विशेषता, कवि की कृतकार्यता और उत्कर्ष की दृष्टि से यह है कि उनमें एक में प्रयुक्त कला किंवा भाव-पक्ष की पद्धति को दूसरे में दुहराया नहीं गया है। निराला के अतिरिक्त छायावादियों में किसी दूसरे को यह गौरव कदाचित् नहीं था। यदि शास्त्रीजी आगामी कृतियों में भी इस टेक का निर्वाह करते चले तो, गेय-रूपक के क्षेत्र में वह गौरव उन्होंने केवल पाषाणी के द्वारा भी प्राप्त कर लिया है।

"पाषाणी" अन्विति की दृष्टि से अपूर्व है। अभिनेय, देश, काल और कार्य की एकता या अविरलता के अतिरिक्त उसके प्रारम्भ से अन्त तक की

घटनाओं और संवादों का आरम्भ में उच्चरित एक शब्द 'इन्द्र' के साथ अन्त तक वही विलक्षण सम्बन्ध है जो प्रवर्ती कथोद्घातक के साथ बाद वाली उक्ति या पात्र का रहता है। इसके कारण सम्पूर्ण कथानक में नाटकीय चटुलता और चमत्कार की एक विद्युद्गति एक बारगी कौंध जाती है। इसी शब्द के योग (Verbal Association) से कवि ने अहल्या और इन्द्र की पौराणिक कथा को फ्रायडीय मनोविज्ञान के आधार पर प्रातिभासिक सत्ता दे कर और ऋषि के शाप को क्रोध के बजाय दैन्य से उद्गीर्ण रूप में चित्रित कर अहल्या की प्रातः स्मरणीयता और गौतम के ऋषित्व को युगानुरूपता में अक्षुण्ण कर दिया है। अहल्या के स्वप्न चित्र में भी उसके मनोरथ की गति शब्द-योग (Verbal Association) के ही द्वारा अपनी चरम-सीमा तक पहुँची है; यह 'देवराज' और 'देवर' के समानाक्षरी अर्थावतरण मे स्पष्ट है :—

उजली-धुली जटा मुनिवर की, पर ये श्यामल केश,
अन्धकार बहुमूल्य हो गया आ प्रकाश के देश !
देवराज हो या हो देवर ?
मेरा मन तो महारण्य है,
और कहीं ढूँढ़ो अपना घर !

प्रातिभासिक कथा तथ्य का दूसरा अतः भिन्न रूप 'मञ्जरी' में आया है। जहाँ भैरवानन्द की माया-सृष्टि ने राज विलास के कक्ष को घोर करुणा के श्मशान में बदल डाला है। यहाँ शब्द योग के प्रवर्ती कथोद्घातकीय शिल्प के बजाय तिलस्म के धागे में सुकुमार वास्तविकता की कली को उसकी विदीर्णता में पिरोया गया है।

'वासन्ती' प्रतीक शैली का गेय रूपक है, जिसमें निर्माण और नाश के तत्त्वों के संघर्ष की सुखान्त कथा कही गई है। इसकी वस्तु के स्पष्टतः तीन खण्ड हैं, जिन्हें उपक्षेपक की निदर्शना-पद्धति के बिम्बानुबिम्बत्व से जोड़ा गया है। निराला और प्रसाद जी की भाँति शास्त्री जी का स्वर भी जहाँ प्रगतिशीलता का स्पर्श करता है, वहाँ भी वह भारतेन्दु-कालीन पुनर्जागरण के स्तर में या मार्क्सीय नास्तिक वर्ग-चेतना के स्तर में, विलीन होकर नहीं, उसका अपना सांस्कृतिक धरातल रहता है।

'उर्वशी' में वस्तु की गति आरम्भ की घटना के धक्के से निरन्तर बल-खाती हुई चली है। पार्श्व-पात्रों का उपयोग, इसमें कवि ने केवल चुहल और

विनोद की सृष्टि के लिए नहीं, अपितु चरित्र के शील की रक्षा और आस्वाद्यता को बन्धुर करने के अतिरिक्त घटनाओं की व्याख्या और उसके विकास को वैकल्पिक के बजाय निश्चयात्मक बनाने की खातिर किया है। रचना के अन्त में उद्देश्य ने सब कुछ को अपने में निगीर्ण कर लिया है। इस प्रकार इस गेय रूपक में घटना, पात्र और उद्देश्य क्रमश: एक दूसरे को स्थान देते हुए पर्यवस्त हो जाते हैं।

गंगावतरण, जैसा प्रारम्भ में कहा जा चुका है, वर्णन की रीढ़ पर खड़ा है। उसका विकास भित्तिधर्मी है, इसलिए उसकी वस्तुकला वास्तुकला के निकट है। वर्णन के गारे से वहाँ पात्र, घटना और कथा को ईंटों की तरह एक दूसरे से जोड़ा गया है और जुड़ावे के दाग छिपाये जाकर भी अन्तर्निगूढ़ रूप में रह गये-से हैं। इस प्रकार पाषाणी की पाँच रचनाएँ अपने स्थापत्य, पद्धति, शिल्प और सौष्ठव में कला की पाँच भिन्न इकाइयाँ हैं, और एक में दूसरी दुहराई नहीं गई हैं।

इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें काव्य का स्तर कहीं भी क्षुण्ण नहीं हुआ है, न रस की समास्तीर्णता में ही शिकन पड़ी है।

हिन्दी साहित्य के बहुत कम पाठक कदाचित् वह जानते होंगे कि शास्त्री जी ऊँचाई में निराला जी से छोटे और अभिनेता पृथ्वीराज के बराबर हैं। अवयवों की गढ़न में भी, निराला जी के बाद, यूनानी मूर्त्तियों की पेशियाँ उन्हीं में आ उभरी हैं। किशोर वय में ही वे आर्यक्षेमीश्वर के चंड कौशिकम् में 'हरिश्चन्द्र' का पार्ट खेलकर काशी के सुधी दर्शकों में उतने ही प्रसिद्ध हो चुके थे, जितने कलकत्ते के बंगाली दर्शकों में निराला जी। शेक्सपियर के नाटकों का श्रेय उसके नट होने को प्राय: दिया जाता है। शास्त्री जी के इस नवीन प्रयोग को उनकी अभिनेतृ कला और रंगमंचीय अनुभव से जो बल मिला है, वह एक स्वतन्त्र निबन्ध का विषय हो सकता है।

कविता की सरस्वती वर्तमान युग के जिस मरुस्थल में लुप्त-सी हो गई है, उसमें शास्त्री जी की 'पाषाणी' का शाद्वल की भाँति एक विशिष्ट महत्त्व है। उनकी अक्षय यौवना प्रतिभा के रस की सदानीरा का यह नवीन संगम-स्थल वर्तमान काल की कठोरता और उत्ताप के लिए स्वयं में एक खुली चुनौती है।

आज अपने बाजार में ६४ पुराने पैसों के बजाय १०० नये पैसे कूतकर, चाँदी के पुराने रुपयों पर कागज के नये रुपयों की महिमा हम स्थापित कर

चुके हैं; अपने घरों में ईसा और बुद्ध की तस्वीरों के बीच गोलघरनुमा वजीरों और उनके खानदानवालों के चित्र लगा चुके हैं, श्यामाप्रसाद मुखर्जी को कारा-मरण की सजा देकर, सावरकर को खून में फँसाकर, राजगोपालाचारी को काले झंडे दिखाकर, लोहिया पर लाठी चलाकर तथा खब्ती का इल्जाम लगाकर अपने को अपनी करतूतों से बरी, अपनी और अपने समाज की यथा-स्थिति को बरकरार और जनता का मनोरंजन कर चुके हैं और स्फीतियुग की इस मुक्तहस्तता में साहित्य-जगत् की कवि-कुलगुरु, उपन्यास-सम्राट्, अभिनव कालिदास जैसी उपाधियों के अक्षय कोष का भी दिवाला पिट चुका है और अब किसी भी क्षेत्र के सच्चे साधकों की खातिर अज्ञातवास और सच्चे पारखियों की खातिर चुप्पी से बढ़कर दूसरा सहारा नहीं रह गया है !

निराला की भाँति पागल कहे जाकर भी जीवित रहना, और चन्द्रबली पाण्डेय की तरह भुक्खड़ रहकर मर जाना—सभी से संभव नहीं है और न अपनी प्रतिभा को दिल्ली या पटना के राजकीय वेश्यालयों में खुलेआम भर्ती कराने की निर्लज्जता ही सभी के लिए साधारण बात है।

इसलिए 'पाषाणी' जैसे सत्काव्य का प्रयोजन भी उर्वशी के 'भरत' की इन पंक्तियों से ही स्पष्ट हो जाता है :

> भोगवादिनी, रूप शरद की धूप नहीं है।
> कला देव-अर्चा, कि देव वह भूप नहीं है।

इस मान्यता ने शास्त्री जी की साधना की अविराम गति को अक्षुण्ण रक्खा है और तभी तो लगता है :

> 'रत्नेसु मुष्टेषु वहुष्व मर्त्यैरद्यापि रत्नाकर एवसिन्धुः।'



भू० पू० कुलपति, आचार्य एवं अध्यक्ष,
हिन्दी विभाग,
ल० ना० मि० विश्वविद्यालय,
दरभंगा।

(१९६० ई०)

गीति-नाट्यों की परम्परा में "पाषाणी"

□ डॉ० जगन्नाथ प्रसाद मिश्र
एम० एल० सी०

"पाषाणी" आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के पाँच गीति-नाट्यों का संग्रह है। शास्त्री जी ने इन्हें 'पाँच संगीतिकाएँ, नाम से अभिहित किया है। आकाशवाणी के माध्यम से ये संगीतिकाएँ प्रसारित एवं सहृदय साहित्य-मोदी जनों द्वारा प्रशंसित हो चुकी हैं। पाँच गीति-नाट्यों में एक का शीर्षक पाषाणी है और उसी के अनुसार पुस्तक का नामकरण हुआ है। गीति-नाट्यों की परम्परा हमारे देश में पुरानी नहीं कही जा सकती। हिन्दी-साहित्य में इस परम्परा का आरम्भ स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' से बताया जाता है। गीति-नाट्य के क्षेत्र में श्री उदयशंकर भट्ट की कृतियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पौराणिक आख्यानों के आधार पर उन्होंने कतिपय गीति-नाट्यों की रचना की है और अपने पात्रों को बड़ा ही सजीव भावात्मक रूप दिया है। उनके इन नाटकों में काव्य-सौष्ठव के साथ-साथ चित्रोपमा की संयोजना भी प्रभावोत्पादक रूप में की गयी है।

सुप्रसिद्ध कवि पंत जी के भी दो गीति-नाट्य-संग्रह 'रजत-शिखर' और 'शिल्पी' प्रकाशित हो चुके हैं। विभिन्न आकाशवाणी केन्द्रों द्वारा इनका प्रसारण भी हुआ है। अपने इन गीति-नाट्यों को पंत जी ने 'काव्य रूपक' कहा है। उनके ये काव्य-रूपक प्रतीकात्मक हैं।

जहाँ तक 'पाषाणी' का सम्बन्ध है, शास्त्री जी के शब्दों में हिन्दी की गीति-नाट्य-कला को उनका यह प्रथम उपहार है। किन्तु प्रथम उपहार होने पर भी 'पाषाणी' निस्सन्देह एक सफल प्रौढ़ रचना कही जायेगी। गीति-नाट्य का मूल प्रेरणा उत्स अन्तर्द्वन्द्व माना जाता है। यह अन्तर्द्वन्द्व ही पात्रों के अन्तर में चल रहे संघर्ष, उनकी अन्त:प्रकृति एवं मनोभावों का मार्मिक

चित्र उपस्थित करता है और पाठकों या श्रोताओं की संवेदना को उद्वेलित करता है। यह संतोष का विषय है कि इन नाट्य कृतियों में अन्तर्द्वन्द्व-तत्त्व का युक्तियुक्त रूप में समावेश किया गया है, जिससे पात्रों का व्यक्तित्व निखर उठा है। नाटकीय एवं मानवीय दोनों ही दृष्टियों से ये रचनाएँ सफल एवं श्रेष्ठ कही जायँगी। कथोपकथन की स्वाभाविकता के साथ-साथ नाटकीय तत्त्व का सुन्दर रूप में निर्वाह किया गया है। लेखक में एक कलाकार की प्रतिभा तो है ही इसके साथ ही उसमें सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं गम्भीर अनुभूति भी है, तभी तो मानसिक संघर्षों के विधान में उसने एक निपुण मनस्तत्त्व-वेत्ता का परिचय दिया है। पौराणिक पात्रों के सहारे लेखक ने जिन मानवीय समस्याओं का निर्देश किया है ये चिरन्तन होने के कारण हमारे मर्म को आज भी स्पर्श किये बिना नहीं रहतीं। अतिभावुकता एवं अतिबुद्धिवादिता इन दोनों छोरों से बचकर लेखक ने मानवता के प्रति गहरी आस्था व्यक्त की है और आशामयी भावनाओं का संदेश दिया है। प्रथम गीति-नाट्य 'गङ्गा-वतरण' का आरम्भ जिस पृष्ठभूमि में हुआ है वह मानवता के लिए एक आशामय स्वप्न-छवि (Vision) है। प्रथम दृश्य की ये पंक्तियाँ :

"अम्बर क्या, धरती पर स्वर्ग उतर आए !
रन्ध्र-रन्ध्र भर जाए, मौन स्वयं गाए !!

और फिर सूत्रधार का यह कथन :

"हो पुरुषार्थ प्रबल, तो कोई भी अनहोनी बात क्या ?
जीवन-रथ के लिए सुदिन क्या, और अंधेरी रात क्या ?"

कितना उदात्त एवं उत्साहवर्धक है। देवापगा को स्वर्ग से इस पृथिवी पर लाने के लिए भगीरथ जो कठिन तपस्या कर रहे हैं वह अपने लिए नहीं। वह तो स्वर्ग का सेतु रच रहे हैं। और यह सेतु किसलिए ?

"मैं उतारूँ पार औरों को न जो, धिक् तपस्या, नियम !
तब सब ढोंग तो।"

तभी तो भगवान शंकर कहते हैं :—
मुक्ति, शान्ति और निर्वाण के लिए तप करनेवाले देखें :—
"शिव के लिए, लोक–मङ्गल के लिए तपे !"

'पाषाणी' इस संग्रह की अन्यतम रचना है। इसका मूलस्वर मनोवैज्ञानिक है। इसमें सूक्ष्म मानवीय भावनाओं की सांकेतिक अभिव्यक्ति की गयी है। मनुष्य के जीवन में रक्तमांस की क्षुधा उतनी ही सत्य है जितनी आध्यात्मिक

क्षुधा। ममता, स्नेह आत्मीयता आदि का त्याग उसके लिए सहज नहीं है। सात्त्विक भावों की महिमा का चाहे कितना ही गुनगान किया जाय किन्तु जीवन को सरस एवं स्नेहार्द्र बनाने के लिए राजस भाव का संसर्ग आवश्यक है; अन्यथा कोरी सात्त्विकता जीवन को आस्वादनीय नहीं बना सकती :—

सात्त्विकता की सूखी पपड़ी,
राजस रस से गीली होती,
मिट्टी की धरती नम होती,

गौतम जैसे तपस्वी का हृदय भी हाहाकार कर उठता है जब वह अहल्या के साश्रु मलिन नेत्रों में विषाद की घनीभूत छाया अवलोकन करते हैं :—

हा रे गौतम, तेरे तप का,
साधन-विराग का, जीवन का—
क्या मूल्य अहल्या के दृग में !
क्या दवा भाव उसके मन का !

अहल्या की इन पंक्तियों में जीवन का सत्य कितनी मार्मिकता के साथ मुखर हो उठा है :—

"मैं युवती, तुम जरा-जर्जरित, इस बलते-से सत्य को:
धर्म, ज्ञान, तप बुझा न पाए; गला न पाए तथ्य को !"

नारी जीवन का चरम सत्य उसका नारीत्व है। यदि यह नारीत्व ही विफल हो गया तो फिर जप, तप, ध्यान, धारणा का क्या मूल्य हो सकता है ? अहल्या एक नारी है। और इस नारी हृदय का चीत्कार निम्न पंक्तियों में सुनाई पड़ता है :—

"नारी हूँ, यह है बात प्रथम,
हारी हूँ, यह है घात चरम
अंतर्द्वन्द्वों में जले-बुझे—
जीवन की तृषित कहानी हूँ !
कैसे कहते—पाषाणी हूँ !!

दिन भर झरते हैं विकच सुमन,
भर रात टूटते तारक-गण,
है शुष्क धरा, मैं शून्य गगन !

मैं भावुकता—. नादानी हूँ !

तन तो तन है, पर मन क्या है ?
आदर्श नहीं, जीवन क्या है ?
मरु-उर क्या ? लोचन-घन क्या है ?

निर्बल, शंकाकुल प्राणी हूँ !

पर्वत चुप, सिन्धु गरजता है !
रे, किसको कौन बरजता है ?
क्या ऊँचाई ! क्या गहराई !

मैं तो समतल की वाणी हूँ !
कैसे कहते —पाषाणी हूँ !!

'पाषाणी' पुस्तक की भाषा समलंकृत एवं परिमार्जित है और उसके परिसंवादों में भावावेग के साथ-साथ नाटकीय प्रवाह भी यथेष्ट है। 'पाषाणी' की एक विशेषता है उसका पद्य-बद्ध परिसंवाद। वर्तमान गद्य-प्रधान युग में जब काव्य में भी अन्त्यानुप्रास का जान-बूझकर वर्जन किया जा रहा है पद्य-बद्ध परिसंवाद पाठकों को कुछ अस्वाभाविक जैसे प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु रेडियो द्वारा प्रसारित होने पर संगीत रूपक की परिसीमा में इस प्रकार के परिसंवाद श्रोताओं को खटकते नहीं।

शास्त्री जी केवल सुकवि ही नहीं है, संगीतज्ञ भी हैं। राग-रागिनियों और ताल-स्वर की समन्विति का उन्हें ज्ञान है। अतएव अपने गीतों को उन्होंने राग-रागिनियों में बाँधकर वातावरण के अनुकूल उनकी सुन्दर संयोजना की है। 'पाषाणी' के गीत काव्यगुण से मण्डित तथा संगीत की सरसता से सराबोर है।

रेडियो नाटक की कुछ अपनी सीमाएँ हैं जिन पर ध्यान रखकर ही उनकी आलोचना की जानी चाहिए। सबसे मुख्य बात यह है कि यह पूर्णरूप से श्रव्य नाटक की तरह उसके दृश्य-विधान प्रत्यक्ष नहीं किये जा सकते। ध्वनि के माध्यम से ही उसमें भावाभिव्यक्ति की जा सकती है। ध्वनि का

उपयोग तीन प्रकार से किया जाता है—भाषा; ध्वनि-प्रभाव और संगीत। इन तीनों का सुष्ठु समन्वय जब पात्रों के संलाप में होता है तब नाटक सजीव बनकर श्रोताओं के मनप्राण को भावाभिभूत कर देता है। रेडियो नाटकों में प्राय: किसी ऐसे केन्द्रीय भाव का अभाव देखा जाता है जिसकी छाप श्रोताओं के मन पर अंकित हो जाय। किन्तु शास्त्री जी के गीति-नाट्य इस दोष से बहुलांश में मुक्त हैं। वादों की उलझन में पड़कर बौद्धिक चेष्टाओं द्वारा उन्होने अपनी रचनाओं को न तो दुरुह बनाया है और न क्लिष्ट रूप से अलंकृत। उनकी इन कलात्मक कृतियों का पारायण करके रेडियो नाटक की सम्भावनाएँ हमें उज्जवल दीख पड़ती हैं।

□

'६०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
मिथिला कॉलेज, दरभंगा।

पाषाणी : एक विशिष्ट नाट्यधर्मी कृति

□ श्री ब्रजशंकर वर्मा

हिन्दी में गीति-नाट्यों की रचना का आरम्भ हुए अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं। यद्यपि रंगमंचों पर इनका अभिनय लोकप्रिय नहीं हुआ है और न इस दिशा में उचित प्रयास ही हुए हैं, पर इस कला की संभावनाएँ महान् हैं। भारतीय आकाशवाणी केन्द्रों से गीति-नाट्यों का प्रसारण इस कला को यथेष्ट प्रोत्साहन प्रदान कर रहा है !

'पाषाणी' में सुकवि श्री जानकीवल्लभ शास्त्री की जिन पाँच संगीतिकाओं का संचय किया गया है, वे पांचों आकाशवाणी द्वारा बहुत बार प्रसारित हो चुकी हैं और श्रोताओं ने उन्हें पसन्द किया है।

पुस्तक की भूमिका में शास्त्री जी ने अपनी संगीतिकाओं की भाषा, शैली और छन्दों के सम्बन्ध में जो स्पष्टीकरण किया है, उसका अंश मेरे विचारों से इतना मेल खाता है कि उसको यहाँ प्रस्तुत करने का मैं लोभ संवरण नहीं कर सकता। शास्त्री जी ने लिखा है '.....छन्द के सम्बन्ध में मेरी मान्यता है कि अन्त्यानुप्रासों ने मेरे भाव प्रभाव को कहीं आकुलित नहीं किया है। पद्यबद्ध परिसंवादों में जितनी तीव्रता सम्भव है, मेरे छन्दों में भी है। जिन्होंने संस्कृत के श्लोकों के समान अन्त्यानुप्रास रहित छन्दों का प्रयोग किया है, या शेक्सपियर के नाटकीय छन्दों से प्रभाव ग्रहण किया है, अथवा माइकेल, गिरीशचन्द्र, इलियट आदि से प्रेरणा प्राप्त की है वे आदर्श हो सकते हैं, किन्तु मैंने अभी तक की नाटय रचनाओं में संगीतिका की शाब्दिक सार्थकता को लक्ष्य करते हुए जैसे गेय पदों ही क्यों, परिसंवादों के लिए भी अन्त्यानुप्रासों की अनिवार्यता-सी स्वेच्छया स्वीकृत की है। जिन्हें पूर्वाग्रहवश इनमें अस्वा-भाविकता की प्रतीति हो, उनसे मेरा निवेदन होगा कि अत्यधिक स्वाभाविकता

तो ठेठ गद्य नाटकों में ही सुरक्षित रह सकती है, संगीतिका के अपने आयाम और सीमाएँ हैं।

प्रगीत काव्य के सम्बन्ध में मेरा यह विचार रहा है कि जिसको संगीत का ज्ञान न हो, उसे गीत नहीं लिखने चाहिए। भारत के दो महान् गीतकार हिन्दी के सूर और बंगला के रवीन्द्र स्वयं संगीतज्ञ भी थे और इसीलिए इन दोनों के पद करोड़ों व्यक्तियों के कंठों में विराजमान हैं। 'पाषाणी' के कवि को भी संगीत का ज्ञान है और उनकी संगीतिकाओं में जहाँ कहीं भी गीत आए हैं, उनकी स्थिति और रस के अनुसार राग रागिनियों की व्यवस्था की गई है। इस सम्बन्ध में कवि ने स्वयं लिखा है : यथास्थान जो गीत आए हैं, उनमें राग रागिनियों की अनुरूपता सन्धेय है। प्रातः, मध्याह्न सायंकाल अथवा रात्रि के किसी प्रहर में जिस राग या रागिनी का स्वर सौंदर्य वातावरण के रन्ध्र-रन्ध्र को भरता, ऋतुजनित उच्छ्वास-उल्लासों को प्रखर करता है, उसका सम्यक् प्रयोग मैं कर सकूँ, इसकी प्रबुद्ध अप्रबुद्ध चेष्टा रही है। राग के स्वर जिस रस की ओर इंगित करते हैं, मेरे गीत के शब्द उसे ही मूर्त करने के प्रयासी रहे हैं। गीत संगीत की पृथक्-पृथक् दिशाएँ मुझे प्रिय नहीं हैं।

अपनी संगीतिकाओं में शास्त्री जी ने स्थिति और पात्र के अनुरूप भाषा-शैली का भी व्यवहार किया है। 'उर्वशी' नामक रचना में, पुरूरवा के विरह में उन्मना उर्वशी, जब मन्दार की छतनार छाँह में अकेली गुनगुनाती है, सरल-सरस शैली में ये पंक्तियाँ फूटती हैं।

क्या जिलाया था मुझे, इस भाँति करने के लिए ?
तन किया था मुक्त, मन को विवश करने के लिए ?
स्वाद जीवन का मिला, जब थे मिले उस बार तुम,
फिर मिली, इस बार मैं तैयार मरने के लिए।
कह रही हूँ, काल भी मुझको बचा सकता नहीं,
तुम कहीं आओ स्वयं इस बार हरने के लिए !

हिन्दी में गजल लिखने के शौकीन इन पंक्तियों पर ध्यान दें।

इसी संगीतिका में शैली का दूसरा रूप देखिए। विरहाकुल उर्वशी, गुरुदेव भरत मुनि के आदेश से, बलपूर्वक मंच पर लाई जाती है""लक्ष्मी स्वयंवर में लक्ष्मी का नृत्य अभिनय करने के लिए, पर मन पर काबू न होने

से पैर भी बेकाबू हो रहे हैं और पदचाप ताल का उल्लंघन करती है। भरत मुनि क्रुद्ध होते हैं और कहते हैं :

चरण कहाँ पड़ते हैं, जाते किधर हैं नयन !
सावधान उर्वशी, आज तू उन्मन उन्मन !!
आज कपोतांजलि तक तुझसे नहीं बन रही !
बाहें लचतीं नहीं, झूलकर तुरत तन रही !!
रणन-झनन नूपुर करते सुर ताल-बद्ध क्या ?
चरण कमल जम्बाल जाल से हुए नद्ध क्या ?
शंख-चक्र की मुद्राएँ भी तो अशुद्ध हैं !
पद्म बने जैसे-तैसे, पर अप्रबुद्ध है !!

और फिर,

ये सुडौल सुघटित अवयव प्रत्यंग तरंगित,
दीर्घ नयन रस भाव भरित निर्मल श्यामल सित,
यह उभार सौंदर्य सार, लावण्य धार यह,
अर्पित यदि न कला को, तब शृंगार भार यह।

भरतमुनि के संवाद में, उनकी स्थिति के अनुरूप शैली का प्रयोग तो है ही, नृत्य की मुद्राओं का भी सुन्दर वर्णन आ गया है।

शास्त्री जी की कवित्व शक्ति और नाट्य एवं संगीत कला के ज्ञान के समन्वय से 'पाषाणी' की संगीतिकाएँ हिन्दी मंच के लिए और काव्य-रसिकों के लिए बड़ी सुन्दर बन गई है।



(१९६० ई०, 'पटना आकाशवाणी' के सौजन्य से)

छायावादी भाव-धारा के भगीरथ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

□ श्री उमाशंकर

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री प्रयोगों के अति बौद्धिक युग में भी अपने अभिजात पाण्डित्य एवं महार्घ प्रतिभा से शास्त्रीय परम्परा के प्रबल आग्रही हैं। कवि के रूप में वे जागरूक चेतना के सांस्कृतिक छायावादी हैं। इनके सम्बन्ध में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने कहा है कि प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के बाद छायावादी धारा के कवियों में इन्हीं का स्थान है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की काव्य-साधना का प्रारम्भ संस्कृत से हुआ है, अतः इनकी हिन्दी काव्य-कृतियाँ भी प्रायः सांस्कृतिक आभिजात्य से संवेष्टित हैं। आज कविता में नये प्रयोगों के युग में भी कवि अपने संस्कारों की रक्षा में सजग है–उन पर पंत जी जैसा समय का राजनैतिक प्रभाव प्रायः नहीं पड़ा है। इसका यह अर्थ नहीं कि कवि युग चेतना के साथ सम्वेदनशील नहीं है। कवि की कविताओं में जीवन की अनुभूतियों एवं शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति के साथ-ही-साथ युग-सम्बद्ध सामाजिक राजनैतिक गति-विधियों की यथार्थता के भी चित्र मिलते हैं। इसका एक मात्र कारण यह है कि कवि अपनी काव्य-साधना में किसी सिद्धांत विशेष की ओर प्रवृत्त नहीं हुआ है–सिद्धान्तों को भलें ही इन्होंने तटस्थ द्रष्टा की तरह देखा-परखा है।

शास्त्री जी ने मुक्तक एवं प्रबन्ध दोनों प्रकार के काव्यों की रचना की है। इन रचनाओं में कवि का शास्त्रीय ज्ञान जितना ही जागरूक रहा है,

उतनी ही जागरूक इनकी कवि-प्रतिभा भी रही है। इसीलिए आलोचकों के द्वारा छायावाद के स्तम्भ कवियों प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के साथ पाँचवाँ नाम इन्हीं का जोड़ा जाता है। इन्होंने कथा-काव्य तथा वस्तुनिष्ठ कविताएं भी लिखी हैं, किन्तु मात्रा और परिमाण में इनसे अधिक आत्मनिष्ठ प्रगीत काव्यों की रचना की है। इनकी कविताएँ संगीत की सुरभि-सुषमा से सिक्त हैं—प्रायः सभी की सभी सुमधुर सुर की झंकार से मुखरित; इसीलिए इनका अधिक आदर एवं सत्कार एक सर्वश्रेष्ठ गीतकार कवि के रूप में हुआ है। इनकी अद्यतन कृति 'पाषाणी' में इनकी कविता और संगीत के माधुर्य्य की दीप्ति विशेषकर देखने योग्य है। यह इनकी सर्वश्रेष्ठ कृति है और कदाचित् हिन्दी के गीति-नाट्य को सर्वप्रथम अनुपम देन।

भारतेन्दु के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उनमें जन्म-जात कवित्व-प्रतिभा थी, शास्त्री जी के सम्बन्ध में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। अल्पवय में ही शास्त्राचार्य की उपाधि से सम्मानित होनेवाला व्यक्ति किस तरह की विलक्षण प्रतिभा एवं शक्ति का होगा, इसका केवल अन्दाज ही किया जा सकता है। सन् १९३२ से ही कवि ने संस्कृत में काव्य-रचना शुरू किया था। सन् १९३५ में 'काकली' नामक–गीति-काव्य प्रकाशित कराया। काकली संस्कृत काव्य की परम्परा में भाव और भंगी की दृष्टि से एक नया प्रतिमान उपस्थित करती है। कवि की प्रसिद्धि का कारण भी यह बनी। इसमें कवि ने प्राचीन शैली के श्लोकों के साथ-ही-साथ नयी शैली में गीतों का निर्माण किया है। इन गीतों में भावों की सुकुमारता के साथ-ही-साथ अभिव्यक्ति में ध्वन्यात्मक अलंकार और गति में सहज प्रवाह विशेष द्रष्टव्य है। यद्यपि काकली लेखक की काव्य प्रतिभा का प्रथम परिचय प्रस्तुत करती है, उसे मैं वासन्तिक काव्य-लतिका की प्रस्फुटनोन्मुख कली कह सकता हूँ, फिर भी उसमें ही कवि के भविष्य का अलोक-लोक बसा हुआ है। काकली के प्रकाशन के बाद कवि की लेखनी से बहुत अधिक संस्कृत भाषा में एक-सी-एक उच्चकोटि की कविताएँ लिखी गयीं। अभी उनका संग्रह प्रकाश में नहीं आया है। वे सभी कविताएँ कवि की हिन्दी में एक सुदृढ़ आधार लेकर एकाएक उपस्थित होने की भूमिका थी।

१९३९ ई० में एक सौ गीतों का संग्रह 'रूप-अरूप' के नाम से कवि ने हिन्दी को समर्पित किया। हिन्दी में 'रूप-अरूप' कवि की प्रथम काव्य-कृति है। इसमें कवि ने भिन्न-भिन्न आकृति-प्रकृति के गीतों का संचयन किया है। उनमें कुछ गीत प्रार्थना परक हैं, तो कुछ गीत प्रकृति परक हैं। कुछ गीतों के

विषय प्रेम हैं तो कुछ गीत विशुद्ध सौन्दर्यिक दृष्टि से लिखे हुए हैं। कुछ में दार्शनिक भावों की भी अभिव्यक्ति है। सब मिलाकर कवि की चेतना की परिधि रूप-अरूप में संकुचित नहीं कही जा सकती। उसमें कवि की दृष्टि का विस्तार सहज ही आँका जा सकता है। रूप-अरूप के सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने बड़े ऊँचे स्वर में कहा है–"कहना न होगा कि विकासशील संस्कृति की यही प्रतिनिधिवाणी है।" कवि सम्राट् पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी इनकी इस कृति से प्रभावित होकर इसपर अपनी सम्मति दी थी—"श्रीमान् जानकीवल्लभ शास्त्री प्रणीत 'रूप-अरूप' नामक काव्य-पुस्तिका मैंने देखी। वे संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् हैं फिर भी उनको हिन्दी भाषा की ममता है, और उसमें सुन्दर काव्य रचना कर सकते हैं, यह देखकर मुझको हर्ष हुआ। उनकी प्रवृत्ति छायावादी कविता की ओर है, परन्तु उन्होंने कविता को जटिलता से बचाया है, और प्रसाद गुण की ओर ही उनकी समधिक दृष्टि है। कहीं-कहीं संस्कृत की कोमल काव्य पदावली से ही उनकी कविता विभूषित है। हिन्दी संसार में उनके ग्रंथ का निश्चय ही आदर होगा।" डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इनके 'रूप-अरूप' के साहित्य, संगीत और दर्शन से प्रभावित होकर लिखा है—"इनके छन्दों की गति और उनका प्रवाह हमें बताता है कि हिन्दी कविता में एक नयी शक्ति जाग्रत है। 'टेकनिक' के मामले में 'रूप-अरूप' विशेष आकर्षक है।……… हमें विश्वास है कि आगे चलकर आपकी भावना और प्रौढ़ होगी और हिन्दी को आप पर गर्व होगा।" कहना न होगा कि रूप-अरूप में ही भाषा, छन्द और वस्तु की विविधता में अनुभूति और अभिव्यक्ति की कितनी दिशाएँ संकेतित हैं।

रूप-अरूप के बाद १९४५ ई० में कवि का 'तीर-तरंग' प्रकाशित हुआ। इसमें कवि के ९५ गीत संग्रहीत हैं। जहाँ रूप-अरूप का कवि अधिक काल्पनिक है, वहाँ तीर-तरंग में वह यथार्थता की ओर झुका हुआ दृष्टिगत होता है। तीर-तरंग का वातावरण भी अधिक मानवीय है। काव्यकला की परिष्कृति इसमें विशेष द्रष्टव्य है। कवि ने स्वयं इसके सम्बन्ध में लिखा है—"अन्तरंग की कुछ जड़-चेतन प्रवृत्तियों की प्रतिच्छाया है। ……मेरे जीवन की करुणा क्रमहीनता उसके गीतों में यथाक्रम प्रतिबिंबित हो गई है; इसलिए यह आश्वासन मुझे अनायास प्राप्त हो सकता है कि तीर-तरंग जीवन संगीत है।………इस संग्रह में भक्ति, अध्यात्म के साथ प्रेम और शृंगार के गीत हैं।' रूप-अरूप में कवि मानो निर्माण की अवस्था में था, अतः वहाँ प्रदर्शन का आग्रह कुछ अधिक हो सकता है किन्तु तीर-तरंग में आकर वह जैसे शान्त हो

विषय प्रेम हैं तो कुछ गीत विशुद्ध सौन्दर्यिक दृष्टि से लिखे हुए हैं। कुछ में दार्शनिक भावों की भी अभिव्यक्ति है। सब मिलाकर कवि की चेतना की परिधि रूप-अरूप में संकुचित नहीं कही जा सकती। उसमें कवि की दृष्टि का विस्तार सहज ही आँका जा सकता है। रूप-अरूप के सम्बन्ध में आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने बड़े ऊँचे स्वर में कहा है–"कहना न होगा कि विकास-शील संस्कृति की यही प्रतिनिधिवाणी है।" कवि सम्राट् पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने भी इनकी इस कृति से प्रभावित होकर इसपर अपनी सम्मति दी थी—"श्रीमान् जानकीवल्लभ शास्त्री प्रणीत 'रूप-अरूप' नामक काव्य-पुस्तिका मैंने देखी। वे संस्कृत के अद्वितीय विद्वान् हैं फिर भी उनको हिन्दी भाषा की ममता है, और उसमें सुन्दर काव्य रचना कर सकते हैं, यह देखकर मुझको हर्ष हुआ। उनकी प्रवृत्ति छायावादी कविता की ओर है, परन्तु उन्होंने कविता को जटिलता से बचाया है, और प्रसाद गुण की ओर ही उनकी समधिक दृष्टि है। कहीं-कहीं संस्कृत की कोमल काव्य पदावली से ही उनकी कविता विभूषित है। हिन्दी संसार में उनके ग्रंथ का निश्चय ही आदर होगा।" डॉ० प्रकाशचन्द्र गुप्त ने भी इनके 'रूप-अरूप' के साहित्य, संगीत और दर्शन से प्रभावित होकर लिखा है—"इनके छन्दों की गति और उनका प्रवाह हमें बताता है कि हिन्दी कविता में एक नयी शक्ति जाग्रत है। 'टेकनिक' के मामले में 'रूप-अरूप' विशेष आकर्षक है।……… हमें विश्वास है कि आगे चलकर आपकी भावना और प्रौढ़ होगी और हिन्दी को आप पर गर्व होगा।" कहना न होगा कि रूप-अरूप में ही भाषा, छन्द और वस्तु की विविधता में अनुभूति और अभिव्यक्ति की कितनी दिशाएँ संकेतित हैं।

रूप-अरूप के बाद १९४५ ई० में कवि का 'तीर-तरंग' प्रकाशित हुआ। इसमें कवि के ९५ गीत संग्रहीत हैं। जहाँ रूप-अरूप का कवि अधिक काल्पनिक है, वहाँ तीर-तरंग में वह यथार्थता की ओर झुका हुआ दृष्टिगत होता है। तीर-तरंग का वातावरण भी अधिक मानवीय है। काव्यकला की परिष्कृति इसमें विशेष द्रष्टव्य है। कवि ने स्वयं इसके सम्बन्ध में लिखा है—"अन्तरंग की कुछ जड़-चेतन प्रवृत्तियों की प्रतिच्छाया है। ……मेरे जीवन की करुणा क्रमहीनता उसके गीतों में यथाक्रम प्रतिबिंबित हो गई है; इसलिए यह आश्वासन मुझे अनायास प्राप्त हो सकता है कि तीर-तरंग जीवन संगीत है।………इस संग्रह में भक्ति, अध्यात्म के साथ प्रेम और शृंगार के गीत हैं।' रूप-अरूप में कवि मानो निर्माण की अवस्था में था, अतः वहाँ प्रदर्शन का आग्रह कुछ अधिक हो सकता है किन्तु तीर-तरंग में आकर वह जैसे शान्त हो

गया है; अभिव्यक्ति में सहजता का सहज आग्रह जैसे कवि की तूलिका थामे हुआ है तभी इनकी सभी-की-सभी कविताओं में चित्रात्मकता एक साथ घुली-मिली हैं। काव्य में चित्र और संगीत का स्थान कला में प्राण फूँकनेवाला माना जाता है। काव्य में जिसे व्यक्त करने में कठिनाई होती है, उसे कवि कलाकार चित्र और संगीत के समावेश द्वारा सहज सिद्ध कर देता है। विश्व-वन्द्य कवीन्द्र रवीन्द्र ने कहीं लिखा है—"वाणी के द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्र के द्वारा कहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त छन्दों में, शब्दों में, वाक्यविन्यास में काव्य को संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। जिसे किसी भी प्रकार नहीं कहा जा सकता उसे संगीत के द्वारा ही कहना पड़ता है। जो वस्तु अर्थ का विश्लेषण करने पर अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, वही संगीत के द्वारा असामान्य हो जाती है। अतएव चित्र और संगीत ही काव्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और संगीत भाव को गति प्रदान करता है। चित्र देह है और संगीत प्राण हैं।" 'तीर-तरंग' में कवि की ऐसी ही विलक्षण प्रतिभा का रूप देखने में मिलता है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कवि की जन्म-जात काव्य-शक्ति यहाँ आकर प्रसरणशील हो गयी है, उसे दृढ़ आधार मिल गया है। वह जीवन का सहज द्रष्टा बन गया है जो जीवन के विविध मूल्यों का निरूपण कहीं चित्रों में, तो कहीं ध्वनियों में कर रहा है।

सन् १९४४ ई० में कवि की 'गाथा' प्रकाशित हुई। यह कवि की इनके पूर्ववर्ती काव्य की परम्परा से सर्वथा भिन्न प्रकार की रचना है। यह व्यंग्य कथा-काव्य है। अंग्रेजी में इस प्रकार के काव्य की प्रचुरता है। हिन्दी में अबतक शायद ऐसी रचनाओं का नितान्त अभाव ही है। इसमें, वैयक्तिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक सभी प्रकार के व्यंग्य हैं। कबीरदास जी अपनी व्यंग्योक्तियों में सिद्धहस्त थे। किन्तु उनके व्यंग्यों में कुछ चुभन है, विनोद नहीं। व्यंग्य में चुभन होता है किन्तु उसे कुछ-कुछ विनोद का पुट लिये होना चाहिए। शास्त्रीजी के व्यंग्य हमें उद्विग्न नहीं करते किन्तु असंगतियों एवं ढोंगों पर सोचने के लिए रोकते हैं। 'गाथा' कविता सर्वथा प्रयोगात्मक काव्य है। 'गाथा' के सम्बन्ध में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है—"जानकीवल्लभ को भी मनुष्य के किसी वर्ग विशेष के ही नहीं, प्रत्युत मनुष्य मात्र के अभाव, पीड़ा या दुर्बलता से सजग और संयत सहानुभूति है। यह सहानुभूति उस नासमझ माँ की नहीं, जो बीमार बच्चे की तकलीफ कम करने के लिए कुपथ्य दे देती है, न आँसू बहानेवाले स्त्रैणभावुक की है। इस सहानुभूति में, जरूरत पड़ने पर, कड़वी दवा और नस्तर का भी उपयोग

हुआ है। गाथा के व्यंग्य जिन्हें ऐसे मालूम हों, उन्हें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि उनका सदुद्देश्य भी है।.........जानकीवल्लभ की लेखनी के स्पर्श से कविता के लिए त्याज्य विषय ही नहीं, कितने ही अभिशप्त शब्द भी उद्धार पा गये हैं।" 'गाथा' का छन्द-शिल्प हिन्दी के पद्य कौशल की चरम प्रौढ़ता का द्योतक है। इसमें कवि ने देहाती शब्दों का भी खुलकर प्रयोग किया है। आभिजात्य, शील, मर्य्यादा आदि की मरम्मत तो 'गाथा' में की ही गयी है, साथ-ही-साथ इसमें व्यंग्यवाणों की भी धड़ल्ले से वर्षा की गयी है।

सन् १९४५ में 'शिप्रा' का प्रथम संस्करण निकला था, फिर इसका दूसरा संस्करण १९५० और तीसरा संस्करण १९५७ में प्रकाश में आया। संस्करणों की इन आवृत्तियों से स्पष्ट है कि हिन्दी जगत् ने 'शिप्रा' का समादर किया है। वस्तुतः शिप्रा कवि की काव्य-प्रतिभा के विकास की नयी तथा विस्तृत भूमि है। तृतीय संस्करण में कवि की इक्यावन कविताएँ संगृहीत हैं। ये कविताएँ भाव-शिल्प एवं कलाशिल्प दोनों ही दृष्टियों से विविधता का अपूर्व सामंजस्य प्रस्तुत करती है। विविधता इस अर्थ में कि इस संग्रह में १९३५ से लेकर १९५७ तक की कविताएँ हैं—ऐसी विविधता नहीं जैसी हमें इनके 'रूप- अरूप' और 'तीर-तरंग' के बाद गाथा में प्राप्त होती है। 'शिप्रा' में प्रायः हरेक आकार - प्रकार तथा आकृति - प्रकृति की कविताएँ हैं। इसमें छोटे-२ भाव गीत हैं, व्यंग्यात्मक कविताएँ हैं तथा विचारोत्तेजक कविताएँ हैं। जहाँ कवि ने गीतों और छन्दोमयी कविताओं को इसमें स्थान दिया है, वहीं अतुकान्त मुक्त - छन्द का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है। भाषा की दृष्टि से इसमें किसी कविता में रूप - अरूप कालीन अलंकृति है, तो किसी कविता में भाषा बहुत अधिक व्यावहारिक है।

शिप्रा के बाद का प्रकाशन 'मेघगीत' है। इसका प्रकाशन काल १९५० ई० है। 'मेघगीत' में शास्त्री जी अपने सम्पूर्ण गीत-वैभव के साथ वर्तमान हैं। अबतक कवि की लेखनी मंजकर साफ भी हो चली थी, अतः अभिव्यक्ति की विविधता में प्राणों का रस मिला हुआ है। इसमें संगृहीत प्रायः सभी गीत आत्मा की वाणी ही हैं। गीतकाव्य की कुछ प्रमुख विशेषताएँ—तीव्र अनुभूति, आत्मतत्त्व का समावेश, भावानुकूल संगीतात्मकता, तथा उपयुक्त कला-वैभव-मेघगीत के गीतों में हैं। जीवन की सूक्ष्म अनुभूतियों के साथ चिंतन के भी स्वरूप इनके गीतों में मिलते हैं। यही कारण है कि ये हलके - फुलके भावों के गायक नहीं विराट् के संगीत-स्रष्टा हैं। शास्त्री जी को बादल बहुत ही प्रिय हैं, निराला जी के समान ही। निराला जी ने भी बादल - राग

नाम से कितनी ही कविताएँ लिखी हैं। शास्त्री जी ने तो संग्रह ही तैयार कर दिया है। ऐसे तो बादल पर पंत की भी एक कविता है, परन्तु वह बिलकुल रूमानी - प्रकृति की कविता है। जीवन के साथ सम्बन्ध की बादल पर कविताएँ निराला जी की हैं। शास्त्री जी ने निराला का अनुसरण किया है, पंत का नहीं, अपने मेघ परक गीतों-में। शास्त्री जी ने अपने मेघगीत की पार्श्विका में शृंगार के संयोग, वियोग तथा प्रेम की विभिन्न मनःस्थितियों का चित्रण तो किया ही है, प्रतीक- पद्धति से सामाजिक तथा राजनैतिक अनाचार पर व्यंग्य भी किया है। मेघगीत के गीत शास्त्री जी की गीतात्मक कला के विकास की शिखरभूमि हैं।

मेघगीत के बाद 'अवन्तिका' का प्रकाशन काल १९५३ ई० है। यह काव्य – संग्रह शास्त्री जी की विशिष्ट कृतियों में अन्यतम है। इसमें कवि ने ३४ से लेकर ५१ तक की ५४ कविताएँ दी हैं। प्रत्येक कविता का अपना महत्त्व एवं व्यक्तित्व इसी संग्रह में विशेष द्रष्टव्य है। विषय की विविधता, अभिव्यक्ति की अनेक-भंगिमाएँ इस संग्रह की महान् विशेषता कही जा सकती है। इसमें विधवा, शीर्षकहीन वन्दी कीर, शिखण्डी के वाण, जट्टू चाचा, मुंशी, आजका आदमी जैसी करुणा और व्यंग्यपूर्ण कविताओं के साथ ही साथ अवन्तिका, सुजाता, महादेवी महीयसी, चण्डिदास क प्रति, जैसी उदात्त भावनाओं की कविताएँ भी हैं। चुनौती, मदायतं तु पौरुषम् और १५ अगस्त इक्यावन अपने में महान् कहाने योग्य कविताएँ भी इसी संग्रह में हैं। सब मिलाकर इन कविताओं के विषय शास्त्री जी के गूढ़तम वेदांत ज्ञान, आधुनिक जीवन की विषमताओं से क्षुब्ध मानसिक चिंतना, मानव-जीवन के मूल्याङ्कन के नए प्रतिमान, सामाजिक असंगतियों पर निर्मम प्रहार तथा जीवन के शाश्वत आदर्श के उद्घाटन आदि हैं। इसमें प्रकृति और प्रेम की, चिंतन और सहानुभूति की मर्म को छूनेवाली गीत-कविताएँ भी हैं। आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने अवन्तिका पर अपना अभिमत देते हुए लिखा है…… शास्त्रीजी की उपलब्धि तो एक दूसरे ही कारण से मूल्यवान है। वह कारण है 'अवन्तिका' की कविताओं का जटिल, पर सफल संघटन। पद्य रचना के छन्द, भाषा आदि विभिन्न उपकरणों के परिष्कार में दत्त-चित्त छायावादियों ने कुछ इस ओर ध्यान ही नहीं दिया था। निराला को छोड़ कर शेष तीनों महान् छायावादियों की रचनाओं में उस संघटन का अभाव है जिसके कारण

विभिन्न तत्त्वों के द्रव में ढली परिपूर्ण कलाकृति बन जाती है और उसके विभिन्न तत्त्वों का विश्लेषण कठिन हो जाता है।

कविता में कल्पना के लिए जिस एकीभाव गुण की अनिवार्यता कालरिज ने प्रमाणित की थी, उसे न केवल कल्पना प्रत्युत अन्य सभी तत्त्वों के लिए, व्यापक रूप से, आवश्यक बताते हुए एलियट ने समन्वित सम्वेदनशीलता का सिद्धांत प्रतिपादित किया है। शास्त्रीजी की अनेक कविताओं में जो दुर्लभ परिपूर्णता है वह इस समन्वित सम्वेदनशीलता के कारण ही। उनमें युग के आवर्त-निर्वत, अपना गहन चिंतन, मार्मिक अनुभूति, साधना तक पहुँचा हुआ शास्त्राभ्यास, अनुवर्त्तिनी भाषा, इन सभी की वह समन्वित चेतना है जिसे मर्मज्ञ आसानी से समझेंगे और अरसिक नहीं समझ सकने के कारण निराश होंगे।" निश्चय ही अवन्तिका की कविताएँ, प्रतिपाद्य विषय, अभिव्यक्ति कौशल, भाषा का काव्यानुकूल रूप इन - सब की विविधता एवं विशदता के कारण महाकाव्य की कोटि में रखी जा सकती हैं। अवन्तिका निश्चय ही हिन्दी संसार में एक अभिनंदनीय संग्रह है।

'पाषाणी' शास्त्री जी की हाल की कृति है। यह एक गीति-नाट्य है, और हिन्दी संसार को गीतिनाट्य के क्षेत्र में प्रथम उपहार। इसका प्रकाशन १९५९ में हुआ है और अल्प समय में ही इसने हिन्दी के मर्मज्ञ विद्वानों को अपने कला-वैभव से मन्त्र-मुग्ध कर लिया है।

ऊपर की पंक्तियों में मैंने शास्त्रीजी के काव्यों का वस्तु-निर्देश मात्र किया है, उनके प्रकाशन काल के क्रम में। शास्त्रीजी की दर्जनों अप्रकाशित काव्य-कृतियाँ इस यंत्र युग में भी यन्त्रस्थ होने से वंचित हैं। उनके प्रकाश में आ जाने पर शास्त्रीजी की कवि - प्रतिभा एवं क्षमता का मूल्याङ्कन हो सकेगा। फिर भी उनकी जितनी भी काव्य-पुस्तकें प्रकाश में आ गई हैं उन की वस्तु एवं कला की सूक्ष्मता को देखते हुए मुझे भी आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की पंक्तियाँ दुहराने का लोभ हो उठा है। प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के बाद हिन्दी कविता की निर्झरिणी समतल भूमि पर प्रवाहित होने लगी और अनेक धाराओं में। इनमें से जिस सदानिरा-धारा ने तट-तरु का उच्छेद किये बिना अपने को उर्वर और स्निग्ध बनाया, दिशाओं को अपनी कलध्वनि से मुखरित किया, वह स्रोत से कभी विच्छिन्न भी नहीं हुई। इस धारा के भगीरथ आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हैं। यदि प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के बाद मुझ से हठात् पाँचवाँ नाम लेने को कहा जाय तो

वह नाम शास्त्रीजी का ही होगा। बहुत माथा खुजलाने के बाद भी पाँचवाँ नाम यही रहेगा ऐसा मेरा विश्वास है।" डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी प्रायः कुछ ऐसा ही कहा है "श्री जानकीवल्लभ शास्त्री के समान सुदृढ़ साहित्यिक आधार और विशाल सांस्कृतिक परम्परा विरले ही को प्राप्त होगी।"

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री आज के हिन्दी-जगत् के महान् कवि हैं, ऐसा विचारने और कहने में किसी को संकोच नहीं होना चाहिए, यही एक मात्र व्यक्ति हिन्दी में वर्तमान हैं जिनकी तुलना निर्माणात्मक साहित्य की बहुरूपता को ध्यान में रखकर पाश्चात्य मनीषी कवि इलियट तथा पौरस्त्य महाकवि रवीन्द्र से कर सकते हैं। इन्होंने भी उन महान् कवियों के समान ही साहित्य के विविध अंगों को समृद्ध किया है।

(१९६०) 

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री : साहित्य-साधना के प्रथम दशक में

□ डा० आशनारायण शर्मा

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की प्रारम्भिक रचनाएँ फुटकल रूप में विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से प्रकाश में आयीं। किशोरावस्था में ही साहित्यिक प्रौढ़ि को प्राप्त इस कवि का तब मूल्यांकन कदाचित् इसलिए नहीं हो पाया कि १९३५ के पूर्व उनका कोई संकलन प्रकाश में न आया था। पत्र-पत्रिकाओं में फूटकल रूप से प्रकाशित रचनाओं का मूल्यांकन कर किसी भी साहित्यिक व्यक्तित्व के प्रति कोई ठोस अवधारणा बनाना कठिन कार्य है। इसलिए हिन्दी के समीक्षक पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित फुटकल रचनाओं को नहीं, अपितु किसी संकलन या सम्पूर्ण पुस्तक को ही अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं। मेरी अपनी मान्यता है कि किसी रचनाकार के लेखन की ठोस शुरुआत फुटकल रचनाओं से न मानकर उसकी प्रथम पुस्तक से माननी चाहिए। आलोच्य निबन्ध में मैंने आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-साधना के प्रारम्भिक दस वर्षों में आनेवाली रचनाओं को ही अपनी विचार-सीमा में रखा है।

काव्य :—उनकी साहित्य-साधना के प्रथम दशक का प्रथम वर्ष है—१९३५ ई०। इसी वर्ष उनकी प्रथम काव्य कृति 'काकली' प्रकाशित हुई थी। यह संस्कृत में लिखी गयी सैंतीस फुटकल कविताओं का एक संकलन है। विस्मय की बात तो यह है कि तब कवि की उम्र १९ वर्ष की थी। किन्तु 'काकली' में भाव और भाषा; शिल्प और चेतना की ऐसी विदग्ध एवं प्रौढ़ अभिव्यक्ति हुई है कि हिन्दी के कुछ महाकवि एवं आलोचकों को इन्हें अभिनव-जयदेव की उपाधि देनी पड़ी। शायद इसलिए कि 'काकली' की भाषाशैली जयदेव की भाषा शैली है और उसमें 'गीत-गोविन्द'-सा माधुर्य है। माना कि 'गीत-गोविन्दकार' की भाँति कवि की भावना राधा और कृष्ण की कथा

मात्र पर आधारित नहीं है और न 'काकली' की रचनाओं में शृंगार रस की प्रधानता है, परन्तु भाषा शैली एवं माधुर्य की दृष्टि से 'काकली' पूर्णत: 'गीत-गोविन्द' के निकट है। इस दृष्टि से कवि को 'अभिनव-जयदेव' कहा जाना समुचित है। इसके गीतों में भागवत विविधता है। सारे गीत प्रकार की दृष्टि से एक नहीं हैं। इसमें भक्तिगीत,दार्शनिक गीत, बौद्धिक गीत, उपदेशात्मक गीत, प्रेम-प्रधान गीत एवं प्रकृति गीत सन्निहित हैं। 'काकली' के गीतों की यही विविधता महाकवि शास्त्रीजी को जयदेव से विलग कर देती है। जयदेव शृंगार की धरती पर भक्ति का भवन खड़ा करते हैं। 'काकली' का कवि विविध भावनाओं को विभिन्न गीतों में उनकी भाषा शैली में बाँधता है। हाँ, माधुर्य का प्रवाह आदि से अंत तक विद्यमान है। 'काकली' पढ़ने के पहले पाठक को दाँत और जीभ साफ करने की आवश्यकता पड़ती है। बुद्धि को केन्द्रित करना पड़ता है तभी कविताएँ शुद्ध रूप में पढ़ी जा सकती हैं। इसका कारण यह है कि 'काकली' में संस्कृत के कुछ अप्रचलित धातुओं से बने शब्द प्रयोग में आए हैं। फलत: सामान्य रूप से आचार्य आदि डिग्रीधारी व्यक्तियों को पढ़ने एवं अर्थ तक पहुँचने में कठिनाई होती है। दूसरा कारण यह भी है कि 'काकली' के गीतों में अतिशय सामासिक शब्द एवं अनुप्रास योजना की प्रधानता है। 'काकली' का कवि धरती से आकाश तक, सरोवर से समुद्र तक देखता है और दिशाओं के चकाचौंध से भी परिचित है। फलत: यह कहा जा सकता है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के बहुआयामी व्यक्तित्व का बीज 'काकली' में ही दीखता है। 'काकली' मूलत: गीतिकाव्य है। विविध विषयों पर लिखी गयी कविताएँ अथवा यों कहें कि इस पुस्तक के गीतों की भावात्मक विविधता महाकवि के बहुआयामी व्यक्तित्व का प्रतीक है। 'काकली' के अतिरिक्त संस्कृत में उनकी अन्य चार रचनाएँ भी है—'बन्दी मंदिरम्, ''लीला पद्मम्, 'सा' और प्राच्य साहित्यम्'। किन्तु ये अभी अप्रकाशित हैं। प्रकाशन के पश्चात् इनका प्रथम दशक की रचनाओं के साथ ही विवेचन किया जाएगा।

'रूप-अरूप' महाकवि का दूसरा काव्य संकलन है। इसके दो उपखण्ड हैं। प्रथम, तनिमा (रूप) है, जिसमें १९३५-३७ तक के ५० गीत संकलित हैं। दूसरा, नीलिमा (अरूप) है, जिसमें १९३८-३९ तक के ५१ गीत संकलित हैं। गीतों की कुल संख्या १०१ है। उनका तीसरा काव्य संकलन 'तीर तरंग' है, जिसका प्रकाशन सन् १९४४-४५ में हुआ था। इसमें कुल ८३ गीत

संकलितहैं । चौथा काव्य संकलन 'गाथा' है, जिसका प्रकाशन सन् १९४४ में हुआ था । इसमें छह कविताएँ संकलित हैं । प्रथम दशक के अंतिम काव्य-संकलन का नाम 'शिप्रा' है, जिसका प्रकाशन १९४५ में हुआ था । इसके प्रथम संस्करण में केवल १६ कविताएँ थीं, किन्तु जब १९५० में इसका द्वितीय संस्करण निकला तो इसमें ३३ (तैंतीस) कविताएँ आई । फिर तृतीय संस्करण १९५७ में ५१ कविताओं के साथ प्रकाशित हुआ ।

मेरी दृष्टि में 'रूप अरूप' और तीर-तरग' एक सरोवर में विकसित दो कमल हैं । इनमें रंगगत कोई भेद नहीं है । यह नहीं कहा जा सकता कि एक नील कमल है और दूसरा लाल कमल । दोनों कमलों के आकर, रूप, रस, गंध में कुछ अंतर होने के बावजूद 'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' एक सिक्के के दो पहलू हैं । इन दोनों रचनाओं के गीतों पर महाकवि निराला के गीतों का प्रभाव है–लोग ऐसा कहते हैं । मैंने निराला की समस्त रचनाओं का अध्ययन किया है और डा० राम विलास शर्मा द्वारा निराला पर लिखे गए 'महाभारत' के सभी भागों का भी । अपनी सीमा में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साहित्य का भी अध्ययन किया है । लोग इन्हें 'निराला पंथी' कहते हैं । मैं इन्हें पूर्णत: 'निराला पंथी' नहीं मानता । वेदांत के अनुयायी दोनों के दार्शनिक गीतों में वेदांत के स्वर हैं । दोनों में लय के प्रति आग्रह हैं । दोनों में संगीत के प्रति समान आस्था है, किन्तु भाषा, भाव, माधुर्य एवं अभिव्यंजना की दृष्टि से दोनों कवियों की रचनाओं में बहुत भिन्नता है । व्यक्तित्व भी दोनों के भिन्न रहे । एक में शालीनता और दूसरे में इसका अभाव देखा गया । एक में परिधि, दूसरे में मुक्तता देखी गयी । किसी के साहचर्य में जाकर कोई वही नहीं बन जाता, जिसके साहचर्य में वह गया है । निराला ने आचार्य शास्त्री को संस्कृत से ही हिन्दी में लाया । आचार्य उनके साहचर्य में रहे, शिष्यत्व स्वीकार किया, किन्तु ये निराला से बहुत बातों में भिन्न हैं । निराला के साहित्याकाश में सूर्योदय के साथ सूर्यास्त के भी दृश्य हैं, किन्तु आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के साहित्य में एक लंबी अवधि के पश्चात् भी सूर्यास्त नहीं दीखता । यही स्थिति महाकवि पंत के काव्य की भी है ।

'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' की रहस्यात्मक व्याख्या भी सम्भव है । 'रूप का अर्थ है—सृष्टि—आकार और 'अरूप' का अर्थ निराकार—ईश्वर । इसी तरह 'तीर' का अर्थ है—किनारा, धार और तरंग का अर्थ है—वीचि,

लहर। विश्व ईश्वर की सृष्टि है, संसार की समस्त दृश्य वस्तुएँ विधाता की देन हैं। अंततः वे आकार खोकर उसी में विलीन हो जाती हैं, जहाँ से उनका आगमन हुआ था। स्थिति कबीर वाली है—

जल में कुंभ कुंभ में जल है बाहर भीतर पानी।
फुटे कुंभ जल जलहिं समानी यह सब बुझय ग्यानी।।

'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' के गीतों में दार्शनिक गीतों की संख्या अधिक है। ऐसे गीत वेदांत दर्शन की सीमा में आते हैं। प्रकृति-परक एवं प्रेम परक गीतों की भी कमी नहीं है। कुछ ऐसे भी गीत हैं, जो मानव जीवन की वेदना, पीड़ा का संभार लेकर चले हैं। ऐसे गीतों पर कवि के व्यक्तिगत जीवन के दर्दीले क्षणों का प्रभाव है। सच्चाई यह है कि इन दोनों रचनाओं में मूलतः चार प्रकार के गीत हैं :—प्रकृति गीत, प्रेमगीत, दार्शनिक गीत एवं वेदना गीत। सबसे प्रशंसनीय बात यह है कि लय एवं ताल में बंधे ये गीत अत्यंत कोमल एवं मधुर लगते हैं। सुलझी हुई अभिव्यंजना भाव का मर्म खोलकर रख देती है। गीतों की सरसता जीवन-मरु में पीयूष-कण की वर्षा करती है। मनोहरता, कोमल एवं सरसता इनके प्राण हैं। दार्शनिक गीत दर्शन से बोझिल नहीं होने के कारण सर्व ग्राह्य हैं। प्रकृति-गीतों में प्रकृति सामने खड़ी हो जाती है और उसका आकार रूपायित होने लगता है। प्रेमगीतों के अध्ययन से हृदय के सोये सारे तार झंकृत हो उठते हैं। गीत रचना की दृष्टि से आचार्य शास्त्री को बहुत सफलता मिली है। कुछ गीत तो ऐसे हैं जिनपर छायावादी संस्कार विराजता है। किसी युग का अवसान नहीं होता, उसके मूल विचार शिथिल हो जाते हैं। छायावाद की मूलधारा क्षीण हो गयी थी, लेकिन छाया तब भी विद्यमान थी। अतः इन दोनों रचनाओं पर छायावाद की कोमल छाया भी विराजमान है। यदि इन गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद कर दिया जाय और अंग्रेजी के महान् गीतकारों के गीतों के समक्ष बैठाकर तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो आचार्य शास्त्री के गीतों की महत्ता विश्व के महान् गीतकारों के गीतों से कम नहीं जँचेगी। रवीन्द्रनाथ के गीतों की तुलना में आने की सामर्थ्य भी इन गीतों में है।

'गाथा' की सारी कविताएँ वर्णनात्मक हैं। कुछ लोगों को इसकी भाषा अटपटी लगती है। यह बात जरूर है कि 'गाथा' वि ने

अपने पांडित्य का प्रयोग नहीं किया है। जैसे कोई नगर से दूर जा कर ग्राम्य-शोभा देखने को आतुर हो उठता है, वैसे ही 'काकली', 'रूप-अरूप' और 'तीर-तरंग' का कवि सौन्दर्य के संसार से एक क्षण के लिए अलग होकर खालिश सत्य को ढूँढ़ने गाँव की ओर चला जाता है। वह उपवन से जंगल में पहुँच गया है। वहाँ उसे सजे-सजाए फूलों की क्यारी नहीं, काँटेदार बबूल एवं झौए भी मिलते हैं। उसे जीवन के सत्य की सहज अनुभूति होती है। उसे भारत का नग्न रूप दिखाई पड़ता है। उसके सामने गाँवों की बेवशी नाचती है। वह देश की दुर्दशा को नजदीक से देखता है। ऐसी हालत में उसकी कला को सिर झुकाना ही पड़ेगा, साज सज्जा को दूर रखना ही पड़ेगा। 'गाथा' की भाषा इस मामले में अटपटी है कि उसमें ग्रामीण बोली के शब्दों के प्रयोग भी खुलकर किए गए हैं। लोकोक्ति और मुहावरें भी इसी तथ्य का सम्पोषण करते हैं। अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग में भी कवि को कोई हिचक नहीं मालूम पड़ी है। कहीं-कहीं नग्न दृश्य भी वर्णित हैं। इससे क्या होता है, सच्चाई पर आवरण देना बेकार है। यदि ऐसा हो तो सबसे पहले अंग्रेजी के प्रथम कवि चौसर को साहित्य के इतिहास से विलग कर दिया जाना चाहिए। 'गाथा' का कवि नग्नता के वर्णन की दृष्टि से भी जयदेव और विद्यापति से आगे नहीं जाता और न आज के प्रयोगवादियों की तरह वह फ्रायड को काव्य में उतार रहा है। 'गाथा' की कविताओं में आँटे के साथ छिलके भी विद्यमान हैं, गुदे के साथ गुठली भी हैं और प्रकाश के साथ अंधकार भी। पाठक उदयाचल और अस्ताचल दोनों को एक साथ देख सकता है। गाँधी ने कहा—'गाँवों की ओर जाओ'। 'गाथा' का कवि गाँव की ओर जा चुका है। 'गाथा' आभूषण नहीं सोने का टुकड़ा है, उस पर न तो नक्काशी की गई है और न कला का पानी ही चढ़ाया गया है। बाबा नागार्जुन आज जैसी कविताएँ लिख रहे हैं, वर्षों पूर्व जानकीवल्लभ शास्त्री ने वैसी अनेक कविताएँ लिखी थीं। कवि के अन्दर की प्रबंधात्मकता 'गाथा' में आँखें खोलती है, जिसका पल्लवन आगे चलकर हुआ है।

'शिप्रा' एक नदी का नाम है जिसकी चर्चा कालिदास कृत 'मेघदूत' में भी की गई है। 'शिप्रा' में कवि ने एक लम्बी भूमिका लिखी है और उन्होंने अपने संस्कृत-काव्य का संक्षिप्त परिचय भी दिया है। शास्त्रीजी की बहुचर्चित 'बाँसुरी' कविता इसी में संकलित है। इस संकलन की कविताओं में विविधता है। छन्द-वद्ध एवं छन्द-मुक्त दोनों तरह की कविताएँ संकलित हैं। श्री नवल

किशोर गौड़ की दृष्टि में 'शिप्रा' में अभिनव कला गीतों की झंकार है। इसमें 'सुमित्रा की शेष स्मृति' अत्यंत करुण कविता है। इसकी तुलना प्राय: निराला की 'सरोज-स्मृति' से की जाती है। 'सरोज' निराला की बेटी थी और 'सुमित्रा' आचार्य शास्त्री की छोटी बहन। दोनों के निधन हुए। दोनों कवियों ने शोक गीत लिखे। लेकिन इन दोनों शोक गीतों में व्यापकता की दृष्टि से बहुत अन्तर है। निराला अपनी पुत्री के निधन पर विगत घटनाओं को याद करते, आँखों से आँसू बहाते नजर आते हैं और आचार्य शास्त्री अपनी छोटी बहन के निधन पर शोक सागर के तटपर बैठकर आह भरने के पक्षधर नहीं, उसमें डूबते नजर आते हैं। इस संग्रह की 'निराला', 'शकुन्तला', 'चाणक्य', 'चाँदनी', 'जग और युग' प्रमुख कविताएँ हैं। शिप्रा' के तटपर रजत कण के साथ-साथ रत्न भी विद्यमान हैं। इसमें कवि की पौढ़ता आकाश को छूती दीखती है।

कहानी

'कानन' ग्यारह कहानियों का एक संकलन है, जिसका प्रकाशन १६३६-४० में हुआ था। इनकी कहानियों का मूल स्वर नर-नारी का प्रेम-व्यापार है। सफलताएँ एवं असफलताएँ दोनों चित्रित हैं, किंतु सफलताओं की नींव पर असफलताओं की अट्टालिकाएँ निर्मित हैं। परम्परा तथा रिवाजों पर लेखक ने गंभीर चोट की है। जीवन-पथ को बाधित करने वाली परम्पराओं के प्रति लेखक के मन में भीषण आक्रोश है। इस संग्रह की एक कहानी 'रोदन का राग' पढ़ने पर पाठक को सामाजिक रीति-रिवाजों के प्रति भीषण आक्रोश होगा। जो काम एक महाकाव्य नहीं कर सकता है, वह काम यह कहानी कर सकती है। प्रेमचन्द की तरह आचार्य शास्त्री ने कहानी के लिए विस्तृत फलक का निर्माण नहीं किया। दोनों की दिशा एक नहीं, भिन्न है। यद्यपि उत्स की दृष्टि से दोनों एक ही विन्दु पर हैं और वह विन्दु है समाज। समाज तो सागर है, हाथ देने पर आचार्य को कुछ और प्रेमचन्द को कुछ और मिला। 'कानन' की कहानियाँ भाव प्रधान हैं। इनमें रसोद्रेक करने की अद्भूत क्षमता है।

'अपर्णा'—यह कुल दस कहानियों का संकलन है, जिसका प्रकाशन १६४१ में हुआ था। इसकी अधिकांश कहानियाँ दुखान्त हैं। कुछ कहानियाँ व्यंग्य प्रधान हैं। कुछ कहानियों में मानव-मन के अन्तर्द्वन्द्वों का रूप दिखाया गया है। नर-नारी के जीवन की समस्याएँ भी चित्रित हैं। संवेदनशीलता एवं भावोद्रेक करने की क्षमता की दृष्टि से 'अपर्णा' का स्तर 'कानन' से नीचे है।

'कानन' में लेखक अधिक आत्मकेन्द्रित लगता है, किन्तु 'अपर्णा' का लेखक उससे बाहर झाँकने के लिए भी प्रयत्नशील है। जो हो, आचार्य शास्त्री की ये दोनों रचनाएँ कहानी कला की दृष्टि से मानक रचनाएँ हैं।

आलोचना—निबंध

साहित्य-दर्शन :—इसका प्रथम संस्करण १९४१ ई०, द्वितीय १९४४ ई० एवं १९५० ई० में निकला था। दूसरे संस्करण में श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने प्रस्तावना एवं श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'एक दृष्टि' –भूमिका लिखी थी। इसमें कुल १३ निबंध हैं। यह आलोचना का एक मौलिक ग्रंथ है। इसमें कवि और कविता पर सांगोपांग रूप में विचार किया गया है। आलोचना का क्या आर्दश हो सकता है, उसकी भी तर्क पूर्ण व्याख्या की गयी है। आलोचना के विविध प्रकारों से सम्बद्ध लेख इसमें उपलब्ध हैं। सबसे प्रमुख बात यह है कि आलोचना के इस ग्रंथ में आचार्य शास्त्री ने आलोचक के अपने मौलिक रूप का परिचय दिया है, कहीं भी कोई विचार उधार लिया प्रतीत नहीं होता। आलोचना का उनका यह प्रथम ग्रंथ होकर भी पूर्ण प्रतिष्ठित हुआ। इसमें कुछ स्वतंत्र निबन्ध हैं। इस पुस्तक में शास्त्रीजी का आलोचक एवं निबन्धकार का व्यक्तित्व मुखरित होता है। हिन्दी आलोचना की कड़ी में चाहे जितने बल्ले हों एक बल्ला साहित्य दर्शन भी है और इस बल्ले में इतनी चमक है कि दृष्टि को वह सहज ही खींच लेती है।

स्पष्ट है कि 'काकली' से 'शिप्रा' की दस वर्षों की यह यात्रा काफी वैविध्यपूर्ण है। शास्त्रीजी का कवि और आचार्य अहर्निश अश्रांत एवं क्षीप्र गति से साहित्यिक शिखर की ओर बढ़ता गया है।

युनिवर्सिटी प्रोफेसर
(ल० ना० मि० विश्वविद्यालय, दरभंगा)
२, बालेश्वर कालोनी,
दलसिंहसराय,
समस्तीपुर,



'गाथा' : एक शिखर कथा-काव्य

☐ डॉ० विमलेश कुमार श्रीवास्तव

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य-यात्रा में उनकी 'गाथा' का विशिष्ट स्थान है। साहित्य की विविध भाव-भंगिमाओं के अन्वेषण और मूल्यांकन के क्रम में इसे नजरअन्दाज करने से शास्त्री जी की वैविध्यपूर्ण साहित्यिक महत्ता को नहीं परखा जा सकता, क्योंकि उनके सरल, सरस एवं संदर्भित गीतों के बीच 'गाथा' एक दूसरी मन:स्थिति की रचना है। आचार्य जानकीवल्लभ जी का व्यक्तित्व यद्यपि वीर गाथात्मक-सा दिखाई पड़ता है, किन्तु उसके भीतर एक अत्यन्त चैतन्य कोमल प्राण बसा हुआ है जो स्वर-साधना के नियम-विधानों से परिचय तो रखता ही है, लचीले गानों में ऐसी ध्वनि का स्फोट करता है, जिसमें नये स्वर की पटरियाँ बज उठती हैं। कालान्तर में उनका जो साहित्यिक व्यक्तित्व प्रकाश में आया, वह वैदुष्य के प्रकर्ष का स्पर्श करता हुआ गीतात्मक साधना का सम्पूर्ण सप्तक सात्म कर लेता है। इस विराट् वैदुष्य और गीतात्मक अभिव्यक्ति के 'तीर-तरंग', 'रूप-अरूप,' 'राधा', 'पांचाली', 'शिप्रा', 'पाषाणी' इत्यादि की मनोरम भावधारा के विपरीत आत्मालाप की कथात्मक कुल्या का प्रवाह उनसे एक ऐसी कृति का सर्जन करा सका, जिसे पद्यात्मक कथा कहना अधिक समीचीन है।

गाथा प्राकृत का एक छंद है। यह अपभ्रंश के दोहात्मक व्यक्तित्व से समता रखता है। गाथा प्राकृत के साथ ऐसा जुड़ा हुआ है कि गाथा के उल्लेख मात्र से प्राकृत का आभास होता है। प्राकृत की गाथाएँ भारतीय चिन्तन की कैवल्यमूलक विकास-यात्रा में एक पड़ाव हैं। इस पड़ाव पर आकर भारतीय चिन्तन की काव्यात्मक अभिव्यक्ति ने आमुष्मिकता से जगकर अनामुष्मिकता की ओर करवट ली है। इनमें दैनिक जीवन के घात-प्रतिघात,

वीर-करुण, हास-विलास से सम्बद्ध रमणीय भावनाओं को काव्यात्मक अभिव्यक्ति मिली है। जीवन का व्यापार जिस परोक्ष चिन्तन में उलझा हुआ था, वह प्रत्यक्ष के साथ ऐसा सम्पृक्त हुआ कि इस काव्य-धारा में अवगाहन हेतु संस्कृत के आचार्य भी व्याकुल हो उठे। उनसे लोभ का संवरण नहीं हो सका और उनमें से एक गोवर्द्धनाचार्य तो इन गाथाओं के अनुवाद के कारण ही प्रसिद्धि पा सके। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के इतर पहलू स्पष्टतर नहीं हुए, किन्तु सिद्धि पाने के बावजूद उन्हें विश्वास नहीं था कि गाथाओं का मर्म वे आर्याओं में समझा सके हैं। उन्हें कहना पड़ा कि वे नीचे का पानी ऊपर चढ़ा रहे हैं, किन्तु पानी ठीक से ऊपर चढ़ नहीं पा रहा है। एक ओर गाथाओं का ऐसा लोकव्यापी प्रभाव है तो दूसरी ओर कहानियों का 'गाथात्मक' रूपांतरण है।

गाथा कहानी का भी एक रूप है, गल्प का पर्याय है। लोक के साथ इस शब्द के मिल जाने पर 'लोकगाथा' को महाकाव्यात्मक कलेवर मिल जाता है। इनमें मार्मिक अनुभूतियों की पूर्णता और कथात्मक विस्तार होता है। अतः 'गाथा' यदि आख्यान की तरह भाव-विह्वल मनःस्थितियों का चित्रण कर सकने में सक्षम होती तो यह कविता के आयाम में एक नया पहलू जोड़ती।

हिन्दी में आख्यानक काव्य-परम्परा भी रही है। यदि इसे प्रबन्धात्मकता से किंचित् अलग रेखांकित किया जाए तो कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कविता के अनेक कवियों ने इसे अंगीकृत किया है। द्विवेदी-युग से लेकर अबतक के कवि इस आख्यानक काव्य-परम्परा का किसी-न-किसी रूप में विकास करते रहे हैं; फिर भी, अपनी घोर विशिष्टताओं के कारण 'गाथा' की कविताएँ आख्यानक काव्य-परम्परा का भी अंगीकरण नहीं करतीं। इनका वैचित्र्य यह है कि ये कवि के आत्मोद्गार को जन-सुलभ बना देती हैं।

एक जमाना था जब साहित्य केवल उच्च और उच्चतर से ऊपर उठता हुआ महत्तम आदर्शों के अन्वेषण में लगा हुआ था। समय का रुख बदल जाने के कारण जो उपेक्षित और असहाय थे, वे अपेक्षित और महत्त्वपूर्ण बनकर महत् के उपासकों को आकृष्ट करने लगे। लघुता-अंकन की इस मानववादी विचार धारा ने साहित्य की उर्जस्वित और भास्वर दीपशिखा के समक्ष उन लघु दीपों को भी सजा दिया जिनमें वर्त्तिका तो थी, किन्तु स्नेह का अभाव था। इस प्रकार साहित्य में यथार्थ बोध की लघुता-अंकन वाली तूलिका ने ऐसे अनेकानेक चित्रों का निर्माण किया जो आकर्षण की विपरीत भास्वरता से सप्राण थे।

'गाथा' की गाथाएँ जिन व्यक्तियों को सामने लाती हैं उन सबमें यथार्थ का वह लघु व्यक्तित्व समाया हुआ है जो उपेक्षित होने को ही निर्मित हुए थे। ये लघु प्राण व्यक्तित्व अपने अभावों एवं आशंकाओं से इस तरह ग्रस्त हैं कि वे कवि व्यक्तित्व की चट्टान से टकराकर दूसरी दिशा में पलावित होने के लिए बाध्य होते हैं: गाथाकार के स्फीत आदर्श की गंगा में अपनी धार विलुप्त कर देते हैं, उद्धार कितना हुआ, यह शोध का विषय है।

'गाथा' ऐसी कथात्मक कविताओं का संग्रह है जिसे आचार्य नलिन विलोचन शर्मा की आशंसा प्राप्त है। उन्होंने पाश्चात्य जगत् की अनेक विधाओं से उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि चूडांत पर पहुँचा हुआ व्यक्ति यदि विपरीत दिशा में चलता है तो वह एक नये पथ का निर्माण कर देता है। उनके अनुसार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री भी 'साहित्य-दर्शन' के असाधारण विद्वान् हैं जिनकी प्रतिभा 'गाथा' में उनकी विद्वत्ता के अनुरूप चलने से इंकार कर देती है। प्रतिभा नयी वस्तुओं का अन्वेषण करती है और व्युत्पत्ति उसे सँवारने, माँजने का कार्य करती है। शास्त्री जी प्रातिभ हैं, इसे प्रमाण की आवश्यकता नहीं और व्युत्पत्ति में वे उस समय भी प्रौढ़ि के पास थे जब 'गाथा' का प्रकाशन हुआ था, आज का तो कुछ कहना ही नहीं। इसलिए इस पुस्तक में छन्द की कसावट का ठाट है। उत्पाद्य कथा-काव्य की दृष्टि से अभिशप्त हिन्दी कविता में 'गाथा' एक सौध-शिखर है।

पुस्तक में सात गाथाएँ हैं—'दो आँखें', 'आँधी', 'सुहागरात', 'हरिहर क्षेत्र का मेला', 'कलियुग के कृष्ण', 'कल्कि अवतार' और 'क्लाइमेक्स'।

'दो आँखें' आत्मकथात्मक शैली में लिखी गयी गाथा है जिसमें समाज के दैन्य और अभाव को उजागर करते हुए कवि ने इस बात का प्रयास किया है कि दरिद्रता से अभिशप्त जीवन की स्पष्ट झाँकी मिल सके। वास्तविकता का दर्शन बुरा नहीं है। बिना दर्शन के परिमार्जन संभव भी नहीं है। खतरा इतना ही है कि मुख्यता उसे मिल जाती है जिसे गौण रहना चाहिए। एक किशोरी की माँ उसे कवि के बिस्तर के पास इसलिए भेज देती है कि वह अर्थ-दोहन कर सके। कवि असाधारण धैर्य का परिचय देता है, किन्तु सब लोग तो ऐसे नहीं होते।

लड़की का वर्णन करते हुए रूप काव्य का चितेरा कवि कहता है—

> सिहर गये सब अंग, भर गए दृग, जुड़ा गए प्राण,
> प्रथम दृष्टि की प्रीति पढ़ी थी, देखी पहली बार।
> चूम रही थी वकुल-मुकुल-मुख मानों मलय बयार।

तू मुझमें मिल कहती थी ज्यों—अब न रहे अनजान !
अपने हाथों से छुटकर पकड़ा ज्यों मेरा हाथ !
ऊब डूबकर एकाकीपन में, चाहा ज्यों साथ ।
तेरा भाव बना मेरे होठों की मृदु मुसकान,
सिहर गए सब अंग, भर गए दृग, जुड़ा गए प्राण !

आगे चलकर कवि को अश्लील-श्लील से मुक्ति मिल गयी है और विस्फारित नयनों से देख रहा है—

तू नंगी थी नहा रही मुझ पर पड़ते ही दृष्टि—
पड़े सौ घड़े पानी के, ज्यों बची न सूखी सृष्टि !
वह तेरी तस्वीर सिकुड़ कर बनी एक ही रेखा !
क्षय हो कविता की, थी तेरी भरी कनक की गागर,
फुफकारें वे सलिल बिन्दु क्या, फेन उगलते फनधर !

इस कीच तमस में तामरस पयोधरों को देखकर भी कवि में विचित्र धैर्य वर्तमान रहता है, जो असाधारण व्यक्तित्व का परिचायक है । एक ओर ऐसे दयनीय और पतित लोग हैं, दूसरी ओर कवि समान विराट् व्यक्तित्व-सम्पन्न भले लोग । यह कहते हुए कथा का समापन होता है—

मनी बैग में थे शायद पच्चीस, तुझे दे बोला—
"साड़ी, अँगिया या जो दिल हो, मँगवा लेना प्रात,
मुझे अभी जाना होगा बीतते-बीतते रात ।
छोड़ दिया सामान वहीं सब, साथ रहा बस चोला ।

दूसरी गाथा 'आँधी' में एक गरीब मलाहिन की बनारसी व्यथा का चित्रण है । बिरजू बाबू के घर काम करने वाली कबूतरी की बेटी आँधी गाँव पर शीतला के प्रकोप के कारण भागकर माँ के पास चली आती है । रूप सम्पन्न वह दरिद्रा कभी कभी कवि के एकाकी जीवन पर दया दिखाकर घर में मोती बरसा जाती, किन्तु यह सुनकर कि कवि का ब्याह हुआ है, अपने भावों को संकुचित कर लेती । सोयी हुई आँधी के उन्मुक्त, अनावृत्त यौवन को देखकर एक दिन साठ वर्षीय मूँछ मुड़ान जवान बिरजू बाबू ने उसका सौदा करना चाहा । आँधी के प्रत्युत्तर से वे उस दिन रुक तो गये, परन्तु मन-ही-मन इस

अपमान का बदला लेने का भी संकल्प कर लिया। अन्ततः बिरजू बाबू सफल हुए, परन्तु आँधी को तब शीतला ने धर दबोचा, बिरजू बाबू ने उसे अपने घर से निकाल दिया। इसके बाद वह पांच दिनों तक कथानायक के घर पड़ी रही। उसकी सेवा-शुश्रूषा के बावजूद वह अच्छी नहीं हो सकी। कवि इस कथा का समापन गांधी-युग पर ईषत् व्यंग्य के साथ करता है—

ऐसी कितनी आँधी आती–जाती बारह मास।
आँधी की 'इति' या कि 'हास' गाँधी-युग का इतिहास ?

'सुहागरात' तीसरी गाथा है जिसमें एक ऐसे व्यक्ति की कथा है जो रूपवती पत्नी का परित्याग कर दासियों की संगति में ही अपनी लिप्सा शान्त करता है। कवि के शब्दों में—

यह सुहाग की रात, कुँवर पीते पैमाने भर-भर
यह सुहाग की रात, काँपती बिन्दुमती थी थर-थर।

'हरिहर क्षेत्र' का मेला चौथी गाथा है। मेले की विशेषताओं को स्थानीय रंगों के साथ चित्रित करते हुए कवि ने साहित्यिक गरिमावाली पुस्तकों की विक्रय-स्पर्द्धा पर प्रश्न-चिह्न लगाते हुए कहा है—

श्रेष्ठ किताबें हिन्दी लिट्रेचर की कितनी आईं !
गुलबकावली से ले तोता-मैना के सब भाग
सिंहासन बत्तीसी, भ छतीसी, शीशी-कार्क
और चन्द्रकान्ता—बाइबिल की बच्ची, मनु की ताई !

वर्णनात्मक शैली में लिखी यह कविता एक ओर दृश्यांकन का वैभव प्रकट करती है, दूसरी ओर सामाजिक विद्रूपताओं का उद्घाटन—

उम्र हुई चौदह की, लेकिन लड़का हुआ न पैदा,
सास बनाती उसे इसी से मार मार कर मैदा।

इसी कारण—

आयी थी, भगवतिया घर से गिरती, पड़ती, मरती,—
गंगाजी को बकरा देने, बेचारी क्या करती !

'कलियुग के कृष्ण' में एक जमीन्दार की कथा है जो पहली पत्नी से असंतुष्ट होकर कालेज की छँटी, छटंगी गोरी से विवाह कर लेते हैं। इसके बाद शहनाई-सी बजने वाली तीसरी भी आ गयी। जितनी नौकरानियाँ थीं, सब की सब सरस, मधुर युवतियाँ थीं, जिनके साथ रास रचाते मौज मनाते

कलियुगी कृष्ण चालीस के पार आ गये, किन्तु उनकी तृष्णा नहीं बुझी। उनका जब नीच और मध्यम व्यवहार उन्नत हुआ तब उनकी पत्नी के लिए आत्म-हत्या के अतिरिक्त दूसरा मार्ग नहीं बचा।

'कल्कि अवतार' में धर्म ढकोसला के सहारे बहनों के विवाह हेतु अर्थोपार्जन का नाटकीय कौतूहल खड़ा किया गया है। किसी वकील के सन्देह पर तथाकथित अवतार ने अपना सारा मर्म उड़ेल दिया है। न्यायालय के एक सामान्य वकील के समक्ष अवतार का ढोंग रचने वाली युवती जिस दरिद्रता, अशिक्षा, अधिक संतान, विवाह-बाधा आदि समस्याओं की चर्चा करती है उसे कविता कमनीयता के आवरण में समाजशास्त्र की रूक्षता ग्रहण कर भी वह सब कह देती है जिसे समझने के लिए आयोग पर आयोग बैठाये जाते हैं।

'क्लाइमेक्स' में कवि द्वारा किसी युवती विधवा के उतप्त स्पर्श का कामातुर अंगीकार नहीं वत्सल पुलक की स्वीकृति प्रतिकार का प्रहार यद्यपि 'उर्वशी-अर्जुन' गाथा की अस्पष्ट याद दिला देता है, फिर भी, गाँवों में ऐसी फायडीय प्रगल्भता वामाओं का उद्दीपन कवि-कर्त्तव्य की उदीप्त चट्टान से टकराकर चकनाचूर हो जाता है—

> इतना स्नेह न भरो रगों में, मैं सकता न सँभाल,
> वार पुत्र पर करना चाहो पहले दे दो ढाल।

छायावाद और प्रगतिवाद के लगभग संधिकाल की यह रचना प्रयोग की मिट्टी का संधान कर रही थी। छायाकाल का रूप-वर्णन, प्रगतिकाल का दृष्टिकोण और द्विवेदी-काल की नायक-मर्यादा के साथ प्रयोग की तरणी पर चढ़ी 'गाथा' अपने आप में विलक्षणताओं की समष्टि है।

पद्य-कौशल की प्रौढ़ि पर पहुँचे कवि द्वारा पंक्ति के मध्य पूर्ण विराम का कौशल दिखाकर महाकवि सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'' की अभीप्सा का पालन प्रशंस्य है। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में आचार्य नलिन विलोचन शर्मा ने पंक्ति-मध्य पूर्ण-विराम की प्रशंसा की है और इसे हिन्दी पद्य की प्रौढ़ता का प्रमाण माना है। इसी संदर्भ में उन्होंने पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के आधार पर महाकवि जयशंकर प्रसाद को इसे प्रारम्भ करने का श्रेय दिया है, किन्तु 'कामायनी' जैसे प्रबन्ध काव्य में इसकी अनुपस्थिति से यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रसाद जी बाद में इस पर ध्यान नहीं देते थे। इस प्रसंग में विनम्र भाव से इतना ही कहना है कि इस 'एण्ड स्टाप्ड' का 'कामायनी' में अभाव नहीं है, कम-से-कम 'इड़ा, सर्ग में तो नहीं ही है।

'गाथा' में कुछ पंक्तियाँ अवश्य हैं जो लोक-कण्ठ में साहित्यिक वैशिष्ट्य का समावेश करा सकती हैं। काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से अलंकार-गर्भित, वैयाकरणिक-दृष्टि से संज्ञा और क्रिया पद का एकल प्रयोग आदि इन पंक्तियों में भासित हो उठा है—

अन्न-वस्त्र की, माँग कभी गहने भी असली-नकली,
माँग 'माँग ओ' कोख', शोख, कर फिर मत बक-झक पगली।

रेखांकन की ऋजुता इन पंक्तियों से टपक रही है—

कॉलेज की थी छँटी, छटंगी: यह जो आई गोरी,
चाकचिक्य रहता बाहर पर रक्त-प्रदर की रोगन,
पिचके गाल, धँसी आंखें, ऊमस की तपी वियोगन।

जानवरों की बोली का क्या कौशल-पूर्ण वर्णन है—

हाथी थे चिग्घाड़ रहे, हिनहिना रहे थे घोड़े
बब्बर-सिंह दहाड़ रहे थे, गरज रहे थे शेर
रेंक रहे थे गधे सधे—सीधे सबके ढब घेर
किटकिट करते वंदर फोंफियाते भालू के जोड़े।

हिन्दी कविता का यह कथात्मक प्रयोग कालान्तर में विकास नहीं पा सका, इसे हम हिन्दी भाषियों की रुचि विशेष मान लेते हैं। गाथाएँ एक ही छन्द में रचित और सत्रह-सत्रह पृष्ठों में समाविष्ट हैं।

गाथा की महिमा, कथा की जिज्ञासा, प्रबंधात्मकता का कौशल, कवित्व की मार्मिकता और व्यंग्य की व्यंजना से सप्राण ये गाथाएँ हिन्दी की विलक्षण कृतियाँ हैं।



विश्वविद्यालय आचार्य, हिन्दी विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर।

'राधा' में गति-सौन्दर्य

□ श्री सत्येन्द्र प्रसाद सिंह

राधा महाकाव्य में गति-परक अंग-भंगिमाओं और गतिबोधक बिम्बों की प्रचुरता है। महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री को सामान्यतः गतिशील जीवन प्रिय है। किन्तु प्रसाद जी की तरह इन्हें भी उन्मद गति अभीष्ट नहीं। 'राजश्री' नाटक में एक स्थल पर प्रसाद जी लिखते हैं कि "जीवन की दौड़ लम्बी है, अस्तु उसके लिए अधिक चंचल होना चाहिए। शास्त्री जी ने भी उन्मद पद-गति की अपेक्षा द्रुत, किन्तु सुदृढ़ पद-गति को महत्त्व दिया है: प्रसाद जी ने प्रवेशपूर्ण गति को निरापद माना है: यदि ऐसी बात नहीं होती तो वे कतई नहीं लिखते कि 'ले चल मुझे भुलावा देकर"। यह 'भुलावा' शब्द स्वतः स्पष्ट कर देता है कि जीवन की कर्म-कोलाहल एवं संघर्षमय स्थिति में गतिशील चेतना, अथवा गतिशील मनःस्थितियाँ राहत पा सकती हैं और उन्हें नयी शक्ति भी मिल सकती हैं। इसी कारण कवि ने संघर्षशील एवं जीवंत व्यक्ति की अपेक्षा मृत्यु को 'चिर निद्रे तेरा अंक हिमानी-सी शीतल' मानने वाले पतनोन्मुख मनु को अप्रतिहत गति कह कर इस मत की पुष्टि की है। किन्तु शास्त्री जी के साथ वह बात लागू नहीं होती। वे जीवन में प्रवेशपूर्ण गति को सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

'तुमुल कोलाहल' से राधा घबराती नहीं है, उसके हृदय की विकलता 'कोलाहल' के कारण नहीं, अपितु 'नीली मुरली' के आह्वान के कारण जागृत हो उठी है। कवि के ही शब्दों में "नीली मुरली आत्मा का अनन्त आह्वान भी तो है। धूलि-धूसर प्राण उस आह्वान को पहचानते हैं।" इतना ही नहीं, उस आह्वान पर 'राधा' का स्वत्व-बोध भी तो जागृत हो उठा है—"तूने मुझे पुकारा?" (स्वत्व बोध नहीं तो और क्या है?) 'कामायनी' का मनु' मैं हूँ और रहूँ" की बात करता है फिर भी एक उल्का-सा

जलता भ्रांत, और उदभ्रांत हो शून्य में असहाय फिर रहा है। किन्तु शास्त्री जी की राधा अपने स्वयं के प्रति सचेष्ट है। तभी तो वह कहती है—

> लोकापवाद घन-नाद मोर मेरा मन,
> जब इतर त्रस्त होते, वह कहता नर्त्तन।
> है सेतु तोड़ कर, तीव्र वेग बढ़ जाता,
> स्वर गरल अमृत-निर्झर का सिर चढ़ जाता।

जड़ता अथवा रूढ़िग्रस्त नियम (सेतु) तोड़ने के क्रम में इसकी मनःस्थितियाँ वेगपूर्ण है, किन्तु वह यह भी तो कहती है कि—

> "विद्रोह करूँ किससे-युग से या जग से ?
> इस कृष्ण पक्ष से या कि चन्द्र जगमग से ?
> अज्ञात लक्ष्य या टेढ़े-मेढ़े मग से ?
> विद्रोह विनत सिर से या डगमग पग से ?"

उपर्युक्त पंक्ति में "डगमग पग" जीवन के संघर्ष में अविरल जूझते हुए सुदृढ़ किन्तु मंथर गति का द्योतक है।

मनु से यहाँ भी पृथक्ता है, जीवन के ऐकान्तिक वातावरण से घबड़ाये मनु को श्रद्धा आकर सीख देती है। वहाँ न तो मनु के पास कोई स्वयं निर्णय लेने की क्षमता है और न तो अपने को व्यवस्थित रूप से जीवन में गतिशील होने की कोई अचूक सूझ। अतः राधा की मनःस्थिति और मनु की मनःस्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर है। राधा आत्म-स्फूर्त है। वह कहती है—"कब पंक-अंक से पंकज काढ़ सकूँगी ?
पाऊँगी शान्त पुलिन, तर बाढ़ सकूँगी !"

इसके लिए शास्त्रीजी ने (गति-सौन्दर्य के लिए) प्रत्यक् दर्शन-प्रणाली (Flash back mathod) का अत्यन्त ही मनोहारी रूप खींचा है :—

> सौष्ठव-विहीन यह भाव अभाव-भरा सा,
> दिप रूप शिखा में दिखता डरा-डरा सा !
> यह निर्बन्धन आवेग निविड़ हो कांपा,
> रञ्जित तरंग ने सुधा-सिन्धु भी मापा !

उपर्युक्त पंक्तियों में 'निर्बन्धन आवेग' तथा 'रंजित तरंग' में द्रुत मंद गति-सौन्दर्य हैं। 'रंजित तरंग' में द्रुत गति है किन्तु सुधा-सिन्धु माप की स्थिति, बोध मंद गति। अर्थात् 'सुधा-सिन्धु' माप लेने के पश्चात् उस तरंग

का वेग स्वतः बढ़ जाएगा। इस द्रुत मंद गति के लिए दूसरा उदाहरण भी सर्वथा उपयुक्त है :—

> "आकाश अनिल में लीन हुआ जाता है,
> जल अनिल तेज में दीन हुआ जाता है,
> बुझता जाता है तेज डूब कर जल में,
> जल का विलयन होता धरती के तल में !"

उपर्युक्त विवेचित पार्थक्य के अतिरिक्त प्रायः दोनों महाकवियों को धूमकेतु-सी गति नितांत अवांछनीय है। शास्त्री जी ने 'अचेतन' बिम्बों का सहारा लिया है। जबकि प्रसाद जी लिखते हैं : 'सबमें एक अचेतन गति थी, जिससे पिछड़ा रहे समीर।' वस्तुतः जीवन सम्पन्न से तीव्रतर वेग वाली यह गति दुर्गति बन जाती है। अस्तु 'राधा' और 'कामायनी' दोनों महाकाव्य में मृदु मंद गति ही दोनों कवियों को अभिप्रेत है, क्योंकि वह एक सर्वथा सहज स्वाभाविक गति है।

'राधा' में प्रत्येक प्रकार की गति-विधि को पर्याप्त महत्त्व मिला है। इस महत् काव्य में पद-गति के अतिरिक्त पत्रों की सिरहन, लहरों के लास, दूर्वादल के स्पंदन, वायु के प्रकंपन, पक्षियों के उड्डयन, नौका संतरण और न जाने अन्य कितनी गतियों ने यहाँ मनोभावों को गति तथा आंगिक चेष्टाओं, अंग-भंगिमाओं तक को शब्द-बद्ध किया है और इस प्रकार गति-सौन्दर्य का सर्वांगीण चित्रण किया है। निश्चय ही यह गति-सौन्दर्य वैविध्य पूर्ण है। इसके अंतर्गत 'राधा' की गतिविधि का रूपांकन प्राप्य है और एक वर्ग अथवा समुदाय का भी, जिसमें राधा का सम्पोषण हुआ है और उसकी सम्भावनाएं प्रस्फुटित हुई हैं। राधा में व्यष्टि चेतना के रूप में गति बिम्ब का अवलोकन करें—

> "मैं दिवास्वप्न-रत थी, असीम सागर है;
> तिरती जाती ऊपर रीती गागर है !
> झकझोर रही है लहर, नहीं वह झुकती,
> पड़ जाती भँवर भँवर में, वह कब रुकती !"

अथवा

> आई मैं, आई मैं, यह लो, मैं आई।
> अब असमंजस क्या, धुन सुनते ही धाई॥
> तुम कहो और आगे बढ़ने, बढ़ जाऊँ,
> उभरे कोई सोपान नया, चढ़ जाऊँ !

उपर्युक्त व्यष्टि चेतना के अतिरिक्त समष्टि चेतना और समय की गति का जो चित्रण किया गया है, वह भी गति-सौन्दर्य के आभ्यंतर अविस्मरणीय है।

"युग पर युग बीते रीता अंतर ढोते,
उन्निद्र सीप में गीले मोती बोते।
साँसो की झंझा में दीपक प्राणों का
अंचल पर डाल सँभाले, कुल-मानों का
लेखा-जोखा लेते,, हलचल को बांधे,
युग पर युग बीते विसुध चेतना साधे।"

उपर्युक्त 'विसुध चेतना' की विश्वात्मक गति 'युग पर युग बीते' के माध्यम से सविशेष अंकित की गई है। 'राधा' में सागर, सरिता, सरोवर, यमुना-प्रवाह आदि की उच्छल तरंगो की क्रीड़ा का गत्यंकन प्रायः मनोयोग पूर्वक किया गया है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :—

(क) "थी परख रही पंछी या पंखिल तारा,
नीचे कल-कल करती चंचल जल-धारा।"

(ख) "गहरे-गहरे जल कल-कल, ऊपर सरपत,
मर्मर शाद्वल-तट सिहरे, उन्नत पर्वत।"

(ग) यमुना अथाह है, चमक रही छलकन है,
धारा काली, उज्ज्वल जल का कण-कण है।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सरित-प्रवाह के रूप में गत्वर बिम्बों की बहुशः आवृत्ति मिलती है। तरगायित गति के रूप में घन-गर्जन और वर्षण का बिम्बांकन भी महत्त्वपूर्ण है। राधा में उसे काफी महत्त्व मिला है—

"लय की बोझिल घन-घटा घिरी कानों में,
पर बरसी चुप हलके-हलके प्राणों में।"

निराला की कविताओं में इन गत्वर बिम्बों को इस प्रकार देखा जा सकता है :—

"झर-झर-झर निर्झर गिरि सर में
घर मरु तरु मर्मर सागर में॥"
(निराला, परिमल पृ०–१६०)

प्रसाद ने इन गत्वर बिम्बों को प्रलय-सिन्धु के आप्लावनकारी एवं सबल तरंगाघातों और लहरों के विराट आलोड़न को गत्यांकित किया है :—

'उधर गजरती सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों से
चली आ रही फेन उगलती फन फैलाए व्यालों सी।'

यहाँ सर्पाकार लहरों की प्रचंड वर्तुल गति का सजीव चित्र अंकित किया गया है। पंत जी ने उसी प्रकार "क्षुब्ध जल शिखरों" और महाप्राण निराला ने "शतघूर्णावर्त्त तरंग-भंग उठते पहाड़" अर्थात् उर्ध्व जल-तरंगों की कल्पना कर उनकी भीषण गति का संकेत किया है। शास्त्री जी ने इस विराट वोध को इस रूप में दर्शाया है :—

"भर समद रम्मद, वज्र गर्ज की गरिमा,
मैं बनूँ नीलिमा, बढ़े विमल कुल महिमा।"

गतिशीलता की दृष्टि से 'राधा' में पत्रों का मर्मर और फूलों का झरना तथा वायु-श्वसन की प्रक्रिया भी उल्लेखनीय है। उदाहरण :—

"मधु गंध भरी कलिका में द्रुत झरने को,
मधुमय समीर वह गई साँस हरने को।"

इसके अतिरिक्त 'राधा' की प्रारम्भिक पंक्तियों में ऋतु वर्णन के माध्यम से भी इस मर्मर एवं झरने वाली गति के वैशिष्ट्य का अंतर्दर्शन किया जा सकता है। प्रसाद जी ने मंद पवन की अनेक आवृत्तियाँ की हैं। उन्होंने प्रवेगपूर्ण गति को यत्र-तत्र 'अबाध गति मरुत सदृश' अवश्य कह दिया है, फिर वायु लहरियों को प्रायः मन्द रूप में ही अंकित किया है। निराला जी को भी 'मृदुगति मलय समीर' अभीष्ट है। उन्होंने यद्यपि हनुमान के उड्डयन प्रसंग में पिता पक्ष से प्राप्त उनचास पवनों की प्रचंड गति का चित्रण कर, साथ ही "द्रुत समीर कंपित थर थरथर" आदि उल्लेखों द्वारा वायु तरंगों की भीषणता का वर्णन किया है। फिर भी मंद गति उन्हें आपेक्षिक दृष्टि से रुचिकर है। कवि ने 'मंद समीर', 'मंद पवन' बहती 'मंद-मंद बहती पवन' आदि प्रयोगों के माध्यम से अपनी मंद गति प्रियता का परिचय दिया है। पवन की गति का रूपांकन भी किया है और ध्वनन भी। 'जुही की कली' में उन्होंने शब्द-विन्यास द्वारा वायु के गत्वर बिम्ब प्रस्तुत किए हैं :—

"फिर क्या पवन ?
उपवन-सर-सरित-गहन-गिरि कानन
कुंज-लता-पुंजों को पार कर।"

यहाँ वायु की गति को प्रतिध्वनित किया गया है और प्रतिबिंबित भी। इस प्रवाह में जो वेग है, वह प्रचंड का नहीं, बल्कि अधीरता अथवा व्यग्रता का

सूचक है। निराला जी को विराटता-बोध के लिए भले ही द्रुत गति अपेक्षित रही हो, सामान्यतः वे मृदु-मंद गति के ही अभिलाषी हैं।

विराट् बोध के सन्दर्भ में शास्त्री जी ने उदात्त बिम्बों का विधान बड़े ही सटीक रूप से किया है। यथा :—

"धरती जब तक थी पड़ी हुई हलचल में,
आकाश उतर आया जल के समतल में।"

उपर्युक्त पंक्ति में 'आकाश का उतर आना' और 'जल के समतल में' अवस्थित हो जाना इसके यथेष्ट प्रमाण हैं। उपर्युक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री गतिशील जीवन के कवि हैं। यही कारण है कि कालजयी कृति 'राधा' में उनका गति-सौन्दर्य जीवन की गतिशीलता और गतिशील जीवनमूल्यों को सौन्दर्य का व्यापक फलक प्रदान करने में सक्षम सिद्ध हुआ है। 'कामायनी' की गतिशीलता केन्द्र से परिधि की ओर है और परिधि से पुनः केन्द्र को ओर है, जबकि राधा की गतिशीलता जीवन की निरन्तरता और जीवन मूल्यों की निरन्तर परिष्कृति की ओर।

'कामायनी' और 'राधा' का गति सौन्दर्य एक दूसरे से पृथक और एक दूसरे से सर्वथा भिन्न मूल्य ग्रहण किए हुए है। ऊँचे जीवन के लिए जिन प्राकृतिक उपादानों की आवश्यकता होती है, 'राधा' निरन्तर सांकेतिक दृष्टि अपनाए हुए है। 'राधा' में गति-सौन्दर्य वस्तुतः इसी अर्थ में विलक्षण है।

[विषय : जानकीवल्लभ शास्त्री का गीति-सौन्दर्य]
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
दरभंगा।

●

'राधा' : जीवन-बन्ध या प्रबन्ध ?

□ कुमारी संगीता

संसार में कई प्रकार के लोग देखे जाते हैं। विशेषतः ऐसे लोग जिनका सम्बन्ध सृजन-कर्म से जुड़ा होता है, वे निश्चय ही ऊँचे संस्कार वाले होते हैं। उनका जीवम-दर्शन निश्चय ही भिन्न हुआ करता है। गहराई में जाने पर पता चलेगा कि कितने ही ऊंची आवाज उठाने वाले लोग जीवन की ऊँचाई पर खरे नहीं उतरते। हाँ, जिनकी ऊँचाई जीवन-शैली और जिनकी गहराई अनुभूति की शक्ति बन गयी हो, वैसे विरले ही लोग देखे-सुने जाते हैं। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री वैसे ही विरले व्यक्तियों में एक हैं।

साहित्य-मनीषी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के बारे में जब मैं सोचती हूँ, अचानक मेरे मानस में शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, विवेकानन्द और जयशंकर प्रसाद का धवल व्यक्तित्व कौंधने लगता है। क्योंकि भौतिक संसार को अपने ऐहिक जीवन का छोटा-सा कण ही दे पाये थे वे लोग, लेकिन ज्ञान और अनुभूति ऐसी कि शताब्दियों तक मानवता अवनत रहेगी—उनके विमल कर्तृत्व के सामने। ऐसी प्रतिभाएँ ईश्वरीय शक्ति लेकर आती हैं। जिन लोगों ने इनकी आरम्भिक रचनाएँ पढ़ी होंगी—उनके मन में भी कुछ ऐसा ही बिम्ब उभरा होगा। 'काकली', 'रूप-अरूप', 'साहित्य-दर्शन' और उनकी अगणित प्रारम्भिक कविताएँ, [जो बाललता में हैं]—निश्चय ही सोचने के लिए बाध्य कर देती हैं—कि ऐसा संस्कारी कवि कभी शताब्दियों के बाद ही आता है। सरस्वती ने सहजता में गंभीर भाव छिपाकर अपनी ही कला को काव्य-प्रतिभा का मनोरम रूप दिया है—शास्त्रीजी के रूप में। 'राधा' की एक पंक्ति याद आती है—

साधन की शुद्ध व्यवस्था देखी जाती,
तेजस्वी की न अवस्था देखी जाती।

वैसे ही प्रखर तेजस्वी व्यक्तियों में शास्त्रीजी को भी लिया जा सकता है। किसी अज्ञात शक्ति ने जैसे अप्रतिम तेज भर दिया हो उनमें। इसे विद्वान् तांत्रिक पिता पं० रामानुग्रह शर्मा का प्रसाद मात्र नहीं मान लिया जा सकता। निश्चय ही यह माँ निरुपमा की अदृश्य करुणा और भुवनेश्वरी की असीम कृपा के साथ कवि के जन्म-जन्मांतर के ऊँचे संस्कार का भी फल हो सकता है। क्योंकि शास्त्रीजी भले ही बाद की रचनाओं में अपने विश्वास को संभावनाओं का कोई ठोस आश्वासन देते रहे हों, लेकिन उनकी वे रचनाएँ उनकी ही अभिव्यक्ति की सच्ची आकृति में ढली नजर आती हैं—

उठाए जो लपट ऊँची,
नमन वे और होते हैं।

कवि-कर्म की प्रारम्भिक साधना ने कभी भी अपनी लौ धुंध नहीं होने दी, निरन्तर [उत्तरोत्तर] अधिक-से-अधिक प्रकाश विकीर्ण करती रही वह। शास्त्रीजी का कवि-कर्म वस्तुत: उसी प्रारम्भिक संस्कार का परिष्कार है। अत: कविता की संस्कृति हो या गद्य की, शास्त्रीजी पूरे रूप में अपने ऊँचे संस्कार की प्रारम्भिक उपलब्धियों के ही अवदान रहे। हाँ, यह हिन्दी साहित्य का, यों कहें—सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का सौभाग्य है कि उन्होंने शंकर, ज्ञानेश्वर, विवेकानन्द और प्रसाद की तरह ही अपनी आस्था को समय के वृत पर निरन्तर स्थिर बनाए रखा। कविता उनके जीवन की शर्त बन गयी और कवि-कर्म उनके जीवन की ऊर्जा। निरन्तरता ही उनकी ऊष्मा बन गयी और उनकी उपलब्धियाँ ही उनकी जिजीविषा। शास्त्री जी का काव्य-संस्कार उनकी जीवंत ऊष्मा और आस्था का ही दूसरा रूप है।

शास्त्रीजी कवि-कर्म के प्रतिमान हैं, कविता उनका विलग प्रमाण नहीं। कविता न तो केवल भाव होती है और न केवल विचार। जो कवि भाव को बोधात्मक अभिव्यक्ति देता है वही जीवंत कवि माना जायेगा। ठीक उसी प्रकार बोध को भाव का प्रसार प्रदान करनेवाला कवि (सच्चे हृदय का) सहृदय कवि। महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री अपने ढंग के अकेले कवि हैं जिनमें भावों की ऊँचाई और विचारों की गहराई संवेत रूप में अभिव्यक्त हुई है। आर्ष ज्ञान के जितने भी साधन हो सकते हैं, शास्त्रीजी ने अपने साहित्य और जीवन में उसका उपयोग किया है। अत: उन्हें किसी काल-खंड का कवि न कहकर, समग्र जीवन का कवि कहें, यही बेहतर होगा। जीवन के लिए

अपने व्यापक अनुभव और अनुभूत सत्य को ही उन्होंने अपने कवि-कर्म से जोड़कर देखा है।

शास्त्री जी को प्रगतिवादी, प्रयोगवादी और नयी कविता का पुरोहित नहीं कहा जाता; इससे उनका महत्त्व कम नहीं होता। ठीक उसी तरह यदि नलिन जी ने भी प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी के बाद पाँचवें प्रजापति के रूप में उनका नाम गिनाया तो इससे भी उनका महत्त्व बढ़ नहीं जाता। शास्त्री जी का काव्य-संस्कार सिर्फ हिन्दी की सीमा में आबद्ध नहीं है और न केवल संस्कृत की सीमा में प्रतिबद्ध। कई भाषाओं पर समान अधिकार रखने का अर्थ यह नहीं कि वे अँग्रेजी की रोमांटिक कविता अथवा बंगला के रवीन्द्र स्कूल के प्रति रागात्मक प्रतिबद्धता जताते हैं। उर्दू और दक्षिण भारत की भाषिक संस्कृति के प्रति खुली दृष्टि रखनेवाले शास्त्री जी किसी एक की सीमा में अपनी संभावनाओं की खोज करने के हिमायती नहीं रहे।

अत: जब शास्त्री जी के कवि-कर्म की बात आती है तब एक साथ ही विश्व के कई स्तरीय कवि हमारे मानस में मँडराने लगते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि एक के विकल्प रूप में दूसरे को खड़ा किया जाए। हमारी आलोचना की संस्कृति अपनी शालीनता और मर्यादा की ओट में उन्हें एक भिन्न वृंत पर खड़ा देखने की विवशता लिए हुई है।

किसी काल-खण्ड और विकास-क्रम की दृष्टि से शास्त्री जी का मूल्यांकन करना अनुचित है। क्योंकि किसी खास समय की सीमा में उनके जीवन का सच घिरा हुआ नहीं है और न किसी काव्य-प्रवृत्ति की प्रकृति अपनाकर उन्होंने अपनी कविता को किन्हीं बँधे-बँधाए मूल्यों की वाहिका बनने दिया है। उनकी कविता हमारे राग को विचारों की उत्तेजना प्रदान करती है और उसी तरह हमारे विचारों को राग का भावोन्मेष देती है।

वाल्मीकि और व्यास अपने तप के कारण अधिक आधुनिक दिखलायी देते हैं। क्योंकि आधुनिकता अपने मूल्यों की तलाश के लिए अब भी राम और कृष्ण की ओर टकटकी लगाए खड़ी है। कालिदास काव्योत्कर्ष के कारण अधिक प्रासंगिक हैं। और यह कहना गलत न होगा कि शास्त्री जी के संस्कार के निर्माता वाल्मीकि, व्यास और कालिदास ही हैं। सिर्फ भारतीय जीवन की समग्रता को अपनी साधना और विश्वास का अर्घ्य प्रदान करने के कारण ही शास्त्री जी आधुनिक जीवन के लिए कभी बासी नही पड़ेंगे। युग के साथ अपने बोध को मानसिक संस्कार प्रदान करने के लिए उन्हें वैदिक

ऋषियों की तरह रमतापन वाला संस्कार ग्रहण करना पड़ा है। अपने समय और समय की सीमा को निरन्तर जीवन के नये बोध से विस्तार प्रदान करने के कारण ही उनकी कविताएँ जीवंत हैं। यही कारण है कि अपने समय और समय की संभावनाओं के एक मात्र प्रतिमान हैं वे।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री सीमा की संभावना को संभावना की सीमा प्रदान करने वाले कवि हैं। यही कारण है कि भारतीय जीवन को सांस्कृतिक दिशा की ओर निरन्तर उन्मुख करते रहने के लिए ही उन्होंने अपने कवि-कर्म को भारतीय जीवन शैली में ढालने की चेष्टा की है।

अतः काव्य-संस्कार की दृष्टि से उन पर विचार करने के संदर्भ में किसी एक की सीमा और किसी एक सीमा की संभावना से जोड़कर उन्हें नहीं देखा जाना चाहिए। वाल्मीकि, व्यास और कालिदास का महत्त्व शाश्वत राग की दृष्टि से ही नहीं, हमारे सनातन बोध और चिरन्तन भाव के आंतरिक सरोकार के कारण भी है. इसके बावजूद सम-सामयिक जीवन और जीवनादर्श का अपना विशिष्ट महत्त्व है। उनका महत्त्व वस्तुतः इसी विशिष्टता के कारण है। "राधा" इसी अर्थ में भारतीय साहित्य की विशिष्ट उपलब्धि है।

क्या 'राधा' का महत्त्व विचार काव्य के कारण है? क्या "राधा" महज 'महाभाव का काव्य है? विचार को भाव और भाव को विचार से बाँधकर देखने पर ही राधा की सार्थकता समझ में आयेगी। 'राधा' का मूल स्वरूप भावात्मक है या विचारात्मक? इस पर गम्भीर बहस की आवश्यकता है। क्योंकि, पुरुषार्थ पर्व में कवि का कर्म-दर्शन हमारे चिन्तन को उस ओर ले जाता है जहाँ भावना विचार की आंतरिक ऊर्जा बन जाती है, लेकिन प्रणय पर्व का मूल आधार भाव है, न कि विचार। उसी प्रकार विनोद पर्व में विचार भावाधीन है और निर्वेद पर्व में भाव विचाराधीन। निर्वेद पर्व विचार पर्व है जबकि प्रभास पर्व भावोद्दीप्त विचारों से पूरित। उसी प्रकार दर्शन पर्व में भाव और विचार के बीच रेखा खींचना असम्भव-सा लगता है। 'राधा' विचार कविता की अनिवार्य शर्तों से बँधकर भी विचार को बोध और बोध को विचार का नया मूल्य प्रदान करती है। अतः सूर अथवा तुलसी की काव्य-परम्परा से जोड़ कर 'राधा' का मूल्यांकन करना गम्भीर अपराध होगा। 'राधा' किसी परम्परा के कारण नहीं, अपितु नयी परम्परा को खुली स्वीकृति प्रदान करने की दृष्टि से अधिक महत्त्व रखती है।

महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री जीवन की समग्रता के कवि हैं। इसलिए 'राधा' में भारतीय संस्कृति और भारतीय जीवन की खुली दृष्टि युग-बोध के साथ अपना रागात्मक संयम स्थापित किए हुए है। शास्त्री जी भारतीय काव्य-परम्परा के एक विशिष्ट कवि हैं। उनकी विशिष्टता का कारण उनका काव्योत्कर्ष ही नहीं, उनका जीवन-बोध और काव्य-बोध भी है।

परम्परा की दृष्टि से कृष्ण काव्य गीतात्मक मूल्यों का वाहक है। तुलसी दास के युग में भी कृष्ण काव्य का अपना विलग स्वाद रहा। क्या कवियों ने अपनी व्यक्तिगत रुचि अथवा परम्परा बोध के कारण कृष्ण के जीवन के उन्हीं अंशों का स्पर्श किया, जो अंश अधिक कोमल हैं ? जिस कृष्ण ने अपने जीवन में विसंगतियों से कड़ा लोहा लिया, देश की बिखरी हुई आस्था को केन्द्रीयता का स्वर प्रदान किया; जिसने अपने अनगढ़ जीवन के प्रारम्भिक संस्कार को आभिजात्य का उत्कर्ष प्रदान किया; जिसने बचपन से लेकर बुढ़ापे तक न जाने कितने जड़वादियों में चेतना की नयी लहर पैदा कर दी। और जिसने कई महायुद्धों का नेतृत्व किया। जिसके पांचजन्य और सुदर्शन का दूसरा विकल्प नहीं ढूँढ़ा जा सका। जिसने सच को झूठ और झूठ को सच साबित करके धर्म के मर्म को परिस्थितियों की नैतिकता से जोड़ दिया, वैसे कृष्ण को बाल और किशोर जीवन की सीमा में बांध रखना उनके विशाल व्यक्तित्व के साथ घोर छलावा ही सिद्ध होगा। यह सही है कि राम का जीवन सपाट अधिक है। उनके जीवन का आदर्श शुरू से एक ही मार्ग की ओर बढ़ता रहा। उसके मूल में त्याग के साथ लोक-मर्यादा और लोक-मर्यादा के साथ व्यक्तिगत समर्पण का भाव अधिक है। राम अपने पुरखों द्वारा निर्धारित मूल्यों के प्रति प्रतिबद्ध हैं। परोक्ष रूप में उनके प्रेरणादाता कई लोग हैं। उन पर अनुशासन का दुर्वह भार है और दायित्वों की विकल मांग भी। श्री कृष्ण ने अपने जीवन की परिस्थितियों से धर्म और राजनीति को एक विलग रूप दिया। उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए, किये जाने वाले कर्त्तव्य का, किये जा रहे कर्त्तव्य से विमुख किया। श्री कृष्ण ने सदैव यही निष्कर्ष निकाला कि—

'परिस्थितियां नई संस्कृति सिरजती।'

सम्पूर्ण कृष्ण-काव्य-परम्परा में शास्त्री जी (एकमात्र) अकेले कवि हैं जिन्होंने श्री कृष्ण के समग्र जीवन को, अपने युग के मूल्य-बोध के साथ जोड़कर उसे मानव-आकृति प्रदान की है। श्री कृष्ण वही नहीं है जिसे हम रासलीला, पनघट लीला, गोचारण लीला आदि रूपों में देखते-सुनते आये हैं। श्रीकृष्ण

वही नहीं हैं जिन्हें पौराणिकों ने भक्ति के नाम पर उनकी मानवीय गरिमा को हास्यास्पद बना दिया है। शास्त्री जी ने प्रथम बार श्री कृष्ण के चरित्र को मध्ययुगीन मानसिकता और पौराणिक विकृतियों से बाहर निकाल कर अपने युग की आवश्यकता के साथ एक नये रूप में रखा है और उन्हें एक भव्य और सहज आकार प्रदान करने की चेष्टा की है। एक तरफ 'राधा' के कृष्ण परम्परा की जड़ पर पड़ी काई को छीलकर साफ करते हैं तो दूसरी ओर सामूहिक नृत्य के बहाने देश की बिखरी आस्था को राग का स्वर प्रदान करते हैं। श्री कृष्ण राष्ट्र नायक के रूप में अपने समय को एक आत्मीय ठहराव देना चाहते हैं। परम्परा द्वारा स्वीकृत भिन्न संस्कृतियों और भिन्न सभ्यताओं में विभक्त श्री कृष्ण, यहाँ जीवन का सम्पूर्ण यथार्थ) जीवन का सम्पूर्ण सच बन कर उभरे हैं। संभवत: कृष्ण-काव्य-परम्परा में 'राधा' प्रथम महाकाव्य है जहाँ एक नयी परम्परा का जन्म हुआ है। यहाँ रूढ़ि और अंधविश्वास का जनाजा निकाल दिया गया है। यहाँ मनुष्य का समग्र जीवन-अनुभव अपनी हीनता, क्षुद्रता द्वारा आत्मग्लानि से उबर कर अपनी आस्था तक पहुँची हुई दिखलायी देती है। यही कारण है कि प्रबन्ध के बन्ध में बंधे रहने पर भी श्री कृष्ण हमारे भावों में एक तरल आकर्षण पैदा करते हैं। वे हमारे विचारों को जीवन-सत्य के साथ एक नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य करते हैं। उनके जीवन पर जिस प्रकार की शंकाएँ उठायी जाती रहीं और जीने वाले जीवन से विमुख, लीला बिहारी के रूप में जो विशेषताएं जतलायी गईं, राधाकार ने उसे आधुनिक मनुष्य की संवेदना के रूप में जिए जाने वाले जीवन का अनुभवामृत पिलाया है।

'राधा' के प्रबन्ध या बन्ध पर न सोच कर 'राधा' के जीवन-बन्ध पर सोचने वाले लोग ही श्री कृष्ण के जीवन-दर्शन को भली-भाँति महसूस कर सकते हैं। वस्तुत: 'राधा' के श्री कृष्ण हमारे जीवन के संघर्ष-पथ से गुजरने वाले एक ऐसे पथिक हैं जिनका उद्देश्य है निरन्तर मानव-जीवन को परिष्कृत करते रहना।

समय की अपनी सीमाएँ होती हैं। युग की अपनी विवशताएँ होती हैं। मनुष्य भी कभी-कभी उसी के अधीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह अपनी सीमाएँ भूल जाता है। अपनी संभावनाओं का उचित मूल्यांकन नहीं कर पाता है वह। ऐसे दायित्वहीन मनुष्य में आत्म-निर्भरता और स्वावलम्बन का भाव भरने के लिए ही 'राधा' के श्री कृष्ण आभिजात्यों से टक्कर लेते रहे। एक व्यक्ति अपने दायित्व और अपनी गरिमा को

परिष्कृत करते रहने के कारण हमारे सम्पूर्ण मानव-जीवन के लिए प्रकाश पुंज बन गया। 'राधा' के कृष्ण इसी अर्थ में पूर्ण मनुष्य हैं, पुरुषोत्तम हैं।

शास्त्री जी ने शायद पहली बार यह जिज्ञासा भरने की चेष्टा की है कि मनुष्य ही सारी संभावनाओं का अंत नहीं है। संभावनाओं के परिष्कार के लिए सीमा का भी विस्तार करना होगा, अपने को दूसरे के साथ जोड़ने का संकल्प लेना होगा। जब तक अपनी व्यक्तिगत सीमा को सामाजिक सीमा के साथ जोड़कर व्यक्ति की निष्ठा को रागमय परिवेश नहीं दिया जाता, तब तक परिष्कृति हमसे कोसों दूर रहेगी। श्री कृष्ण (विशेषत: राधा के कृष्ण) वस्तुत: मनुष्य की सोच और सोच की दिशा को निरन्तर माँजने का प्रयास करते रहे। वे जीवन में डूबकर जीवन से उबरने की चेष्टा करते रहे। यही कारण है कि उनके पुरुषार्थ को 'राधा' में जिस ढंग से ओजपूर्ण अभिव्यक्ति मिली है, वैसी ओजस्विता आधुनिक हिन्दी कविता में अन्यत्र ढूँढना आसान नहीं है; यों कहें, दुर्लभ है। जीवन के यथार्थ को जब यथार्थ की अभिव्यक्ति मिलती है तो वह यथार्थ यथार्थ होकर भी कटु और शुष्क हो जाता है। उसमें न तो भावोद्दीप्ति रह जाती है और न लावण्य। राधाकार ने निर्वेद पर्व में युग के यथार्थ को मनुष्य के जीवन के यथार्थ से जोड़कर इसे मनुष्य की करुणा और सदाशयता के रूप में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है। श्री कृष्ण की विवशता एक व्यक्ति की विवशता न होकर सम्पूर्ण युग की विवशता है। युगपुरुष होने के बावजूद युग की सम्पूर्ण समस्याएँ, उनकी उँगलियों के संकेत पर अपने गन्तव्य का निर्धारण न कर सकीं। इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन-सागर में उन्होंने कंपन पैदा नहीं किया।

राधाकार ने भाव को राग का विस्तृत क्षितिज प्रदान किया है और विचार को गन्तव्य बनाया है। उसके साथ कठिनाई भी कम नहीं है। श्री कृष्ण के परम्परावादी मूल्यों के प्रति भले ही उसकी कोई रुचि न रही हो लेकिन उनके प्रभाववादी मिथक से विलग होना कठिन था। श्री कृष्ण प्रभाववादी रहे हैं लेकिन उनके प्रभाव को मनुष्य के दायित्व की सीमा में बाँध कर राधाकार ने उन्हें आस्थावादी बना दिया है।

कोई भी सचेष्ट और जागरूक कवि युग बोध के साथ-साथ दिशा-बोध से विलग होकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं कायम कर सकता।

'राधा' के श्री कृष्ण अपने युग के साथ-साथ हमारे युग की संवेदना को भी गहराई के साथ पकड़े हुए हैं। 'राधा' में प्रबन्ध का बन्ध न तो कथा के

कारण है और न घटनाओं के कारण । अपितु, उसका बन्ध विचार-प्रवाह और चिंतन की प्रगाढ़ता के कारण है । सोच और सोचने के क्रम में प्रत्येक सोच की अनुभूति सानुबद्ध नहीं हुआ करती । 'राधाकार' ने सोच को सोत्र के रूप में यथावत् अभिव्यक्त किया है । इसलिए प्रथम बार इस महाकाव्य में सोच के अनुकूल कविता का बन्ध दिखलायी देता है । एक ही सोच के साँचे में घटनाओं को न तो ढाला गया है और न किसी एक ही मूल्य के लिए पात्रों के अस्तित्व को किसी पूर्व निर्धारित ढाँचे में ढाला गया है । यही कारण है कि राधा विचार को बोध का सम्बल देती है और बोध को भाव का विस्तार । यहाँ श्री कृष्ण बोध की सीमा बनकर आए हैं । उसी प्रकार 'राधा' हमारे भाव का विस्तार बनकर आयी हैं । 'राधा' में कवि ने युग और परिवेश को आत्म-विस्तार का रागात्मक स्वर प्रदान किया है ।

श्री कृष्ण का प्रेमिल जीवन उनके पुरुषार्थ में अपरिमित ऊर्जा भरने का कार्य करता है । अतः शास्त्री जी ने जीवन के द्वन्द्व को भाव और विचार के द्वन्द्व के रूप में रखा है । 'राधा' की राधा जीवन और खुले जीवन के सच को राग की ऊँचाई देती है । उसी प्रकार राधा के श्री कृष्ण जीवन के यथार्थ को पुरुषार्थ और विचार की गहराई प्रदान करते हैं । अकेली ऊँचाई और अकेली गहराई का कोई महत्त्व नहीं, जब तक दोनों में विस्तार न आ जाए । दोनों के जीवन की परिस्थितिजन्य विवशता दोनों के जीवन के लिए समग्र सच बन गयी है जो दोनों को एक दूसरे से पृथक् रखकर भी भाव और विचार दोनों दृष्टि से लयबद्ध बनाए रखती है । लयबद्ध जीवन के कारण ही 'राधा' की प्रकृति विचार और भाव दोनों को समतोल किए हुए हैं । अतः राधा हमारे लयबद्ध जीवन को भाव और विचार से अनुबद्ध करनेवाला द्वन्द्व प्रकृति का महाकाव्य है । किसी भी महान् कवि की सार्थकता इसी बात में छिपी होती है कि वह अपनी कविता में द्वन्द्व को किस सीमा तक उभारता है और किस हद तक उसे अपने विचार के अनुशासन में बाँध कर रागात्मक अभिव्यक्ति देता है । समय की सीमा के भीतर कविता की सीमा का निर्धारण करनेवाला कवि भले ही किसी काल-खण्ड का लोकप्रिय कवि बन जाए, लेकिन जो कवि अपने वर्तमान की सीमा से काफी आगे जाकर समय की संभावनाओं को जीवन के व्यावहारिक मूल्यों के रूप में रूपान्तरित करता है—वही महान् कवि है । अतः वैसे कवि की कविता न तो कभी धुँधली होती है और न कभी बासी । जीवन की ऊष्मा और राग की प्रबलता के कारण बोध की मर्यादा निहित होती है उसमें ।

'राधा' मनुष्य के भाव और बोध की सीमा बनकर आयी। इस युग में समय की चेतना को सनातन राग के रूप में बौद्धिक अभिव्यक्ति प्रदान करने के कारण ही 'राधा' अपना कोई दूसरा प्रतिमान नहीं जानती। समग्र रूप में कहें तो आधुनिक हिन्दी कविता को राग की सीमा और सीमा के राग से लयबद्ध करने के कारण ही [एक मात्र अकेली कृति के रूप में] वह हमारे सोये संस्कार को जगाती है। निष्कर्षतः मैं कह सकती हूँ कि 'राधा' अपने समय की सीमा को मनुष्य जाति की संभावनाओं से जोड़ने वाली एक अक्षय कृति है। एक ऐसी कृति जिसे न तो हम किसी समय की सीमा में बाँध सकते हैं और न किसी कविता की खास प्रवृत्ति में बाँट सकते हैं। 'राधा' जीवन राग की कविता है। यह राग मनुष्य को नये सिरे से मानव-संस्कृति की दिशा बताने की प्रेरणा देता है। राधा का सच जीवन के यथार्थ को अनुभव के रूप में भोगता है और अपनी ही विसंगतियों से अनुभव लेकर भविष्य के लिए किये जानेवाले कर्त्तव्य को बार-बार समय की गति के साथ लयबद्ध करना चाहता है।

हम जिस जीवन को जीते हैं उस जीवन से हटकर जीवन की समस्याओं का कोई ठोस निदान नहीं दे सकते। जीवन में ऊँचे आदर्शों की स्थापना तभी हो सकेगी जब हम जीवन के यथार्थ को यथार्थ के रूप में देखें और उसका निदान भी यथार्थ परक ढंग से करें, खोजें। 'राधा' में आदर्श और यथार्थ के बीच भी द्वन्द्व है। यह द्वन्द्व मनुष्य की चेतना के राग को एक आलोक-वृत्त प्रदान करता है। 'राधा' में जितने भी पात्र हैं वे मानवीय जीवन क्षितिज में छिटकने वाले दिव्य आलोक की तरह हैं। वे अपने आलोक से मनुष्य की सीमा को सीमा की सभावना की ओर आकृष्ट कर रहे हैं। 'राधा' इस दृष्टि से न केवल हिन्दी की और न केवल भारतीय भाषाओं की अपितु शताब्दियों तक अपनी गुणात्मक गरिमा का आलोक विकीर्ण करनेवाली विश्व-साहित्य की एक अनोखी उपलब्धि है।

अनोखी इस अर्थ में कि इस महान् काव्य में परम्परा से होकर, आधुनिकता की स्वीकृति उस अनुपात में नहीं मिलती जितनी आधुनिकता से होकर एक विलग परम्परा की नींव डाली गयी है।

'राधा' बहुस्तरीय महाकाव्य है। अतः किसी एक पक्ष को ध्यान में रखकर दूसरे पक्ष पर उँगली उठाना और दूसरे पक्ष को प्रासंगिक मानकर तीसरे पक्ष को नजरअन्दाज करना उचित नहीं होगा।

'राधा' के रचयिता का सीधा सरोकार है मनुष्य से। वह मनुष्य की सीमाएँ भी जानता है और उसकी क्षमताएँ भी। लेकिन मनुष्य के ऊँचे आदर्शों को कवि ने यथार्थ की अनुभूति देने की चेष्टा की है। 'राधा' का सामाजिक दृष्टिकोण इसी कारण अत्याधुनिक है। यही आधुनिकता इस महाकाव्य की विरल पहचान है और यही उसकी विलग उपलब्धि।

●

द्वारा—शत्रुघ्न प्रसाद सिंह (प्रमुख)
ग्राम–लगुरांव, पो०–डुमरी
जिला–वैशाली (बिहार)

'राधाः'
बन गयी कहानी यह पहली

□ दृष्टि और दिशाएँ

□ सीमा और उपलब्धि

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

दृष्टि और दिशाएँ

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

जब कोई महान् साधक गंभीर साधना, आत्म-चिंतन एवं युग-सापेक्ष दृष्टि को सृजनात्मक रूप देकर.उसे कीर्तिलब्ध बनाता है तब किसी महान् काव्य की सृष्टि होती है। महान् काव्य किसी युग, किसी देश, किसी परिस्थिति-विशेष को लेकर लिखा जाता हो, ऐसी बात नहीं, अपितु उसमें कालजयी दृष्टि होती है; देशकाल-परिस्थितियों को उचित दिशा देने की अपूर्व शक्ति होती है। उसमें स्थिति तो होती ही है, संभावनाएँ भी पूर्णता से समाविष्ट होती हैं। अर्थात् देश, काल एवं परिस्थितियों के भीतर उसमें ऐसे तथ्यों का निरूपण किया जाता है जो सम्पूर्ण रूप से मानवीय मूल्यों को प्रभावित कर सके और उसे समुचित दिशा दे सके।

हमारे देश में कुछ ऐसे महाकाव्य लिखे गए, जो सम्पूर्णत: विश्वजनीन दृष्टि को लेकर चले हैं और जिनके प्रारूप अपनी गुणवत्ता और इयत्ता में विश्व के लिए ध्रुवतारक सिद्ध हुए हैं। इसका मूल कारण यह है कि भीषण तपस्या के पश्चात् हमारे मनीषियों के हृदय में मानव-हित के लिए अनुभूतिजन्य भावात्मक उन्मेष बोध के स्तर पर रूपान्तरित होकर शब्दों से बंधे हैं; भावों में गुँथे हैं, चित्रों, रगों, पदशय्याओं एवं वर्णनात्मक आकृतियों में सजे हैं,—सचमुच वही महाकाव्य भी है। महाकाव्य के लिए परम्परागत सर्गबद्धता, छंद, भाषा, अलंकार, गठन विधि और निर्धारित उद्देश्य जैसी पारम्परिक शब्दावली की ओर न जाकर हम कहना चाहेंगे—जो कवि अपने तप और कठिन साधना को अपनी वाग्मिता द्वारा उपयुक्त शब्द-विधान के माध्यम से महत् उद्देश्य, महती काव्य-प्रतिभा, सफल सांग रस-परिपाक एवं कथन-प्रवाह को, चरित्र अथवा निष्ठा के स्तर पर काव्यात्मक भाषा

में रूपान्वित करता है—सही अर्थ में वही महाकवि है। इसके सम्बन्ध में राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में लिखा है—

"शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किंचन नूतनम् ।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः ।"

इस दृष्टि से हिन्दी कविता में मंगल तारा की तरह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाले आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री निश्चय ही महाकवि हैं। यद्यपि शास्त्रीय विषयों पर अखण्ड आधिपत्य रखने वाले एक विदग्ध विद्वान् के रूप में उनकी ख्याति अधिक है और वे शास्त्र कवि के रूप में अधिक सम्मानित हैं, किंतु उनकी कविता में शब्दों, अर्थों और उक्तियों के बीच जो इंद्रधनुषी सेतुबंध है, वह इस बात का प्रमाण है कि शास्त्री जी शास्त्र कवि होते हुए भी नवीन भावों के उन्मेष को नये ढंग से, नये मूल्यों के साथ नयेपन का बोध कराने वाले प्रगतिशील कवि हैं। प्रगतिशीलता का सम्बन्ध मनुष्य की विकासमूलक प्रवृत्तियों और मानववादी भाव-वृत्तियों के साथ-गंभीर रूप से जुड़ा रहता है। केवल बने-बनाए विचारों, आदर्शों और दर्शनों का खंडन या मण्डन करना प्रगतिशीलता नहीं है। प्रगतिशीलता में निर्माण की अपरिमित शक्ति होती है। प्रगतिशील कविता ऐसी सृष्टि है जिसमें कला अथवा रूप की ही प्रमुखता नहीं होती, अपितु उसमें जीवन्त-तत्त्वों की प्रमुखता होती है। वह मूल रूप से स्फूर्तिदायक, वीरत्वव्यंजक तथा आशा और आस्था का संदेशवाहक होती है। इसमें यथार्थ की सुन्दर अभिव्यक्ति, मानववादी संस्कृति की कल्पना और ऊँचे आदर्शों की संपृक्ति होती है। उसमें जीवन की असंगतियों और अन्तर्विरोधों को समझ कर विकास और प्रतिगामी शक्तियों का संघर्ष प्रस्तुत किया जाता है।

प्रगतिशीलता के लिए अभिनव कलावंत रूप का उतना ही महत्त्व है, जितना जीवंत आस्था का, जीवन्त प्रवृत्तियों का। इस दृष्टि से जब मेरी दृष्टि 'राधा' की ओर जाती है, तो लगता है कि यह ज्ञानकोश के रूप में समादृत कृति है। इसमें लोकाचार के जीवन्त परमाणु, आध्यात्मिकता की रक्तिम आभा, दर्शन का सतरंगी प्रकाश एवं विज्ञान की नक्षत्रजयी ऊँचाई, सब स्वतः ही समाहित हो गए हैं। यहाँ धर्म को कवि ने कर्त्तव्य समझा है और प्रणय को विश्वास। यहाँ प्रेम रागबद्ध होकर वैयक्तिक सुख एवं आनन्द के लिए परिवेश नहीं ढूँढ़ता, अपितु परिवेश के आनंद के लिए वैयक्तिक सुखों को, समृद्धि को, आनंद को तिलांजलि दे देता है। निष्ठा, जो राधा बन गई है, वह निश्चल नेह की तरलता में भी आत्म-विमुग्ध नहीं होती। उसमें परिवेश

को सुख-समृद्धि देने की चिन्ता लगी रहती है और कृष्ण जो प्यार बन गया है, अनुराग बन गया है—कर्त्तव्य की कठोरता की ओर उन्मुख होकर ही उस अनुरागमयी निष्ठा को अपनी शक्ति के रूप में पुंजीभूत मानता है और उस शक्ति से कर्त्तव्य-पथ को मापना चाहता है। एक ओर होली का आनंद मनाया जा रहा है। सभी आनंद में लहालोट हैं। एक प्रेमिल आत्मा निर्जन में अपने जीवन के रेतीले तट पर खड़ी है। एकाकी देख रही है अपने जीवन की क्षीण धारा की ओर। उसे भी अबीर और गुलाल की आवश्यकता थी, लेकिन होली खेलने वाला उसका प्रेमी उसके वैयक्तिक परिवेश से हटकर दूर चला गया है और विश्व-कल्याण के लिए सामाजिक पथ का पथिक हो गया है। होली के इस अवसर पर किसी एक का फिक्र शायद नहीं है उसे। क्योंकि वह विश्व से गले-गले मिल रहा है। लेकिन अनुरागमयी स्वर्णवर्णा उस आराधिका को इससे असंतुष्टि नहीं; तृप्ति है। तभी तो वह कहती है—

"घर-घर होली की धूम मची,
घर एक किसी का जला, जला!
तुम मिले विश्व से गले-गले,
यदि एक किसी को छला, छला!

स्पष्ट है कि राधा सामाजिक मूल्यों को अधिक महत्त्व देती है। उसकी दृष्टि में वैयक्तिक सुख-दुःख की अपेक्षा सामाजिक कल्याण का महत्त्व अधिक है। यह सामाजिक मूल्य निश्चय ही उसके प्रेमी कृष्ण को शक्ति दे चुका है। तभी तो 'उत्सर्ग-पर्व' की इस राधा की आवाज 'पुरुषार्थ-पर्व' के कृष्ण में ध्वनित होती है—

"कौन है तू, यह कभी मत भूलना,
कुसुम, काँटों में तुझे है फूलना!"

× × ×

"गरलपायी को पिला वसुधा-सुधा
तीव्र करनी है मृतक-जीवन-क्षुधा!"

और कृष्ण के इस महान् जीवन-अभियान में राधा प्रेरिका के रूप में शक्ति देती है। उस शक्ति को ग्रहण करने वाला कृष्ण उससे याचना कर चुका है कि—

"शक्ति हे, भू - क्षेप - भव - संचारिणी,
अंध - तामस - सिंधु - तरणी, तारिणी!

दे मुझे साहस विषम विद्रोह का,
कर सकूँ मैं शमन मन के मोह का !
दे मुझे दुद्धर्ष बल संघर्ष का,
लोक - हित निश्लोक प्राणोत्सर्ग का !"

स्पष्ट यह कि 'राधा' लोक-ध्वनि का महाकाव्य है। इसमें कथात्मक संवेदना की अपेक्षा विचार-बोध ही मुखर है। प्रथम दो पर्व एकालाप पद्धति में है, तृतीय और चतुर्थ वार्त्तालाप शैली में। पंचम और षष्ठ पर्व में नाटकीय भंगिमा अधिक है और उसमें विश्व की अनेक समस्याएँ समाहित हैं। मानव-पक्ष की अनेक सम्भावनाएं, चिन्तन और बोध के स्तर पर रूपान्वित हुई हैं। कृष्ण का कर्त्तव्य-पथ काफी विस्तृत और लम्बा है तथा उनके चिंतन में राधा एक महती शक्ति बनकर अपरोक्ष रूप में उनकी आस्था के स्वर्णासन पर विराज रही है। वह आस्था, अनुराग के पीठ पर आसीन है और कर्त्तव्य का अनुपालन करने वाला कृष्ण सदैव उसी से आत्मिक स्तर पर जुड़ा हुआ है। प्रगतिशील प्रतिमानों के निकष पर 'राधा' आधुनिक हिन्दी काव्य का सुमेरु शिखर है। अस्तु, इसका भूगोल गोकुल से बरसाने, बरसाने से वृंदावन, वृंदावन से मथुरा, मथुरा से द्वारिका, द्वारिका से प्रभास क्षेत्र,— प्रभास क्षेत्र से पुनः ब्रज तक सीमित है, लेकिन बोध के स्तर पर इसका भूगोल खगोल तक पहुँचा हुआ है। ज्योतिविद्या, नक्षत्र विद्या, भू-गर्भ विद्या, परा मनोविज्ञान, योग-दर्शन एवं सामाजिक संवहन की अपरिमित शक्तियाँ यहाँ एक साथ ही घनीभूत हो गई हैं।

यह महाकाव्य अपने विविध आयामों में नयेपन को एक अभिनव मूल्य के रूप में स्वीकार करता है। इस महाकाव्य की स्थापना है—संस्कृति स्वयं में एक मूल्य है। संस्कृति का विकास गतिशील इतिहास के परिप्रेक्ष्य में होता है। कालगत आयाम इसे दीर्घता प्रदान करता है, जिससे संस्कृति व्यापक सीमा छूती है, मनुष्य की आदिम आस्था से लेकर अद्यतन विकास की यात्रा तक। 'राधा' महाकाव्य की गोपियाँ, वैयक्तिक जीवन के स्तर पर वन्य संस्कृति के उन मूल्यवाही तत्त्वों को कलात्मक रूप में अंगीकार करती हैं जहाँ अनगढ़पन नहीं, व्यवस्था है, संगठन है, सुसंबद्धता है, गति है और जीवन के गतिशील मूल्यों के प्रति आस्था है। यथा—

(१) "प्रणय है अनुसरण,
उनके आचरण का आज

कल हुआ हो रास,
फैले आज कितने काज !"

यहाँ रास के माध्यम से गोपियाँ समाज के उपेक्षित तबकों में उल्लास की लहर दौड़ाना चाहती है। वन्य और ग्राम्य संस्कृति में घुले-पचे लोगों में आत्म-निष्ठा एवं आत्म-निर्भरता लाकर प्रगतिशील मूल्यों की ओर बढ़ने की प्रेरणा देती हैं। उन की स्थापनाएँ इस बात का ज्वलंत प्रमाण है—

"अब गँवार नहीं रहेंगे,
हम न हारें दाँव।"

× ×

"नयी संस्कृति सिर-घुटों पर
जब करेगी छाँव,
मेट मैला भाव सोयें, श्रान्त,
फैला पाँव।"

'राधा' का कवि मनुष्य को ही संस्कृति और सही मूल्यों का केन्द्र मानता है। इसके लिए उसने सामाजिक संगठन एवं मानवीय विकास के लिए ऊपर से नीचे की ओर नहीं; अपितु, नीचे से ऊपर की ओर बढ़ने की प्रेरणा लोगों को दी है। ग्राम्य संस्कृति जिसके उत्थान की कल्पना, वन्य सन्दर्भों से जुड़कर कृष्ण ने की है और उसे नागर संस्कृति की सीमा में बाँध कर मथुरा में अत्याचारी कंस का वध किया है और फिर नागर संस्कृति के रूप में द्वारकाधीश बनकर चिन्तन के केन्द्र में गोकुल की उस एकांत साधिका राधा को रखा है वह संस्कृति मूलतः मंडलाकृत है, जहाँ वन्य संस्कृति, ग्राम्य संस्कृति के योग से एक नयी संस्कृति के रूप में पनपेगी। यह संस्कृति के रूप मे राजन्य प्रेरित न होकर लोकजन्य होगी और यह लोक जन्य संस्कृति ही नयी मानवता के हित के लिए सबसे अधिक श्रेष्ठ सिद्ध होगी। वहाँ समय का बोध होगा, वैयक्तिक सीमाओं से ऊपर उठकर सभी सामाजिक मूल्यों को अपनाएँगे। वहाँ सर्वानुमति अथवा सर्व सम्मति से निर्णय लिए जाएँगे—

"एक लक्ष्य : विकास जीवन का,
सुगठित प्रयास।
हो अशेष समग्र के
मुख पर खिले शुचि हास।"

वहाँ व्यष्टि और समष्टि का भेद न होगा। वहाँ व्यक्ति ही समष्टि और समष्टि ही व्यक्ति का अभिन्न अंग बन जाएगी। वहाँ मुट्ठी भर धन कुबेरों की

चलती न होगी, अपितु, उपार्जित सम्पत्ति के उपभोक्ता समाज के सभी लोग होंगे। समाज का प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र का प्रहरी होगा और श्रम पर आधृत समाज मानववादी जीवन के लिए समर्पित होगा।

'राधा' की प्रगतिशीलता हमारी संस्कृति के लोकवाही तत्त्वों की वाहिका है। 'राधा' में ललिता की मूल स्थापना इसके ज्वलंत प्रमाण हैं :

(१) "सब करें श्रम, सर्व हित,
उद्दाम हो उत्साह।
मानचित्र नया धरणि का,
गगन का परिणाह।"

(२) सैन्य-शक्ति समेट, जन
सैनिक बने प्रत्येक।
छत्र एक नहीं, कि—
सामूहिक समाज विवेक।"

'राधा' में शोषण के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की गई है। जैसे—

(१) "सोख कर सागर रखेगा
कहाँ सूर्य निधान?
बरसना ही है उसे,
किरणें बचाएँ जान।"

(२) वेग रचना का उचित,
अनगढ़ अभी है विश्व,
धनकुबेर कि मुष्टिका भर,
विश्व सारा निःस्व।"

मुझे लगता है—'राधा' महाकाव्य का कवि इस बात से पूर्ण सहमत है कि संस्कृति जीवन की गति प्रदान करने का एक तरीका है और यह तरीका पारस्परिक रूप में ग्राह्य रहता है। नये संदर्भों में, बदलते समाज में, 'राधा' में स्थापित मूल्य निश्चय ही लोक-ग्राह्य हैं। समाज और कुछ नहीं, अंततः मनुष्य ही है। 'राधा' की गोपियाँ इस अर्थ में पारम्परिक भले ही हों—"न मनुष्यात् श्रेष्ठतरम् हि किंचित्," लेकिन मनुष्य की अक्षुण्ण सत्ता और महत्त्व के प्रति जो उनकी दृष्टि है, निश्चय ही प्रगतिशील है। उनकी उक्ति इस बात का प्रमाण है कि प्रगतिशीलता बाहर से लायी हुई वस्तु नहीं, अपितु, वह हमारी परम्परा, हमारी संस्कृति और हमारे सामाजिक मूल्यों की कुक्षि

से उत्पन्न वैयक्तिक बोध है। वेद कहता है—"हे मनुष्य ! तू प्रगतिशील बन, तू संसार में ताना-बाना बुनता हुआ प्रकाश का अनुसरण कर, बुद्धि से बनाए हुए प्रकाशमय पथ की रक्षा कर, ज्ञानी व कर्मठ जनों के सरल कर्म का विस्तार कर; तू वास्तव में मनुष्य बन।" 'राधा' मनुष्य की संपूर्ण स्थिति और उसकी संभावनाओं को संभवत: इसीलिए आत्म-भोक्ता के स्तर पर स्वीकार करती है। लगता है, कवि पाठकों के कान में मंत्र फूँक रहा हो—"स्वयं को पहचानो, यह मत समझो कि तुम्हें कोई ईश्वर देख रहा है। मानवता के सम्यक् अध्ययन का आधार स्वयं मानव ही है।" लगता है, कवि के कहने का अभिप्राय सृजनशील मनुष्य से है जो मूल्यों का स्रष्टा भी है, भोक्ता भी और वाहक भी। वस्तु स्थिति यह है कि 'राधा' का कवि जितना बड़ा कवि है, उतना हीं बड़ा दार्शनिक भी। गम्भीर दार्शनिक हुए बिना श्रेष्ठ कवि नहीं बना जा सकता। मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में गम्भीर विचारणा किए बिना, कवि-कर्म अधूरा रह जाता है। वास्तव में कोई कवि जीवन का एकीकृत, अर्थपूर्ण परिप्रेक्ष्य प्राप्त किए बिना जीवन की समन्वित दृष्टि की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। उसका कथ्य व्यापक सन्दर्भों से असंपृक्त होने पर केवल शिल्प-जाल में उलझ कर रह जाएगा। अत: कवि को उक्त रूप में दार्शनिक बनना ही पड़ेगा। यह सौभाग्य है कि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री गम्भीर दार्शनिक भी हैं और कई भाषाओं के निष्णात पंडित भी। यही कारण है कि 'राधा' में उन्होंने विविध सांस्कृतिक क्रियाओं को प्रतिक्रिया के अर्थ में नहीं, अपितु एक जीवन बोध और जीवन-यापन के स्तर पर स्वीकृति दिलायी है और मानवीय मूल्यों की वैज्ञानिक व्याख्या की है। 'राधा' में भावात्मक, बौद्धिक एवं भौतिक शक्तियों का अध्यात्मीकरण ही नहीं किया गया है, अपितु, आध्यात्मिक शक्तियों को भौतिक स्तर पर विश्लेषित कर नई संवेदनाओं और प्रतीकों को मूल्यों के रूप में आकलन भी किया गया है।

'राधा' जीवन-मूल्यों की दृष्टि से त्रिकोणात्मक दृष्टि लिए हुए है। पहली दृष्टि वह है जो शुद्ध वैयक्तिक है; 'राग' को सर्वोपरि मानती है। अपनी व्यक्तिगत सीमा को रागानुरंजित रखना चाहती है। उसकी दृष्टि में प्यार की सीमा वृत्तानुप्रेरित है और वह नायक श्रीकृष्ण को उसी वृत्त में आवेष्टित देखना चाहती है। वह दृष्टि शुद्ध रूप से पारम्परिक प्रणय का तदात्मक सूत्र है। उसका प्रतिनिधित्व चन्द्रा करता है। दूसरी दृष्टि वह है जो वैयक्तिक सीमाओं को परिष्कृति समष्टि को मानती है। सामाजिक कल्याण एवं समाज

के हित के लिए व्यक्ति को बड़ा से बड़ा त्याग करने के लिए सदैव तैयार रहना चाहिए, समाज व्यक्ति से बना है और व्यक्ति ही समाज के विकास का आधार स्तम्भ है। अतः समाज में समता, समानता, सद्भाव, सुख और समृद्धि लाने के लिए, व्यक्तिगत हितों को, सुख-सुविधाओं को, राग और मोह की सीमाओं को तोड़ना होगा, और यह तभी संभव है जब समाज का प्रत्येक व्यक्ति संगठन में विश्वास रखे, आत्मनिर्भर बने और स्वावलम्बी बनकर समाज के शोषित प्रताड़ित लोगों में आस्था का मंत्र फूँके एवं प्रगति की ओर उसे साथ ले चलने का संकल्प ले। इस दृष्टि का प्रतिनिधित्व ललिता करती है। 'राधा' की तीसरी और सबसे महत्त्वपूर्ण दृष्टि है ज्ञानानुप्रेरित संयम, त्याग और तप की। व्यक्ति त्यागी, तपस्वी, और संयमी बने। वह व्यक्तिगत सीमाओं से ऊपर उठकर परमसत्ता में अपनी परिणति ढूँढ़े। यदि समाज के नैतिक उत्थान और उसके आध्यात्मिक उन्नयन में उसकी व्यक्तिगत भूमिका की बात आती है— तो वह प्रेम द्वारा, उन मूल्यों को शक्ति दे। वह प्रतिदान में विश्वास न रखे, व्यक्ति का दायित्व है त्याग और बलिदान के मार्ग का अवलम्बन करना। वह प्यार को दो व्यक्तियों में बाँध कर, परस्पर रागोन्मेष तक ही सीमित न रखे। अपितु राग को अपरिमित शक्ति देकर उसे उष्ण बना दे जिसमें मोह, मद, द्वेष, और व्यक्तिगत सुख के कण जल जाएँ उससे एक सात्त्विक आभा निखरे और उस आभा से दिशाओं को आलोक मिले। वह आभा एक शक्ति होगी, एक अक्षय ऊर्जा। वही ऊर्जा युग-धर्म को गति देगी और प्रगति-पथ की ओर बढ़ने की प्रेरणा भी देगी। वह व्यष्टि साधना के बल पर समाज में मानसिक परिवर्तन लाने में विश्वास रखती है, वह व्यक्ति एवं समष्टिगत सीमाओं से ऊपर उठ चुकी है। उस दृष्टि में व्यक्ति की साधना और तप यदि त्यागानुप्रेरित होगा तो निश्चय ही व्यक्ति और समष्टि सबों का कल्याण होगा। इसीलिए राग के स्तर पर जहाँ वह रह जाती है उसी को पूर्ण मान लेती है। उसी पूर्णता में समष्टि के समस्त भाव उसके व्यक्तित्व के अंग बन जाते हैं। इस तीसरी दृष्टि का प्रतिनिधित्व 'राधा' करती है। अतः राधा यथार्थवाद, आदर्शवाद एवं अध्यात्मवाद की त्रिसूत्रात्मक बुनावट है, जो एक-दूसरे से पूर्णतः गूँथे हुए हैं। उसका एक-एक रेशा राधामय है।

●

सीमा और उपलब्धि

□ डॉ० रामप्रवेश सिंह

आधुनिकता के सन्दर्भ में परम्परा की सीमा और उपलब्धि की पहचान काफी महत्त्व रखती है। महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री परम्परा की सीमा और उपलब्धि की विलग पहचान बनकर हिन्दी में आने वाले अपने ढंग के अकेले कवि हैं। संस्कृत, बंगला, अंग्रेजी, उर्दू और हिन्दी के अगाध विद्वान् होने के कारण उन्हें अपनी परम्परा की विपुल विरासत मिली है। लेकिन वे परम्परा का होकर परम्परा को परम्परा की अग्रिम पहचान प्रदान करने वाले कवि नहीं, अपितु परम्परा की सीमा बताकर एक भिन्न परम्परा को प्रगतिशीलता का विलग प्रतिमान प्रदान करने वाले कवि हैं। वे परम्परा को जितने सम्मोहक ढंग से पकड़ते हैं। उतनी ही बेदर्दी से उसे झटका देकर धाराशायी भी कर देते हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सचेष्ट और जागरूक कवि होने के कारण वे अपने को किसी खास परम्परा और किसी खास दर्शन का पक्षधर होने नहीं देते।

शास्त्री जी जीवन में डूबकर जीवन से उबरने वाले कवि हैं। अतः उन्होंने अपनी कविता में जीवन को अपने अनुभव का विस्तार दिया है। ठीक उसी तरह अपने ज्ञान का अनुशासन भी। शास्त्री जी शास्त्रीय ज्ञान के प्रत्येक स्रोत से गंभीर लगाव रखने वाले कवि हैं। फिर भी उन्होंने शास्त्र से जीवन को अधिक महत्त्व दिया है। उनकी मान्यता है—"जीवन गढ़ने के लिए शास्त्रों का निर्माण हुआ है, शास्त्र गढ़ने के लिए जीवन नहीं बनाया गया। क्योंकि स्वयं जीवन शास्त्रों से कहीं अधिक मूल्यवान है।"

शास्त्री जी ने जीवन-अनुभव को ही ज्ञान की सीमा स्वीकार की है। जीवन स्तर को ऊँचा उठाने की कला ही ज्ञान है और ज्ञान जीवन की सीमा को मनुष्य के विकास की संभावना से साक्षात्कार कराता है।

परम्परा की एकरूपता और उसकी एक रूढ़ीय गतिशीलता के प्रति शास्त्री जी अपना कोई आग्रह नहीं रखते। उनकी स्वीकृति है—"भारत में कोई खास परम्परा नहीं, पम्पराएँ हैं। एक परम्परा को तोड़कर दूसरी परम्परा कायम करने की परम्परा है।" शास्त्रीजी के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे परम्परा की प्रगतिशीलता की अपेक्षा प्रगतिशील परम्परा को अधिक महत्त्व देते हैं।

भारतीय साहित्य में श्री कृष्ण मिथक किसी खास परम्परा का पोषण नहीं करता, अपितु भिन्न परम्पराओं को भिन्न-भिन्न ढंग से अभिव्यक्त करता है।

अतः कृष्ण काव्य परम्परा में श्री कृष्ण पूरे रूप में किसी एक परम्परा के प्रतिमान नहीं बन सके। गीता जैसी उत्कृष्ट कृति की आंतरिक चेतना भी परम्परा की विभिन्नता और चिंतन की विविधता को ही महत्त्व देती है।

जब 'राधा' काव्य में शास्त्री जी के कवि-कर्म पर सोचते हैं तो इसी प्रकार के विचार हमारे मस्तिष्क में कौंधने लगते हैं। शास्त्री जी ने 'राधा' महाकाव्य को अपने समय और परिवेश का नया अनुभव प्रदान किया है। शास्त्री जी किसी खास दर्शन और किसी बँधी बँधायी मान्यता से भिन्न अनेकांतवादी जीवन-दर्शन को अपने सात्त्विक विचार एवं नैष्ठिक आचार की एक विलग आकृति प्रदान की है।

'राधा' में विचारों की अनेकता है, समाधानों की विविधता है, मांगों की विभिन्नता है। यकीनन वह हमारे जीने वाले जीवन को जिए हुए जीवन का व्यापक अनुभव प्रदान करनेवाली कृति है। हम जैसा जीवन जीने के लिए अभ्यस्त हैं, उसी का प्रतिपादन करना 'राधाकार' का लक्ष्य नहीं है; अपितु जीनेवाले जीवन के लिए, ऊँची संभावनाओं का अनुसंधान करना भी कवि का लक्ष्य है। 'राधा' में जीने वाले जीवन की अपेक्षा जिए जाने वाले जीवन की अनेक संभावनाओं का पता लगाया गया है।

'राधा' में शास्त्री जी ने जीवन की विकासमयी उपलब्धियों को निरन्तर समेटने की चेष्टा की है। वे बदलते हुए युग के बदलते आदर्शों के प्रति भी अपनी खुली दृष्टि रखते हैं। अतः शास्त्री जी की प्रगतिशीलता चिरकाल से चलती आ रही जीवन-प्रवृत्ति नहीं, जीवंत आस्था की भिन्न प्रकृति है। वे काव्य-प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवंत सस्कृति को अधिक महत्त्व देने वाले कवि हैं। यही कारण है कि जीवन की विभिन्न धाराओं को जीवन के विभिन्न विश्वास और

जीवन के विभिन्न संस्कार के रूप में विलग ढंग से आकृति प्रदान करने के लिए उन्होंने 'राधा' में विभिन्न पात्रों की सृष्टि की है।

अत: शास्त्री जी का रचना-संसार, जीवन को जीवन से जोड़ने और जीवन की संभावनाओं को जीवन के यथार्थ से साक्षात्कार करानेवाला एक विलग संसार है। यही कारण है कि इनकी कविता में जीवन की अनुभूत संवेदना एवं मानववादी चेतना एक भिन्न प्रतिदर्श के लिए, भिन्न प्रतिमान ढूँढ़ती नजर आती है। इनके सृजन में मानव अनुराग की असंख्य रश्मियाँ विकीर्ण हो रही हैं। एक ऐसा सृजन, जिसमें कला अथवा रूप-तत्त्व की ही प्रधानता नहीं, उसमे कहीं अधिक जीवंत तत्त्वों की प्रधानता है।

शास्त्री जी अपने समय के कवि नहीं, अपने समय से काफी आगे के कवि हैं। 'काकली' से लेकर 'धूपतरी' और 'रूप अरूप' से लेकर 'गाथा' की काव्य-प्रकृति, उनके परिवर्तनशील दृष्टिकोण के परिचायक हैं।

उसमें परिवर्तन की सभावना न तो अभी समाप्त हुई है और न कम हुई है। समाज को गतिशील बनाने के लिए जिस संकल्प और जिस प्रेरणा की आवश्यकता होती है, वही परम्परा के रूप में आकृति मिली है उनकी रचना को। शास्त्री जी ने परम्परा की दृष्टि से भविष्य को देखा है और भविष्य की दृष्टि से परम्परा का पुनःशोधन किया है। शास्त्री जी पूर्व परम्परा से मुक्त इस दृष्टि से हैं कि वर्तमान को उपर्युक्त अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए उन्होंने मनुष्यता को संवेदना का व्यापक संदर्भ दिया है। शास्त्री जी की कविता अतीत से एकदम विच्छिन्न होकर अतीत बना रहना नहीं चाहती। इसीलिए उन्होंने मार्क्सवादी रूढ़ि को तोड़ा है। रूढ़ि टूटती है तो चली जाती है, रूक जाती है। परम्परा टूटती है तो वह टूटती नहीं, कमची की तरह लचती है। लचने से बढ़ जाती है। 'राधा' के प्रणय-पर्व में शास्त्री जी ने 'उपलों भरी अंगारी और लचीली कमची' का बिम्ब उभारा है।

शास्त्री जी ने बौद्धिकता के तट पर खड़े होकर निःसंकोच कहा है :—

नया मूल्य संघर्ष आधुनिक
टूटा कटा क्रमिक से
अपने मूल्यों का संस्थापन
देता मुक्ति क्षणिक से।"

जानकीवल्लभ शास्त्री जीवन-संघर्ष और संघर्षमय जीवन को ही अपनी *कविता के लिए अपरिहार्य मानते हैं। 'राधा' की आधुनिकता इस संदर्भ में* काफी प्रासंगिक है। इसमें आधुनिकता की दो धाराएँ हैं :—

(१) हम अपने देशकाल से बचे-खुचे, टूटे-फूटे मूल्यों को पहचानें और उन्हें अपनी मुक्ति का रास्ता मानकर, उनकी अनुशंसा करें।

*(२) हम सच्ची लोकतन्त्रीय रचनात्मक जीवन पद्धति अपनावें। हम लोक-*निर्माण को पथ पर निरन्तर चलते रहने का संकल्प दुहराते रहें। प्रतिगामी शक्तियों के विरुद्ध जन-संघर्ष करें। बदलाव की प्रक्रिया के मूल में आम जनता (पिछड़ी जनता) की समस्या को अधिक महत्त्व दें। हम जीवन में बहुमुखी विकास के मार्ग को ही अपरिहार्य माने और बदलाव के लिए सदैव *प्रयत्नशील रहें।*

'राधा' की आधुनिकता मूल्यों के विघटन के विरुद्ध हमें नये सिरे से रचनात्मक आधार प्रस्तुत करने का आमंत्रण देती है। वह हमें संघटित पैमाने पर नैतिक साहस प्रदान करती है। वह सामाजिक चेतना को शक्ति प्रदान करने के लिए आत्म-संकल्प का सम्बल देती है। वह घिसी-पिटी *मान्यताओं का पर्दाफाश करती है। वह नयी पीढ़ी के निर्माण के लिए नई संस्कृति की विरासत प्रस्तुत करना चाहती है। वह जीवन का वास्तविक* मूल्य प्रगतिशील विचार पद्धति को मानती है और सामाजिक मूल्यों की रक्षाके लिए एक-एक व्यक्ति की भूमिका अनिवार्य मानती है। वह विश्व-मानव-समुदाय के साथ निरन्तर सम्पर्क रखना चाहती है। वह प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-बोध की अपेक्षा रखती है। वह व्यक्ति के विकास और सामाजिक स्वीकृति में उसकी स्थिति को निरन्तर जाँचते रहने में विश्वास रखती है। 'राधा' की आधुनिकता हमारे संस्कार को मांजती और हमें अन्धी श्रद्धा से मुक्त करती है। वह हमारी रागोत्तेजना को बौद्धिक संयम प्रदान करतो है। परम्परा और इतिहास को आधुनिक सम्वेदन प्रदान करने की दृष्टि से 'राधा' अपनी परम्परा की एक विरल उपलब्धि है इसी अर्थ में। क्योंकि इसमें परम्परा को आधुनिकता की दृष्टि मिली है और आधुनिकता को नई परम्परा कायम करने की अपरिमित शक्ति।

राधाकार मानते हैं कि देश के नव-निर्माण मे व्यक्ति और समाज दोनों का अपना विशिष्ट महत्त्व है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति को सार्थकता यह है कि वह अपने आप से संघर्ष करे। अपने भीतर से संघर्ष करे। वह

अपने आपको जीत ले। सामाजिक मूल्यों को सार्थकता तभी मिलेंगी। जब व्यक्ति अपने व्यक्तिगत हित को ध्यान में न रखकर अपनी उपलब्धियों को सामाजिक जीवन के लिए अर्पित कर दें। 'राधा' में सामाजिक स्वीकृति का यही भाव, कृष्ण काव्य को परम्परा से उसे अलग कर देता है। 'राधा' में विरागवाही भाव की गन्ध नहीं: राग की भाववाही सुगन्ध है। यही कारण है कि इसमें लोक जीवन की हलचल है, नये जीवन-बोध की सूझ है और मानव-मूल्यों को नये सिरे में स्थापित करने की आकुलता है। सामन्तीय जीवन शैली, शोषणवादी पूँजी-व्यवस्था एवं सुविधाभोगी उच्चवर्गीय संस्कार विरुद्ध सक्रिय सामाजिक समता, श्रम प्रेरित पुरुषार्थी जीवन की यहाँ जीवनावस्था को नयी प्रेरणा मिली है।

'राधा' सामन्तवादी जड़ता और पूँजीवादी कपटजाल के विरुद्ध समाजवादी उष्णता को उबाल की सीमा का स्पर्श कराती है। प्रगतिशील चिन्तन की दो धाराएँ समानान्तर दिखलायी देती है इसमें।

(१) प्रभुसत्ता सम्पन्न आभिजात्य संस्कार वाले राजन्य वर्ग का आपसी संघर्ष और नये मूल्यों की स्थापना के लिए व्यापक स्तर पर सह-अस्तित्त्व की स्वीकृति।

(२) लोक जीवन अर्थात् अगणित जनता के सामाजिक संगठन और पारस्परिक स्वीकृति के माध्यम से मनुष्य के जीवन में सुधार की प्रक्रिया को निरन्तर गतिशील बनाये रखना और उन्हें प्रगति की अन्तिम सीमा तक पहुँचाना।

'राधा' में 'श्रीकृष्ण मिथक' की वापसी इसी सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण है। परम्परा के रूप में श्रीकृष्ण और राधा का मिथक अपने लालित्य पक्ष के कारण अधिक लोकप्रिय रहा है। भारतीय परम्परा में कृष्ण और राधा वस्तुतः महाभाव के सम्बल रहे हैं। यही कारण है कि उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रागात्मक भावावेश को ही अधिक महत्त्व दिया गया। पौराणिकों में भागवत पुराणकार की बात कौन कहे हरिवंश और विष्णु पुराण के रचयिता भी श्रीकृष्ण के लीला विहारी रूप मे अपने को विलग नहीं कर सके। जयदेव, विद्यापति, सूर, नन्ददास जैसे सधे कवियों की बात कौन कहे, रसखान और घनानन्द प्रेमिल कवियों ने भी कृष्ण की लीला में रागात्मक उत्तेजना भरने की ही चेष्टा की है। अतः श्रीकृष्ण अपने तमाम आकर्षण के बावजूद परम्परा की विरासत बनकर ही आए, विलग परम्परा को जन्म देने वाले बौद्धिक

स्वीकृति बनकर नहीं। परम्परा बौद्धिक निर्भरता को आधुनिकता के साँचे में ढालकर इसे इतिहास की दृष्टि देती है और इतिहास उसे मानव-बोध का केन्द्र बताकर विश्वसनीयता की आकृति प्रदान करता है। महाकवि जानकी-वल्लभ शास्त्री की 'राधा' परम्परा और इतिहास की स्वीकृति बनकर नहीं आयी है, अपितु परम्परा और इतिहास की एक विलग चुनौती बनकर आयी है। शास्त्री जी की रचना प्रक्रिया परम्परा को परम्परा के रूप में देखने का आदी नहीं रही। इतिहास, पुरातत्त्व, नीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र और प्राच्य-पाश्चात्य चिन्तन की प्रत्येक धारा से पूरा अवगत होने के कारण, उनकी मानवबोधी सम्वेदना एक स्तरीय नहीं है। उनकी रचना-प्रक्रिया कई आयाम लेकर चलती है। अतः किसी भी एक पड़ाव से खड़े होकर उनकी सृजन-धर्मिता का आकलन करना कठिन है। अतः जो लोग परम्परा को सिर्फ परम्परा के रूप में देखने के हिमायती हैं उन्हें राधा का प्रेमिल स्वरूप निश्चय ही अप्रासंगिक लग सकता है। उनके मस्तिष्क में 'प्रियप्रवास' की 'लोक-सेविका' स्थूल रूप में नाचने लग सकती है। और वे परम्परा की ओर अपनी गर्दन टेढ़ी करके समय की वास्तविक माँग के पथ पर उल्टी गति से चलने का आनन्द ले सकते हैं। [कुछ लोग समझने भी लगे हैं।] उनके बेतुके प्रलाप का रहस्य यह है कि है कि उनके संस्कार पर परम्परा बोझ बनकर लदी हुई है। मनुष्य जाति अपनी सभ्यता के विकास में विश्व-बोध को अपने विचार और आचार को कैसा रूप दे सका है और विकास की इस आन्तरिक प्रक्रिया में सामाजिक मूल्यों का बदलाव किस प्रकार प्रेरक बनकर कविता के इतिहास को, संस्कृति का नया विकल्प दिया है—इस दृष्टि से राधाकर के कवि-कर्म से उन्हें क्या सरोकार? न तो उनके पास इतना धैर्य है कि सहस्र पृष्ठव्यापी इस महाकाव्य का गम्भीरता से पारायण करें और न उनके पास अपनी कोई दृष्टि है जिसके आधार पर परम्परा से विलग होकर, रचना की आन्तरिक प्रक्रिया को आधार मानकर आलोचना को रचना का नया सम्बल प्रदान कर सकें।

इतिहास के विद्यार्थी भलीभाँति जानते हैं कि 'राधा' साहित्य की कल्पनात्मक दुहिता है। लेकिन कल्पना जब राग को जीवन का अनुभव प्रदान करती है और जीवन अपने अनुभव को बोध का व्यावहारिक रूप, तो उसकी अनुभव बोधी अभिव्यक्ति ही जीवन-यथार्थ का कटु सत्य बन जाता है। वही साहित्य का अनिवार्य मूल्य है और जीवन का परम सत्य। जानकीवल्लभ जी ने उसी सत्य को—"कटु कासाय, लोना, खार" कहकर

सम्बोधित किया है—इसी अर्थ में राधा परम्परागत प्रतिमानों से भिन्न आधुनिकता का तेवर लिए जनबोधी सम्वेदना को विश्वजनीन आधार प्रदान करनेवाली, आधुनिक हिन्दी कविता की एक विरल उपलब्धि है।

परम्परा ने महाकाव्य के लिए कुछ प्रतिमान ढूँढ़ निकाले हैं लेकिन परम्परा को इतिहास की और इतिहास की परम्परा से जब 'राधा' को 'राधा' को इस महाकाव्य की नायिका के रूप मे देखते हैं तो निश्चय ही एक दूसरी दृष्टि मिलती है—

'हों राम-सिया, नल-दमयन्ती,
सब विश्वविदित राजा रानी;
बन रही कहानी यह पहली—
ग्वालन गोकुल की अनजानी।'

स्पष्ट है कि 'राधा' को सृष्टि हमारी मिट्टी की सोंधी गन्ध से हुई है और वह गन्ध परम्परा द्वारा उपेक्षित वन्य-जीवन से जुड़े पशुचारी संस्कृति के आस्था सम्बलित विवेक से होती है। दूसरी सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कविता के इतिहास में महाकाव्य के लिए नायक को ही सर्वाधिक महत्त्व दिए जाते रहने का अन्धानुकरण चला आ रहा है। नायक अथवा नायिका के इर्द-गिर्द ही महाकाव्य को सारी मूलवत्ता, उसकी स्थिति और सम्भावनाएँ चक्कर काटती रहीं। 'राधा' की विपरीत स्थिति है। इसमें नायक श्रीकृष्ण अथवा नायिका राधा की अपेक्षा बुनियादी मूल्यों पर अधिक विचार किया गया है। नायक के विवेक और उसके व्यक्तित्व के प्रभाव में ही काव्य मूल्यों का निर्धारण होता रहा है। 'राधा' में इस परम्परा से विलग हटकर कदाचित् पहली बार नीति और कार्यक्रम को मुख्य आधार बनाया गया है। यही कारण है कि 'राधा' के प्रत्येक पात्र की सोच, उनकी अपनी सोच है। वह न तो किसी का पूरक है, न किसी का पोषक। नन्द को ही लीजिए। नन्द ने कभी भी अपेक्षा नहीं की कि श्रीकृष्ण के फैले प्रभाव और ऐश्वर्य की सुविधाएं सिमटकर ब्रजभूमि की ओर चली आएं। नन्द का जीवन-दर्शन अछूता है। वे सही अर्थ में निम्न मध्यवर्गीय किसान की तरह भाग्यवादी हैं, सन्तोषवादी हैं—

'कर्म भोग तो कर्मयोग से भी न कभी टल सकता
जो होना है वही हो रहा, कौन किसे छल सकता!
अपना धर्म निभाते जीना मरना अच्छा होता
अपनाकर परधर्म दम्भ से नर पछताता रोता!'

नन्द अपनी क्षमता में ही अपनी सम्भावनाओं की तलाश करने वाले स्थिर चित्त व्यक्ति हैं। फिर भी कृष्ण के राजन्य प्रभाव से मुक्त होने के बावजूद कृष्ण के उस प्रभावशाली रूप के कटु आलोचक भी। यशोदा दोष को दोष नहीं मानती। दोष को भी गुण के रूप में रूपान्तरित कर डालती है। कृष्ण ने मथुरागमन के पश्चात् फिर कर गोकुल की ओर कभी देखा तक नहीं। कभी माँ की खोज-खबर तक न ली। लेकिन, यशोदा तो माँ है, सिर्फ माँ। वह नन्द से आग्रह करती है कि कृष्ण ने व्यापक उद्देश्य को लेकर निखिल मानवता के उद्धार के लिए ही गोकुल त्यागा है। वे अपने दायित्वों से इतने घिर गए और निरन्तर विषमतावादी तत्त्वों के उन्मूलन में फँसते गए कि उन्हें यदि माँ-बाप की खबर लेने की सुध न रही तो यह कौन-सी बड़ी भूल है? यशोदा के ही शब्दों में—

'शिव सुधांशु को रखते सिर पर गरल गले के भीतर
हम भी गुण ही करें प्रकाशित, अवगुण करें न बाहर'

शायद संसार के इतिहास में वह पहली माँ है जो सिर्फ माँ ही नहीं, अपितु अपने पुत्र के समग्र जीवन-आदर्शों के तटस्थ द्रष्टा भी है। उनकी दृष्टि में कृष्ण भगोड़े नहीं, कर्त्तव्य की साधना में निरन्तर लीन रहने वाले अनुसन्धानक हैं। उन्होंने संसार को नर से नारायण बनने की साधना जतायी हैं। यशोदा के शब्दों में—

'की प्रताड़ना नहीं, धारणा दी उठने की ऊपर
अन्तरिक्ष में जो खोया है, लाने वह सब भू पर
क्लेश-वेश में सुख का स्वागत किया, हुआ न विलासी
बढ़कर लिया दुःख, ज्वाला को वह विदग्ध विश्वासी
स्वर्ग नहीं उसके ऊपर, पाँवों पर झुका हुआ है
बिछुड़े हुए जनों से मिलने कुछ क्षण रुका हुआ है।'

विरले ही माँ होगी, जो वात्सल्य की सीमा से बाहर निकल कर अपने बेटे की स्थिति और सम्भावनाओं को निचोड़ कर एक पूर्ण मानव-मूल्य की आकृति में ढाली हो। यशोदा ने यही तो किया है। उसी तरह हम 'राधा' की नायिका 'राधा' को भी ले सकते हैं। वह कृष्ण भाव में लीन तो रहती है लेकिन जीवन-जगत के प्रति उसका दृष्टिकोण निराला है। वह मानती है कि

कृष्ण ने विषमतावादी तत्वों को निरन्तर चुनौतियाँ दी हैं, लेकिन उनकी चुनौतियों का परिणाम क्या निकला ? सिर्फ यही कि—

'केवल अपना मंगल देखा
राजन्य वर्ग मुँह सिये फिरे
पिछड़ी जनता का क्या बनता
तू मुट्ठी भर नृप लिये फिरे।'

राधा ने श्रीकृष्ण की राजन्य संस्कृति की सुधारवादी अवधारणा को ही उमेठ दिया है। 'राधा' जीवन मूल्यों का निर्धारण आम जनता के जीवन स्तर में सुधार और उसे संस्कारपूरित करने में मानती है। सुधार की प्रक्रिया तभी पूरी होगी जब मूल्यों का निर्धारण लोक-जीवन को ध्यान में रखकर हो, न कि मुट्ठी भर राजे-महाराजों के जीवन-दर्शन और उनके आदर्शों में परिष्कृति लाकर। कृष्ण से बड़ी उम्मीदें थीं। वैसे लोगों की, जो अवसन्न विपन्न हैं, आशा को निरन्तर निराशा ही हाथ लगती रही। लेकिन राधा एकांगिनी नहीं है। वह श्रीकृष्ण की विवशता को भी समझती है, और कृष्ण को पुनः जन-जीवन की सामान्य आवश्यकताओं की ओर मुड़ जाने के लिए अपनी शुभाशंसा भी व्यक्त करती है—

'मुट्ठी भर राजे या अगणित
निष्किंचन गूंगों की टोली,
चुन लो अपनी रुचि से, किनकी—
सुननी होगी बोली—ठोली।''

राधा और नन्द की विशेषता यह है कि दोनों अपनी-अपनी आस्था पर अपने-अपने ढंग से अडिग हैं। राधा आत्मस्वरूप का साक्षात्कार कर चुकी है। अतः वह अपने भीतर ही रागात्मक आलोड़न को झेलती हुई श्रीकृष्ण भाव को निरन्तर ढूँढ़ती रहती है। उस पर किसी के ज्ञान, विज्ञान, तर्क और प्रवचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ने वाला। उसी के शब्दों में—

'है योग क्षेम का ज्ञान मुझे
पर ध्यान सहज अपनेपन का;
व्याख्यान सुने ही जन-जन के
पर मनन किया अपने मन का।'

यही राधा का निजत्व है। इसी तरह का निजीपन हम ललिता और चन्द्रा में भी पाते हैं। चाहे देवकी हो या वासुदेव, उद्धव हो या श्रीकृष्ण,

सबों की अपनी-अपनी सोच है और वह सोच किसी पूर्व परम्परा का न पोषक है और न इसके नायक श्रीकृष्ण अथवा नायिका राधा की स्वीकृति के आकांक्षी। वे किसी की सोच की न तो अनुवर्ती हैं और न किसी के प्रवर्ती। अबतक सोचने का काम नायक और प्रतिनायक पर ही छोड़ दिया गया था। यहाँ नायक के इर्द गिर्द विचारों का भँवर नहीं मँडराता, विचारों के इर्द-गिर्द नायक और नायिका का चरित्र मँडराता दिखायी देता है। वैचारिक स्वतंत्रता आत्मनिरीक्षण की प्रचुरता और अनुभव की परिपक्वता के कारण राधा के बुनियादी सवाल शरणागतवादी नहीं बन सके। यह राधाकार की सर्वथा भिन्न दृष्टि है कि यहाँ संघर्षों को झेलनेवाला और मानवमूल्यों के लिए नयी दिशा की खोज करनेवाला कृष्ण अपने पूर्व स्वीकृत रूपों की अपेक्षा आधुनिकतावादी हैं, अतिवादी नहीं। परम्परा और इतिहास की यह नयी परिणति निश्चय ही 'राधा' की अपनी अलग पहचान है।

इतिहास ने कविता के माध्यम से 'कृष्णमिथक' को एक सीमा में ही ग्रहण किया है। श्रीकृष्ण अपनी किशोरावस्था की सीमा में प्रेम और शृंगार को ही आश्रय देते रहे। भक्ति के आकर स्रोत के रूप में उन्हें देखें या शृंगार की चरम उपलब्धि के रूप में, लेकिन श्रीकृष्ण अपने पूरे व्यक्तित्व को कोई ठोस आकार न दे पाये। वे अपने किशोर जीवन की मधुर लीला में ही खोये रहे। जीवन की समग्र अनुभूति को पूरी अभिव्यक्ति न मिल सकी। पं० द्वारिका प्रसाद मिश्र ने "कृष्णायन" में उनके समग्र जीवन को समेटा अवश्य, लेकिन पुराणों का आग्रह लेकर। उनका आध्यात्मिक प्रमिल स्वरूप अलौकिकता लिए हुए है। यही कारण है कि मानव-जीवन की उभर-खाबड़ मिट्टी का धूसर रंग मिश्र जी को पसन्द न आ सका। गांधीवादी चेतना के सजग प्रहरी होकर भी युग के यथार्थ को वे सहजता को अभिव्यक्ति न दे सके। उन्हें श्रीकृष्ण का पीताम्बरधारी रूप ही अधिक आकृष्ट किए रहा। "कृष्णायन" के श्रीकृष्ण पौराणिक मिथक से छनकर भी जीवन के कटु-यथार्थ का सच नहीं बन सके। श्रीकृष्ण के साथ जितनी भी अलौकिकताएँ जुड़ी हुई हैं वह उनके संघर्षमय जीवन को, मानवीय गुणों का कोई ठोस प्रमाण नहीं प्रस्तुत करतीं। राधाकार ने इतिहास की इन विसंगतियों से विलग होकर मनुष्य जाति को नये भाग्य-निर्माण के पथ पर खड़ा किया है—कृष्ण के रूप में। "राधा" के कृष्ण मानव-विश्वास के जनपथ पर खड़े होकर अपनी सहजता का परिचय देते हैं—

"ठोस मिट्टी पर जनम कर तू खड़ा
स्वर्ग सपनों के लिए दृग ढँक पड़ा ?
जाग, तुझको कर्म-भूमि जगा रही
लौट नभ से, सुन, बुलाती माँ, मही ।"

"राधा" की काव्य स्वीकृति का सत्य, इसी अर्थ में अनकहा है। नये मूल्यों की स्थापना के लिए पुरातनता से हमें मुक्त होना ही होगा। जीवन का सच, वही सच होता है जो जीवन को एक खुला वातायन प्रदान करे। जीवन को खुला प्रकाश और खुली हवा प्रदान करें और मानव की आस्था की संस्कृति के लिए, विश्व-बोध को अपनी आस्था के साथ लयबद्ध कर दें। तभी नये मूल्यों को संघर्ष का रास्ता मिलता है और अनुभव को सच्चाई का ठोस आधार ।

निःसंकोच भाव से कहेंगे कि इतिहास दुहराने का कोई अर्थ नहीं होता। अतः परम्परा के रंगीन चश्मे से 'राधा' के आलोकवलय का अवलोकन, निश्चय ही आधुनिकता की मानव-बोधी सम्वेदना के साथ घोर छलावा साबित होगा।

जब राधा की ललिता, नन्द, यशोदा और ब्रज की पूरी संस्कृति पाठकों के सामने खड़ी होती है तो पाठक सोचने को बाध्य हो जाता है कि प्रत्येक समाज और प्रत्येक मानव समुदाय की अपनी विशिष्ट दृष्टि होती है और वह परम्परा उसके जीवन-बोध एवं विचार-सरणी को परिष्कृत करनेवाली होती है। व्यक्ति का आत्मपरिष्कार और उसका समष्टिबोध ही उसके जीवन-मूल्य क निर्धारक तत्व हैं। अपने जीवन मूल्य के प्रति आस्था का गम्भीर लगाव ही उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। अतः हम 'राधा' के इस लोकबोधी मूल्य से निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि परम्परा जब आधुनिकता की आकृति मे ढलकर मनुष्य जाति के विकास में संवेदना को आकार देती है तो वही जीवन की कविता होती है, जीवन्त कविता।

परम्परा ने ईश्वर के पूर्णावतार के रूप में श्रीकृष्ण को देखा है। लेकिन उनके ईश्वर होने या मानव की आस्था की अन्तिम सीढ़ी पार कर जाने के बाद भी कई प्रकार की आशंकाएँ रह गयीं। यदि श्रीकृष्ण ईश्वर ही थे तो स्थिति उनके नियंत्रण से बाहर क्यों होती रही? महाभारत के शान्ति पर्व में श्रीकृष्ण का निर्वेद है। यादव गण-संघ का आपसी विद्वेष, उनकी शक्ति की मदांधता, भौतिक ऐश्वर्य के कारण छीना-झपटी, बलराम का अहंकार अनिरुद्ध

का आत्ममोह, प्रद्युम्न की पलायनवादिता, अक्रूर की कुटिलता, कृतवर्मा का स्वार्थ एवं स्थिति पर नियंत्रण न पा सकने के कारण, श्रीकृष्ण की विवशता उसका कारण है। पौराणिकों में विशेषतः विष्णुपुराणकार ने उनपर अर्थ-लोलुपता का दोष मढ़ा है। बलराम उन्हें घोर स्वार्थी एवं अर्थलोलुप तक कह डालते हैं। भागवतकार ने उनकी लीला का बहाना बनाकर उनके चरित्र को इतना धूमिल कर दिया है कि मानव-आस्था अपने विश्वास को पुनः कोई मानव आकृति प्रदान करने के लिए अब भी घबरा रही है। भागवत का चीर-हरण प्रसंग और रास-लीला प्रसंग श्रीकृष्ण के सात्त्विक व्यक्तित्व पर पौराणिकों द्वारा अवलेपित किए गए, राजसिक मनोविकार के काले धब्बे हैं। मध्ययुगीन आचार्यों ने उनके पक्ष में चाहे जितने भी दार्शनिक सिद्धान्त गढ़ लिए हों, चाहे जितने भी तर्क ढूँढ़ निकाले हों लेकिन श्रीकृष्ण अपने सात्त्विक रूप में नहीं दिखलायी पड़े। आधुनिक काल में आचार्य रजनीश जैसे प्रखर चिन्तक की दृष्टि भी गयी—कृष्ण की ओर। लेकिन श्रीकृष्ण उनकी दृष्टि में छनकर और भी रसिया बन गए। अधीर सकाम साधना ही उनके जीवन का रस है, धीर निष्काम सिद्धी नहीं। डॉ० राममनोहर लोहिया ने निश्चय ही 'श्रीकृष्ण' और 'राम, कृष्ण और शिव', पुस्तक में श्रीकृष्ण को आधुनिक संवेदना के स्तर पर निखारने की चेष्टा की है। लेकिन उनकी संवेदना का आधार राजनीतिक है। कृष्ण काफी तीक्ष्ण और त्रिकालदर्शी होकर भी लोकमानस के जीवन-पथ पर समग्र जीवन के निर्देशक नहीं बन पाए।

शास्त्री जी ने काफी बारीकी से परम्परा की इन विसंतियों को टोका है। उन्होंने पौराणिकों द्वारा छीटे गए रक्तिम छीटे को न केवल साफ कर दिया है, अपितु उसे सामाजिक नैतिकता और संघर्षशील मनुष्य की रचनात्मक मेधा के रूप में रूपान्वित कर दिया है। उदाहरण के रूप में "रास" और 'चीर-हरण प्रसंग' को ही लीजिए। शास्त्री जी ने रास के मण्डलाकार नृत्य को सामाजिक समता और सांघटनिक लयबद्धता के रूप में लिया है—

'रास का रस पी हुए हम मत्त, घूमे गोल,
जो कि मथुरा में हुआ, करना हमें समतोल।'

उसी प्रकार 'चीर-हरण प्रसंग' को शास्त्री जी ने सात्त्विक मनोभाव के रूप में लिया है। उन्होंने श्रीकृष्ण के बाल मित्रों द्वारा यह उपद्रव करवाया है—भाई-बहन की चूहल के रूप में। प्रौढ़ श्रीकृष्ण का पश्चात्ताप इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं—

'पड़ा ही किन्तु सबको आह आना
दिगम्बरि को नयन नभ से मिलाना
जुड़ाया जी, हमारा बाल हठ था ?
छली अभियुक्त मन या शुद्ध सठ था ?'

श्रीकृष्ण मिथक के साथ श्रीकृष्ण का योगेश्वर रूप कविता की आकृति में नहीं ढ़ल पाया। यद्यपि योग ढकी दीक्षा की बात मध्ययुगीन कवियों ने उद्धव के बहाने उठायी है। योग के सन्दर्भ में कर्मयोग शास्त्र में लोकमान्य तिलक ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया है। उनकी दृष्टि में योगचित्त वृत्तियों का निरोध नहीं, युक्ति का उपाय है। श्रीकृष्ण अपने जीवन-पर्यन्त प्रतिकूल स्थितियों से मुकाबला करते रहे और अपनी युक्ति द्वारा ऐसे अनेक उपाय ढूँढ़ते रहे जो तत्कालीन समस्याओं के साथ मनुष्य जाति के सुनहले भविष्य के लिए पुरुषार्थ का अनुशासन है। शास्त्रीजी ने परम्परावादी दृष्टिकोण से विलग होकर योग को सामाजिक स्तर पर उत्थान और मानव जीवन के लिए सार्वभौम स्वीकृति का मार्ग दिया है। 'राधा' की गोपियाँ मनुष्य जाति की सम्भावनाओं को यथार्थता की दृष्टि देती है। इस सन्दर्भ में—

योग का है अर्थ समता,
विषमता ही क्लेश
ज्ञान पर अधिकार सबका
पूर्ण को क्या क्लेश
धर्म का है मर्म भूमा
भूमि सबका देश।

कहते हैं—भारत ने हजारों वर्षों तक शूद्रों को ज्ञान के अधिकार से वंचित कर दिया था। वेद पढ़ने का अधिकार नहीं था उन्हें। लेकिन शास्त्री जी ने युग की माँग पर 'योग' को सामाजिक स्वीकृति दे दी। "ज्ञान पर अधिकार सबका।" सत्ता, ज्ञान और उपभोग—तीनों पर सबों का समान अधिकार हो। यह 'राधा' की अपनी विलग स्वीकृति है।

'राधा' के कवि ने लोक-शक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। आत्मनिर्भरता लोक शक्ति के लिए अनिवार्य है। जबतक समाज में आर्थिक समानता नहीं आती, तबतक समाज को स्वावलम्बन का कोई ठोस आधार नहीं मिल सकता। नये समाज के निर्माण के लिए समाज में व्याप्त विषमता को पाटना होगा। श्रम-शक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा की गरिमा प्रदान

करनी होगी। अतिशय महत्त्वाकांक्षा और छिना-झपटी को ही कुलीनता का आवरण देकर उच्च वर्ग वाले छल-कपट और नकली सदाशयता को आचारवाद का रूप देते रहे हैं। जो जीवन में सरलता से जीना चाहते हैं, सहजता अपनाकर अपनी ऊर्जा को रचनात्मक दिशा की ओर लगाए रखना चाहते हैं, उन्हें निरन्तर शोषण का शिकार बनना पड़ता है। रचनात्मक ऊर्जा के आधार पर क्षमता का विस्तार होता है न कि दूसरे की सम्पति जर्बदस्ती हथिया कर सत्ता-लोलुपता जतलाने से। क्षमता के विस्तार में संभावना की तलाश करना ही 'राधा' के पुरुषार्थ पर्व का लक्ष्य है। यथार्थ बोध की यह अभिव्यक्ति निश्चय ही पुरानी परम्परा की जकड़न को तोड़ती है।

राधा का प्रणय पर्व उर्ध्वमुखी चेतना का उद्भास पर्व है, और पुरुषार्थ पर्व कर्म-प्रेरित जीवन-आस्था का उल्लास पर्व। राधा का दर्शन पर्व जन सामान्य के यथार्थ दृष्टिकोण का सामूहिक सामंजस्य का पर्व है। विनोद पर्व जीवन के दायित्वों में डूबे मनुष्य के बिखरे मन को एक रागात्मक सामंजस्य प्रदान करने वाला पर्व है। राधा का प्रभास पर्व नई संस्कृति, नई मानवता और लोक-जीवन के मूलभूत आदर्शों के श्रम से जीवित आस्था के रूपमें रूपान्वित करनेवाला पर्व है। राधा का उत्सर्ग पर्व जीवन के तमाम द्वन्द्वों को व्यक्तिगत मनोभाव से उबार कर समष्टिगत मनोभाव के रूप में आत्मसात करने वाला पर्व है।

कामायनी में कभी काम ने मनु के ब्याज से राग-विराग के शत-शत खण्डों में विभक्त हो जाने के लिए मनुष्य जाति को शाप दिया था। ऐसा इसलिए कि अपने विकास के प्रथम चरण में ही उसने अपनी महत्त्वाकांक्षा को असंयम की सीमा से स्पर्श करा दिया था। राधाकार विकसित मनुष्य के एकांगी विकास को धत्ता बताते हुए उसमें सामूहिक ऊर्जा का अखण्ड स्रोत प्रवाहित करना चाहता है—व्यूह रच कि समूह ज्योति उजल सके।'—श्री कृष्ण का यह संकल्प आधुनिक मनुष्य की बिखरी हुई आस्था को 'यार का सम्बल प्रदान करता है, अपनत्व का आश्वासन देता है और यह विश्वास दिलाता है कि—

"प्यार का देवत्व, सर्व सहिष्णुता
मनुजता है कर्म कौशल की सुता।'

यह बात सही है कि सफल कवि युग-यथार्थ की विसंगतियों के प्रति उतना ही क्रूर-दृष्टिकोण अपनाता है जितना उसकी संगतियों के लिए एक ठोस दृष्टिकोण। 'राधा' के उत्सर्ग पर्व में 'राधा' ने स्थल-स्थल पर उन विसंगतियों का पर्दाफाश किया है। कृष्ण ने निर्वेद पर्व में उन विसंगतियों की यथार्थ स्वीकृति दी है।

'राधा' की रचना भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति वाले दशक में हुई थी। राजतन्त्र की जड़ता, रूढ़ि, अन्धविश्वास, वर्ण-भेद और द्वेष के कारण लोक जीवन जर्जर हो गया था। सामाजिक एकता के पाये ध्वस्त किए जा रहे थे। समाज दो वर्गों में विभक्त था—शासक और शासित। बिचौलिए का काम पूँजीपति वर्ग के लोग कर रहे थे। शासित वर्ग के दो हिस्से थे। मजदूर और किसान। इस प्रकार देखते है कि हिन्दुस्तान की जनता राजबाड़ों, जमींन्दारों, ताल्लुकदारों, पूँजीपतियों, महाजनों द्वारा दलित प्रताड़ित हो रही थी और वे लोग अंग्रेजी हुकुम्मत की ढाल बने हुए थे। इन धन-कुबेरों ने अपने शोषण का ऐसा ताना-बाना बुना था जो जड़वादी परमसत्ता को व्यापक स्तर पर दोहन की इजाजत दे रखी थी और उन्हें आतंकित करने की खुली छूट भी। १९१८ से ही लोकशक्ति अहिंसक क्रान्ति का पक्ष लेकर अपने विकास के लिए कई कदम आगे बढ़ चुकी थी। उसने अपने संगठन के रूप में अनेक पड़ाव भी डाल दिए। लेकिन उसके सामने कोई स्पष्ट विकल्प नहीं था। यह विचित्र विडम्बना है कि १९३०-३५ तक की मानव संस्कृति पश्चिमी भौतिकता से घबराकर भारत में आने वाले प्रजातंत्र को ही शाप देने लगी—

> 'तब शाप भरा हो प्रजातंत्र
> द्वयता करती रहे सृष्टि' (कामायनी)।

शायद वह समझ रही हो—भारत भी तो उन पोंगा-पंथियों का ही उपनिवेश है। वे अपने देश में प्रजातन्त्र का राग अलापते हैं और अपने उपनिवेशों में राजतंत्र का। उनके द्वारा संस्कारित प्रजातंत्र निश्चय ही भारत के लिए भुलावा सिद्ध होगा। वास्तव में आजादी के साढ़े चार दशक के बाद भी भारत का लोकतंत्र अभिशप्त बना हुआ है।

लेकिन शास्त्री जी ने आज से चार दशक पहले भारत के अभिशप्त प्रजातंत्र को शाप मुक्त करने की चेष्टा की, शायद यह समझकर की मानव संस्कृति की सीमा कुछ अधिक होती है। आज रूस में गणतांत्रिक व्यवस्था के प्रति आस्था व्यक्त की जा रही है। कम्युनिस्टों की विफल क्रांति से चीन को भी निराशा हाथ लगी है और चेकोस्लाविया में जिस प्रकार के जन आन्दोलन हो रहे हैं। नेलसन मण्डेला की आस्था में गणतांत्रिक मूल्य फिर, नये सिरे से अपना मस्तक ऊँचा करने के लिए मचल रहा है। यह राडाकार की दूरदृष्टि का ही प्रमाण है। राधा के दर्शन पर्व में लोकतांत्रिक

मूल्यों को आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक स्वयं सत्ता की आचार संहिता मिली है। कहना गलत न होगा कि राधा का कवि अपने समय से कितना आगे होकर नये मूल्य और मानववादी चिंतन को लोकवादी आचार देने के लिए उत्सुक दिखलाई पड़ता है।

राधाकार ने आजादी से पहले ही पहलीबार पिछड़ी जनता का मुद्दा उठाकर भारत में आनेवाली सामाजिक निरपेक्षता को एक मानस स्वीकृति का बोध प्रदान किया है—

'अब अपना अधिकार करेगा स्थापित शोषित वर्ग।
लेगा मार्ग निकाल मुक्ति का; किसे चाहिए स्वर्ग?
खेत और खलिहान उसी के होंगे, वह अधिकारी।
गाँव नगर कोई क्यों? होगी उसकी धरती सारी।

यह परिकल्पना जनवाद का नारा लगाने वाले किसी मार्क्सवादी प्रतिबद्ध कवि की नहीं, अपितु मनुष्य की वास्तविक समस्याओं को आम जनता की श्रमजीवी शक्ति द्वारा निदान ढूँढ़ने वाले—'राधा' के कवि जानकीवल्लभ शास्त्री की है।

शास्त्रीजी ने "राग" को सर्वोपरि महत्त्व दिया है। उन्होंने हमारा ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया है कि प्रेम मनुष्य को जीवन से विमुख नही करता है, शक्ति देता है। वह मनुष्य के जीवन को लयबद्ध अनुशासन देता है। प्रेम मनुष्य के बीच परस्पर स्वीकृति का भाव जगाता है, एक लयात्मक लहर उत्पन्न करता है। आत्म-निर्भरता का भाव जगाता है प्रेम। इस भाव के केन्द्र में शास्त्रीजी ने व्यक्ति की जगह समाज को महत्त्व दिया है। लोक संस्कृति को अधिक बल दिया है। आपसी भाईचारा, अपनत्व और संगठन का आधार आम जनता है। यदि जनता आपसी प्रेम की डोर में बँधकर अपने भाग्य-निर्माण के पथ पर खड़ा हो जाए तो मुट्ठी भर शोषकों की क्या बिसात? प्रतिगामी शक्तियाँ स्वतः ही धूल चाटने लगेगीं। कंस के विरुद्ध मथुरा की जन-क्रान्ति वस्तुतः एकतंत्रीय शासन तंत्र के विरुद्ध लोकतंत्रीय आस्था की क्रान्ति थी। इसलिए राधा में जिस कंस का उल्लेख हुआ है वह कोई जनपदीय क्षत्रप नहीं अपितु उस वर्ग का प्रतीक है जिसने भोगवाद को प्रश्रय देने के लिए आम जनता का हक छीन लिया था। जिसने स्वार्थवादी, यथास्थितिवादी, शोषणवादी और अनास्थावादी पहरुओं को चारों ओर बैठा दिया था—दूसरों को जगाने के लिए नहीं, अन्धकार और

आतंक का धुंआ उगलने के लिए। पुरुषार्थ पर्व के किशोर श्रीकृष्ण ने बारीकी मे इन विसंगतियों को समझा है और उनके विरुद्ध जेहाद छेड़ने के लिए निम्न वर्ग को संगठित करने का संकल्प दुहराया है।

कंस का शासन निरंकुश शेष हो।
निम्न वर्ग उठे, प्रतिष्ठित देश हो।

वासुदेव और देवकी को काल कोठरी में डालकर भी कंस जनता की आवाज बन्द नहीं कर सका। कृष्ण की यह जनक्रान्ति नेल्सन मण्डेला की आस्था, गोर्वाच्योव की उदारता और चीन में जाग्रत युवा शक्ति की अहिंसक क्रान्ति की याद दिलाती है, जिसने हाल ही में चीन की दीवारों को लोकतांत्रिक नारों से पाट दिया था। आज भी मनुष्य की संवेदना उन यथास्थितिवादी शक्तियों के बीच एकजुट होकर संघर्ष के लिए आह्वान कर रही है—

है विषमता को बढ़ाते तत्त्व जो,
रौंदकर शासन चलाते सत्त्व जो;
अन्त उनका उचित समुचित रीति से।

महाभारत के कृष्ण ने अपने जीवन में काफी संघर्ष किया। कभी शिशुपाल तो कभी जरासंध से संघर्ष मोल लेना पड़ा उन्हें। कभी दुर्योधन के नेतृत्व वाली जड़वादी राजन्य संस्कृति का मूलोच्छेदन करना पड़ा। यह सही है कि राजसूय यज्ञ के बाद श्रीकृष्ण के लोकनायकत्व में राष्ट्र की जाग्रत चेतना एकजुट हो गयी, लेकिन उसका परिणाम क्या निकला? महाभारत युद्ध में विजय होकर पाण्डवों ने अपने युग और अपने देश को वैसा कौन-सा आदर्श प्रदान किया?

उपलब्धि तो शून्य है। राधाकार ने महाभारत की इन विसंगतियों को आड़े हाथों लिया है। समय से आगे होकर या समय से पीछे होकर जो व्यक्ति समस्या का निदान ढूंढ़ता है—उसे श्रीकृष्ण का निर्वेद ही हाथ आता है। सुधार के लिए एक मानसिक वातावरण बनाने की जरूरत होती है। महाभारत में उसकी आवश्यकता महसूस न हो सकी। यही कारण है कि सभी धर्म की दुहाई तो देते हैं, लेकिन नैतिकता का अनुसरण नहीं करते। 'राधा' के कृष्ण की आत्म-स्वीकृति मनुष्य की यथार्थ मनोभूमि की स्वीकृति है—

"हलाहल पी अमी का स्वाद बदला।
छला विज्ञान को कह ज्ञान गंदला।
न छूटा मोह मेरा लुट गए सब।
बिना लौ का धुआँ था, घुट गये सब।
समर्थन युद्ध का अपराध भारी।
किया मैंने, थका सिर, बुद्धि हारी।"

श्रीकृष्ण की यह दोष स्वीकृति आधुनिक मनुष्य को बार-बार यह सोचने के लिए बाध्य करती है कि श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा है और किया है—वही मनुष्य जाति के उद्धार का आखिरी रास्ता नहीं है। महापुरुषों से भी भूल हुआ करती है, वह अपनी अस्मिता के लिए देश को पतन के गर्त्त में भी ढकेल सकता है। अत: राष्ट्र के लिए समझदारी का विकास, किसी एक व्यक्ति पर, एक की इच्छा पर आश्रित न हो, चाहे उसका नायक कितना बड़ा क्यों न हो। समाज का विकास एक व्यक्ति का विकास नहीं है। परम्परा में श्रीकृष्ण के पीछे ही मानव मूल्य नाचता रहा है। जबकि 'राधा' में मानव मूल्यों के लिए संस्कृति और लोकजीवन का अलग परिवेश है और चिन्तन की वास्तविकता ही यथार्थ की स्वीकृति। अपनी क्षमता का विस्तार करना एवं सम्भावनागत उपलब्धियों को उसका अनुगामी बनाना ही राधा की गोपियों का लक्ष्य है। आत्मसन्तुष्टि ही व्यक्ति को अपने प्रति और अपने परिवेश के प्रति अटूट आस्था प्रदान करती है। 'राधा' का सामाजिक दर्शन सम्भवत: इसी अर्थ में पूर्व इतिहास से भिन्न है। ललिता का सामाजिक दृष्टिकोण काफी महत्त्वपूर्ण है। "प्रभास पर्व" में कवि की दृष्टि जीवन के उन मूल्यों की ओर भी गयी है जहाँ वेदव्यास ने गणतंत्र के अन्तिम सोपान के लिए मनुष्य जाति की समता में खुलापन अनुभव किया था। लेकिन यह सीमा भारतीय समाजवादी चिंतन में भिन्न ढंग से निर्धारित हुई है।

"लगन अटूट काम करने की हिलमिलकर रहने की।
निर्बल नहीं प्रवास भीरु हैं, प्यास नहीं बहने की।
उमग-उमग पग उठा रहे हैं, किन्तु आज ये मग पर।
सावधान हैं छूट न जाए, कोई पीछे डग पर।

इस समष्टि बोध को हम व्यक्ति के आत्म-बोध के रूप में भी देख सकते हैं—

नहीं बाध्य व्यवहार मात्र
उपहार प्राण मानव का;
अन्तर भाव राग बन जाता
है अगेय गानों का !

इतिहास ने परम्परा को अपनी स्वीकृति का सम्बल प्रदान किया है। परम्परा ने इतिहास को गति दी है। परम्परा और इतिहास का यह पारस्परिक सम्बन्ध अनोखा है, लेकिन आधुनिकता जब परम्परा को जीवन-दृष्टि देती है तो इतिहास वैसी स्थिति में हतप्रभ हो जाता है। राधा का आत्मबोधी क्षण, समष्टिबोध के सन्दर्भ में इतिहास की चुनौती रूप में खड़ा दिखलायी देता है। कृष्ण-काव्य की पूर्व परम्परा यहाँ टूटकर विच्छिन्न हो गई है और एक नयी परम्परा की शुरूआत हो रही है—

क्रन्दन कोलाहल को ढँककर
गुँजी न श्रम की वाणी;
सब दिन प्रजा रहेगी धरती
होंगे राजा-रानी !
श्रम समग्रता बन जाएगी
जब जीवन का गान;
व्यापेगी तब कभी न माया।
ज्ञान लोक-कल्याण !

शास्त्री जी के मन में सुनहले भविष्य का सपना है और वह सपना है लोकशक्ति के माध्यम से मनुष्य जाति के जीवन में शान्ति और सद्भाव का वातावरण स्थापित करके का। लोक मूल्यों में आधारित जीवन ही मनुष्य जाति के सुख समृद्धि में एक अविकल ठहराव दे सकता है। जीवन से अनुभव लेना और अनुभव से आत्म-विस्तार करना मनुष्य के जीवन का लक्ष्य होना चाहिए और उसे निरन्तर यह बोध होते रहना कि परम्परा ने उन्हें जो विधान दिया है वही जीवन का सत्य नहीं है। आचारवादियों ने जो मान्यताएँ दी हैं वही उसके विकास की धूरी नहीं है। पूर्वजों ने अपने बड़े नाम का हस्ताक्षर दिया है, वही जीवन के लिए अपरिहार्य नहीं है। पूर्व संस्कृति ने जो मार्ग दिए हैं वही उपयुक्त नहीं है। समय के गर्भ से जो परिस्थितियाँ पैदा

होती हैं और उन परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए हम में जो आत्म-बोध का सम्बल मिलता है; वस्तुतः वही हमें प्रगति मार्ग पर आगे बढ़ा सकता है। राधा के कवि का अन्तर्बोध इसी बात की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है—

"प्रविधि, नियम, आचार जकड़ ले, इसके पूर्व बदलना
चेतन धर्म सतत गत्यात्मक रुकना नहीं सम्भलना
धूप सत्य है किन्तु छाँह भी, साक्षी है सहचर है
शब्द टूटते जहाँ वहीं स्वर का उठ जाता स्तर है
सहमा-सहमा थमा अन्धेरा अगला दिन आता है
पुरखों की शेषार्थ प्रार्थनाएँ भविष्य गाता है।"

कुल मिलाकर इतिहास और परम्परा से विलग होकर जानकीवल्लभ जी ने 'राधा' की रचना की है। राधा पढ़ने से यही बोध होता है कि सामान्य मनुष्य ही मानव मूल्यों का आदि और अन्त है। बिना मानवबोधी सम्वेदना को केन्द्र में रखे मूल्य की परिकल्पना नहीं की जा सकती। मानव-मूल्य से मेरा तात्पर्य उन मूल्यों से है जो मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप के सहज निकट हैं। वह उसके संवेदनात्मक व्यक्तित्व से सबसे अधिक सीधे और गहन रूप से सम्बद्ध है—

"चिन्तक संवेदनशील नहीं
निर्णय निष्पक्ष नहीं होगा।"

निष्पक्ष दृष्टिकोण के लिए बौद्धिक शुष्कता की नहीं, रागात्मक संवेदनशीलता की आवश्यकता है। निश्चय ही कवि की मानव-बोधी सम्वेदना इसी अर्थ में परम्परामुक्त है आधुनिकता की वाहिका है।

सजग कवि अपने सचेतन मन द्वारा इन्हीं मूल्यों का साहित्य में निर्माण करता है। अतः कवि के व्यक्तित्व का संवेदनशील पक्ष ही युग बोध को उसके समग्र तीखेपन के साथ वहन करता है। यह राधा के कवि का सौभाग्य है कि उसका व्यक्तित्व दूर-दृष्टि सम्पन्न है। ऐसी सम्पन्नता वस्तुतः वही कवि पा सकता है जिसके जीवन की गंभीर समस्याओं के प्रति गहरी रुचि हो और संसार के मानवीय लोकाचार के प्रति तीखी और बड़ी जिज्ञासाएँ उसमें समस्याओं को उभारने के साथ-साथ उसका समाधान पाने के लिए छटपटाहट हो। सच्चे कवि में यह प्रश्नाकुलता सहज ही जागृत रहती है। यही कारण है कि उसमें मनुष्यता के प्रति सशक्त एवं गहन रुचि दिखलायी देती

है। श्रेष्ठ साहित्यकार जीवन-इच्छा का प्रतीक होता है। 'राधा' में श्रीकृष्ण की इच्छा वस्तुतः कवि की जिजीविषा का ही तो प्रमाण है—

'मंत्र उचारूँगा निर्जन में,
शांति तंव ढूँढूँगा ।
एक जन्म पर्याप्त नहीं,
कर फिर प्रयास आऊँगा।'

यह बात सही है कि कोई भी काव्य-कृति अपने विकास में एकदम परम्परा से विलग नहीं होती। वह शत-प्रतिशत मौलिकता का दावा भी नहीं कर सकती। ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिवर्तन के फलस्वरूप साहित्य के अन्तर्विरोधी तत्त्वों मे द्वन्द्व आरम्भ हो जाता है। अन्त में ऐसी स्थिति आती है—जबकि उस द्वन्द्व की चरम परिणति उस विचार-धारा या प्रकृति के गुणात्मक रूप में दिखलायी पड़ती है। इस प्रकार पारम्परिक मानव मूल्यों से उत्पन्न विघटन के विरुद्ध नवीन परिवेश जनित सार्थक तत्त्वों के ग्रहण की अनिवार्यता ही द्वन्द्व गत परिवर्तन है। राधा के प्रणय पर्व और पुरुषार्थ पर्व में मन का यह द्वन्द्व आसानी से देखा जा सकता है। राधा मन के द्वन्द्व से उबर कर आत्म-समर्पण की स्थिति प्राप्त कर लेती है, उसी तरह श्रीकृष्ण प्यार और कर्त्तव्य के द्वन्द्व से उबर कर पुरुषार्थ की प्राप्ति।

मनुष्य के जीवन में आत्म-बोध द्वारा यह परिवर्तन जीवन-क्रम में नयी आवश्यकताओं और उसके अनुकूल नवीन मूल्यों के प्रति तीव्र आग्रह रखने के कारण होता है परिणामस्वरूप नये मूल्यों की काव्यगत प्रतिष्ठा के लिए कविता के स्वरूप में क्रिया-प्रतिक्रिया घटित होते रहना अनिवार्य है। मन की क्रिया और आत्मा की प्रतिक्रिया ही 'राधा' को मानव एषणाओं से ऊपर उठाकर प्रकाश के अन्तिम छोर तक ले जाती है।

शास्त्री जी ने आधुनिक संवेदन को समष्टि संवेदन के रूप में लिया है। उन्होंने 'राधा' के व्यक्तित्व में कुछ ऐसा ही अनुभव किया है :—

'राधा समष्टि संवेदन की,
उज्ज्वलता शुद्ध प्रणय की है,
उपलब्धि युद्ध की नश्वरता,
स्थिरता वह आत्म-विजय की है।'

अस्तित्ववादी चिंतक सार्त्र ने लिखा है—"हमारे पास अतीत और वर्तमान में मूल्यों की स्थापना के क्षेत्र में उनके औचित्य या स्पष्टीकरण सम्बन्धी कोई भी साधन नहीं है। अतः निर्व्याज रूप में हम ही उनके एकमात्र आधार रह जाते हैं। सार्त्र के कथन से भले ही हम सहमत न हों, लेकिन हमें

इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मूल्यों की नियामक शक्ति के रूप में मनुष्य की सत्ता और इयत्ता ही आधुनिकता का एकमात्र साधन है।

आधुनिक मनुष्य मानवोपरि सत्ता से मुक्त होने में ही अपनी प्रगतिशीलता का परिचय देना चाहता है। 'राधा' में मनुष्य की गरिमा का एक नये सिरे से मूल्यांकन किया गया है। मनुष्य अपने आप में स्वतः सार्थक और मूल्यवान है। राधा के आध्यात्मिक पक्ष की ओर जब पाठकों का ध्यान जायेगा तो भले ही वह अनुभव करेगा कि कवि की चिंता सार्वभौमिक मानवेतर सत्ता की ओर भी है। लेकिन शास्त्री जी भली-भाँति यह समझते हैं कि मनुष्य ने ही ईश्वर अथवा ब्रह्म की परिकल्पना की है। इसके बावजूद मनुष्य ब्रह्म से बड़ा नहीं हो सकता। लेकिन मनुष्य ब्रह्म अथवा ईश्वर का परिकल्पक है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्म का सत्य होना ही अन्तिम सत्य नहीं है और मनुष्य का परम सार्थक होना ही मनुष्य की अन्तिम उपलब्धि नहीं।

मनुष्य का सत्य सत्य तभी होगा जब मनुष्य अपनी सीमा और संभावना को भली-भाँति अनुभव करने लगे। राधा की आधुनिकता मनुष्य की सीमा को नवल बनाती है और उसकी संभावनाओं को एक नयी दृष्टि देती है। कवि का यह कहना सर्वथा उपयुक्त है :—

नयी चेतना, वेदना नयी,
प्रासंगिक होने को।
अपने युग का रोना रोती,
संतत श्रम खोने को,
व्यक्ति शक्ति है जन समष्टि की,
अखिल सृष्टि की शक्ति—
है समाज, निर्व्याज सत्य यह,
व्यक्ति शक्ति-अभिव्यक्ति।'

वही व्यक्ति की अभिव्यक्ति समष्टि की बोधजन्य अभिव्यक्ति बनकर राधा के रूप में रूपान्तरित हो गयी है।

वस्तुतः 'राधा' अपनी परम्परा की सीमा और सीमा की उपलब्धि के कारण ही विश्व-काव्य वाङ्मय में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखनेवाली हिन्दी की एक अकेली कृति बन गयी है।

●

हिन्दी विभाग,
रामेश्वर महाविद्यालय,
मुजफ्फरपुर।

'राधा' : जीवन-संरचना

□ डॉ० रणवीर कुमार 'राजन'

किसी भी साहित्य को जीवन से काट कर नहीं देखा जा सकता। साहित्य का लक्ष्य ही होता है, जीवन को ऊँचे आदर्शों की ओर उन्मुख करना, लेकिन जीवन सिर्फ ऊँचे आदर्शों तक ही अपने को सीमित नहीं रखता। जीवन यथार्थ की अनुभूति और सम-विषम स्थितियों की स्वीकृति के लिए, ऊँचे आदर्शों से विमुख भी हो जाया करता है।

सच्चे अर्थों में किसी महान् काव्य में जितने ही प्रकार के पात्र होते हैं, उनका सच वही नहीं होता जो रावण का है। उसी तरह कृष्ण के जीवन का सच वही नहीं होता जैसा जरासंध का है। लेकिन दोनों के जीवन का सच, दोनों के भिन्न जीवन दर्शन एवं उनके अनुभवजन्य बोध के परिचायक तो हैं ही।

मोटे तौर पर जीवन को जन्म और मृत्यु की सीमा तक बांधने का प्रयास किया जाता रहा; लेकिन जो ज्ञानी हैं, उन्होंने जीवन को इतनी छोटी आकृति नहीं दी। उन्होंने पुनरपि जन्मं पुनरपि मरणं—को जीवन की सीमा में समेट लिया है। जीवन वस्तुतः जन्म-मरण के अनंत प्रवाह को कहते हैं। लेकिन इस अनंत प्रवाह से मुक्त होने की भी चेष्टा की जाती रही है। वह चेष्टा दो रूपों में देखी गयी है।

(१) जन्म और मृत्यु स छुटकारा प्राप्त करने के लिए मोक्ष अथवा निर्वाण प्राप्ति की आकांक्षा।

(२) मृत्यु से छुटकारा प्राप्त करने के लिए अमरत्व प्राप्ति की चेष्टा।

हमारे यहाँ संन्यासियों में मुक्ति प्राप्ति की चेष्टा मिलती है। इसके लिए जीवन के बाहरी व्यापार की अपेक्षा जीवन के आंतरिक व्यापार को समेटने

और अपनी चिद्वृत्तियों को नियंत्रित करना, उच्चतम भाव की प्राप्ति के लिए, उन्होंने तप को महत्त्व दिया है।

इसके विपरीत जो लोग पुरुषार्थी रहे उनकी कोशिश होती रही कि जीवन की सम-विषम स्थितियों के संघर्ष में ही अमृत की खोज की जाए। अमृत की खोज के लिए किसी ने आर्ष ग्रंथों को मथा तो किसी ने अपने जीवन की संगति-विसंगतियों को ही। संगति-विसंगतियों से जीवन का आसव निकालने वाले लोग प्रत्यक्ष रूप से मरते हुए देखे गये। लेकिन उनका बोध, उनकी अनुभूति, उनका क्रियात्मक व्यापार और उनका जीवन-दर्शन आज भी जीवित है। क्योंकि, उन्होंने अपने पुरुषार्थ द्वारा देश और कल्पना को काल के अधीन कर दिया। काल के अनन्त प्रवाह के साथ उनके जीवन का मंथन चलता रहा। अविराम गति से चलता रहा। कृष्ण वस्तुतः हमारे जिए हुए जीवन और जीने वाले जीवन के बीच सामंजस्य बैठाने वाले ऐसे ही प्रमाण हैं। जीवन के ऐसे प्रतिमान को हमने प्रणव प्रतिमान के रूप में मान लिया है। प्रणव अर्थात् जिसने जीवन को ऊष्मा दी है, जीवन को सम्यक् गति दी है और जीवन को ऊष्मा और गति के साथ सम्यक् अभिव्यक्ति प्रदान की है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि सम्यक् ऊष्मा, सम्यक् गति और सम्यक् अभिव्यक्ति ही जीवन की शक्ति है।

एक कहावत है कि मृत्यु के भय से आक्रांत देवताओं ने कभी अपने को वेदों में छिपा लिया था। वेदों ने अपने मंत्रों द्वारा उन्हें आच्छादित कर लिया। मृत्यु ने वहाँ भी उन्हें देख लिया। मृत्यु के भय से आक्रांत देवताओं ने सोचा अब मंत्रों की स्थूलता से रक्षा न हो सकेगी। फिर उन्होंने अपने ऋक्, यजु और साम से मुक्त करके 'ॐ' (प्रणव) में प्रवेश करा दिया। तब मृत्यु उनका कुछ बिगाड़ न सकी। इसका अभिप्राय यह कि जब तक स्थूल जीवन को उन्होंने अपनी क्षमता का साधन माना, तब तक मृत्यु का भय सताता रहा। जब सूक्ष्म जीवन को उन्होंने अपनी साधना का माध्यम बनाया मृत्यु के भय से वे मुक्त हो गए।

इन पारम्परिक मान्यताओं पर अपनी दृष्टि इसलिए डाल रहा हूँ कि "राधा की अनन्त यात्रा" वस्तुतः स्थूल जीवन-मरण को भेद कर निरन्तर उस परम सत्य के लिए, अपनी भावानुभूतियों को, स्थूल से सूक्ष्म की ओर समेटने और स्थूल को त्याग कर, सूक्ष्मतम स्थिति की प्राप्ति कर रही है।

'राधा' का प्रणय पर्व वस्तुतः मानव-जीवन के अखण्ड स्रोत को, जीवन के वास्तविक मूल्य के रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस

अनंत यात्रा में, पंचतन्मात्राओं की बात कौन कहे, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ भी साथ दे सकने की स्थिति में रहती हैं या नहीं ?

राधा में जीवन बोध की दो मान्यताएँ हैं :—

(१) जीवन अनंत प्रवाह का स्रोत है।

(२) जीवन के लिए जन्म और मृत्यु अपनी कोई सीमा नहीं रखती। कवि के ही शब्दों में :—

जन्म-मरण जीवन सागर में,
कुछ बुलबुले उठाना।

राधा का कवि मृत्यु से मुक्त होने के लिए न तो संन्यासियों की तरह (मुक्ति की खोज में) एकांगी भटकाना चाहता है और न देवताओं की तरह मृत्यु के भय से निरन्तर त्रस्त होकर जीवन संघर्ष से भिन्न कोई लोकोत्तर आनन्द बटोरना चाहता है।

राधाकार लोक को ही जीवन संघर्ष का क्षेत्र मानता है। जीवन के लिए उसके पास कुछ कल्पनाएँ हैं, कुछ आदर्श हैं, कुछ कार्य-क्रम हैं। जीवन, जो जन्म और मृत्यु की सीमा से परे न होकर भी अपने अस्तित्व को निरन्तर अक्षुण्ण बना रहे। राधा का कवि यहाँ परम्परा का उच्छेदन भी नहीं करता और न शतप्रतिशत उसका पालन ही। कारण, वह अतीत से बचे-खुचे मूल्यवान तत्त्वों को समेटना भी चाहता है और वर्तमान से कटना भी नहीं। समय के लिए अतीत का सम्यक् बोध, युग की सम्यक् अनुभूति और भविष्य के लिए अपनी मौलिक परिकल्पनाएँ—तीनों के बीच सामंजस्य बैठा कर, जीने वाले जीवन के लिए एक सुलझी हुई दृष्टि देना उनका लक्ष्य है।

अत: राधा का जीवन-दर्शन किसी खास मान्यता, किसी खास परम्परा और किसी खास आदर्शों का अनुगामी नहीं। जीवन जैसे अनन्त प्रवाह की अखण्ड यात्रा है। उसी प्रकार राधा के पात्र भी जीवन की भिन्न अनुभूतिओं की पृथक् अभिव्यक्ति बन गये हैं। यदि काफी ध्यान से देखें तो राधा में जीवन की यात्रा दो तरह की है :—

(१) आंतरिक यात्रा,

(२) बाह्य यात्रा।

आंतरिक यात्रा भीतर की होती है, मन की होती है। वह अपने ही भीतर बाह्य स्थूलता को त्याग कर, सत्य की खोज करने की होती है। वह अपने ही मन की वृत्तियों से जूझकर, उसे परास्त कर, अपनी सही स्थितियों अर्थात्

आत्म-सत्य की प्राप्ति कर लेती है। वह अंतर्ध्वनि को ही अपनी प्रज्ञा की सीमा मान लेती है और तमाम स्थूल बाह्य-व्यापार से मुक्त हो कर, (यहाँ तक कि इन्द्रियों की बात कौन कहे, नाम भी मिटा कर) सत्य का साक्षात्कार कर लेती है। 'राधा' महाकाव्य में राधा की परिकल्पना के पीछे कवि का यही जीवन बोध है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन की अन्तर्मुखी यात्रा और जीवन की बहिर्मुखी यात्रा—दोनों समानान्तर रूप से चलती रहती है। इन दोनों के बीच सामंजस्य बैठाना भी जीवन का अपना एक दर्शन होता है, विशिष्ट जीवन दर्शन। 'राधा' में जीवन की आंतरिक यात्रा की अभिव्यक्ति 'राधा' है तो जीवन की बाह्य यात्रा की अभिव्यक्ति ललिता। और जीवन की बाह्य और आंतरिक यात्रा के मध्य सामंजस्य अनुभव करने वाले कृष्ण।

अर्थात् जहाँ जीवन की दोनों यात्राएँ आकर विलीन हो जाएँ अथवा जहाँ से जीवन की दोनों प्रकार की यात्राएँ विकसित हों। अतः राधा के जीवन दर्शन को समझने के लिए भाव-भूमि का स्पर्श करना अपरिहार्य है।

'राधा', की राधा ही इस आंतरिक राग-यात्रा के परिणामस्वरूप कहती है—

मेरे जीवन का तो अब वारा-न्यारा !
है प्रणय प्रणव ने आज मुझे ओंकारा !

इस यात्रा के क्रम में नीली मुरली के व्याज से निरन्तर वह अंतर की ध्वनि सुनती रहती है। उस आंतरिक ध्वनि से निरन्तर मौनालाप होता रहता है उसका। भीतर की यात्रा अर्थात् चिद्वृत्तियों को समेट कर मन के रागात्मक विरागात्मक भावों की अनुभूतियों को भोगते हुए, अन्ततः आत्म-साक्षात्कार कर लेना ही 'राधा' की स्वीकृति है। परमात्मतत्त्व द्वारा आत्मतत्त्व को स्वीकार कर लेने की स्थिति है। अपने भीतर अपने को ढूँढ़ना अर्थात् अपनी स्थिति मे ही संभावनाओं की तलाश करना ही आंतरिक जीवन-यात्रा का लक्ष्य होता है। इस लक्ष्य को परम लक्ष्य कहा तो जा सकता है लेकिन वही जीवन का अंतिम सत्य नहीं है।

इसीलिए पुरुषार्थ पर्व में इस आंतरिक राग-यात्रा के परम 'सत्य' पर शंका करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं :

'पुरुष के हित उचित केवल कर्म है।'

लेकिन कर्म की दुहाई देने वाले कर्मयोगी कृष्ण कहीं भी उस आंतरिक यात्रा से अपने को मुक्त नहीं कर पाते, उस आंतरिक जीवन अनुभूतियों से ही जुड़े रहते हैं। वही उसकी ऊर्जा है।

'राधा' की ललिता जीवन के बाहरी संघर्ष और सम-विषम स्थितियों के बीच सामंजस्य बैठाने वाली भिन्न अभिव्यक्ति है। वह कृष्ण के पुरुषार्थी जीवन और उनके सामंजस्यवादी दृष्टिकोण का आदर करती है, लेकिन खास आदर्श और किसी खास मूल्य के लिए नहीं, जीवन के समग्र बोध और बोधजन्य अनुभूति के लिए। शायद वह समझती है कि मनुष्य के बाहरी जीवन को सँवारने के लिए सुधार की प्रक्रिया को निरन्तर लोकोन्मुख किया जाए। जीवन को सँवारना कोई हँसी खेल नहीं है। यह तभी सँवरेगा, जब व्यापक पैमाने पर हम जीवन की अस्मिता को मनुष्य की संवेदना और संवेदना में विस्तार को अनुभव करें। इसके लिए मनुष्य की सीमाएँ किसी खास वर्ग की सीमा न हो, किसी खास संस्कृति और किसी खास मान्यता की सीमा न हो। यदि एक ही सीमा को मनुष्य की संभावना का सत्य मान लिया जाए तो मनुष्यत्व खंडित हो जायेगा।

इसलिए ललिता मानव प्रकृति के अतिरिक्त मानवेतर प्रकृति के जीवन दर्शन तक अपनी अनुभूतियों को फैला देती है। उसके पास स्वावलम्बन के लिए आत्मनिर्भरता और ठोस रचनात्मक कार्यक्रम भी है। यदि कृष्ण ने व्यापक मानव समुदाय के लिए विश्वजनीन दृष्टि अपनाकर व्यापकता को अपने लक्ष्य का साधन मान लिया तो क्यों न हम एक इकाई को ही मनुष्य जाति के विकास और उसकी समृद्धि का बुनियादी आधार मान लें?

'राधा' में विकास की दो धाराएँ हैं—(१) विकास को ऐश्वर्य और भौतिक समृद्धि की ओर उन्मुख करना और (२) विकास को मनुष्य की सुख-शांति के लिए मानव संस्कृति की सम्यक् आकृति प्रदान करना। ऐश्वर्य और भौतिक साधन से अपनी मानसिकता भोग की ओर उन्मुख करती है। कृष्ण ने जीवन को भोग की सीमा से मुक्त करने की चेष्टा तो की, लेकिन उसे ऐश्वर्य की सीमा से मुक्त होने की कोई दृष्टि नहीं प्रदान की। उनकी गीता के श्रोता वे ही रहे, जिन्होंने भूमि, सम्पत्ति और ऐश्वर्य के तमाम साधनों पर अपना नियंत्रण करने के लिए अपने पुरुषार्थ को, (अपने अधिकार के लिए) झोंक देने हेतु उतारू थे। श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक ज्ञान और उनके ऊँचे आदर्शों के संस्कार के स्तर पर भोगने वालों की बात तो दूर, उसे

समझने वाले भी कितने थे। भीष्म की निस्संगता में भोग अर्थात् सामंतीय संस्कार से मुक्ति पाने की चेष्टा भला उनके बाल-ब्रह्मचर्य होने मात्र से मानवता को कोई ठोस दिशा दे सकने में सक्षम हो पाती ?

शास्त्री जी ने परम्परा की मान्यताओं को ठोकर मारकर हटा दिया है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि भूख के लिए विविध प्रकार के व्यंजन परोस देने मात्र से व्यंजन का स्वाद नहीं मिल जाता। कम भूख लगने पर ही व्यंजन के स्वाद का अनुभव होता है। गीता के लिए देश, काल और पात्र तीनों की जरूरत थी।

श्रीकृष्ण ने न तो देश पर ध्यान दिया और न काल पर। उनका ध्यान पात्र पर भी नहीं रहा। उन्होंने धन-कुबेरों शोषकों, यथास्थितिवादियों और परम्परावादी भोग लोलुप राजाओं का मान-मर्दन भले ही किया हो, लेकिन उस संस्कृति को नहीं मिटा पाए जिसने परिस्थितियों के गर्भ से उन्हें उत्पन्न किया था। कृष्ण ने जीवन में मानवोत्थान के लिए दो धुरियों को चुना था। गोकुल और द्वारका। लेकिन जीवन की विसगति यह रही कि द्वारका धुरी ने अपनी परिस्थितियों के चक्र जाल में ही उन्हें पूरी तरह फँसा लिया। श्री कृष्ण एक के बाद दूसरे और दूसरे के बाद तीसरे मानव-सुधार के कार्य में व्यस्त होते चले गए। कभी साचा था कंस-वध के बाद परिस्थितियाँ स्वयं अपना मूल्यांकन करेंगी, उससे शिक्षा ग्रहण कर अपना परिस्कार करेंगी, लेकिन हुआ ठीक उल्टा। जरासंध, भीष्मक, शिशुपाल और न जाने कितने राजाओं ने उनका विरोध किया।

भारत में सामंतवाद का अधिक बोल-बाला रहा है। गणतन्त्र की मान्यताएँ प्रासंगिक तो रहीं, लेकिन उसका स्वतन्त्र रूप हमारे काव्य और इतिहास का कोई ठोस प्रतिमान नहीं बन सका। महाभारत में विद्वान् भीष्म गणतंत्र पर प्रकाश तो डालते हैं, लेकिन उनका मुख्य केन्द्र राजतन्त्र ही है। उन्होंने राजधर्म की जितनी विशद व्याख्या की है, उतना गणधर्म की नहीं। यह विचित्र विडम्बना है कि यादव गणसंघ को प्रगति की सीमा का स्पर्श कराने वाले श्रीकृष्ण ने भी राजतंत्रीय मूल्यों को ही भारत के शक्ति-केन्द्र में स्थित किया।

यदि वे यादव गणसंघ को सही अर्थ में गण-स्वीकृति अथवा लोकधारा की ओर उन्मुख किए होते तो निश्चय ही उनमें आपसी वैमनस्य की अपेक्षा सामाजिक संतुलन की भावना मुखर हुई रहती ? उधर गोकुल की धुरी बाट

जोहती ही रह गई। इसके विपरीत राधाकार ने कृष्ण के जीवन-दर्शन को आधुनिक जीवन बोध और आधुनिक जीवन समस्याओं से जोड़कर देखा है। कवि ने कृष्ण को यथार्थ और लोक जीवन के यथार्थ-मूल्यों के निकष पर भी कसा है। 'राधा' का 'निर्वेद पर्व' संभवतः भारत के आधुनिक चिंतन की प्रगतिशीलता और आधुनिक मानव संवेदना का अनूठा एलबम है।

ललिता हो या राधा, नन्द हो या यशोदा उनकी शिकायत अपने-अपने ढंग की है। लेकिन गोकुल धुरी ने सदैव अपनी ही क्षमता को अपने आत्म-विस्तार की सीमा मान ली थी। इसलिए वह अपनी मान्यताओं पर अडिग दिखलायी देती है। वह धुरी अपनी वन्य-गोचारण संस्कृति के प्रति मुग्ध है। उसके पास भले ही अट्टालिका और प्राकार नहीं हों, लेकिन भीतर संतोष और शांति तो है ही। उस धुरी के पास अपना एक परिवेश है। अपना एक विश्वास है, अपनी अस्मिता है।

परिवेश को बनाते और मिटाते रहने वाले श्रीकृष्ण अपने लिए कोई खास परिवेश नहीं बना सके। उनका अपना कोई प्रभामण्डल नहीं बन सका। रुक्मिणी, सत्यभामा और जाम्बवती की बात कौन कहे उद्धव और अक्रूर जैसे पुरुष पात्र भी चाटुवित के ही शिकार होते गये। 'राधा' की राधा ने न तो कभी किसी परिवेश की चिन्ता की और न किसी परम्परा की। वह तो 'कुल का कुल क्रमिक विकास जलाकर' आयी है।

यही कारण है कि उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य बन गया—एक को जान लेना, एक में ही सब कुछ विसर्जित कर देना, एक के लिए ही अपना उत्सर्ग कर देना।

भारतीय चिंतन और योगमार्गी विचारधारा से भिन्न, राधा में कदाचित् प्रथम बार जीवन को आर-पार होकर अनुभव किया गया है। 'राधा' की आंतरिक यात्रा में बाहरी संवेदना की हलचल भी है, विसंगतियों के प्रति तीखी प्रतिक्रियाएँ भी और उन प्रतिक्रियाओं के साथ कारुणिक व्यथाएँ भी। जीवन की सार्थकता श्रीकृष्ण के साहचर्य और एकांतालाप ही में नहीं, उन मूल्यों में भी है, जिसके लिए जीवन ऊँचे आदर्शों के रूप में गढ़ा जाता है।

समग्र रूप से ललिता और राधा को विलग रूप में देखना भूल होगी। राधा यदि जीवन की ऊष्मा है तो ललिता उबाल। राधा यदि जीवन की अनुभूति है तो ललिता उसकी अभिव्यक्ति। ललिता और राधा अर्थात्

जीवन की आंतरिक और बाह्य यात्रा के सच्चे द्रष्टा हैं—श्रीकृष्ण। श्री कृष्ण के लिए सामंजस्य और उनके जीवन को प्रकाश देते रहने का अखण्ड स्रोत बनती है राधा ही।

'राधा' में जीवन दर्शन उलझा हुआ नहीं, पारद की तरह पारदर्शी है। गोकुल की लोक-भूमि, जिसे हम श्रम-भूमि कहेंगे वही नये जीवन का आदर्श है। श्री कृष्ण के जीवन का अंतिम निष्कर्ष श्रम और राग पर आधारित जीवन का दर्शन है। श्री कृष्ण की स्वीकारोक्ति उसका प्रमाण है :—

नव जीवन उठने वाला है,
ढहा स्वार्थ दीवारें,
एक नीड़ हो विश्व जायगा,
कुण्ठित असि मसि धारे,
मैं अखण्ड मानवता का,
नयनों में स्वप्न सजाऊँ,
शुभ भविष्य की ललित कल्पना,
सँजो जगत से जाऊँ।

ठोस जीवन की विविधता पूर्ण व्याख्या करने वाली राधा और ललिता भी अपने जीवन और मरण की सीमा लाँघ कर, शाश्वत राग को ही प्रकाश का अंतिम लक्ष्य मान लेती हैं और उसी प्रकाश में लीन हो जाती हैं— राधाकार के शब्दों में—

ललिता राधा की जागृति थी,
राधा आत्मानन्दी, खोई,
ललिता प्रकाश संवेदन का,
लो ज्योति संग छाया सोई।

'राधा' में घटना और क्रियात्मक व्यापार की अपेक्षा आंतरिक हलचल अधिक है। यहाँ घटनाओं द्वारा नहीं, अपितु चिंतन द्वारा जीवन की सारी घटनाएँ चित्रपट की तरह पाठकों के मस्तिष्क में नाचने लगती हैं। 'राधा' में स्मृति-पक्ष पर जितनी ऊर्जा खर्च हुई है उतनी प्रतीक्षा पक्ष पर नहीं। हाँ, प्रतीक्षा की अपेक्षा कृष्ण द्वारा उठाए गये सुधारवादी कार्य-क्रम की समीक्षा अवश्य

की गई है। यहाँ व्यक्ति की अपेक्षा जीवन मूल्य और परिवेश की अपेक्षा जीवन का यथार्थ दृष्टिकोण सामाजिक संदर्भों से जोड़ कर देखा गया है।

राधा में कई स्थल हैं, जहाँ राधा के जीवन से सम्बद्ध असमर्थता के बिम्ब उकेरे गये हैं। साथ ही, उसकी विवशता को संवेदना और संवेदना को करुणा का व्यापक मानववादी आधार दिया गया है :—

'निशिदिन चिंतन, मन का बन्धन,
आत्मा उन्मुक्त न हो पाई,
सोखा समुद्र ने कण-कण कर,
रेतीली नदी न रो पायी।'

संभवत: विश्व की एक मात्र नायिका राधा ही है जो ब्रह्मचारिणी है; जीवन में जीवन की ऊष्मा और उम्र की विवशता को अपने संयम और भाव-नियंत्रण का अनुशासन प्रदान करने वाली है। संभवत: आधुनिक युग को राधा का संयम और भौतिक आकर्षण के प्रति अनासक्ति का भाव नागवार लगे। पाठक सोच सकता है, क्या जीवन भर कृष्ण की स्मृति में लीन हो कर वह अपनी सीमा को स्वयं में गिरफ्त कर पाने में सक्षम हो पायी होगी ?

इसके पीछे कवि का उद्देश्य दूसरा है। जिसके संकल्प और भावाकुलता की प्रतिकूल समीक्षा होती रहे, वह भित्तिचित्र भला कैसा होगा ?

"जिसकी दिन-रात समीक्षा हो,
वह भित्तिचित्र कैसा होगा ?"

मनुष्य की सीमा और उसकी क्षमता का निर्धारण करना जीवन-मूल्य का कार्य है। ललिता ने श्री कृष्ण को कर्म और राधा को धर्म का प्रतीक माना है। रुक्मिणी के पूछने पर ललिता ने मनुष्य जाति के थोथे तर्क ज्ञान पर तीखा प्रहार किया है। साथ ही, शास्त्रीय विधि-विधान को भी ढोंग साबित किया है। जब रुक्मिणी ब्रज की मानवेतर प्रकृति के अतिरिक्त वहाँ रहने वाले लोगों के विषय में जानना चाहती है तो वह कहती है—मनुष्य की बात छोड़ो। वह तो मरने से डरता है। जीने के लिए लाख बहाने हैं उसके पास। संसार वाले भले ही उसे नियतिवादी कहें अथवा विवेकवादी, लेकिन वास्तविकता तो यह है कि वह दूसरे का हक छिन कर ही अपने स्वार्थ की रोटी सेकना चाहता है। वेद और पुराणों में जीवन के असंख्य आदर्श

वाक्य भरे पड़े हैं। मनुष्य अपनी बुद्धि माँजने के लिए ही उसे पढ़ता है ताकि वह उचित को अनुचित सिद्ध कर सके।

है मनुष्य के रूप अनगिनत
देव भी न गिन पाएँ!
रो अबोध निर्दोष छद्म छल
घनी रात, दिन गाएँ!

कहीं-कहीं तो आश्चर्य होता है कि राधा को धर्म और कृष्ण को कर्म का प्रतीक स्वीकार करने वाली ललिता कृष्ण द्वारा संचालित राजन्य संस्कृति के शोषणवादी संस्कार पर इतनी तीखी क्यों हो गई है कि वह तीखापन कृष्ण और उनके द्वारा स्थापित संस्कृति को कहीं भी विश्वास के धरातल पर टिकने नहीं देती।

हम जितने टूटें उतनी ही
सामर्थ्य मुकुट की बढ़ती है!
हम अपना बेल सुखा डालें
जब अमर बल्लरी चढ़ती है!

जीवन में मूल्यों का निर्धारण सत्ताधारियों द्वारा नहीं, अपितु लोक द्वारा ही होता है। सत्ता की संस्कृति है, भेद-नीति द्वारा शासन चलाना; व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर संशय डाल कर फूट को प्रश्रय देना। राधा में जीवन का कटु यथार्थ बन कर हमारे विश्वास को अपनी ओर खींचता है—

सामूहिक स्वर का भय इतना!
सत्ताधारी को होता है
करने विभक्त उर से उर को
सुर के उर में विष बोता है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि इसमें कोई एक खास जीवन दर्शन नहीं है; लेकिन जो गंभीर पाठक हैं वे भलीभाँति महसूस करते हैं कि समग्र जीवन का अपना कोई खास (एक ही) दर्शन नहीं होता। परिस्थितियों के गर्भ से

अनुभव की स्थितियाँ बनती हैं और उसी के अनुरूप जीवन में दिशा का निर्धारण भी होता है। हाँ, यह बात सही है कि निरुद्देश्य जीवन जीने का कोई अर्थ नहीं। सोद्देश्यता का प्रश्न गंभीर रूप से उभरा है—राधा में। कृष्ण ने कभी गोपियों से वादा किया था :—

सब के सुख-दुख में सब संगी,—
होंगे, न अकेला जन होगा,
तन के चाहे हों, सौ साँचे,
सब का समान ही मन होगा।"

लेकिन वे अपने उस संकल्प को निरन्तर कल्पना के क्रोड़ में डाले रह गए। संभवतः चाहकर भी परिस्थितियों को वे अपने अनुकूल ढाल नहीं पाये। त्रासदी यह हुई कि महाभारत युद्ध के बाद भी मानवता एक कदम भी आगे न बढ़ सकी। अविश्वास और संशय ने मनुष्य के मन को ही असंख्य खण्डों में विभक्त कर दिया। नियति की त्रासदी के कारण नहीं, अपने ही काले कारनामों के कारण उनकी दुर्गति की घड़ी निकट आ पहुँची है।

सब अलग-अलग ही डूबेंगे,
अब खुलने वाला बेड़ा है।

परम्परा की दृष्टि से कृष्ण का जीवन घोर दुखवादी है। चाहे महाभारत में वर्जित यादवगण के पतन की गाथा हो, चाहे भागवत में वर्णित श्रीकृष्ण के महाप्रस्थान का प्रसंग—गंभीर निराशा और अन्धकार का चित्रण है वह।

राधा के रचयिता ने अपने महाकाव्य को निराशावादी नहीं होने दिया है। कृष्ण ने स्वीकार किया है कि उससे जितना हो सका, उतना जीवन को ऊपर उठाने की चेष्टा की है। जितना संभव था, उतना हुआ। लेकिन उसका यह प्रयास रहेगा कि मानवता को विश्वास और शांति के मार्ग पर लाने के लिए, उसका प्रयास कभी समाप्त नहीं होगा।

'एक जन्म पर्याप्त नहीं
कर फिर प्रयास आऊँगा।'

शास्त्रीजी ने जीवन मूल्यों के निर्धारण के लिए लोकोन्मुखी चेतना को अधिक महत्त्व दिया है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि जीवन को उचित अनुशासन प्रदान करने के लिए वैयक्तिक मूल्यों की अवहेलना कर दी गयी। राधा यदि अपनी आस्था से जुड़ी है, तो उसकी यह गंभीर आस्था भारतीय चिंतन के अनुकूल है; क्योंकि यहाँ प्रेम को परमात्मा मान लिया है और प्रेमी और प्रेमिका के सम्बन्ध को सनातन राग के रूप में देखा गया है।

'राधा' में कृष्ण यदि परमात्मा हैं तो सिर्फ प्रणय की उच्चतम भाव-दशा में। प्रेम की उच्चतम भावस्थिति राधा का प्रणय है। लेकिन कवि ने कहीं भी उन्हें सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भ में मनुष्य की सीमा से बाहर नहीं होने दिया है। कृष्ण की असमर्थता और उनकी असफलताएँ इसके प्रमाण हैं।

'राधा' समग्र जीवन का काव्य है। आने वाले जीवन को यहाँ बीते हुए जीवन से कुछ हद तक रागात्मक ऊर्जा भले ही मिल गई हो, लेकिन सर्वत्र कर्ममय जीवन की अनुशंसा की गयी है।



ग्राम + पो०—बिठौली
जिला —वैशाली

राधा : अन्तर्यात्रा

□ डॉ० रामनन्दन प्रसाद सिन्हा

जिस महाकवि ने कभी क्षितिज के पार से अनुगुंजित या कि अपने अन्दर ही प्रतिध्वनित होने वाले मोहन की मुरली के मधुर स्वर से आन्दोलित होकर यह जानना चाहा था;

"किसने बाँसुरी बजायी ?
जनम-जनम की पहचानी—
यह तान, कहाँ से आयी ?

वह उस "टेर" को कभी बिसार नहीं पाया। अविराम उसी की तलाश में अनजान पथ पर अग्रसर होता रहा,

"कुछ और दूर, कुछ और दूर
जीवन यह आठों याम रहा,
मेरे पथ में न विराम रहा।"

"राधा" उसी महाकवि की ऊर्ध्वगामी काव्य-यात्रा की पराकाष्ठा है या कि उसी यात्रा-पथ के फूल और काँटों की कहानी है, जिसमें परम्परा और परिवेश, समष्टि और व्यष्टि, साधन और साध्य और अन्ततः उसकी अस्मिता और अहन्ता भी उच्चतम तापमान में गलकर एक रस हो गया है। "राधा" में महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने आप को निचोड़ डाला है, आगे कहने को कुछ रख नहीं छोड़ा।

"राधा" एक महान् कलाकृति है, जो निश्चय ही पूर्व-निर्मित किसी सांचे में नहीं ढली है, मेघमालाओं की तरह, किन्तु अपने आप में वह एक अनूठा सांचा अवश्य है, जिसके रचना-शिल्प का अनुकरण किसी भी महान् कवि के

लिए कदाचित् असंभव न भी हो, तो श्रम एवं समय साध्य तो अवश्य ही होगा, न केवल इसलिए कि यह साहित्य और संगीत, धर्म और दर्शन, लोक और वेद के विविध उदात्त तत्त्वों की अपूर्व समन्विति है, प्रत्युत इसलिए भी कि यह "बावरी बीन की अनमिल धुन पर जीवन हारनेवाली हिरनी की कहानी है।" "राधा" युग और जीवन की आर्त्त पुकार है, क्या इसके अतिरिक्त वह और कुछ नहीं है ?

शास्त्रकारों द्वारा निर्मित महाकाव्य के सांचे में "राधा" यदि ठीक-ठीक उतर न भी पाये, तो होता क्या है ? प्रत्येक महान् शिल्पी पूर्व निर्मित शिखरों से भिन्न एक शिखर गढ़ता है। हिमालय की उच्चतम एव विशाल श्रृंखला की तरह विस्तृत भारतीय साहित्य के हिम धवल शिखरों में "राधा" भी एक है, जिसे कोई आसानी से लाँघ नहीं सकता। प्रणय, पुरुषार्थ, विनोद (परिसंवाद), निर्वेद, प्रभास एवं उत्सर्ग नामधारी इसके सात पर्व प्रकाश के वर्ण-पट सदृश एकाकार तो दीखते हैं, फिर भी इनमें से प्रत्येक पर्व का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है, सूर्य के सात घोड़ों की तरह। प्रणय पर्व की प्रस्तुति में कहा भी गया है जैसे यह प्रणय पर्व अपने आप में पूर्ण है, ऐसे ही शेष छहों पर्व भी हैं।

राधा में जो इन्द्रधनुषी छटा बाहर-बाहर दीखती है, वह तो बादलों की ओट से झाँकता हुआ शाश्वत प्रकाश-तत्त्व का प्रतिबिम्ब है, उसका असली सौन्दर्य तो सत्य का सौन्दर्य है—चिर मंगलमय। उसके विस्तृत बाह्य फलक पर यथार्थ जगत् को रूपायित करने के लिए चित्र उकेरे गये हैं, वह उसी चिरंतन तत्त्व का विवर्त रूप है, उसकी ऊर्ध्वगामी अन्तर्यात्रा तो नाम-रूप से परे उस "बिन्दु" की ओर है, जिससे यह दृश्यमान जगत् उद्भूत है या कि उस आनन्द-सिन्धु की ओर है जिसमें यह सारी सृष्टि तिरोहित हो जाती है।

"मैं रूप जलाकर नाम मिटाकर आयी,
आनन्द-सिन्धु के लिए बिन्दु भर लायी।

इस महाकाव्य का शब्दमय शरीर एक महान् शब्द-शिल्पी की दीर्घकालीन तपस्या से निर्मित और उसकी आत्मा वही "जनम-जनम की पहचानी धुन" को समर्पित है, जिसे वह लोक का कोलाहल कम होते ही सुनने लगता है। "राधा" का बाह्यस्वरूप यदि स्वाध्याय एवं संवेदना की समन्विति है, तो उसकी अन्तर्धारा साधनापूत चिंतन की परिणति।

प्रेम और सौन्दर्य का अप्रतिम प्रतिमान राधा का जो भावात्मक रूप किसी प्रेमी को अपनी प्रेमिका की अलसाई आँखों में जीवन की समस्तता के साथ झाँकता दीखता है, वही अव्याख्यायित छवि किसी साधक का सिद्धिपीठ भी बनती है, जिस पर वह अपनी अहन्ता को बार-बार अर्पित करता है। वह सतत प्रभवमान लावण्य, वह अनवरत प्रवहमान धारा, जो कभी प्रेमिका या प्रणयिणी का रूप गढ़ती है, वही रूप, वही रस कभी ममतामयी माँ की मूर्त्ति भी संवारता है।

"विश्व जननी निःस्वजन सुख साधिके,
चिर विदा प्राणाधिके श्रीराधिके।"

"राधा" वाह्य और अभ्यंतर, लोक और अलोक को एक साथ अंकवार में भर कर चलती है। वह अटट गंवारिन है, उपलों भरी अंगारी है और अंधकार में झकझकाती निखोट उजियारी भी।

"मैं अटट गंवारिन उपलों भरी अंगारी'
झकझक करती तम से निखोट उजियारी।"

भौतिक परिप्रेक्ष्य में राधा और कृष्ण की प्रणय लीला मानवीय धरातल पर रूपायित है, तो आध्यात्मिक पृष्ठभूमि में वही राधा अनाख्या है, प्रकृति है, और श्रीकृष्ण है, परम पुरुष, शुद्ध ज्ञान। कृष्ण—निर्गुण ब्रह्म है और राधा उनकी क्रियात्मिका शक्ति। कृष्ण ज्योतिधर हैं और राधा उनकी निष्कम्प ज्योति।

"झिलमिले स्वरों में सजग आरती गाती
निष्कम्प ज्योति मैं गिरिधर की रँग राती।"

प्रणय पर्व की भूमिका में महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री स्वयं कहते हैं, "ज्ञान और कर्म क्रमशः सृष्टि को नाम और रूप देते हैं, सृष्टि स्वयं भावात्मक है। यह भाव जड़-चेतन, गुण-दोष, सबको अपने उदार विस्तार में समेट लेता है। राधा की रचना-प्रक्रियाओं में अन्तःफुरण का यह क्रम लक्षित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि "राधा" की कोमलकांत पदावलियों में ज्ञान और कर्म की क्रमशः श्रीकृष्ण और राधा के रूप में व्याख्या की गयी है।

राधिका आराधिका को क्या करूँ?
सिद्धि संस्तुत साधिका को क्या करूँ?

शून्य को आकृति प्रदान करनेवाली कृष्ण प्रिया राधा ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान है। उसी अविनाशिनी ऊर्जा के कारण यह समस्त संसार जीवन्त और गतिमान है, उसी से काल भी क्रमवान है। राधा न हो तो, न मृत्यु होगी और न अमरता, न विष होगा और न अमृत। यह गुण-दोषमय संसार राधा का ही प्रसरित रूप है।

"मैं गति हूँ, जीवन हूँ; बहता पानी हूँ।

× × × ×

जब मैं न रहूँगी तब जग अगम न होगा,

मृत अमृत न होगा, विष भी विषम होगा !

किन्तु, जो कुछ इस विशाल ब्रह्मांड में है, वह सब हमारी लघु काया में भी है। इसी कारण मानव शरीर को क्षुद्र ब्रह्माण्ड कहा गया है। इसमें जो कुछ है, वह अन्यत्र भी है और जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है, 'यद इहास्ति तदन्यत्र यन्नहास्ति न तत्क्वचित्'। राधा और कृष्ण दोनों मनुज देह में ही शक्ति और शक्तिमान रूप में विद्यमान हैं। यह सिद्धान्त कोरी कल्पना पर नहीं, प्रत्युत प्रायोगिक सत्य पर आश्रित है, जिसे झुठलाने का सामर्थ्य आधुनिक विज्ञान में भी नहीं है।

शब्द ब्रह्म याकि ओंकार सृष्टि की अतीत भूमि है। इसी से चार स्तरों में अर्थ रूप जगत् का विकास होता है, जिन्हें क्रमशः परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहा गया है। परावाक् मूलाधार स्थित कुंडलिनी में निष्काम बिन्दु रूप में विद्यमान है। पश्यन्ती की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र, मध्यमा की अनाहत चक्र और वैखरी की विशुद्धि चक्र में है। सृष्टि क्रम में शब्द की गति परावाक् से वैखरी की ओर प्रवाहित होती है। संहार क्रम में यह शक्ति-धारा शक्तिमान की ओर प्रवाहित होती है, तब उसकी गति उल्टी दिशा में होती है, वैखरी से मध्यमा और पश्यन्ती होते हुए परावाक् की ओर।

वैखरी मध्यमा को अब भेद रही है,
पश्यन्ती में आ स्मृति को छेद रही है।
निःशब्द, अनाहत मैं मनुहार परा की,
कर वार पार क्या देखूँ हार धरा की ?
मेरे जीवन का तो अब वारा-न्यारा।
है प्रणय-प्रणव ने आज मुझे ओंकारा॥

कायास्थित षट्-चक्रों में ही मनस्तत्त्व के साथ पंच तत्त्वों का भी अंश समाहित है। मूलाधार में पृथ्वी, स्वाधिष्ठान में जल, मणिपुर में अग्नि, प्रवाहत में वायु, विशुद्धि में आकाश एवं आज्ञा-चक्र में मनस् तत्त्व अवस्थित हैं। आरोह क्रम में जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में, वायु का आकाश में और आकाश का मनस् तत्त्व में विलय हो जाता है। प्रत्याहार का यह क्रम इसी प्रकार राधा में भी द्रष्टव्य है।

"आकाश अनिल में लीन हुआ जाता है,
जल अनिल तेज में दीन हुआ जाता है,
बुझता जाता है तेज डूब कर जल में
जल का विलयन होता धरती के तल में।"

साधना-क्रम में जब सुप्त कुंडलिनी जाग्रत होती है, तब उसका कुंडल भंग हो जाता है। वह फुफकारती हुई सुषुम्ना के विवर में प्रवेश कर जाती है और ब्रह्म, रुद्र एवं विष्णु ग्रथियों को भेदती हुई षट्-चक्रों के पार सहस्रार में प्रवेश कर जाती है, जहाँ वह फुफकार भूलकर अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के आलिंगन पाश में निश्छल भाव से आबद्ध होकर एक रूप हो जाती है :

"केंचुल उतार कुंडली मार कुंडलिनी,
फुफकार भूल निश्चल ज्यों मानस नलिनी।"

शक्ति और शक्तिमान के संकोच एवं प्रसार अर्थात् संयोग एवं वियोग का सम्बन्ध प्रलय और सृष्टि याकि निवृत्ति और प्रवृत्ति है। संयोग एवं वियोग से संयुक्त शृंगार रस को काव्यात्मक परिपृष्ठ में इसी कारण रसराज कहा गया है, "रसो वै सः।" क्षुद्र ब्रह्माण्ड में राधा और कृष्ण का मिलन परमानन्द प्रदायी है। यही राधा की प्रणय लीला का रहस्य है। किन्तु महाकवि जानकीवल्लभ शास्त्री की "राधा" न तो तांत्रिक साधना का सिद्धान्त ग्रंथ है और न पूर्व मध्यकालीन रहस्यवादी काव्य, वह तो उत्तर-छायावादी युग का एक अनूठा "महाकाव्य" है, जिसमें जीवन के सत्य से असम्पृक्त किसी सौन्दर्य का संधान नहीं किया गया है।

कोई भी महान् कलाकृति बहुआयामी होती है। कोई जितनी बार देखे, उतनी बार उसमें उतने ही आयाम उजागर होते दीखते हैं, हरबार अपरूप दीखता है, चिरनवीन। लालसाओं के इर्द-गिर्द मँडराता मन एक क्षण के लिए ही सही, उसे देखकर ठहर तो जाता है। ठहराव का वह क्षण निश्चय ही लोकोत्तर होता है, ब्रह्मानन्द सहोदर। किन्तु उसके सौन्दर्य में

परिलक्षित होने वाली गत्यात्मकता के मूल में उसकी जीवंतता होती है, अविनाशिनी ऊर्जा। सौन्दर्य तो सतत प्रवहमान धारा के ऊपर-ऊपर लहराता है, हवा के झोकों से लहराते लहंगे की तरह। जब तक जीवन्तता है, मचलती धारा है, थिरकते आरोह-अवरोह हैं, धड़कता दिल है, विहंसते अधर हैं, नहीं तो बस कुछ नहीं।

साधना की धारा अन्तर्मुखी होती है, जब साधक अपनी अस्मिता को समेटता है। अभिव्यक्ति की धारा बहिर्मुखी होती है, जब रचनाकार अपनी अकुलाहट को स्वर देता है, "एकोऽहं बहु स्याम" की भावना से अपने स्वत्व को टूक-टूककर बिखेर देता है। "राधा" के कवि ने अपने-आप को तोड़-तोड़ कर सात खंडों में छितरा दिया है। राधा में उसने अपने व्यक्तित्व, विचार और चिन्तन की एक नयी व्यंजना दी है।



प्रधानाचार्य
जीवछ महाविद्यालय, मोतीपुर
मुजफ्फरपुर

'राधा' : बिम्ब-विधान

□ डॉ० प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन'

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री बिम्बधर्मी कवि हैं। बिम्ब की कोई ऐसी जाति-प्रजाति नहीं, जो इनकी काव्य-कृतियों में प्राप्य न हो। किन्तु इन्होंने छायावादी बिम्बों की धूमिलता, प्रगतिवादी बिम्बों की स्थूलता और प्रयोगवादी बिम्बों की अतिगोचरता से बचने की कोशिश की है। यही कारण है कि 'राधा' की रचना-प्रक्रिया में अनेक सांकेतिक बिम्ब नये-नये बिम्बों की आवृत्ति में प्रतिबिम्बित होते चले गये हैं।

'राधा' के कवि को नये-पुराने बिम्बों के सहारे अनेकानेक चित्रों को रूपायित करने की सहजता प्राप्त है, क्योंकि इनके बहुआयामी व्यक्तित्व पर भारतीय कला और संस्कृति का प्रभूत प्रभाव है, किन्तु यह प्रभाव ऐसा नहीं है जो अपनी कृति को उसी में ढाल दें, बल्कि यह एक संस्कार और अपनी आकृति-प्रकृति में एक अद्भुत चित्र स्वतः बन गया है। फलतः 'राधा' अनेकशः आवृत्तियों में बिम्ब-धर्मिता का रूपायन करती है। राधा के चित्र स्थूल भावों के उन्नायक नहीं, अपितु मानस-सत्य के गोचर बिम्ब को ही दर्शाते हैं—

> मांगती विस्तार जीवन की परिधि
> नई भूमि, नया गगन, नूतन प्रविधि
> मानसिकता अद्यतन, वन चेतना
> गढ़ समाज नया, न जो पहले बना।

'राधा' की उपरोक्त पंक्तियों में चित्रकार की तीक्ष्ण बुद्धि, निरीक्षण शक्ति, छंद-संतुलन, विभिन्न आवेगों का अद्भुत ज्ञान, आत्म-संयम एवं चारित्र्य का समवेत दर्शन होना है। यह भावी समाज का भाव चित्र नहीं, अपितु समसामयिक समाज के लिए स्थापित जीवन यथार्थ का चित्र है। यही

चित्र व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व को अपनी नव चेतना द्वार' प्रेरित करेगा और मूल्यों को उचित स्थायित्व भी प्रदान करेगा।

संभव है 'राधा' के इस मूल्यवान मानस चित्र को पाठक अपने गोचर की बुनियाद पर नहीं स्थिर कर सके, किन्तु यह अनुभव तो अवश्य ही करायेगा कि कवि ने नये समाज के लिए क्या बनाना चाहा है। संभव है, यह उतने महत्त्व का न हो, जिसे हम किसी चित्र कला की शैली में ढाल सकें। फिर भी यह स्वीकार करना ही होगा कि इस भावचित्र में जो कुछ बना है, उसे चित्रकार ने किस मानसिकता में बनाया है। समाज के लिए इस मानसिक चित्र का बोध जहाँ संघर्ष, व्यक्ति-स्वातंत्र्य, न्यायोचित कर्मशीलता, स्वभाव का मानवीय मूल्यांकन. राग की प्रबलता, शीतोष्णता के बीच संतुलन आदि प्रतीत हो। 'राधा' का कवि लिखता है—

दृष्टि जाग्रत, तेज ज्योतिर्ज्वाल का,
नया अर्थ समर्थ जय, जयमाल का
प्राणवान कि स्वाभिमान चरित्र में।
आत्मवान अंके न बंकिम चित्र में।

स्पष्ट है, कला का जितना ही सुन्दर विन्यास ऊपर की पंक्तियों में है, अन्विति और सामंजस्य है, अर्थ-विस्तार है, उतनी ही बिम्बात्मकता भी। कवि की मनःस्थिति, वैयक्तिकभाव एवं उनके प्रज्ञावान अस्तित्व का ही प्रकाशन नहीं, वरन् व्यक्ति और समाज के स्थायी तथा पुंजीभूत मूल्यों और अनुभूतियों का भी प्रकाशन हो जाता है। जिन वैयक्तिक और सामूहिक भावों तथा मनःस्थितियों को कवि अभिव्यक्त करता है, वह मानवीय समृद्धि, निर्वैयक्तिकता और सार्वभौमिकता का प्रतिरूप बन गया है। अतः प्रतिरूपता 'राधा' के सर्जनात्मक बिम्ब की पहचान बन गयी है, जो विलक्षण होते हुए भी सर्व संवेद्य है।

कला का वास्तविक अर्थ है भावना की अभिव्यक्ति और बोध शक्ति का रूपायन। यह सच है कि किसी भी कलाकृति से हम में शारीरिक प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न होती हैं—हम लय, संहृति, अन्विति आदि के प्रति सचेत रहते हैं और ये हमारी शिराओं को प्रभावित करते हैं। किंतु ये उन्हें उतना क्षुब्ध नहीं करते, जितना कि प्रशमित करते हैं। और यदि हम मन की इस परिणामी अवस्था को संवेग कहें तो यह संवेग उस 'संवेग' से भिन्न होता है। 'राधा' में चेतना के बिम्ब इसके प्रमाण हैं—

कौन है तू, यह कभी मत भूलना।
कुसुम, कांटों में तुझे है फूलना।
गरल पायी को पिला बहुधा सुधा,
तीव्र करनी है मृतक-जीवन-क्षुधा।

यही चेतनात्मक बिम्ब पाठकों के मानस में परोपकार, जनकल्याण, आत्मसंघर्ष, प्रतिकूल परिस्थितियों से जूझने की शक्ति और जीवन को शाश्वत मूल्य के रूप में संवेगात्मक शक्ति देता है। व्यक्ति का यही अस्तित्व-बोध उसे ऊँचा उठाकर सबकी सीमा से बाहर ले जाता है और उस व्यापक परा के साथ एकीभूत कर समष्टि मूल्य के रूप में परिणत कर देता है। उद्धृत पंक्तियों में सर्जक कल्पना के स्मृत और कल्पित दोनों प्रकार के बिम्ब मिलते हैं। इन्हीं के समानान्तर लक्षित और उपलक्षित बिम्ब भी वहाँ पाये जाते हैं।

प्रेरक अनुभूति के आधार सरल, मिश्र, जटिल, पूर्ण और समकलित बिम्ब निम्नलिखित उद्धरण में द्रष्टव्य है—

कामों के नाम अनेक, रूप कितने ही
देही जो देखे, दिखता एक सनेही।
जो धूप रूप को स्वेद-कणों से सजती,
मैं सुनती उसमें मेघरागिनी बजती।
रिमझिम रिमझिम फुहियों के झलमल मोती,
गुँथते अलकों में, जब पलकों में सोती—
ऋतु हरसिंगार की, चन्द्र ज्वार की ज्वाला,
मैं हिम-तुषार-फूलें फूलों की माला।

खण्डित और बिखरी हुई अनुभूतियों के आधार पर खण्डित और विकीर्ण बिम्ब देखें—

यह झरना है, जो नीरव झरता रहता,
उन्मत्त गगन अनहद स्वर भरता रहता।
बहना है, मेरे आँसू भी चुप बह लें,
उत्तप्त पीर-प्रण-धीर शिशिर रह सह लें।

यहाँ सरल और संश्लिष्ट बिम्ब एक साथ ही दृष्टिगोचर होते हैं। साथ ही घटना, प्रकरण और प्रबन्ध बिम्ब की एकरूपता इस बात के प्रमाण हैं; 'राधा' प्रबन्धात्मक बिम्बों का अक्षय भंडार है।

महाप्राण निराला ने उत्कृष्ट चित्र रचना के लिए तीन गुणों की अवस्थिति आवश्यक बतलायी है—भाव चित्र और शब्दों का चयन। इस दृष्टि से 'राधा' की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

राधिका ज्यों हो मकर की चाँदनी,
भोर का भ्रम भर रही उन्मादिनी,
पर अभी निस्तब्ध आधी रात है,
मुग्ध पंथी ! चल, सुदूर प्रभात है।

छायावादी कवियों में एक बड़ी सीमा तक कल्पना-प्रधान काव्यात्मक बिम्ब मिलते हैं। किंतु उपरोक्त पंक्तियों में बिम्ब काव्यात्मक ही नहीं, प्रज्ञात्मक भी हैं। 'मुग्ध पंथी ! चल, सुदूर प्रभात है !' उक्त कथन की पुष्टि का प्रमाण है।

'राधा' में शब्द बिम्ब की प्रचुरता है। इसे सर्वोत्कृष्ट काव्य बिम्ब कहा जा सकता है, क्योंकि उसमें संक्षेप में पूरी कलात्मकता के साथ कथ्य को उपस्थित किया जाता है। यह बिम्ब अपनी संक्षिप्तता में भी अतिशय अर्थवान रहता है और कवि के अभीष्टार्थ को पूरी सशक्तता के साथ प्रस्तुत करता है। 'राधा' के कवि ने इसका यथोचित उपयोग किया है। शब्दाश्रित बिम्ब विधान भी दो प्रकार के होते हैं—ध्वनि बिम्ब और भाव बिम्ब। ध्वनि बिम्ब का सर्वाधिक प्रयोग जानकीवल्लभ जी ने 'मेघगीत' में किया है—

भाद्र समुद्र रुद्र रव रशना
नाच रही कस दस दिशि वसना,
रिमझिम रिमझिम रुन-झुन, रुन-झुन,
छुनकिट तच्छुम रन-रन, रुन-रुन,
छुम-छुम छननन-झननन झुन-झुन।

ध्वनि कल्पना पर निर्भर ऐसे श्रावणिक बिम्बों के साथ संगीत माधुर्य का यह तत्त्व आधुनिक कविता में कम ही मिलता है। 'राधा' की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें ध्वनि बिम्ब के साथ भाव बिम्ब को सर्वाधिक महत्त्व मिला है। उदाहरण के लिए—

जोराजोरी खूँटा उखाड़ने वाली—
मानेगी छांद बथान ? करें रखवाली—
तेरे बाबा ही अब अपरी छपरी की
कमची न लची, कुल की कुल धूल-भरी की

इस तरह का भावात्मक बिम्ब मानव वृत्ति के लिए कवि ने स्वतंत्र रूप से ग्रहण किया है। तभी तो कवि ने उसका उपयोग 'कमची' के माध्यम से उस भाव बिम्ब को सहजता दे दी है। यहाँ भाव बिम्ब के साथ वर्ण का युगपद निर्वाह भी किया गया है।

वर्णध्वनि का एक उदाहरण 'राधा' में देखें—

लय की बोझिल घन-घटा घिरी कानों में,
पर बरसी चुप, हल्के-हल्के प्राणों में,
सुर सुनकर मन का असुर तना, रण माँगा,
लय हुआ न लय में ? तजा तान-तन ? भागा ?

प्रायः अन्य कवियों ने जहाँ वर्णनात्मक ध्वनि को वर्णात्मक रूप में ही प्रयुक्त किया है, वहाँ जानकीवल्लभ जी ने सारगर्भ ध्वनि के रूप में इसका उपयोग किया है।

'राधा' में समानुभूतिक बिम्ब भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। समानुभूतिक बिम्ब में कवि अपने व्यक्तित्व, मनोदशा, स्वभाव और भावना का आरोप बहिर्जगत या दृश्य जगत पर करता है। समानुभूतिक बिम्बों में कवि एक ओर वर्ण को इन्द्रिय ग्राह्य बनाता है, तो दूसरी ओर पूरी संवेदना को भी व्यक्त करने की चेष्टा करता है। उदाहरणार्थ निराला की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

है अमानिशा, उगलता गगन घन अन्धकार
खो रहा दिशा का ज्ञान, स्तब्ध है पवन चार
अप्रतिहत गरज रहा पीछे अम्बुधि विशाल
भूधर ज्यों ध्यान मग्न, केवल जलती मशाल। —अनामिका

इस प्रकार के सूक्ष्म, भास्वर और हृदयग्राह्य बिम्ब हिन्दी में अत्यल्प प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन 'राधा' में ऐसे बिम्ब अनगिनत हैं। एक द्रष्टव्य है--

तिमिर सरि है ? ज्योति तरणी तू तिरा,
और गहरे बोध की छहरे गिरा।
जूझ जड़ता से समय की व्यग्र हो,
कर सतत संघर्ष सर्व समग्र हो।'

'राधा' में ऐसे महत्त्वपूर्ण बिम्बों की प्रधानता है। वह वेगोद्बोधक है और भास्वर भी। ऊपर की पंक्तियों में 'ज्योति-तरणी' वेगोद्बोधक तो है ही

ही भास्वर भी है। 'राधा' में बिम्बों की विशेषता यह है कि वहाँ छोटी से छोटी, लघु से लघु आकार की रूपरेखा को भी अंकित किया गया है और बिम्बों को विविधता से प्रयुक्त किया गया है।

बिम्ब का सम्बन्ध दृश्य जगत् के इन्द्रिय संवेदन से होता है, इसलिए दृश्य जगत् के विस्तार और संकोच के साथ बिम्ब जगत् भी घटता-बढ़ता रहता है। दृश्य जगत् के नानाविध विस्तार से बचने की कोशिश 'राधा' की रही है। यही कारण है कि इसमें बिम्बों का चयन गोचर-प्रत्यक्ष नहीं, सांकेतिक है। अन्य छायावादी कवियों की तरह इन्होंने चित्र भाषा का अनुगमन नहीं किया है, अपितु इनकी भाषा ही चित्रमय है। इसीलिए बिम्ब बोधात्मक है।

इतना कुछ होने के बावजूद जानकीवल्लभ जी में भी अन्य समानधर्मा कवियों की तरह आदिम और निजन्धरी बिम्बों की प्रधानता है। फिर भी इनकी स्थिति भिन्न है। प्रसाद के बिम्बों में अतीत के गाढ़े रंगों का उभार अधिक है। वे उत्तरोत्तर अपने बिम्बों को साधते गये हैं। यही कारण है कि उनके परवर्ती बिम्बों में निखार और घनत्व आ गया है। 'कामायनी' में पहुँचकर उनकी कला प्राचीन अलंकार मोह से मुक्त होकर विशुद्ध संवेदनात्मक धरातल पर स्थित हो गयी है। वहाँ उनके बिम्बों में प्रसंग-गर्भत्व आ गया है और उनकी कला में एक गहन अभिजात रंग भर गया है।

निराला के बिम्बों में भावावेश और भावना का एक उद्धृत प्रवाह मिलता है। इनके बिम्ब विधान का प्रमुख स्रोत है प्रकृति और समकालीन जीवन। प्रकृति के, उन्होंने प्रायः वही चित्र संकलित किये हैं, जिनमें तीव्र भावावेग जगा सकने की क्षमता हो। जानकीवल्लभ जी के बिम्ब व्यापकता की दृष्टि से आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पूरे युग में अकेले वे ही ऐसे कवि हैं जिनमें समसामयिक जीवन की जटिलता और आन्तरिक संक्रमण को सूचित करनेवाले बिम्ब प्रचुर मात्रा में मिलते है। वे केवल ऐन्द्रिय चित्रों से संतुष्ट नहीं होते। उनके आवेग प्रधान बिम्बों का भी एक निश्चित वैचारिक लक्ष्य होता है। तात्पर्य यह कि वे अनुभूति को विचार के स्तर पर एक साथ अनुभव करते हैं। 'राधा' का पुरुषार्थ पर्व, दर्शन पर्व, उत्सर्ग पर्व और बीच का एक महत्त्वपूर्ण पर्व—प्रभास पर्व—इसके यथेष्ट उदाहरण हैं।

ही भास्वर भी है। 'राधा' में बिम्बों की विशेषता यह है कि वहाँ छोटी से छोटी, लघु से लघु आकार की रूपरेखा को भी अंकित किया गया है और बिम्बों को विविधता से प्रयुक्त किया गया है।

बिम्ब का सम्बन्ध दृश्य जगत् के इन्द्रिय संवेदन से होता है, इसलिए दृश्य जगत् के विस्तार और संकोच के साथ बिम्ब जगत् भी घटता-बढ़ता रहता है। दृश्य जगत् के नानाविध विस्तार से बचने की कोशिश 'राधा' की रही है। यही कारण है कि इसमें बिम्बों का चयन गोचर-प्रत्यक्ष नहीं, सांकेतिक है। अन्य छायावादी कवियों की तरह इन्होंने चित्र भाषा का अनुगमन नहीं किया है, अपितु इनकी भाषा ही चित्रमय है। इसीलिए बिम्ब बोधात्मक है।

इतना कुछ होने के बावजूद जानकीवल्लभ जी में भी अन्य समानधर्मा कवियों की तरह आदिम और निजन्धरी बिम्बों की प्रधानता है। फिर भी इनकी स्थिति भिन्न है। प्रसाद के बिम्बों में अतीत के गाढ़े रंगों का उभार अधिक है। वे उत्तरोत्तर अपने बिम्बों को साधते गये हैं। यही कारण है कि उनके परवर्ती बिम्बों में निखार और घनत्व आ गया है। 'कामायनी' में पहुँचकर उनकी कला प्राचीन अलंकार मोह से मुक्त होकर विशुद्ध संवेदनात्मक धरातल पर स्थित हो गयी है। वहाँ उनके बिम्बों में प्रसंग-गर्भत्व आ गया है और उनकी कला में एक गहन अभिजात रंग भर गया है।

निराला के बिम्बों में भावावेश और भावना का एक उद्धत प्रवाह मिलता है। इनके बिम्ब विधान का प्रमुख स्रोत है प्रकृति और समकालीन जीवन। प्रकृति के, उन्होंने प्रायः वही चित्र संकलित किये हैं, जिनमें तीव्र भावावेग जगा सकने की क्षमता हो। जानकीवल्लभ जी के बिम्ब व्यापकता की दृष्टि से आधुनिक जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस पूरे युग में अकेले वे ही ऐसे कवि हैं जिनमें समसामयिक जीवन की जटिलता और आन्तरिक संक्रमण को सूचित करनेवाले बिम्ब प्रचुर मात्रा में मिलते है। वे केवल ऐन्द्रिय चित्रों से संतुष्ट नहीं होते। उनके आवेग प्रधान बिम्बों का भी एक निश्चित वैचारिक लक्ष्य होता है। तात्पर्य यह कि वे अनुभूति को विचार के स्तर पर एक साथ अनुभव करते हैं। 'राधा' का पुरुषार्थ पर्व, दर्शन पर्व, उत्सर्ग पर्व और बीच का एक महत्त्वपूर्ण पर्व—प्रभास पर्व—इसके यथेष्ट उदाहरण हैं।

मेरा दृढ़ विश्वास है कि 'राधा' के कवि का सदैव विराट् बिम्बों के लिए ही स्मरण किया जायगा। यह विराटता, पाठकों को सिर्फ विषयवस्तु में ही प्रभावित नहीं करेगी कभी-कभी निराशा और पराजय में भी उसे आकृष्ट करेगी, हिलायेगी। वहाँ पाठक कवि की कल्पना और अपनी अनुभूति के बीच एक सामंजस्य देख सकता है। 'राधा' को पढ़कर यह आश्चर्य होता है कि जीवन की विराटता के उपासक जानकीवल्लभ जी ने ही हिन्दी कविता में सर्वप्रथम लघुता के प्रति भी साहित्यिक दृष्टिपात किया है। इस प्रकार उन्होंने बिम्ब विधान की एक नयी दिशा का अन्वेषण किया है, जिस ओर हिन्दी के अन्य कवियों का ध्यान नहीं गया था।

विशेष कार्य पदाधिकारी
बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर।

●

ग़ज़लगो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

☐ नीतीश्वर शर्मा 'नीरज'

साहित्य की ऐसी कोई भी विधा नहीं, जो आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की विद्वत्ता और उनके कवित्व के पारस-स्पर्श से वंचित हो। फिर गीतितत्त्व से परिपूर्ण ग़ज़ल पर आचार्य प्रवर की दृष्टि कैसे न पड़ती? हिन्दी साहित्य में ग़ज़ल प्रयोग करनेवाले जिन रचनाकारों की चर्चा आज कमोबेश होती है, यकीनन आचार्य प्रवर उनमें सर्वप्रथम ग़ज़ल लिखने वाले शायर हैं। हिन्दी ही नहीं, संस्कृत साहित्य को भी इन्होंने बेहतरीन ग़ज़लें दी हैं। इनकी संस्कृत ग़ज़लें इनकी प्रारम्भिक काव्य-कृति 'काकली' में संकलित हैं।

यों तो हिन्दी में ग़ज़ल का प्रयोग करने वाले कवियों में पहला नाम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का आता है, लेकिन उसका रूप-निखार छायावाद के महाप्राण कवि 'निराला' ने किया—ऐसी मान्यता बन गयी है। 'निराला' की ग़ज़लें उनके काव्य-संकलन 'बेला' में संकलित हैं। उर्दू ग़ज़ल के पारम्परिक स्वरूप को तोड़ते हुए, उसमें फिक्रे-जहाँ भरने की पहली कोशिश 'निराला' जी ने ही की थी। लेकिन सच्चाई तो यह है कि आचार्य प्रवर 'निराला' से भी पहले के ग़ज़ल प्रयोग करनेवाले हिन्दी के समर्थ शायर हैं। इनकी प्रथम ग़ज़ल 'रूप-अरूप' (१९३९) में संकलित है। जाहिर है, यह रचना उससे भी पूर्व की लिखी हुई होगी।

छायावाद काल के प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने इस विधा को अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। लेकिन 'निराला' की ग़ज़लें अपनी प्रगतिशील विचारधारा के चलते अधिक उपयोगी मानी गयीं। भाषा और शिल्प के स्तर पर भी 'निराला' अपने समय के अद्वितीय शायर सिद्ध हुए हैं। यह बात और है कि जब 'बेला' की ग़ज़लें प्रकाश में आयीं, उस

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

समय गज़ल लेखन को हिन्दी साहित्य के समीक्षकों ने महत्त्वहीन समझा। सम्भव है, इसी वजह से आचार्यप्रवर उत्कृष्ट ग़ज़लों की रचना तो करते रहे, पर इनके प्रकाशन को कभी महत्त्व नहीं दिया।

ग़ज़ल में रुचि रखनेवाले साहित्य-प्रेमी इनकी पहली ग़ज़ल को तत्कालीन कवियों की रचनाओं के सामने रख कर स्वयं निर्णय ले सकते हैं कि इनमें और अन्य कवियों की ग़ज़लों में क्या अन्तर और कितना साम्य है। भाषा, शिल्प और अभिव्यक्ति-कौशल में आचार्यप्रवर अपने समकालीन कवियों को बहुत पीछे छोड़ जाते हैं :—

जिन्होंने हो तुझे देखा, नयन वे और होते हैं,
कि बनते वन्दना के छन्द, क्षण वे और होते हैं।
जहाँ गुलजार तेरा, क्या अजब सब फूल तेरे हैं,
लगे पर जो गले तेरे, सुमन वे और होते हैं।
दिखा मुझको नहीं जब, सत्य भी मेरे लिए सपना,
कि जो हक में हकीकत के, सपन वे और होते हैं।
अगन जाये न बुझ, बहते रहें आँसू किसी हद तक,
उठाते जो लपट ऊँची, नमन वे और होते हैं।
मरण भी लोक-जीवन के लिए आलोक, पर अर्पित—
तुझे जिनके जनम, जीवन, मरण, वे और होते हैं।
गहन वन, गर्त खाई देख चलना है मुनासिब, पर—
तुझे ही देखते चलते, मगन वे और होते हैं।

इस गज़ल की आत्मा परमात्मा का शुक्रगुजार है क्योंकि वह जिधर भी पहलू बदलती है उधर उसी की नियामतें नज़र आती हैं। दर्शन और समर्पण की यह ऊँचाई महाकवि गालिब में दृष्टिगोचर होती है—

न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता;
डुबोया मुझको होने ने, न होता मैं तो क्या होता।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस उम्र में लोग प्रायः वयःसन्धि की भूल-भूलैया में तितलियाँ पकड़ने की कोशिश में दीन-दुनिया से ग़ाफिल रहते हैं; आचार्यप्रवर उस वय में अध्यात्म की उस ऊँचाई को अपनी कल्पना में माप रहे हैं, जहाँ मीरा, ग़ालिब, नज़ीर और फ़िराक़ अपनी उम्र की आधी से अधिक सीढ़ियाँ पार कर पहुँचते हैं।

विगत दो दशकों में शताधिक अन्य हिन्दी-कवियों ने ग़ज़ल कहने में अपनी रुचि दिखलायी है, लेकिन यह कहना कठिन है कि इनके जेहन में भाषा की प्रमुखता है या ग़ज़ल की विलक्षण कथ्यभंगिमा। ग़ज़ल की संवेदना सिर्फ शराब की मस्ती, जवानी की रोमानी धड़कनों, तन्हाई, बेवफाई और दर्द के आलम से जुड़ी हुई नहीं है। उसमें समकालीन विसंगतियों और अनेक अन्य मानवीय सन्दर्भों की अभिव्यक्ति भी यथेष्ट मात्रा में हुई है। ग़ज़ल में आस्था का स्वर भी होता है और अनास्था का द्वन्द्व भी। उसमें कैफियतें भी होती हैं और वह रहनुमाई भी करती हैं। कहीं अतीत का जायजा लिया जाता है, कहीं वर्तमान की संवेदनाएँ आक्रोश की ओर मुड़ती नजर आती हैं. कहीं भविष्य की परिकल्पनाएँ रहती हैं। ग़ज़ल में अनुभूति की कोमलता भी होती है और जज्बात की गरमाहट भी। औपचारिक से अनौपचारिक होते जाने की सहजता, प्रकृति की प्राणवत्ता, संकल्प की दृढ़ता आदि वे सूत्र हैं जो ग़ज़ल में कशिश और वैशिष्ट्य लाते हैं। ग़ज़ल जीवन्त तभी हो पाती है जब उसमें बिम्बित होता है शायर का अस्तित्व अपनी पूरी सच्चाई जिजीविषा और प्रामाणिकता के साथ। इस संदर्भ में आचार्यप्रवर की एक मशहूर ग़ज़ल का यह अंश उल्लेखनीय है :—

> बाँकपन पहचान है, मेरी सिफारिश हो न हो,
> सब्ज़ होने से रहा, बंजर में बारिश हो न हो।
> हो बड़े ऐंठे, अरे गहरे कभी पैठे नहीं,
> उठा लाल धुआँ, हरे पानी में आतिश हो न हो।

ग़ज़ल लिखने वाले अनेक शायर आचार्यप्रवर के हमउम्र हैं, यथा— शमशेर बहादुर सिंह, त्रिलोचन शास्त्री, बलवीर सिंह 'रंग', भवानी प्रसाद मिश्र और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' आदि। परन्तु हिन्दी में ग़ज़लगोई के लिए प्रसिद्धि दुष्यन्त कुमार को मिली। यहाँ प्रश्न उठता है कि हिन्दी ग़ज़ल का फैसला क्या सिर्फ दुष्यन्त की ग़ज़लों को देखकर ही किया जा सकता है? हिन्दी के संस्कार के अनुरूप उर्दू-फारसी के शब्दों को तराशने और उसे सम्प्रेषणीय बनाने का कार्य क्या दुष्यन्त के पहले नहीं हुआ था? निश्चय ही, यह प्रयोग पहले निराला और आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अपनी-अपनी ग़ज़लों में कर चुके हैं। हिन्दी ग़ज़ल की प्रकृति की दृष्टि से त्रिलोचन शास्त्री की ग़ज़लों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी तरह बलवीर सिंह 'रंग', भवानी प्रसाद मिश्र और शमशेर बहादुर सिंह की गजलों में प्रयुक्त उर्दू शब्दों से यह निर्णय नहीं लिया जा सकता कि इनकी ग़ज़लें उर्दू की ग़ज़लों की

परम्परा का सम्वर्द्धन करती हैं। इन लोगों से कहीं अधिक आचार्यप्रवर की यह कोशिश रही है कि उर्दू और हिन्दी भाषा के अनावश्यक फासले को कम किया जाए। वैसे परम्परा तो हर भाषा के साहित्य की अपनी निजता लिये हुए होती ही है।

ग़ज़ल की लोकप्रियता की एक मुख्य विशेषता उसकी गेयता, उसमें निहित संगीततत्त्व की प्रचुरता भी है। आचार्यप्रवर शीर्ष के गीतकार/ग़ज़लकार ही नहीं, उच्चकोटि के संगीतज्ञ भी हैं। उनके गीत, उनकी ग़ज़लें विभिन्न राग-रागिनियों पर आधारित होने की वजह से भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। यों तो आचार्यप्रवर ने अपनी रचनाओं में प्रगतिशीलता को भी भरपूर स्थान दिया है। यथार्थ की पुकार भी सुनी है और नयी सोच, नयी मुश्किलों से पाठकों का परिचय भी कराया है, पर उनकी मान्यता है कि साहित्य का उद्देश्य सिर्फ यथार्थ वर्णन ही नहीं होता। उसमें शिव और सुन्दर का भी समावेश हो तभी वह आदमी को सही रास्ते पर चलने को उत्प्रेरित कर सकता है। आज के ग़ज़लगो जहाँ समय की मार खाकर अपनी तिलमिलाहट में नारेबाजी पर उतर आते हैं, वहीं आचार्यप्रवर सृजन के समय पर्याप्त संयम बरतते हैं। शक्ति संयम से संचित होती है और चिल्लाने से क्षरित। इस सन्दर्भ में इनकी ये पंक्तियाँ देखने लायक हैं :—

> गरज मत यह बरसने का समय है,
> न फट पड़, खुद को कसने का समय है।
> दरारें पड़ गयीं हर खेत में है,
> यह अंखुओं के उकसने का समय है।

समाज और साहित्य दोनों एक दूसरे के लिए होते हैं। व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना असम्भव है और समाज के अभाव में साहित्य निरर्थक। साहित्य न हो तो समाज दिशाहीन हो जाए। सामाजिक और आर्थिक विसंगतियों के कारण व्यवस्था से आदमी का विश्वास डिग रहा है। आशा की डोर छूट रही है। सब्र का बाँध टूट रहा है। देखिए आचार्यप्रवर के इन शेरों में ये भाव किस तरह उजागर हो रहे हैं—

> साफ-सुथरी नहीं राह कोई यहाँ
> धूल से है अटी शूल से है पटी!
> साँस से दे उड़ा, जो जमी धुन्ध हो,
> पूछना पाँव से क्या : किधर जाएँ हम?

इसी तरह खुद्दारी और वतनपरस्ती का जल्वा भी इनके कलामों में यत्र-तत्र हिलोरें मार रहा है—

कलम है अगर हाथ में, जिन्दगी लिख,
नहीं काम अपना है परचम उड़ाना !
नुमाया नहीं रंग मुझ पे किसी का;
मेरी जीस्त को ख़ाक समझे जमाना !
कोई खार खाए, कोई गुल खिलाए,
न था कब चमन में मेरा आशियाना !

× × ×

देश दुनिया का था सिरमौर, हमीं भूल गये
नज़र गगन में गड़ाई कि जमीं भूल गये ।
ग़ैर की ज्यादतियाँ, शोखियाँ, दरिंदगियाँ
सबकी याद रहीं, अपनी कमी भूल गये ।

इस तरह के अनगिनत नगीने शेर की शक्ल में आचार्यप्रवर के एक सौ इकावन ग़ज़लों के प्रकाश्य दीवान 'धूप दोपहर की' में संकलित हैं तथा आज भी समय की नब्ज़ पर हाथ रखे, आचार्यप्रवर नयी-से-नयी अनुभूतियों को ताजे-से-ताजे बिम्ब-प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त कर रहे हैं ।



ग्राम : ढेवाहाँ, पत्रालय-कांटी
जिला–मुजफ्फरपुर

समकालीन कविता के भिन्न प्रतिमान

- □ धूपतरी : गीति-काव्य का
  कलात्मक निदर्शन
- □ 'राधा' की राधा
- □ 'राधा' के कृष्ण

□ डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

धूपतरी : गीति-काव्य का कलात्मक निदर्शन

□ डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

छायावादोत्तर हिन्दी-गीत के वरिष्ठ और विशिष्ट कवि के रूप में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री सुख्यात हैं। 'रूप-अरूप' से लेकर 'धूप-तरी' तक की उनकी गीत-यात्रा सुदीर्घ है। 'धूप-तरी' के गीतों में आशा-निराशा, वेदना-करुणा, राग-विराग, प्रकृति-पुरुषार्थ, निजता-परता, क्षोभ-आस्था—सभी संगुंफित हैं। अर्थात् जीवन अपनी लगभग सभी भंगिमाओं के साथ इन गीतों में रूपायित है। कहते हैं, गीत क्षण विशेष की गहन अनुभूति होते हैं। ऐसा है भी, लेकिन सिद्ध कवि अपनी सघन संवेदनशीलता की शक्ति से क्षण में इतने गहरे डूबता है कि वह वहीं से जीवन काढ़ लाता है। वह बूंद में ही समुद्र का पता पा लेता है, कली में ही निखिल वसन्त निरख लेता है। और अधूरा कवि समूचे जीवन में से दस-पाँच क्षण भी बमुश्किल पकड़ पाता है। आचार्य शास्त्री सिद्ध गीतकार/कवि हैं—वे क्षण से ही जीवन छान लेते हैं। वे 'वाद' या बन्दगी के नहीं जिन्दगी के कवि हैं। उन्हीं के शब्दों में—

"दो किनारों से बँधा जीवन रहा बह,
दो सधे श्रोता, कहानी वह रहा कह,
सम्पुटों में सजल मोती पल रहा है,
दो अंगारे, एक कंचन गात है,
जिन्दगी की बात मेरी बात है!

(धूप-तरी, पृष्ठ १४)

'धूप-तरी' के अधिसंख्य गीतों में प्रकृति का प्रभावकारी रूपांकन हुआ है। कहीं वह स्वतन्त्र रूप में चित्रित है, कहीं प्रतीकवत्, तो कहीं कवि-मन-दर्पण की तरह। ध्यातव्य है कि प्रकृति शास्त्री जी के लिए जीवन-जगत् की कश्मकश या कलह्-कोलाहल से कतराये, कुण्ठित मानस की शरण-स्थली नहीं है। वस्तुतः वे प्रकृति के क्रिया-कलापों को जीवन के क्रिया-कलापों के समानान्तर रखकर कुछ विशिष्ट अभिव्यक्त करते हैं। निरन्तर क्षरित होते हुए उच्चतर मानवीय मूल्यों को वे प्रकृति के अक्षय कोष से संयुक्त कर पुन-पुंष्ट करना चाहते हैं। दिनानुदिन राग, रंग, गंध, संवेदना, करुणा, त्याग, उत्साह आदि अमूल्य तत्त्वों से विच्छिन्न होते हुए जीवन को वे प्रकृति का पारस-परस उपलब्ध करा देना चाहते हैं, क्योंकि प्रकृति के पास इन अमृत मूल्यों का अशेष सागर है। 'धूप-तरी' के कुछ प्रकृति-चित्र उपर्युक्त सन्दर्भ में अवलोकनीय हैं—

"रंग भरे स्वर, ताल गंध की !
कसी हरी-सुनहरी शिराएँ
हँसमुख ऋतु के प्राण-बंध की !
तोड़-तोड़ मिट्टी की परतें
अंकुर सुन्दरता के उगते
चिर किरनीले पंख-पखेरू
स्पर्श मलय के नभ में चुगते
फिसल गई-सी हिम-तट से
सहमी शबनम अँखुओं में दुबकी
पड़ी उषा के गंधकी वसन में
सलवट आनन्द-छन्द की !"

(धूप-तरी, पृष्ठ १८)

महाप्राण निराला की ही तरह शास्त्री जी को वसन्त और बादल अधिक प्रिय हैं। वसन्त रंग-राग, उमंग-उल्लास बिखेरता है, सन्नाटे को सरगम में परिणत कर देता है। 'धूप-तरी' का स्रष्टा भी यही तो चाहता है—

ऐसी ठोकर दो मिजराब की अदा से—
गूंज उठे सन्नाटा सुरों की सदा से
ठंढ़े साँचों में मैं ज्वाल ढाल पाउँ !" (धूप-तरी, पृ० ६०)

\+ + ×

ठहरे गहरे सन्नाटे को झंकार बना दो तो जानूं !
तीखे काँटों को फूलों का शृंगार बना तो जानूं !
(धूप-तरी, पृ० ६३)

'धूप-तरी' का पहला ही गीत प्रकृति-परक है, शिशिर का गीत है। इसमें पतझर के खामोश, उदास वातावरण को चित्रित किया गया है। कुहरी की झील में धूप की नाव तिर रही है। पुरवाई के झोंकों में यह धूप-तरी डगमग हो रही है और—

"खनक रही-सी नीरवता पतझार की,
महक रही केवलता सूनी डार की।"
(धूप-तरी, पृ० ६)

ध्यातव्य है कि यहाँ नीरवता 'खनक' रही है और अपत डालियों की केवलता 'महक' रही है। कितनी सूक्ष्म परख है ! वस्तुतः, मौन की भी अपनी मुखरता होती ही है—'कौन मौन क्षण अपने में सुनसान है ?' पेड़ से झरते, अधर में एक दूसरे से टकराते पीले पत्तों के खन-खन स्वन को सुना जा सकता है। मगर गहरी व्यंजना यह है कि कवि पतझर की मरघटी चुप्पी के पीछे आसन्न कलरव की आहट महसूस लेता है। अपत डालियों के सूनेपन के पीछे दस्तक देती हुई मंजरियाँ, कलियाँ कवि की दृष्टि में रूपायित होती हैं। शिशिर की वीरानियों में वासन्ती श्री-सुषमा का यह सन्धान शास्त्री जी की नवीनाग्रही, मंगलकामी चेतना का पता देता है। इसी सन्दर्भ में कविवर निराला का वह गीत स्मृति में अनायास कौंध जाता है—

'रूखी री यह डाल वसन वासन्ती लेगी।'

बादल करुणा और परार्थ त्याग का प्रतीक है। स्वयं रिक्त होकर धरती को समृद्ध कर देता है। बादल दानी न होता तो धरती धानी न होती। सजल बादल को देखकर कवि का मन-विहग चहक उठता है—

"ककरेजे पाषाणों से फूटा प्राणों का स्रोत
उठी झलमल/कनक-कपूरी/किसी विज्जु की जोत !
अठखेलियाँ लिए खुशियों की/चहका खग का मर्म
जज्ब हुई खुशबू जमीन की/हवा हुई कुछ नर्म"
(धूप-तरी, पृ० २७)

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने लिखा है—"उन्मुक्त प्रकृति मन के क्षेत्र और चेतना की परिधि को अति विस्तृत कर देती है। कवि इस व्याप्ति

देता है, अवश्य उसका व्यक्तित्व Individual (वैयक्तिक) और Particular और समग्रता को अपनी ही Personality के माध्यम से मार्मिक अभिव्यक्ति (विशेष) नहीं है। वह सामान्य और मानवीय है। जिस कारण उसका प्रत्येक पाठक उसमें अपनी ही भावनाओं और अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब पाता और अपने को उन भावनाओं और अनुभूतियों का भागीदार भी पाता है।"

(एक असाहित्यिक की डायरी, पृ०–६१)

शास्त्री जी ने मनोहारी, पारदर्शी प्रकृति-चित्रों की चिलमन में लपेटकर कहीं-कहीं अत्यन्त मर्यादित रूप में प्रेमिल अनुभूतियों को प्रकट किया है। यह प्रेम देह-गंधी नहीं है; आत्मा की धवलता लिए है, उदात्त है। ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

'चाँद का फूल खिला, ताल में गगन के
दर्द की सर्द हवा, गम की नमीं में डूबी
कसमसाहट की कसम, है जमीं ऊबी-ऊबी
रक्त का रंग लिए, साँस की सुगन्ध पिए
प्राण का फूल खिला, ताल में मरण के !'

(धूप-तरी, पृ० ५८)

संकेत यह है कि सच्चे प्रेमी का मन गगन-सा विस्तृत होता है, जिसकी आर्द्र गहराई में कोई चन्द्रबदनी खिली होती है और यह पवित्र प्रेम ही मरण-शील जीवन को प्राणवान बना देता है। समय सरक जाता है, सुधियाँ सहचरी हो जाती हैं। अवसन्न वर्तमान में अतीत के प्रसन्न पलों की स्मृति गम को और गाढ़ा करने लगती है। बकौल कवि—

"बात बीती आँधियों की हरहराती—
जब कभी, दिल धड़कता, सिर घूमता है।
बोल डूब गए अधर की घाटियों में
चीख सरपत के वनों में खो चुकी है,
घोंसले टूटे, उड़े पंछी न लौटे।
सर्द परछाईं खुले में रो चुकी है !
जिन्दगी की बावरी गहराइयों को
नासमझ समतल हुमक कर चूमता है।"

(धूप-तरी, पृ० ४८)

गीत में कवि का व्यक्तित्व मुखर होता है। गीत बरबस बोल पड़ते हैं कि उनका सर्जक कौन है ? इसीलिए, समान भावबोध के होते हुए भी

कबीर, सूर, तुलसी, रैदास या मीरा, महादेवी के गीत एक-दूसरे में खो नहीं जाते, अपनी पृथकता बनाये रखते हैं। शास्त्री जी के ही शब्दों में—"गीतिकाव्य का विषय व्यक्तित्व की ही सार्वभौम अभिव्यक्ति है, ऐसे कवि व्यक्तित्व की, जो स्वतन्त्र चिन्तन के धरातल पर अपनी भावना, कल्पना और अनुभूति को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने की सामर्थ्य रखता हो!"

(एक असाहित्यिक की डायरी, पृ० ५७)

धूप-तरी के गीतों में कवि आचार्य शास्त्री जी का अक्खड़, आदर्शवादी, साधक, स्वाभिमानी, संघर्षशील व्यक्तित्व खुला/खिला है।

'धूप-तरी' के गीतकार के मन पर कुछ देर के लिए नैराश्य का धुंधलका घिरता है, मगर फिर वहाँ आशा और प्रतीति के शत-शत दीप जल उठते हैं। कवि अपनी एकान्त साधना की गरिमा के गीत गाने लगता है, मानव-मंगल के मंत्र रचने लगता है—

"ढीले सम्बन्धों को आपस में कस दूँ,
सूखे तर्कों को मैं श्रद्धा का रस दूँ
पथरीले पन्थों पर मैं दूब उगाऊँ!
और कसो तार, तार सप्तक में गाऊँ!"

(वही पृ० ६०)

यह बात रेखांकित करने की है कि उपर्युक्त पंक्तियों में व्यक्त फकीराना मस्ती, संघर्षोत्साह और जीवन-मूल्य-रक्षण की प्रतिबद्धता ही 'धूप-तरी' के रचयिता का स्थायी भाव है, आत्मकरुणा कभी-कभी संचारीवत् ही उपस्थित है।

'धूप-तरी' के गीतों में देश-काल का यथार्थ भी चित्रित है। नैतिकताहीन राजनीति, संवेदना-रहित सम्बन्ध, बँटता और सिमटता हुआ समाज, अवसरवादी लेखन, संकटापन्न जीवनादर्श सभी का संवेदन पूरित चित्रण हुआ है, जिससे गीतों में निखार और वैविध्य आया है। प्रस्तुत हैं कुछ उद्धरण—

"भावों की मार-काट/मिली-जुली भाषा
तंगदिली, संगदिली, पट्टी औ झांसा
स्रोत सियासी कि गोत/नहा रहे गंगा!"

(धूप-तरी, पृ० ३७)

तिकड़म में हैं रिश्ते-नाते/जाति-धर्म खोल बही खाते
द्वार-द्वार खड़े स्वजन, सावधान !
घेर रहा अंधकार, गगन, सावधान !

(वही पृ० ५१)

अपनी गीत-यात्रा के प्रारम्भ से ही दर्शन शास्त्री जी का प्रिय विषय रहा है और 'धूप-तरी' के गीत-गुलाब में वह खुशबू की तरह रचा-बसा है। दर्शन इन गीतों में परिशिष्ट की तरह मौजूद नहीं है, गीतों में सन्निविष्ट है। वह इन गीतों को उदात्त बनाता है और सांस्कृतिक सौष्ठव प्रदान करता है। देखें—

"कोई प्यासा भी न पी सका/खारा पानी रे !
सिन्धु नहीं यह, प्यासे जग की/करुण कहानी रे !

(वही, पृ० ६८)

× × ×

पंक के अंक पला, पर न पड़ा दलदल में,
ज्ञान का फूल खिला, ताल में लगन के।"

(वही, पृ० ५९)

× × ×

"केसर, कुंकुम का लहका दिगन्त है।
गन्ध की अनन्त वेदना वसन्त है !"

(पृ० २२)

'धूप-तरी' के गीतों के भाव गहन, उदात्त हैं, उतना ही ऐश्वर्यशाली शिल्प भी है। कठिन तालों तथा विभिन्न राग-रागिनियों से ये गीत संकलित हैं। चाक्षुष, श्रव्य, स्पर्श बिम्बों की श्रृंखलाएँ यहाँ देखी जा सकती हैं। भाषा की अलंकृति और चित्रात्मकता चमत्कार-क्षम है। जहाँ भाषा अनलंकृत है, वहाँ सादगी का जादू है। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि ये गीत हृदय-छन्द में साकार हुए हैं। कवि की प्रतिश्रुति है—

'बात ईमान की या कहो मान की,
चाहता गान में मैं झलक प्राण की।"

(धूप-तरी, पृ० ५६)

इन गीतों में भावना, कल्पना और अनुभूति का संगम विद्यमान है। सच्चे अर्थों में कविता की मुक्ति यहाँ देखी जा सकती है। न जाने क्यों निराला जैसे छन्दाधिकारी और संगीतविद् को छन्द कविता के लिए पाश प्रतीत हुए; जबकि मुक्ति देह की नहीं, मन की होती है। अगर छन्द से सर्वथा छूटकर ही कविता मुक्त होती है, तो निराला स्वयं अपने आखिरी सृजन-चरण में छन्द के ही पास क्यों लौटते हैं? वैसे भी, छन्द से छिटक/छूटकर कविता कितनी मुक्त, महिमान्वित हो रही है आज, यह अबूझ नहीं है, लेकिन, गिनी-चुनी कविता को, समर्पित रचनाकारों को छोड़कर इन दिनों मौसमी कवियों की भीड़ उस पर पद्य के नाम पर निरे गद्य का जो दुर्वह बोझ डालती जा रही है—उसे ढोने में वह ढनमनाने लगी है। 'धूप-तरी' के गीत श्रव्य, पाठ्य रूप में नयन-श्रवण से होकर प्राणों में गहरे उतर जाते हैं और किसी ऊँचे लक्ष्य की ओर इंगित करते हुए 'चरैवेति' का उद्‌बोधन भरते हैं—

"चल मत धीरे, रुक न किनारे!
काल अँधेरा, देश उजाला
चाहे कोई तुझे पुकारे!

(धूप-तरी, पृ० ३०)



'राधा' की राधा

☐ डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

'राधा' एक ऐसा पर्वसप्तक महाकाव्य है, जो कवि की साध और साधना की शिखरकृति है। कवि का स्वगत है—'कि एक दिन औचक ही जीवन-वन में अनसुनी बाँसुरी की एक टेर देर-देर तक भटकती रही और फिर वह अप्रत्याशित रूप में शब्दगुणक आकाश के मुँद जाने, अर्थवान अवकाश के सिमट-सिकुड़ जाने पर कोई और विकल्पित ठौर न पा देश और काल की कल्पित बाधा पार कर 'राधा' का गहन मन बन गई।'

'प्रणय पर्व' की राधा स्वयं चिन्तन के दर्पण में रूपायित होती है। वह पूर्वस्मृतियों से वेणु-सुर की संगति जोड़ती है। प्रत्याहृत और प्रत्यभिज्ञात कितने ही हर्ष-विषाद से संयुक्त सहज मन से इस नूतन गहन मन का गणित बिठाती है। पर बात है कि सुलझ-सुलझ कर भी उलझ-उलझ जाती है। 'पुरुषार्थ पर्व' की राधा कृष्ण के स्मृति-मुकुट में प्रतिच्छायित होती है। कृष्ण कर्त्तव्य-तरी को शृंगार-मुक्ति से खेकर 'कल्याण-कूल' पर लाना चाहते हैं, पर राधा की यादों की आँधी में कर्त्तव्य-तरी मँझधार में ही घूर्णित होने लगती है। कृष्ण का समष्टि-संकल्प व्यष्टि-व्यामोह में शिथिल पड़ने लगता है। बार-बार कृष्ण खुद को समझाते हैं—

> 'राधिका ज्यों हो मकर की चाँदनी—
> भोर का भ्रम भर रही, उन्मादिनी,
> पर अभी निस्तब्ध आधी रात है!
> मुग्ध पंथी! चल, सुदूर प्रभात है!!'

'प्रणय पर्व' में राधा का दारुण द्वन्द्व है। प्रणय और परम्परा के इस द्वन्द्व में, प्रणय में परम्परा डूब गई है। 'पुरुषार्थ पर्व' में प्रणय से पुरुषार्थ का

समझौता होता है। कृष्ण अपने अन्तिम निर्णय के अन्त तक राधा के प्रणय-पाश में बद्ध प्रतीत होते हैं। उनका स्वगत साक्षी है—

'स्मृति चरम, विस्मृत गऊ-गोपाल की।
प्राणमणि, इस सविष काले व्याल की !
विश्व जननी, निःस्व-सुतसुख साधिके,
चिर विदा, प्राणाधिके, श्री राधिके !'

राधाकार का अभिमत है--'समन्वय है कि निर्णय चट्टानी नहीं, भावार्द्र है।'

राधा की कहानी बावरी बीन की अनमिल धुन पर जीवन हारने वाली हिरनी की कहानी है, 'राधा' की राधा का रूप अपरूप है, स्वभाव सहज, मानो हृदय कोमलतम है और मस्तिष्क विवेकपूर्ण। साँवले कृष्ण की नीली मुरली के आह्वान पर वह तन-मन हार जाती है—

'नीली री मुरली ? तूने मुझे पुकारा ?
क्या करूँ कि मेरा तन हारा, मन हारा !

वेणु-आह्वान पर वह जान छिड़कने लग जाती है और पास-पड़ोस के कान खड़े होने लगते हैं। तिल का ताड़ बनने लगता है। बाल की खाल निकाली जाने लगती है। 'बिहारी' का दोहा प्रासंगिक हो उठता है जैसे—

'दृग उरझत टूटत कुटुम, जुड़त चतुर चित प्रीति
पड़त गाँठ दुर्जन हिय, दई नई यह रीति।'

उसे तरह-तरह के तानों से त्रस्त किया जाता है, फिर भी उसका जीवन-स्वन उन्मन मन नहीं मानता। लोकापवाद के घन जब गर्जन-तर्जन करते हैं तो उसका अनुरागी मन-मयूर नर्त्तन करने लगता है। वह नाद-नदी में बहने लगती है, उसके प्राण वंशी के गान बन जाते हैं। वह मोहन से अपने प्रथम मिलन को याद करती है—

'थे देख रहे मैं आँखें बन्द किए थी,
सब दीख रहा था, ज्यों चाँदनी पिए थी,
सकुचीं, ठिठकीं, चौंकीं, कौंधीं, मुसकाईं,
तारों में कुछ उभरा, आँखें भर आईं !

प्रियतम की यही रूप-धूप प्रियतमा के जीवन-गगन में फैल जाती है, बाँसुरी की तान उसकी शिराओं में गूँज उठती है। वेणु-आह्वान पर आतुर

प्राण गरुड़-गति प्राप्त करना चाहते हैं पर जर्जर रूढ़ियों का महाजाल पथ में बिछ जाता है। 'प्रणय पर्व' की भूमिका में महाकवि लिखते हैं—

'नीली मुरली आत्मा का अनन्त आह्वान भी तो है। धूलि-धूसर प्राण उस आह्वान को पहचानते हैं, अपना सर्वस्व छोड़कर उसके पीछे भागना भी चाहते हैं, किन्तु भाग नहीं पाते। नीति की जंग लगी शृंखला, तथाकथित धर्म और सदाचार के कठोर बन्धन, दकियानूस समाज द्वारा व्याजपूर्वक रचा हुआ छायातपवर्णी मायाजाल—सब घेरा डालते हैं।'

राधा-द्वन्द्व के हिन्दोल पर चढ़ी है। जहाँ प्रियतम है, प्रेम वहीं खींचता है। लज्जा बरजती है कि उधर तमस है। प्राण मन का मान मिटा देना चाहते हैं पर मान है कि प्राणों की परछाईं बन गया है। कौतुक काँटों में खिलने का उत्साह भरता है। शील इस उत्साह को पागलपन का दर्जा देता है। उसका एक मन भवन में है, दूसरा मधुवन में! अपनी इस विषम स्थिति पर वह कुपित होती है। भला प्रिय-मुख-दर्शन-सुख किसके उर में अँटना है? काली कादम्बिनी को देखकर क्या मोर नाचने नहीं लगते? फिर अकेली राधा के लिए ही सारी बाधाएँ क्यों? उसकी व्यथा बोझिल वाणी श्रोतव्य है—

'मैं पंख-कटी विहगी, आँधी की कदली,
अधजली पतंगी, मरु-तट-उछली मछली,
जीने दे रहा समाज न वृन्दावन का
मरने न दे रहा अमरमोह मोहन का!'

सूर या विद्यापति की राधा को यह द्वन्द्व नहीं झेलना पड़ा है। सूर के राधा-कृष्ण का मिलन एकदम अनूठा है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में—'इसमें चिन्ता नहीं, आशंका नहीं, नीति नहीं', नन्द स्वयं श्याम और श्यामा को खरिक के एकान्त में खुलकर खेलने के लिए छोड़ जाते हैं जहाँ—'सूर श्याम नागर नागरि सों करत प्रेम की बातें।'

विद्यापति की विलासवती राधा का मिलन मार्ग प्रशस्त करने के लिए चतुरा दूती हाजिर है। रूठने के लिए रूठी हुई राधा के लिए दूती का यह संकेत पर्याप्त है—

'नन्दक नन्दन कदम्बक तरुतर धीरे-धीरे मुरली बजाव
यमुनाक तीर उपवन उद्बेगल फिरि-फिरि ततहीं निहारे'

'राधा' की राधा स्वयं से लड़ती है। उत्तरोत्तर वह विकल्प की वीथि से निकल कर संकल्प की सड़क पर पहुँचती है। कुल का कूल त्याग कर प्रीति-पुलिन पर खड़ी हो जाती है। उसे चिन्ता भी होती है कि वह वंश के चन्दन-कानन में विष-वल्लरी होने जा रही है। संसार भर का अपयश उसके सिर लद रहा है। उसके आचरण में राग का रंग देखकर माँ चिहुँक जाती है, भृकुटी तान कर चेताती भी है—

'बोली अब यह सब होगा काँच-कुँवारी।
पायल हल्की, बेड़ियाँ पड़ेंगी भारी!'

माँ का अनुभव इसे किशोर-क्रीड़ा ही समझता है। माँ सावधान करती हैं—

'सिन्दूर—बिन्दु लगने दे,
मर्यादित महिमा सोई है, जगने दे!
आँसुरी....बाँसुरी आप बिसर जाएगी,
यह द्वन्द्वदृष्टि हो आप प्रखर जाएगी।'

बावरी बीन ने राधा के हरिण-मन को अवश कर दिया है। बाँसुरी जैसे पूरे ब्रज के रज-कण को अपने रंध्रों में भर कर आँधी उठाती है और राधा का अन्तर उड्डीन हो जाता है। बर्फ की तरह वह कहीं शून्य में जमी होती है कि बाँसुरी वह्नि उगलने लग जाती है और राधा की गति द्विगुणित हो जाती है। उनके पाँव घर से आँगन, आँगन से द्वार और द्वार से न जाने कहाँ तक बढ़ जाते हैं। पंख रुकने दे तब तो खंजन रुके! राधा की स्वीकृति में विवशता और मासूमियत का अनोखा मेल है—

'कोई कैसे रुकता, ऋतु थी रुकने की?
ऊँचे मन को चिन्ता सिर के झुकने की?
रुकने की स्थिति में साँस नहीं रुक जाती?
बाँसुरी मरी जाती थी गाती-गाती?'

राधा का हृदय उदार है—द्वेष, ईर्ष्या के लिए वहाँ कोई जगह नहीं! कृष्ण तो उनके प्राण हैं, पर अन्य सखियाँ अगर इसके प्रियतम से मिलती हैं तो उसे क्लेश नहीं होता। वह कहती है—

'क्या दोष, इन्हीं से यदि सब सखियाँ मिलतीं
विधु एक, किन्तु कितनी कुमुदनियाँ खिलतीं।'

वह वचननागरी भी है। 'प्रणय पर्व' की इस 'अटट गँवारिन' के बारे में 'पुरुषार्थ-पर्व' के कृष्ण का विचार है—'श्वास में जिसके कि मधुवन था छिपा' बोल में जिसके घुली थी काकली।' अथवा 'जीभ पर जिसकी बसी थी शारदा।'

राधा अपनी जीवन नैया के लिए प्रणय को ही पतवार बनाती है। युग-युग की घिसी-पिटी लीक पर वह हर्गिज चलनेवाली नहीं। जो छप्पर चू रहा हो' वहाँ छवि क्या टांगना ! जिनके कानों में वंशी बोल न उतरा, जिनके प्राणों में वेणु-पुकार न गड़ी, जिन्होंने वंशी-स्वर का स्वाद न जाना–उनकी प्रशंसा या निन्दा राधा के लिए निरर्थक है। उसे इतना भी अवकाश कहाँ है कि वह कंटक-पटित पथ पर गतिमान तलवों से काँटे खीचे। वह तो अप्रतिहत भविष्य-भाल पर चलती जा रही है। इस यात्रा में प्रत्यावर्तन की गुञ्जाइश नहीं है। अब कुल का स्मरण भी भुलावे में नहीं डाल सकता। वह ब्रज का दुर्ग तोड़कर बढ़ चली है। मीठा-खारा सब परित्यक्त कर वह अग्नि-मग पर बढ़ रही है। यह यात्रा भूमि से भूमा की तरफ है। वह निश्चय-मना हो गयी है—

आह्वान प्राण का प्रथम सुना राधा ने,
नव मर्म-धर्म था गुना प्रथम राधा ने,
पैनी प्रज्ञा वाली हो अथवा मूढ़ा,
निस्सीम प्रणय-पथ राधा ने ही ढूँढ़ा।'

कहना अत्यन्त कठिन है कि कृष्ण की बाँसुरी का आह्वान अधिक सघन है या राधा की आह्लाद-उड़ान। राधा देहाग्रही नहीं। अगर दृश्य होने के कारण ही तन श्रेयस्कर है तो यह तारण-दृष्टि साधारण है। और अच्युत् की तारण-दृष्टि साधारण हो—यह शोभनीय नहीं। उसने कभी शरीर को मन्दिर बनाना चाहा था, लेकिन कृष्ण को वहाँ टिकने के प्रति अनिच्छुक देखकर उसने निर्णय बदल लिया। अब तो वह रूप जलाकर, नाम मिटाकर आई है। आनन्द-सिन्धु के लिए बिन्दु भर लाई है—

अपने तन का इतिहास जलाकर आई,
कुल का कुल क्रमिक विकास जलाकर आई,
दैहिक आयाम नहीं, मानस-रस लाई,
निरुपाधि, निरिन्द्रिय-सी केवल 'मैं' आई !'

शास्त्री जी की राधा सिर्फ कृष्ण के रास-रसिक व्यक्तित्व पर ही फूली नहीं समाती, बल्कि उनके ओज-दृष्टि समष्टि-मंगल-समन्वित पुरुषार्थ पर भी गौरवान्वित होती है। 'कनुप्रिया' की राधा की तरह वह आत्ममुग्ध नहीं है। नहीं उसकी तरह उसका चिन्तन सर्वथा स्व-केन्द्रित ही है। वह कृष्ण को अपने रंगीन आंचल में लपेटकर ब्रज-कुञ्जों में सदा के लिए छिपा देना भी नहीं चाहती है। कृष्ण का बहुआयामी व्यक्तित्व उनकी श्रृंगार-मञ्जूषा में बन्द होकर रह जाए ऐसी मुगालता भी वह नहीं पालती। कृष्ण के अकूत बल-पौरुष का अहसास भी उसे है ही। वह कृष्ण की समर्पिता है। शिक्षिका भला वह क्या होगी! 'कनुप्रिया' की राधा की तरह वह आत्मश्लाघा नहीं करती। गोवर्द्धन-धारण और कालिय-मर्दन की घटनाओं को वह रेखाँकित करती है। तत्कालीन भीरु समाज को वह अनुभूतिहीन, सम्वेदन-शून्य नरों का मेला मात्र मानती है। इसी निद्रित समाज की आस्था की ऊँघ तोड़ने हेतु साहसी कृष्ण ने गोवर्द्धन धारण किया, कालिय को ललकारा। राधा की दृढ़ मान्यता है कि वीरों के आड़े पर्वत नहीं आ पाता। स्वर्ग अगर अन्याय पर उतारू होता है तो धरती को बेहिचक उसे चुनौती देनी चाहिए—

'अन्याय करे जो स्वर्ग, मर्त्य ललकारे,
मानव-अधीन होंगे वन-पर्वत सारे!'

कालिय की फुत्कार और कंस के अत्याचार से पूरे ब्रज पर अन्धकार और आतङ्क का साम्राज्य फैला हुआ था। कृष्ण सखाओं की खुशी के लिए कन्दुक निकालने कालिय-दह में कूद पड़े। कालिय को बलपूर्वक नाथा—सारे ब्रज में हर्ष की लहर छहर गई। राधा सोचती है—

'थी कला नाचती राजनीति के सिर पर
चन्दन-वन में प्रिय गंध पवन में तिर कर'

राधा अपने निन्दकों के लिए भी 'आँगन कुटी छवाने' की आतुरता प्रदर्शित करती है। वह पिशुनों के प्रति भी कृतज्ञता प्रकट करती है। उनलोगों की जली बोलियों ने ही उसके हिम-मन को द्रवित किया। उन भूले-भटके लोगों ने ही उसे प्रियतम के सही ठिकाने तक पहुंचाया। उसकी धारणा है—

'बातें न उछाली जातीं जैसी-तैसी,
होती अनन्य मैं नहीं तुम्हारी ऐसी।'

राधा बावरी भी है, चिन्तन नागरी भी। वह देह की गरिमा भी जानती है, मन की महिमा भी। वह निजता को खोना नहीं चाहती। कृष्ण से वह तदाकार हो जाती है। वह स्पष्ट कहती है—

'हो सको लीन तुम हो, मैं लीन न हूँगी,
ऐश्वर्य तुम्हारा, पर मैं दीन न हूँगी।
तन नश्वर, इस भय से मन शान्त न होगा,
हरि गलित-दन्त होने से कान्त न होगा।'

वह प्रणय-प्रणव के द्वारा ओंकार दी गयी है। अपनी नियति वह खुद तय करती है—

'ज्यों लकुटि टेककर वृद्ध बढ़ाता पग है,
हो टेक तुम्हारी, जीवन वन का मग है।
श्री चरणों में अर्पण वितर्क का करती,
जीती थी जिसके हेतु, उसी पर मरती।'

राधा कच्ची किरण है—क्षण-क्षण नूतन। वह सात रंगों में डुबोई पखुड़ी है। वह कृष्ण के एकान्त, कौतुक क्रीड़ा-केलि निभृत, नितांत झुटपुटे की संगिनी है। वह प्रियतम की हिय-माल, प्राण-मणि और आत्म संचालिका है। वह शुष्क सिकता पर बिछी-सी चाँदनी है, वेणु-वन की उन्मादिनी रागिनी है। वह राग का वैराग्य है, वृन्दावन मे तपस्विनी कांशिका है। कर्त्तव्य केन्द्रित कृष्ण से वह एक अत्यन्त सार्थक सवाल पूछती है। भला उनके किस कर्म की वह सहचरी नहीं हो सकती ! राधिका उनके किस धर्म की बाधिका है ! वह साफ पूछ बैठती है—

'साथ लेते राम, फिर तुम त्यागते,
त्याग होता मूल्य यदि तुम माँगते।'

राधा को पीड़ा इस बात की है कि कृष्ण ने उसे सिर्फ ओस ही समझा है। वह महज मोम की पुतली नहीं है, कर्त्तव्य की साधिका भी है। उसे दुःख इस बात का है कि कृष्ण ने, जो 'रासे रणे समरसः' कहे जाते हैं—उसे रास की सखी बनाया है—संघर्ष की सहचरी नहीं। राधा के कलेजे में यह क्लेश कसकता ही रहेगा कि वह संसार को अपने प्यार का कमंठ रूप नहीं दिखा पाई। राधा कृष्ण के विश्वास से ही छली गई है। उसकी पीड़ा है—

'जो न चाहे राह तेरी रोकना,
धूल उसकी आँख में ही झोंकना।
जानती तुमसे नहीं कुछ माँगना,
उचित हो उससे छिपा मुँह भागना !

उसकी इस सकारण शिकायत से कृष्ण की दशा दर्शनीय हो जाती है—

'राधिके, कैसी भयानक भावना !
लग रहा मैं अलग सुलग डरावना।
उड़ रहा अस्तित्व ही कपूर-सा
मैं स्वयं से हो रहा हूँ दूर-सा।'

'राधा' की राधा के बारे में कृष्ण के शब्दों से सच्चा प्रमाण शायद ही हो। मैं उनकी स्वीकारोक्ति ही सम्मुख कर देना चाहूँगा—

'राधिका जैसे प्रमाणित पात्रता
सूक्ष्म-रूप, अमिश्र-सी तन्मात्रता–
अमित-विक्रम की लिए सम्भावना
बिछुड़ते ही बावरी दूँगा बना।'

'राधा' और राधा दोनों ही हिन्दी साहित्य की अनन्वय सृष्टियाँ हैं। कहूंगा कि राधा का गीतिल व्यक्तित्व 'राधा' में दर्शन की तत्सम शब्दावलियों से कई स्थलों पर गहन हो गया है। शायद इसलिए भी कि 'राधा' के रचयिता जितने बड़े कवि हैं, उतने ही बड़े आचार्य भी। फिर भी आचार्य ने कवि को कहीं भी बाधित नहीं होने दिया है। सात पर्वों के सुरों से सृजित यह सरगम कृति मर्मज्ञ-मन-वेणु पर गुंजित होती रहेगी।

●

'राधा' के कृष्ण

□ डॉ० रवीन्द्र उपाध्याय

राधा और कृष्ण की नेह-नींव पर महाकवि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने महाकाव्य का मणिमण्डित महल निर्मित किया है। इसमें नटवर की नीली मुरली की मदिर मींड़ हैं तो राधा के नुपूर की हृत्तंत्री को झकझोर देने वाली झंकृति भी। रास और गो-चारण के गुदगुदानेवाले मनोरम दृश्य हैं तो कालिय-दमन, गोवर्द्धन-धारण के स्तब्ध कर देने वाले प्रसंग भी। प्रणय का उफनता सागर है तो पुरुषार्थ का नभचुम्बी शैल-शिखर भी। प्रेम और कर्त्तव्य का भीषण द्वन्द्व है तो इनका सुष्ठु समन्वय भी। 'प्रणय पर्व' के मंच से राधा का स्वगत संप्रेषित है तो 'पुरुषार्थ पर्व' के मंच से कृष्ण का स्वगत, कवि जैसे राधा-कृष्ण से अभिन्न हो गया है। शिल्प का यह सौष्ठव सोने में सुगंध सिद्ध होता है। राधा प्रीति की प्रांजल प्रखर धारा में कुल-मर्यादा को बह जाने देती है, कृष्ण युग की आह के लिए प्राणाधिक राधा की ओर से निगाह फेर लेते हैं। राधा प्रणय की प्रतिमूर्त्ति है, कृष्ण पौरुष के पर्याय हैं। दोनों अनन्वय हैं, प्रातः वन्द्य हैं। दोनों हार कर भी जयी हैं। राधा 'स्वधर्मोऽस्ति कुलस्त्रीणां प्रणयः' का अनुसरण करती है; कृष्ण 'पुरुषस्यतु लोक संग्रह कामस्य' के आग्रही हैं।

सूरदास से धर्मवीर भारती पर्यन्त सभी कवियों ने राधा के मर्म में ही पैठने का प्रयत्न किया। सभी राधा की धारा में बह-से गये। मोहन के मन में झांकने से सभी कतराते रहे। कृष्ण की करुण कश्म-कश को कलम देने की कोशिश किसी ने नहीं की। उल्टे उनपर कृतघ्नता का आरोप लगाकर मुग्ध होते रहे! इस तरह ये सम्पूर्ण प्रेम के अधूरे चितेरे ही सिद्ध हुए। कहते हैं रो लेने से व्यथा का विरेचन हो जाता है। राधा हर तरह से खूब रोती भी रही। यहाँ तक कि—'उर बिच बहत पनारे'! कृष्ण की

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की

पीड़ा तो जैसे पाषाण हो गई। अतीत की सुरधनुषी स्मृतियाँ रन्ध्र-रन्ध्र बेधती रहीं, मगर उनकी आँखें अनीर ही रहीं। वे हृदय में ही सुबकते-फफकते रहे। दुःख जैसे सीमातीत होकर स्वतः दवा बन गया। परमार्थ में उन्होंने वियोग-विष को गले में उतार लिया और स्नेह-संसार के 'शिव' हो गये। इस विराट व्यक्तित्व के विशाल दृश्य में कोई पैनी प्रज्ञावाला युग-कवि ही प्रविष्ट हो सकता था। राम के अगाध हृदय में गोस्वामी तुलसी दास प्रविष्ट हुए पर कृष्ण का अन्तर अनदेखा ही रहता चला आया। 'राधा' में पहलीबार कृष्ण के अनुद्घाटित मन को आचार्य्य-श्री ने उद्घाटित कर अभूतपूर्व यश अर्जित किया है। कृष्ण के संयोग सुखी मन की हिस्सेदारी तो कई कवियों ने की, पर उसके वियोग-व्यथित मन से मैत्री शायद ही किसी ने निभाई। शृंगार का कोना-कोना झाँक आनेवाले सूर ने भी 'ऊधो! मोहि ब्रज बिसरत नाही' वाला पद भर लिखकर जैसे रस्म अदायगी कर ली। शास्त्री जी ने कृष्ण के विरह-विद्ध मन का कोना-कोना ऐसा झाँक लिया है कि उन्हें जानकीवल्लभ नहीं, राधावल्लभ की संज्ञा देने का जी करता है। 'राधा' युग के सुर ताल और दर्शन के साज पर छेड़ी गयी साहित्य की अमर स्वर-लहरी है।

कृष्ण का व्यक्तित्व अनुपम है। वे भोगेश्वर हैं, योगेश्वर भी। मोहन हैं, मारण भी। नर्त्तक हैं, चिन्तक भी। मुरलीधर हैं, गिरिधर भी। रास-रसिक हैं, रण-रंगी भी। प्रणयी हैं, पुरुषार्थी भी। धरती हैं, व्योम भी। चिन्ताकुल है, चिन्तामुक्त भी। शास्त्री जी ने इस अपूर्व गरिमामय व्यक्तित्व को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित भी किया है और उनकी पारम्परिक शास्त्र-स्वीकृत भगवत्ता को कहीं ठेस भी नहीं पहुँचाई है। कहना न होगा कि यह कलाकार-कौशल विलक्षण है। कृष्ण द्वन्द्व के हिंदोल पर चढ़े हैं। प्रीतिल पुरवाई लहराती है और उनका मन-गगन सुखद, शीतल स्मृति-घन से ढँक जाता है। इन स्मृतियों में नागरी राधा है, करील कुंज हैं, कालिन्दी कूल है, गो-चारण है, मक्खन-चोरी है, कदम्ब की छाँह है, मुरली की टेर है, रास का अहसास है। तभी पारिवेशिक पछुआ हरहराती है और मन-गगन के स्मृति-घन को उड़ा ले जाती है—शेष रह जाता है नील नभ और यथार्थ-सी तीक्ष्ण धूप। दृश्य बदलते हैं—कंस का कर्कश स्वर कौंधता है, जन्मान्ध रूढ़ियाँ, बौनी नीतियाँ, बैसाखी-वाहित रूढ़ियाँ रोर करती हैं, निर्दोष जन की जीवन-यंत्रणा गुहार करती है; मृत्यु से सत्ता-मंत्रणा की दुर्गन्ध

फैलती है, प्रकाश—किरण तम-तोम से ढँकी है, 'भैंस की लाठी कि पंचों की चले ! हड़प जाओ, हाथ जिसके जो लगे'—का शोर उभरता है।

कृष्ण द्विधा-ग्रस्त हैं। उनके भीतर राग और त्याग का, प्रणय और पुरुषार्थ का भयंकर युद्ध ठना है। उनके एक कान मे वंशी और पायल की समवेत ध्वनि गूँज रही है तो दूसरे में कंस पीड़ित जनता का क्रन्दन गूँजता है। एक ओर वृषभानुजा खड़ी है तो दूसरी ओर व्यथित विश्व विवश विलोक रहा है। कृष्ण अपने जन्म का हेतु याद करते हैं—'परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम्, धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे' और संसार के क्लेशहरण को संकल्पित होते हैं कि भोरी राधा का अमृत प्यार सप्रश्न होता है और उनका गला भर आता है। वे स्वयं पर झल्लाते हैं—

> 'कंस का विध्वंस ! नन्हीं-सी कला !
> राधिका का प्यार ! भर आता गला !!
>
> × × ×
>
> फिर वही संस्कार, फिर-फिर प्यार ही !
> हाय रे कर्त्तव्य ! तेरी हार ही !'

कृष्ण कठिन परीक्षा-घड़ी में हैं। वे विवश हैं, असमर्थ हैं—इस कदर दूसरे के लिए हैं कि स्वयं के लिए व्यर्थ हैं ! उन्हें अत्याज्य को त्यागना है, अविभाज्य उर को बांटना है ! जब भी श्री-सुषमा पुंजीभूत होगी, उनकी आँखों में लोर होगा ! जब कभी पिक की मधुतान फैलेगी, उन्हें कान मूँदने होंगे ! राधिका के कोप की कल्पना भर से वे सिहर जाते हैं—

> 'श्यामले, तुम लाल पीली जो हुईं
> अझर आँखें झपक गीली जो हुईं,
> जायगा अतिकल्प हो, अतिकाल हो,
> बादलों को स्वल्प काल संभाल लो !!

उन्हें बावरी प्रिया की चिन्ता चिकोटी काटती है। गान सुनने के अभिलाषी कान लिए जो बकुल-कलिका प्राण खोले है—उसे भ्रमर गुंजन के बदले दर्शन मिले, यह कहाँ तक उचित है ? उसकी पंखड़ियों का परिमल पवन उड़ा ले जाए और वह धूल में धकेल दी जाए–यह न्याय है क्या ? कृष्ण का जमीर उन्हीं से पूछता है—

> 'वेणु-वन से निकल औचक विकल दृग
> ढूँढती हो जब मृगी निज कृष्ण मृग

स्तिमित मुख पर चकित सुख झुक देखना—
चाहती, कब तक रहे वह उन्मना ?'

फिर राधा उनके मानस प्रत्यक्ष होती है। अत्यन्त सादगी से वह कुछ सार्थक सवाल उछालती है। उसका पहला कठिन प्रश्न है—

'आँख से पल भर हुए ओझल कहीं,
स्वर उदास, हृदय हुआ खोखल नहीं ?
झड़ न पड़ते बोल, तुम गुमसुम रहे ?
पिक पुकारे, पवन दक्षिण जब बहे ?
डगर भर मेरी व्यथा की कह कथा—
गोपियों-संग खिलखिलाना कुछ न था ?'

उसका दूसरा कठिनतर प्रश्न है—

"मैं थकन-विश्राम-क्षण की संगिनी !
कहाँ रत्नाकर, कहाँ कि तरंगिणी !!
तुम मुझे तज दो, रहूँ फिर मैं कहाँ ?"

वह तीसरा कठिनतम प्रश्न उपस्थित करती है—

भूमि को सिन्दूर, बस, पद-रज मुझे ?
राम बनने हाय ! दोगे तज मुझे !
साथ होते राम, फिर तुम त्यागते !
त्याग होता मूल्य, यदि तुम माँगते !

ये सारे प्रश्न भावना से भीगे हुए हैं। शास्त्री जी की राधा 'कनुप्रिया' की राधा की तरह बुद्धि-चालित नहीं है। ये प्रश्न बुद्धि को बजाकर चुक नहीं जाते, हृदय को हिलकोर देते हैं। ये सवाल हैं या क्षिप्र तीक्ष्ण सायक ? कृष्ण की घिग्घी बँधती जाती है। राधा के ये बोल उनकी प्रज्ञा को परा तक तौल लेती है। वचन-नागर की दशा द्रष्टव्य है—

'शब्द ढीले या नुकीले अटपटे
अर्थ गीले या चुटीले चटपटे
सब रहे सहमे-सकाए, अकबके,
राधिका से होड़ ?—कह सहसा जके !

व्यष्टि-व्यामोह के चक्रवाल में उनके समष्टि-संकल्प का नीड़ तिनका-तिनका बिखरने लगता है। उनका तर्क-तरकश निःस्व हो जाता है। जैसे अकबका कर सच्चाई अधरों पर सस्वर हो उठती है—

'चाहता कितना तुझे हूँ प्यार रे !
मान-सर मन मानता मनुहार रे !
किन्तु यह सहता नहीं संसार है,
प्रकृति हे ! पौरुष पुरुष का भार है !

'रासे रणे समरसः' भी कुछ घड़ी विषम-से प्रतीत होते हैं,—पर कृष्ण का पुरुषार्थ कब माननेवाला ? वह उन्हें भाद्र का तम-पक्ष स्मरण कराता है, बन्दिनी जननी के बिलखते वक्ष की याद दिलाता है। वह उन्हें कंस के क्रूर कारागार की स्मृति दिलाता है और भूमि-अंक-कलंक दुर्भर भार कंस उन्हें स्वयं याद हो आता है। प्रेय और श्रेय के द्वन्द्व में 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का वाचन करने वाले कृष्ण श्रेय पर प्रेय को वारते हैं। प्रणय कारा-बद्ध नहीं करता, वह तो मुक्तिधर्मा होता है। वे व्यष्टि प्रणय को समष्टि-प्रणय तक विस्तार देते हैं। 'सत्यम्' जब 'शिवम्' सन्धानी होता है तो उसे 'सुन्दरम्' का मोह छोड़ना ही पड़ता है। प्रणय का स्नेह जलता है तभी पुरुषार्थ की लौ बलती है। फिर राधा को वे छोड़ते ही कहाँ हैं ? वे तो उसे प्राणों में प्रतिष्ठित करते हैं। राधा की देह छूट रही है, उसका मन तो इनके मन से अभिन्न हो चुका है। कृष्ण की कर्त्तव्य-साधना को राधा का वियोग ही सिद्धि देगा। विरह का गरल ही लोकोपकार में अमृत साबित होगा। प्रणय और पुरुषार्थ में वे समन्वय स्थापित करते हैं। एक ओर उनकी धारणा है—'व्यर्थ हो पुरुषार्थ, प्यार अलग रहे !' तो दूसरी ओर वे सोचते हैं—'प्रणय कर दे पंगु यदि पुरुषार्थ को, स्वार्थ-संवृत समझ प्रकट परार्थ को !' प्रणय और पुरुषार्थ तो 'अनिल-अनल समान हम सम-प्राण हैं'। कर्म शिखर पर ही प्रणय फलता है और विश्व वह आनन्द फल चखता है। कृष्ण सोचते हैं—

'वैर क्यों कर्त्तव्य को हो प्यार से ?
श्रेय-प्रेय गुँथे रहें संसार से।
जीर्ण युग ने था पृथक थापा इन्हें,
जुगनुओं की ज्योति से मापा इन्हें;
पर पुरातन की शिलाएँ ढह रहीं,
चोटियाँ गिरि की तुहिन बन बह रहीं।
नयन अँसुवारे तुम्हारे व्यर्थ हैं,
प्रणय औ' पुरुषार्थ सर्व-समर्थ हैं।

फिर भी, गतयाम के सरस संस्मरण बिखर कर कर्त्तव्य के नव आयामों के द्वार बन्द करने लगते हैं। तभी भीतर से कर्त्तव्य धिक्कारता है—

'नमित नारी-नयन से तू प्रेम कर—
विश्व का भी कुछ सकेगा क्षेम कर ?
या जिएगा वृत्तियों का दास हो ?
कापुरुष, तब शीघ्र तेरा नाश हो ?'

कृष्ण समाज की ओर देखते हैं तो निराशा ही हाथ लगती है। कारण—

'अकर्मण्य समाज ! किससे काम लूँ ?'

अन्ततः वे अपना पल्लू ही झाड़ते हैं। सोचते हैं कि शिथिल समाज से शक्ति की अपेक्षा निरर्थक है, उन्हें अपने ही बल से समाज को सामर्थ्यवान बनाना होगा। दीपक के प्रज्वलित होते ही अनामन्त्रित शलभ-समूह उपस्थित हो जाता है। वे यह विडम्बना भी देखते हैं कि भूचालवाही दुष्ट कंस ही भूपाल बन बैठा है। जनता गोपाल है—सरल स्वभाव। राजनीति कुटिल-आशय नर्तकी है, अनैतिक बल से यह नित ढँकी है। लचक-लचक यह राज हंसों को ललचा रही है—कहीं आँखें नचाती है–कहीं बचाती है। जिसके माँ-बाप कंस की काली कोठरी में अंधकार पी रहे हों, वह पूनम की चांदनी में रास रचाता रहे—यह कितना क्षोभद, अशोभन है। कृष्ण रास का औचित्य बताते हैं। यह रास भी रण की पीठिका ही था। रास विलास नहीं, आत्म प्रकाश था। नाद-संवाद ही से तो सभी अभय, निःसंशय हुए और अर्द्धरात्रि में भी जगे। जहाँ—

कंस के प्रेरे अरे, कितने मरे !
स्वजन भी रहने लगे कि डरे-डरे,

वहाँ उत्सवों में सभी एकत्रित होने लगे, संकट में एक दूसरे का साहस बनने लगे। ब्रजवासियों को संघटित होकर जीना आ गया। कृष्ण की चिन्ता कितनी सार्थक है—

और फिर किस भाँति समझाता इन्हें !
चरण वामन, गगन दिख जाता इन्हें !

कृष्ण जैसा लोकनायक ही रास को भी रण की पीठिका बना सकता था। राम-युग से वे अपने युग की पृथकता परख लेते हैं। राम का युग सहज विश्वास का युग था, इनका युग मन की अबुझ प्यास का युग है, अडिग

आस्था के सतत सधान का युग है। राम का शौर्य, शील, मर्यादा-समन्वित व्यक्तित्व विरल था, उसकी आवृत्ति अब असंभव है—

व्यक्ति सत्ता राम को पा धन्य थी,
शौर्य मर्यादित, सुशील अनन्य थी;
राम की आवृत्ति अब संभव नहीं
विगत युग पतझर कि नव पल्लव नहीं !

कृष्ण की कामना है—

पूर्ण समता-प्राप्त मनुज-समाज हो,
सब स्वतंत्र कि बन्धुता निर्व्याज हो !
धर्म राजस यज्ञ-याग अनात्म-सा
वंश-अनुगत स्व-गत सत्ता दुर्दशा।

राधा को वे 'बहुजन हिताय' मन से नहीं, तन से विलग करने का निर्णय लेते हैं। कैसा अद्भुत संयोग है कि त्रेता के लोकनायक को भी दुष्ट-दलन के पूर्व ही अपनी प्राण-प्रिया से निवेदन करना पड़ा था—'तुम्ह पावक महँ करहु निवासा, जो लगि करों निसाचर नासा।' निराला के राम भी रावण पर विजय के प्रति तभी विश्वस्त होते हैं जब विदेह का उपवन और उपवन का प्रिया से लतान्तराल मिलन याद आता है—

देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का, प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनों का नयनों से गोपन प्रिय सम्भाषण
पलकों का नव पलकों पर प्रथमोत्थान-पतन।

द्वापर के जननायक भी पीड़ा को उसी प्रक्रिया से गुजरते हैं, त्याग की उसी परीक्षा में खरे उतरते हैं। वे अपनी राधा से विदा माँगते हैं—

'सर्व व्यापक हित उजागर मैं करूँ,
या नहीं चिन्ता विजन में मैं मरूँ !
दो विदा, कुण्ठित नहीं, वैकुण्ठ मन,
तन कहीं हो, मन रहे तुम में मगन !'

पुरुष जब पौरुष-पथ पर परार्थ प्रयाणोन्मुख होकर विदा माँगता है तब शक्ति राधा उसे आशीषती है—

'कुमुद से सर भर उठे, जाओ जहाँ !'

इस तरह राधा और कृष्ण दोनों अपने निजी प्रेम को त्याग के निष्कर्ष पर सार्वजनिक बना देते हैं। कृष्ण बाँसुरी फेंक कर पाञ्चजन्य फूँकते हैं, क्योंकि—

पंचजन का पाञ्चजन्य समूह-स्वर !
बाँसुरी में एक मन की थी लहर !

इस संकल्प तक राधा का स्नेह सदा साथ रहा है। राधा की प्रीति भी असाधारण है। कृष्ण की स्वीकारोक्ति है—

'प्यार राधा का त्रिलोकी-रिपु-दमन
एक कण, शत-कल्प-दावानल-शमन !

—'राधा' विराट युगल के विराट प्रेम की विलक्षण गाथा है। महाकवि शास्त्री जी ने सांस्कृतिक तलपर अपने युगबोध को भी प्रतिष्ठित किया है। भाषा और भाव की ऐसी होड़ का जोड़ अन्य किसी कृति मे दुलभ है। सच-मुच यह कवि की साध और साधना की शिखर कृति है। खड़ी बोली महाकाव्यों के गणना प्रसग में—कनिष्ठिकाधिष्ठित 'कामायनी' की तन्हाई अब 'राधा' के साहचर्य से अवश्य टूटेगी, ऐसी दृढ़ आशा बँधती है।

●

—हिन्दी-विभाग, राघव प्र० सिंह कालेज,
जैतपुर (मुजफ्फरपुर)

मैं आवर्त्तहीन वर्तमान में अतिशयित भविष्य की धुँधली चमकीली लहरों का अपलक द्रष्टा हूँ।

...मेरी मिट्टी का जिस्म मिट्टी में मिल भी जाय, मेरी रूह रोशनी की है, जोत से जोत मिलेगी ही।

...मिथ्या से इंतकाम लेते मेरे जीवन का सत्य घिसा है। मिथ्या को नकारने के क्रम में मेरे सत्य ने आत्मशक्ति अर्जित की है।

...बाह्य सत्यों में जीवन के बिम्ब ही तो मेरे गीत हैं।

जानकीवल्लभ शास्त्री

गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति

□ डॉ० रेवती रमण

हिन्दी में विश्व कवि रवीन्द्र की प्रतिभा के रचनाकार ज्यादा नहीं, होना भी नहीं चाहिए, पर जो हैं उनमें जयशंकर प्रसाद और सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला के बाद अज्ञेय और जानकीवल्लभ शास्त्री का ही नाम लिया जाएगा। बिल्कुल रवीन्द्रनाथ की तरह ही रचनाकार की बहुवस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा, 'गद्य में पद्य में समाभ्यस्त' आयत दृग पुष्ट देह गतभय / अपने प्रकाश में निःसंशय। इस शताब्दी के विश्व साहित्य में दूर से ही पहचान में आ जाने वाला अज्ञेय और जानकीवल्लभ शास्त्री का व्यक्तित्व-संपन्न साहित्य, जितनी बार पढ़िए, नये-नये अर्थ और अभिप्राय का परिचय मिलता है।

विशेषत; आचार्य श्री के व्यक्तित्व संपन्न साहित्य को दीर्घ जीवन और सहज प्रासंगिक बनाने वाले जो तत्त्व हैं, उनमें स्मृति और श्रुति का विशेष स्थान है। छायावादोत्तर कवियों में कदाचित् सर्वाधिक शास्त्र सम्मत और व्याकरण की दृष्टि से परिनिष्ठित, तत्सम का वर्चस्व स्वीकार करने वाले इस कवि का गद्य हिन्दी के जातीय गद्य की परम्परा में नया अध्याय जोड़ता है और यह सहज ही संस्मरणात्मक है, आत्मपरक है। यह कहना कठिन है कि शास्त्री जी ने गद्य ज्यादा लिखा है कि पद्य, पर इतना निर्विवाद है कि उन्होंने अक्षर-अक्षर कविता संभव की है। कविता से कम पर इस रचनाकार को कुछ भी स्वीकार्य नहीं।

'मन की बात', 'स्मृति के वातायन' 'हंसबलाका', 'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्र', 'एक असाहित्यिक की डायरी' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की कविता के समानान्तर उसके अनुपूरक कर्म का नैरन्तर्य और साक्ष्य प्रस्तुत करने वाली कृतियाँ हैं। इनका महत्त्व हिन्दी के किसी भी बड़े से बड़े कवि की प्रबन्ध

कृति से जरा भी कम नहीं। इन कृतियों के पाठ से यह समझते देर नहीं लगती कि इस रचनाकार का सम्पूर्ण जीवन एक महायज्ञ है, जिसने भारतवर्ष की संस्कृति और साधना को अपनी उदात्त अस्मिता से भरपूर चरितार्थ किया है। शास्त्री जी का निराला-प्रदत्त आचार्यत्व असाधारण कृतविद्यता से महतो महीयान साबित हुआ है। संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी और बँगला जैसी समृद्ध साहित्यिक विरासत की भाषाओं के श्रेण्य प्रतिमानों को न केवल शास्त्री जी ने गहराई और व्यापकता में जाना है, बल्कि खुद उनकी नवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा उनसे स्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा रखती आयी है।

आचार्य का पाण्डित्य समुद्र के समान गहन, गंभीर व्यापक और अछोर है, उसकी थाह पाना नामुमकिन है। इस क्षेत्र में संप्रति उनका कोई सम-वयस्क नहीं। संस्कृत के पाणिनि, पतंजलि, व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, पंडितराज जगन्नाथ उन्हें कण्ठस्थ हैं। बँगला के माइकेल मधुसूदन, बिहारीलाल चक्रवर्ती, रवीन्द्रनाथ से लेकर सुकान्त भट्टाचार्य तक, उर्दू के गालिब, मीर, दाग, जोश, फैज और फिराक आदि के कलाम से उनकी गहरी छनती है। उधर पाश्चात्यों में शेक्सपियर, वर्ड्सवर्थ, कीट्स,शेली, बायरन, एलियट, एजरा पाउण्ड, बॉदलेयर, बर्नाड शॉ के साथ-साथ रूस के लियो तोल्सतोय, गोर्की, चेखव तक का वे जब-तब उपयोग करते देखे जाते हैं। शास्त्री जी की स्मृति विशाल है और सुनाने का ढंग विलक्षण। पद्माकर की पाठ-पद्धति और महाप्राण निराला की Art of Reading को उन्होंने सूरदास का सांगीतिक समारोह दिया है।

जानकार लोग दावा करते हैं कि शास्त्री जी का गद्य बाणभट्ट और सुबन्धु की परम्परा को गति देता है, पर मुझे लगता है कि यह शास्त्री जी की मौलि-कता को नकारने का एक अनोखा ढंग मात्र है। सही है कि हिन्दी में इस गद्य की कोई स्पष्ट परम्परा नहीं है, पर यह तो विचारणीय है ही कि क्यों शास्त्री जी ने अपनी सर्वोत्कृष्ट गद्यकृति 'हंसबलाका' हिन्दी गद्य की समृद्ध परम्परा को समर्पित की है। शास्त्री जी का गद्य हृदय सत्ता के सौन्दर्य-सत्य का आद्यन्त साथ देता है। उसकी प्रकृति अत्याधुनिक वैज्ञानिकता के निर्वहण का दावा करनेवाले गद्य की प्रकृति से अलग है। बड़बोले और विश्लेषणाकांक्षी गद्य के युग में शास्त्री जी अक्सर भावसंवलित, रागदीप्त, शान्त, स्थिर और ललित गद्य ही लिखते हैं। प्रसाद के नाटकों में कवि कलाकार पात्र प्रायः ऐसी ही भाषा का प्रयोग करते हैं। शास्त्री जी का गद्य अलंकृत है, पर वह जीवन संग्राम की भाषा नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वह संश्लिष्ट है पर भाव संप्रेषण में असमर्थ नहीं। प्रलम्ब समासों के घटाटोप में शास्त्री जी का कथ्य

कहीं अनधिगम्य नहीं रहता। इस भाषा की सहज प्रासादिकता करुणा की कादम्बिनी से मिलाप करती है तब जो लालित्य वर्षा होती है वह अद्भुत-अपूर्व होती है।

शास्त्री जी की कविता यात्रा में समानान्तर रूप से तय की गई इस गद्य-यात्रा का इसलिए भी महत्त्व है कि इसमें उनके व्यक्तित्व-विकास की कथा कविता की अपेक्षा खुलापन लिये है। यों उनकी कविताएँ भी व्यापक अर्थ में आत्माभिव्यंजना ही हैं, पर उनमें सांकेतिकता, लाक्षणिकता लोक सामान्य के लिए ज्यादातर अलक्षित होती हैं। गद्य में ऐसी बात नहीं। यहाँ लय-छन्द तुक-ताल का कोई अतिरिक्त आग्रह न होने से एक स्वच्छन्द कला के दर्शन होते हैं।

शास्त्री जी का साहित्य जिस एक तत्त्व की प्रधानता से सर्वप्रथम अभिभूत करता है—वह है उनका आत्मतेज; जिसका सुसंगत प्रबन्धात्मक स्वरूप पहली बार 'हंसबलाका' में विन्यस्त हुआ है। अत: मैं हंसबलाका के बहाने ही अपनी बात रखूँगा।

'हंसबलाका' के आरम्भ में भी शास्त्री जी है और अन्त में भी, किन्तु बीज का विकसित होता हुआ वृक्ष रूप से परिणत फल प्रक्रिया का कष्टप्रद किन्तु हृदयग्राही संवाद लिये है। इस बीच आँधी, तूफान, बवण्डर, हिमपात, दावानल के साथ-साथ चौकड़ी भरते हिरन, सिंह की गर्जन-तर्जन, प्राकृतिक उल्लास और सृष्टि का विध्वंसक हाहाकार भी तत्परता से आकार लेता है। यह गद्य में आत्मा की कला है, यह रचनाकार की आत्ममुग्धता नहीं कि शास्त्री जी इसमें कहीं स्वयं आत्मा के दर्पण में दूसरों का चेहरा देखना चाहते हैं तो कहीं दूसरे के दर्पण में स्वयं को परखते हैं। जाँचने परखने का यह सिलसिला मुक्तिबोध के आत्म संघर्ष के समतुल्य है. दिशा भिन्न होने से, प्रयोजन भिन्न होने से भाषा भी भिन्न हो गई है। बहिर्मुखता यहाँ आत्म दमन के लिए नहीं है, न प्रदर्शन के लिए, बल्कि वह आत्म सापेक्ष है, स्वत: स्फूर्त्त है, आत्मा के उल्लास का ही आग्रह है। 'हंसबलाका' में आचार्य श्री लिखते हैं—

I. मेरी पथ-विपथ पर लड़खड़ाती हुई गति किसी शून्य देवायतन की अश्रान्त प्रदक्षिणा है और जलता हुआ जीवन नीरव नीराजना।

(पृ० १५)

II. नयन-जल ने मेरा आत्मतेज निखारा है । जो बुझ जाए वह तेज नहीं होता, भुक-भुक करती ढिबरी होती है । (पृ० २०)

III. मैं एक अनदेखी वास्तविकता हूँ जिसे एक ओर से हारे हुओं की युग-युग की परम्परा और दूसरी ओर से फरेब से जीतनेवालों के पुस्तैनी चहेते इतिहास ने ग्रसने के लिए राहु-केतु के स्वांग रचे हैं— (पृ० १६)

इस अनदेखी वास्तविकता को शास्त्री जी ने अपने संस्मरणात्मक और जीवनीपरक गद्य में उचित प्रतिष्ठा दी है। उन्होंने जानकीवल्लभ जी के नाम गोत्र का संक्षिप्त विवेचन किया है । यहाँ उनके पिताश्री की अध्ययन-निष्ठा, शास्त्र ज्ञान अर्जित करने के लिए की गई कठोर तपश्चर्या का मर्मस्पर्शी दृश्य लेख है। शास्त्री जी के पिता विद्यावारिधि पं० रामानुग्रह शर्म्मा बाल्यावस्था से ही प्रतिभा सम्पन्न, तीक्ष्ण बुद्धि वैभव से युक्त थे । पाँच-सात वर्षों में ही सतत परिश्रम से 'सारस्वत व्याकरण', 'अमर कोष', 'भट्टिकाव्य', 'हनुमन्नाटक' और 'कृष्णकर्णामृत' काव्य उन्हें कण्ठस्थ हो गये थे । उन्हें एक जटाधारी धूनी रमानेवाले साधु का आशीर्वाद भी मिला था । उन्हें उस साधु ने एक जड़ी और एक यन्त्र दिया था । जड़ी खाने से उनमें अद्भुत स्फूर्ति आ गई और यन्त्र जबतक उनकी केहुनी में बँधा रहा—वे कभी बीमार नहीं हुए । उसी साधु की प्रेरणा से पंडित रामानुग्रह शर्म्मा पं० चन्द्रशेखर भट्ट के पास पहुँचे, जिन्होंने अनुग्रह करके भुवनेश्वरी-सिद्ध-सारस्वत-स्तोत्र दिया और कतिपय बीजमन्त्र तथा साधना की अनुष्ठान विधि बताई । अगले बारह वर्षों में ही 'सिद्धान्त कौमुदी', प्रौढ़मनोरमा', 'शब्देन्दु शेखर',' परिभाषेन्दु शेखर'', 'वैयाकरण मंजूषा' और 'महाभाष्य' जैसे आकरग्रन्थ मन्त्र जप और स्तोत्र-पाठ के प्रभाव से निर्विघ्न समाप्त कर लिये ।

जानकीवल्लभ शास्त्री इन्हीं पं० रामानुग्रह शर्म्मा की, योग्य पिता की सुयोग्य सन्तान हैं । पाण्डित्य उन्हें रक्त, पैतृक बिरासत में मिला है । शास्त्री जी की माँ भी तो अनुपमा थीं—"खुलता गेहुँआ रंग, मझोले से कुछ ऊँचा कद, चौड़ा भरा-माथा, मुँह पर शीतला के दो चार चिह्न, धुले-पुँछे सपनों को सचाई की आँच दिखाने पर तुली, मन-मन्दिर की खुली खिड़कियों-सी आँखें, भरे-पूरे शरीर पर अति साधारण वस्त्र और अल्प मूल्य के दो-एक आभूषण, प्रकृति, निश्छल बोध।" वह विदुषी नहीं थीं किन्तु लोकपरायणता और परदुःखकातरता उनकी अकेली थी । शास्त्री जी ने माता जी से भी बहुत

कुछ ग्रहण किया। माँ किसी काबा-काशी की संकीर्णता की कायल न थीं।" शास्त्री जी की धार्मिकता के गैर साम्प्रदायिक होने का यही रहस्य है। 'हंसबलाका' में एक जगह शास्त्री जी लिखते हैं—

"मेरे लिए हिन्दू देवते ही नहीं पुजते थे, अल्लाताला का दरवाजा भी खटखटाया जाता था, माँ के मरने के कितने ही दिनों बाद तक करीमन की अम्मा हर साल ताजिए के मौके पर बद्धी और मलीदा पहुँचा जाया करती थी। आज भी जमीला, शकीला, हमीदन, बॉबी वगैरह गाँव की गैर हिन्दू हमउम्र लड़कियाँ मुझे उसी उच्छ्वसित स्वर में भैया कहकर पुकारती हैं, वैसे ही आकुण्ठ कण्ठ से वर्षों बाद मिलने पर कुशल समाचार पूछती हैं। जब नोआखाली और पंजाब में हत्याकाण्ड मचा था, मुझे बार-बार अब्दुल मियाँ, रमजान मियाँ वगैरह की याद आती थी, जो मेरे घर पूज्य पिता जी से यात्रा-मुहूर्त्त पूछने आते थे, प्रत्येक मंगल कृत्य में पंजिका विचरवाना जिनका उसूल हो गया था।" (५०—५५)

शास्त्री जी को जीवन पर्यन्त कई अपूरणीय अभावों में एक माँ का अभाव रहा। बहुत कम उम्र में ही शास्त्री जी को मातृहीन कर गई। उनका अभाव ही वह भाव बन गया जो 'श्यामा संगीत' के शास्त्रीय गीतों की प्रेरणा है। माँ के बाद शास्त्री जी अपनी पहली पत्नी चन्द्रकला के प्रसंग में लिखते हैं—"सन् २८ में बिना बाप भाई की, मुझसे हर तरह बड़ी, चन्द्रकला के साथ मेरा व्याह हो गया। मैं जब तक गरीबी की अँधेरी धुन्ध में ज्यों त्यों विद्या की किरण चुंगता रहा, वह जिन्दा रहीं। कालेज की नौकरी मिली और वह चल बसीं। मैं उसके बिना स्नेह के जलते दिये की पीली रोशनी सूखी आँखों देख भर लेता था। मेरे अर्थहीन शब्द उसे निर्जल जलाते रहे। जब आशा का आखिरी सिरा भी जल गया था, वह मेरे सूखे उच्छ्वास से बुझ गईं। कोई नहीं जानता कि पीछे चलकर मैंने अपने अश्रु-स्वेद-रक्त से सनी जिन्दगी की गाढ़ी कमाई क्यों कर कुत्ते-बिल्लियों को खिला दी।"

(हंसबलाका, पृ० ७०)

शास्त्री जी हंसबलाका में सपरिवार मौजूद हैं। उनका यह परिवार माता-पिता, बहन-बहनोई, पत्नी तक ही सीमित नहीं है, इसमें उनके मित्र हैं अन्य जातियों और संप्रदायों के उपेक्षित लोग हैं, विद्वानों की मण्डली है और लेखकों की भी बड़ी संख्या है। किन्तु इस पुस्तक का सबसे अच्छा उपयोग शास्त्री जी को जानने के लिए ही किया जाएगा।

'हंसबलाका' के 'निराला-दर्शन' प्रकरण मे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अपने अध्ययन-काल की स्मृति आँकते हुए शास्त्री जी ने लिखा है—"रुइया हॉस्टल के चार सीटोंवाले एक कमरे में चौकी पर चटाई डालकर अधलेटा सूखे चने चबा रहा था। बाईं ओर एक बुझा हुआ शीशा था और दाहिनी तरफ ताजा खरीदा हुआ रस-गंगाधर'। उन दिनों ये ही मेरे तन और मन के आईने थे जिन्हें अक्सर सामने रखकर मैं अपने को लिखा करता था, तभी चने-चबाने पड़ते थे, सूखे चने।" (पृ० ३१५)

शास्त्री जी तब भी अपने को लिखा करते थे, वह आज भी अपने को ही लिखते हैं—चाहे वह 'अष्टपदी' हो या 'कालिदास'। अब यह दूसरी बात है कि उनका 'आत्म' समय के साथ लगातार परिष्कृत और परिवर्द्धित होता गया है।

जैसा कि हम पहले ही कह आये हैं शास्त्री जी के गद्य को शक्तिशाली बनाने वाली दो चीजें हैं—स्मृतियाँ और श्रुतियाँ। उन्होंने एक लम्बा जीवन जिया है—सार्थक और सोद्देश्य जीवन जो ऊपर से स्वच्छन्द सरस और निर्द्वन्द्व लगता है—जैसा आमतौर पर एक कवि जीवन का हमारे समाज में अर्थ लिया जाता है; पर जो ठीक वैसा ही नहीं है। स्मृतियाँ मनुष्य को इतिहास से जोड़ती हैं। स्मृतिहीन मनुष्य दया का पात्र होता है। शास्त्री जी ने अपने संस्मरणों से हिन्दी साहित्य की एक विशिष्ट विधा को न केवल धन्य किया है, बल्कि गद्य को रचनात्मक स्वायत्तता का लाभ कराते हुए इस क्षेत्र में दुर्लंघ्य कीर्तिमान स्थापित किया है। इस दृष्टि से 'अजन्ता की ओर'—शास्त्री जी के यात्रा-संस्मरण का अध्ययन अपरिहार्य है।

यात्रा संस्मरण हिन्दी में बहुत थोड़े हैं। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री और डॉ० विश्वनाथ प्रसाद तिवारी के यात्रा संस्मरण पिछले दिनों प्रकाशित हुए हैं जो हिन्दी की अमूल्य निधि हैं, पर शास्त्री जी ने 'अजन्ता की ओर' लिखकर 'अजन्ता' को जैसे साकार कर दिया है।

'अजन्ता की ओर' पढ़ते हुए शास्त्री जी के अन्तर्मन में स्थित काव्य पुरुष के दर्शन होते हैं। अजन्ता पहुँचने से पहले ही शास्त्री जी रवि बाबू की कविता पढ़कर उसकी झलक पा चुके थे—"कालिदास को हलक के नीचे उतारने से जो नशा चढ़ा था, रवि बाबू की धूप में वह मानो शत-सहस्र रूप रंग पाने लगा। तब उन्हें कितने ही स्तंभों, चैत्यों और गुफाओं की स्वप्न-यात्रा करनी पड़ी। प्रवासी और 'माडर्न रिव्यू' की फाइलें उलट-पुलटकर अवनीन्द्र नाथ

गगनेन्द्र नाथ और रवीन्द्र नाथ के चित्र देखने पड़े। नन्दलाल बसु और उनके शिष्यों से मिलना पड़ा और उसी क्रम में अजन्ता की आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष हुआ।" (पृ० २७५)

'अजन्ता की ओर' है तो यात्रा संस्मरण, पर यह जानकीवल्लभ शास्त्री द्वारा लिखित है। इसे पढ़कर एक ज्ञान पिपासु कलाकार की आत्मा, हजारों वर्षों की भारतीय साधना और संस्कृति से नाभिनालबद्ध परम्परा जीवित की, पहचान और उसे आत्मसात कर आधुनिक बोध का परचम लहराने की अदम्य आकांक्षा से भी साक्षात्कार होता है। शास्त्री जी अजन्ता का इतिहास, भूगोल और आत्मा सभी कुछ हंसबलाका के ठीक बीच में आँकते हैं। इसका एक अंश 'मन की बात' में भी संकलित है, जिसकी अन्तिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं— "हीनयान संप्रदाय ने अनलंकृत वास्तुकला खड़ी की थी; किन्तु महायान संप्रदाय सौन्दर्य के शिखर पर शिखर गढ़ता गया। इसकी अभिव्यक्तियों के अपार द्वार खोल दिये थे महायान ने। बौद्ध स्थापत्य कला, मूर्तिकला और चित्रकला के क्रमिक विकास का संपूर्ण इतिहास एक अकेले अजन्ता प्रस्तुत करता है।' (मन की बात, पृ० ५६)

शास्त्री जी ने 'अजन्ता की ओर' में चित्रकला की विविध शैलियाँ बॉम्बे स्कूल ऑफ आर्ट्स, बंगाल स्कूल ऑफ आर्ट्स; पटना स्कूल ऑफ आर्ट्स के अतिरिक्त प्राचीन भारत की गान्धार शैली, मथुरा शैली आदि चित्र-शिल्पों का सांगोपांग विश्लेषण किया है। गीत और संगीत का तात्विक अन्तर और अजन्ता की मूर्तियों में सप्राण जगदगुरु भारत के कला गुरुत्व का विवेचन कर चुकने के बाद शास्त्री जी अचानक दुःखी और उदास हो जाते है। कारण, उन्हीं के शब्दों में—"अजन्ता की शृंखलित गुफाओं पर दृष्टि डालते ही यह निश्चित हुए बिना नहीं रहता कि उसका निर्माण जब-तब आकस्मिक स्फुरणों का संकलन नहीं, एक योजनापूर्ण तथा संवबद्ध कला-कलाप का परिणाम है। उसकी मूर्त्तियाँ, भित्ति चित्र या लेप चित्र रस विशेष को केन्द्रित करते हैं। नव रसों के चित्र हैं, किन्तु सबके सब एक ही अंगी रस के उपस्कारक है। जैसे— महाकाव्य में संध्या, रजनी एवं प्रभात के, षड् ऋतुओं के, सर-सरि-सागरों के शब्द-चित्र होते हैं, वैसे ही यहाँ उसके भित्ति चित्र हैं। अजन्ता चित्रकला का अमर काव्य ही है, जिसकी तुलना किसी भी वाल्मीकि-व्यास और होमर-दाँते की कृतियों से की जा सकती है। दुःख है कि उसे इस प्रकार देखा नहीं जाता, मेरी तरह उसके सौन्दर्य और धर्म दर्शन की समग्रता में देखने का प्रयास नहीं किया जाता, पर मेरा यह विश्वास अकारण नहीं है कि अवयवों में उसकी छवियों को देखकर न्याय नहीं किया जा सकता।' (हंसबलाका, पृ० २८७–८८)

शास्त्री जी खण्डित सौन्दर्य-दृष्टि के शुरू से ही विरोधी रहे हैं। रचना के आवयविक सिद्धान्त का प्रवर्त्तन भले निराला जी ने किया हो ('मेरे गीत और कला' शीर्षक निबन्ध में)—इसे व्यवहारिक समीक्षाओं में जानकीवल्लभ जी ने हमेशा महत्त्व दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

'अजन्ता की ओर' बढ़ते हुए शास्त्री जी का मन सुदूर अतीत के धुँधले अन्तरिक्ष में प्रविष्ट होता जाता है और इस तरह शुरू होता है—विविध कलाओं का सांगोपांग विवेचन, भारतीय और ग्रीक कलाकार के मन का तात्त्विक विश्लेषण, राग-रानियों, वस्तुकला, चित्रकला, मूर्त्तिशिल्प सब पर अधिकारपूर्वक बोलते हुए शास्त्री जी काव्य पुरुष की तरह लगते हैं। उनके रचनाकार की प्रतिभा उन्मुक्त शिखर वासिनी-सी भव्य और उदात्त लगती है। दूसरे शब्दों में शास्त्री जी के लिए साहित्य-साधना का तात्पर्य केवल कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी या निबन्धादि लिखने-पढ़ने तक सीमित नहीं है। इनके अतिरिक्त भी ललित कलाओं की व्याप्ति है, ज्ञान-विज्ञान के रमणीय क्षेत्र हैं जिनमें उनका निर्वाध सन्तरण अध्येता के मन में उनके प्रति श्रद्धाभाव भर देता है। धर्मशास्त्र, दर्शन, व्याकरण, काव्यशास्त्र, संगीत विद्या, वनस्पति जगत् तथा अन्य मानवेतर प्राणियों को उनके ज्ञान मण्डल में प्रतिष्ठा की जगहें मिली हैं। यहाँ तक कि निराला निकेतन में रहने वाले कुत्ते-बिल्लियों को भी शास्त्री जी के संस्मरणात्मक गद्य में समादर प्राप्त है।

आचार्य श्री के गद्य की प्रकृति मूलतः रचनात्मक है। यह कवि का गद्य है। आज यह धारणा स्वीकृत होने लगी है कि अच्छी कविता अच्छा गद्य होती है और अच्छा गद्य कविता जैसी उत्कुटता और सघनता पा लेता है। शास्त्री जी का गद्य इसी अर्थ में कविता है, शास्त्रीय होकर भी एक बड़ी सीमा तक निर्बन्ध, अपने गोपन को त्यागता हुआ, भाषा के स्तर पर कई गूँजों-अनुगूँजों को सहेजे हुए और ऊपर से भारीभरकम होने पर भी भीतर से सरस-गतिशील-भाव संवलित।

पॉल वैलेरी ने गद्य और पद्य का अन्तर करते हुए क्रमशः उनकी तुलना चलने और नाचने से की है। नाचने में कहीं जाना नहीं होता, चलने में एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक जाना पहुँचना होता है पर नाचने वाले भी चलते हैं, बल्कि ज्यादा व्यवस्थित और सोद्देश्य चलते हैं, यह जानने के लिए जानकीवल्लभ शास्त्री का गद्य बड़े महत्त्व का है।

इस गद्य की मूल्यांकन धर्मिता अनिवार्यतः इसे सर्जनात्मक समीक्षा के समीप ले जाती है। वह चाहे 'हंसबलाका' हो या 'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे', 'एक असाहित्यिक की डायरी' हो या 'मन की बात', 'निराला के पत्र' हो या 'स्मृति के वातायन' अथवा 'त्रयी' शास्त्री जी का गद्य रचना के स्तर से नीचे कहीं आता ही नहीं। यह समग्रता में हमारे समय की साहित्यिक पत्रकारिता अथवा अखबारी गद्य लेखन का सार्थक सही विकल्प है। शास्त्री जी ने किसी एक ही कवि का विस्तृत मूल्यांकन नहीं किया है परन्तु, संक्षेप में ही यथा प्रसंग कुछ सूक्तियाँ उन्होंने विभिन्न रचनाकार और कृतियों के बारे में लिखी हैं— दीवान के कते जैसे जो उनके गद्य साहित्य में यत्र-तत्र बिखरी पड़ी हैं। डा० नामवर सिंह ने 'वाद-विवाद संवाद' की भूमिका में लिखा है—"कभी-कभी पूरा निबन्ध लिख जाने के बाद लगता है कि यह बात तो एक वाक्य में भी कही जा सकती थी।—धन्य हैं वे लोग जो एक वाक्य को खींचकर निबन्ध ही नहीं, प्रबन्ध तक बना डालने की क्षमता रखते हैं। कितना अच्छा होता कि एक वाक्य वाले निबन्धों की भी कोई विधा होती।" (वाद-विवाद संवाद, पृ० ७) **आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के गद्य साहित्य में ऐसे वाक्य यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं, जिनकी व्याख्या के प्रयास में लम्बे- लम्बे निबन्ध और प्रबन्ध लिखकर हिन्दी का बड़ा से बड़ा आलोचक धन्य हो सकता है।**

शास्त्री जी की मूल्यांकन-दृष्टि वाद-विवाद नहीं, सत्य-कथन का आग्रह रखती है। 'रामकृष्ण कथामृत' के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"रामकृष्ण कथामृत में ऐसा कौन सा aesthetic emotion था जो प्रतिक्षण प्रतीति कराता था कि यह रवीन्द्रनाथ की अच्छोद सरसी नहीं, लहर पर लहर उठाता समुद्र ही है। अपनी ही ज्योति का सर्वतोमुख आमुख है निरस्त कुहक, अपहृतावरण, अमरण आत्मगीत की आलापित टेक है।" (हंसबलाका पृ०२७३)

आचार्य संस्कृत के वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और बँगला के रवीन्द्रनाथ के सजग अध्येता और प्रशंसक हैं। एक जगह कालिदास की चर्चा के प्रसंग में लिखते हैं—"कालिदास की कल्पना में चिड़ियों की चहक है, माघ की कल्पना में ढोलक पर बेकाबू सी पड़ती थाप।" "कालिदास की कला की विशेषता है कि ठीक समय पर उनकी अनुभूत भावना जागती है और वह उसे अपने शब्द-चित्रों की रेखा, रंग, गति और ध्वनि—सकल कलाओं के तत्त्वों के समाहार-से सहृदयों तक पूरी क्षमता से प्रेरित कर पाते हैं।" (हंसबलाका, (पृ० ३५७) हिन्दी के कवियों में निराला से तो शास्त्रीजी की घनिष्ठता ही थी। उनके बारे में शास्त्री जी लिखते हैं—"आध्यात्मिक ज्ञान की अतिशयता

में एक अवधूत, व्यवहार विचार में एक निर्विकार संन्यासी, परमहंसों की-सी अनासक्त विचार-आचार-संहिता, रस समुद्र की द्विधाभूत तरंगों, कवित्व और संगीत पर एक-सा लहराता हुआ मन। निराला निराला हैं।" (एक असाहित्यिक की डायरी, पृ०—२) यह निराला ही नहीं, जानकीवल्लभ शास्त्री भी है। 'हंसबलाका' की ये पंक्तियाँ देखिये—

"आग को धुआँ गन्दा नहीं करता, दिये की लौ को कालिख नहीं लगती, चाँद पर आकाश का रंग नहीं चढ़ता। अपने को निःशेष भाव से दिये बिना और जो हो जाय, निराला नहीं हो सकता।" (हंसबलाका पृ० २५०)

छायावाद के अग्रणी जयशंकर प्रसाद के बारे में शास्त्री जी का मत है कि "उन्होंने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व में दो परस्पर विरोधियों को मिलाने का प्रयास किया इसलिए उन्हें तर्कों और सिद्धांतों पर बल देना पड़ा। वह महान् बने, सहज न रह सके।" (हंसबलाका पृ० ३०५) 'प्रसाद का इतिहास-दर्शन वस्तुतः एक जीवन-दर्शन है, वह जीवन-दर्शन जो मानव को आनन्दमय देखता हैं, जबकि आनन्द विराट् विश्व प्रकृति से समरस होने पर ही उपलब्ध होता है, दूसरे शब्दों में प्रसाद का साहित्य मानव जाति को श्रद्धापूर्वक दिया हुआ उदात्त आनन्ददान है।,

शास्त्री जी ने प्रसाद और निराला के अतिरिक्त भगवतीचरण वर्मा, शिवपूजन सहाय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रेमचन्द, जैनेन्द्र, अज्ञेय और दिनकर जैसे महान् रचनाकारों के साहित्य पर भी बेबाक टिप्पणी की है जो हिन्दी समालोचना साहित्य की अमूल्य निधि है।

शास्त्री जी दूसरों पर प्रामाणिक और आधिकारिक टिप्पणी इसलिए भी कर सके हैं कि उनमें आत्मालोचन का गहरा विवेक है। उनकी साहित्य-साधना का एक बड़ा हिस्सा गीत है जिनके बारे में शास्त्री जी की मान्यता है—"बाह्य सत्यों में व्यजित जीवन के बिम्ब ही तो मेरे गीत हैं। हठीले पाँव इस छोर से उस छोर तक कल्पना की अगम गहराइयाँ नापने की मचलन लिये, कर्त्तव्य की ऊँचाइयों को छूकर सुरीली झंकार उठाने की भावना उमगाते हुए हाथ, बादलों की झालर इन्द्रधनुष के इर्द-गिर्द झूल रही हो, उसकी सतरंगिनी तहों में अकम्पित चाँद-सूरज-से संकल्पों की सामर्थ्य ढूँढ़ती हुई दृष्टि, प्रात-पवन-सा हर मधुगन्धी बन-बाग की छवि पर छाये गगन पर तैरता हुआ।"

(हंसबलाका पृ० १६)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद यह शास्त्री जी का ही गद्य साहित्य है जिसमें सारगर्भित पंक्तियों की भरमार है। इन सूक्तियों में भाव-सौन्दर्य से भी अधिक हिरण्य पात्र में ढँका सत्य मुख क्रमशः निवृत होता हुआ जान पड़ता है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

I कलाकार की अन्तर्निहित, अपरिमिति (Infinity) और स्वतन्त्रता (Individuality) की समस्तर निर्मिति कला कहलाती है। [पृ० २२३]

II कला रागों मनोभावनाओं और संवेदनाओं की ही तो भाषा है।

[वही, पृ०–३५७]

III धरती पर स्वर्गीय सौन्दर्य की झलक मिलने पर स्मृति से सादृश्य उत्पन्न करने का प्रयत्न रचना है।

IV आस-पास की जिन्दगी की सही पड़ताल के बगैर सर्जनात्मक अन्तर्दृष्टि नहीं विकसित हो सकती। [पृ०—१८१]

V अनाम अरूप को नाम रूप में जागरित करने वाली कवि की रचना-प्रक्रिया वायव्य को स्पर्श-योग्य बनाने पर बल देती है।" [वही, पृ० ३११]

शास्त्री जी की मान्यता है कि 'रचना के समान ही इसका आस्वाद भी सरस होना चाहिए।' इसका मतलब यह नहीं कि शास्त्री जी संस्कृत की आँख से ही सब कुछ देखते हैं और अनुभववादी हैं। वास्तविकता यह है कि हिन्दी गद्य का सर्वांगपूर्ण साहित्यिक रूप छायावादियों के बाद उन्होंने ही जीवित और सुरक्षित रखा है। इसमें जगह-जगह झरने की खिलखिलाहट, सरिता का आवेग, गंगा-यमुना का पावन संगम, पठार का धीरज, हिमालय की ध्यान मग्नता, देवदारू का अट्टहास, समुद्र का हाहाकार और अतलान्त का असीम ऐश्वर्य इकट्ठे साकार हो गया है। सांस्कृतिक चेतना का इससे अधिक धवल, तपोनिष्ठ रूप हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। अर्थाभाव से सतत जूझकर भी इस अपराजेय मनीषी ने निस्पृह भाव से गगन-गुफा की निस्तब्धता भंग की है, अतः यहाँ 'वाद का विवाद व्यर्थ है। बात यह है कि साधना की एक विशिष्ट ऊँचाई पर पहुँचकर कठघरे हरबार अप्रासंगिक हो जाते हैं। सभ्यताक्रान्त मनुष्य की निर्मितियाँ उन्हें ही मुँह चिढ़ाने लगती हैं। शास्त्री जी एक पण्डित हैं, ऐसा पण्डित जो शास्त्र को रेगिस्तान नहीं मानता। पर खास बात यह है कि शास्त्र में अपने को खपा कर ही उन्होंने लिखा है—

"जीवन गढ़ने के लिए ही शास्त्रों का निर्माण हुआ है, शास्त्र गढ़ने के लिए जीवन नहीं बनाया गया। क्योंकि स्वयं जीवन कोरे शास्त्रों से कहीं अधिक मूल्यवान है।"

यहाँ मुख्य बात शास्त्र ज्ञान नहीं है। मुख्य बात है कर्मयोग की साधना या आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, जयशंकर प्रसाद, निराला और हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परा का व्यक्तित्व संपन्न गद्य जो एक साथ ही परम्परा को समर्पित है और परम्परा से अलग; उतना ही नया-पुराना जितना इसका प्रणेता कवि और उसकी कविता।



हिन्दी विभाग,
बिहार विश्वविद्यालय
मुजफ्फरपुर—842001

'स्मृति के वातायन' से झाँकता कवि

□ डॉ० श्यामसुन्दर घोष

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री कभी-कभी 'स्मृति के वातायन' से झांकते हैं। ऐसे अवसर उन्हें कम ही मिले हैं। यहाँ हम स्मृति के वातायन से झाँकते कवि की विशेषता परखना चाहते हैं। यह हमारा प्रयास 'स्मृति के वातायन'[1] पर आधारित है जो लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद से सन् १९६८ में प्रकाशित है।

शास्त्री जी ने स्मृति के वातायन से अपने आपको भी देखा है, और दूसरों को भी। अपने आप से संबंधित उनका एक छोटा सा संस्मरण है—'पितृदेव', जिसमें उन्होंने अपने पिता के संस्मरण तो लिखे ही हैं, अपने सुदूर बचपन को भी उलटकर देखा है। इस क्रम में उन्होंने अपनी 'डायन माँ' का विशेष उल्लेख किया है। शास्त्री जी की माँ तो बचपन में ही चल बसीं और उनका लालन-पालन पिता ने किया। लेकिन वे शिशु को माँ का वात्सल्य न दे सके। पिता के वात्सल्य को शास्त्री जी ने 'रौद्र वात्सल्य' कहा है। ऐसे में एक विधवा तरुणी से उन्हें माँ का-सा वात्सल्य मिला। यह बेचारी युवावस्था में ही अपने पति और पुत्र से वंचित हो गई। अब दूसरों के बच्चों को एकटक निहारना और मौका मिले तो झट झपट कर उसे गोद में ले लेना, और अन्धाधुन्ध प्यार करने लगना उसका स्वभाव बन गया। लेकिन गाँव के अपढ़ और गँवार लोगों को इस असामान्य नारी-मनोविज्ञान से क्या लेना देना? वे उसे डायन कहने लगे। अपनी इस डायन-माँ का शास्त्री जी ने बड़ा मार्मिक उल्लेख किया है। संस्मरण पितृदेव पर है, और वे ही अधिक स्थान

---

१. अब तो उनके संस्मरणों की अनेक पुस्तकें प्रकाश में आ चुकी हैं : हंसबलाका, कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, अष्टपदी, नाट्यसम्राट् आदि।

घेरते हैं, पर जहाँ भी 'डायन-माँ' का उल्लेख हुआ है वहाँ वह पाठकों के चित्त को बाँध लेता है।

इसी संस्मरण में शास्त्री जी अपनी दूसरी माँ, 'दाई-माँ' का उल्लेख करते हैं। उसकी भी अपनी विशेषता है। ये गँवई स्त्रियाँ बताती हैं कि गाँव घर में, मातृहीन बालकों को, कैसे माता का स्वाभाविक स्नेह और लालन-पालन के लिए कितने ही सचेष्ट और तत्पर क्यों न हों, बालक का स्वाभाविक विकास नहीं हो सकता। आज से पचासों वर्ष पूर्व अधिकांश पिताओं की यह धारणा थी कि पुत्र लाड़ से बिगड़ते हैं उन्हें ताड़न द्वारा ही सही रास्ते पर लाया जा सकता है। शास्त्री जी ने अपने पिता के क्रोधी स्वभाव और आचरण का जो वर्णन किया है वह रोंगटे खड़े कर देने वाला है। इस मामले में शास्त्री जी के पिता, और निराला जी के पिता के स्वभाव और आचरण में कुछ साम्य दीखता है। निराला ने भी अपने उपन्यास 'कुल्ली भाट' में लिखा है कि 'मारते वक्त पिता जी इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें भूल जाता था कि दो विवाह के बाद पाये हुए इकलौते पुत्र को मार रहे हैं। मैं भी स्वभाव न बदल पाने के कारण मार खाने का आदी हो गया था। चार-पाँच साल की उम्र से अब तक एक ही प्रकार का प्रहार पाते-पाते सहनशील भी हो गया था और प्रहार की हद भी मालूम हो गई थी।' (पृ०-३६)

शास्त्री जी के पिता भी इससे कुछ कम न थे। मैं अक्सर सोचता हूँ कि मातृहीन बच्चों के प्रति पिताओं का ऐसा आचरण क्यों हो जाता है। इसके मूल में मुझे दो ही बातें मालूम होती हैं। एक तो, स्त्री न रहने से, या असमय ही स्त्री का निधन हो जाने से, ऐसे विधुरों के स्वभाव में एक स्वाभाविक रूक्षता आ जाती होगी। एक तरफ पुत्र या पुत्री के लिए पुनर्विवाह न करने की भीष्म-प्रतिज्ञा और दूसरी ओर पुत्र या पुत्री के लालन-पालन का कठोर दायित्व और चिन्ता इनके स्वभाव में तनाव ला देती होगी। दूसरी बात कि तब यह श्लोक कि 'लालयेत् पञ्च वर्षाणि, दश वर्षाणि ताडयेत्' बड़ा प्रचलित था और इसे बहुत स्वाभाविक समझा जाता था। इस श्लोक में एक गूढ़ चमत्कार है जिस पर शास्त्री जी ने प्रकाश डाला है। "दश वर्षाणि" में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग 'नैरन्तर्य्य' अर्थ में हुआ है। अतः पाणिनि के अनुशासन की रक्षा के लिए लड़के को दस वर्षों तक लगातार

पिटना ही पड़ेगा। यदि उसने किसी तरह दो-एक दिन भी अभिभावक की आँख बचाकर, अपने को न पिटने दिया, तो फिर द्वितीया विभक्ति बन्द, शास्त्र की मर्यादा नष्ट, श्लोक में छन्दोभंग।'' (पृ०—१५३) ये दोनों बातें मिलकर ही निराला और शास्त्री जी के पिताओं को वैसा कठोर बनाती रही होंगी।

शास्त्री जी ने अपने पिता के बारे में लिखा है—'उन्होंने मुझे इतना पीटा है, इतनी बार पीटा है और इतनी उग्र निर्दयता से पीटा है कि वह, अधिक से अधिक, मेरे लिए मान्य और श्रद्धेय ही बने रह गए हैं; लाख-लाख चेष्टाओं के बाद भी मैं उन्हें प्राणों का प्यार न अर्पित कर सका। उनका उद्देश्य अति पवित्र एवं महान् था, किन्तु मेरे दुर्भाग्य के कारण उसका साधन उन्होंने क्रूर और कुत्सित पसन्द किया था।'' (पृ० १४१) इस 'विरस अभिभावकता' और "रौद्र वात्सल्य" के कारण बच्चे का जीवन से निराश और हताश हो जाना स्वाभाविक है। ऐसे बच्चों का घर से भाग कर इधर-उधर भटकना, जीवन से विरक्त हो जाना, मृत्यु की कामना करना इत्यादि स्वाभाविक है। लेकिन मृत्यु इतनी आसान भी तो नहीं है। शास्त्री जी ने लिखा—"जंगल में चीता नहीं खाता था, पहाड़ से पाँव नहीं फिसलते थे; नदी में डूबता न था, मार से मरता नहीं था, फिर किसी भी स्थिति में जिए जाने के सिवा और क्या चारा था?" (पृ० १५०) ऐसे में वह कौन-सी बात है, कौन-सा आधार है जो बच्चे को थामे रहता है? यदि पिता ऐसे हों, तो माँ ही, ऐसे बच्चे के मन में जीवन के प्रति रुचि बनाए रख सकती है। लेकिन जिसे माँ भी नहीं है; जो अल्पवय में ही माँ के स्नेह से वंचित हो गया है उसका क्या होगा? लेकिन ऐसे बच्चों के लिए भी समाज में माँ हैं, ये सगी माँ भले ही न हों उस माँ से कम भी नहीं होतीं।

शास्त्री जी की डायन-माँ' के अतिरिक्त जो दाई-माँ हैं वे निरन्तर पिटते-घुटते अबोध शिशु शास्त्री जी को एक किस्सा सुनाती हैं—"तुम्हारी ही तरह पण्डित था। वह काशी से पढ़कर लौटा तो दूर-दूर तक उसका यश फैल गया। उसकी पण्डिताई की ऐसी धाक जमी कि सब उसका लोहा मानने लगे। मगर उसके बाप की देह पर जूँ तक न रेंगी। वह उसे बात-बात में बनाया करते। इससे उसे बड़ी खीझ हुई। वह सोचता, मैंने कब इनके घी के घड़े लुढ़काए हैं जो इनकी आँखों में काँटे के समान खटकता रहता हूँ। सो उसने भी दिल का गुबार निकाल लेने की ठान ली। सोचा,

खूसट सिड़ी हो गया है, फजूल की बकझक मचाए रहता है जिससे मेरी इज्जत मिट्टी में मिली जाती है, इसे मौत के घाट उतारना चाहिए। और एक रोज जब वह बुड्ढे का गला काटने के लिए घर पहुँचा, वह खाने पर बैठे थे, माँ पंखा झल रही थीं।

माता—'तुम भी कैसे हो जी ? उधर तो तुम्हारे पुत्र की प्रशंसा में प्रति मुख मुखर है। उसकी कीर्ति-पताका आकाश में फहरा रही है। और इधर तुम उसकी निन्दा करते समय थकते ही नहीं, वह बेचारा तुम्हारे सामने सिर उठाकर चलते भी संकुचित होता है।

पिता—"ठीक है पगली, मैं क्या यह सब नहीं समझता ? उसकी प्रशंसाएँ सुन-सुन कर दर्प से मेरी छाती नहीं फूल उठती ? उसकी अगाध विद्वत्ता का लोहा मन ही मन मैं नहीं मानता ? परन्तु मैं तो 'पिता' हूँ न ! मुझे प्रत्येक स्थिति में कवच की भाँति उसकी रक्षा करनी होगी।

माता—"तो फिर डाँटने-फटकारने से उसकी रक्षा होती है ?

पिता—अवश्य होती है। प्रत्येक मनुष्य के गहन मन में चोर के समान छिपकर अभिमान बैठा रहता है। वह अवसर की घात में रहता है। तनिक असावधानी हुई नहीं कि उसने सर्वस्व मोचन किया। सो मेरी डाँट-फटकार सुनकर वह दुबका रहता है ! बूढ़ा हूँ न। —चौकसी से उस चोर की गतिविधि का निरीक्षण करता रहता हूँ। लड़का अभी युवक है—यह सब नहीं समझता। यौवन की मादकता उसे नहीं समझने देती। विद्या का अहंकार और यौवन का अन्धकार। नहीं-नहीं, चोर को डाँटना ही पड़ेगा, खदेड़ना ही होगा ! —समझीं ? मैं अपनी आँखों अपने लड़के का सर्वनाश नहीं देख सकता।"

लड़का दीवार की ओट से ये बातें सुन रहा था। उसके हाथ से छुरी कब की गिर चुकी थी। उसे काठ मार गया था। काटो तो खून न गिरे। फिर वह संभला और छुरी उठा कर अपनी हत्या करने के लिए जल्दी-जल्दी बाहर चला गया।

जाते-जाते जब वह एक निर्जन वन में पहुँचा और छुरी कलेजे में उतार देने पर उतारू हो गया, तभी एक मुनि ने अकस्मात् प्रकट होकर पीछे से उसका हाथ पकड़ लिया और कहा—

यही तेरी पण्डिताई है ? इसी विद्या के बल पर अपने तपस्वी पिता से पण्डित कहलाना चाहता था ? वेद की ऋचा भूल गया ? क्या लिखा है उसमें ?

असुर्यां नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये केचात्महनो जनाः।

जा, घर लौट जा। पैर पकड़ कर पिता से क्षमा मांग। (पृ० १५५-१५६)

गांवों की 'दाई-मां' जैसी अपढ़ स्त्रियां भी कितनी व्यवहार-पटु होती हैं. उन्हें बाल-मनोविज्ञान का कितना गहरा ज्ञान होता है, उन्हें यह इस प्रसंग से स्पष्ट है। तभी तो शास्त्री जी का कैशोर, जो जीवन पर सोचता-सोचता उससे विरक्त सा हो चला था—जिसके विचारों की आंच में दादी माँ की रूखी सीखों की सूखी पत्तियां जल-जलकर खाक हो जाती थीं, पिता के प्रति उतने कटु और विरक्त न हो सके जितना उन्हें होना चाहिए था। "जेठ की दोपहरी में सुरहर की जलती रेत पर से टांग पकड़ कर घसीटते हुए घर ले आना और रास्ते के कांटों में उलझते बदन पर तनिक क्रुद्ध दृष्टि भी न डालना, न नहाने पर पीटना और तैर-तैर कर नहाते देख अथाह पानी में डुबो-डुबोकर आर्त्त स्वर से, फिर वैसी हरकत न करने की प्रतिज्ञा करवाना आदि पिताजी के बाएँ हाथ के खेल रहे। (पृ० १४३) लेकिन इसके साथ ही शास्त्री जी यह याद करना भी नहीं भूलते कि "अलबत्ता दाहिना हाथ हमेशा मेरे सिर पर छाँह करता रहा, मेरे पालन-पोषण में जाग्रत, उद्यत और व्यस्त रहा।" (वही) इसके मूल में दाई माँ का कितना योगदान रहा है, यह कहना मुश्किल है।

शास्त्री जी अपनी दाई-माँ को प्यार का भाण्डागार कहकर याद करते हैं। उन्हें बचपन की याद आती है कि कैसे गाँव भर के बच्चे बन्दरों की तरह उनकी देह की डाल से उलझे रहते थे। अपनी 'डायन माँ' को शास्त्री जी चिर किरणमयी के रूप में याद करते है। लेकिन यह भी उस महिमामयी ममतामयी, करुणामयी नारी के जीवन की दारुण विडम्बना ही है कि उन पर 'धूल डालने वाले अवश्य गंदे हाथ झाड़ते हुए अभी भी मौजूद हैं।" उनके जड़, विषण्ण और उदास जीवन का थोड़ा सा ही ब्योरा शास्त्री जी ने दिया है। इसे उस अभागिन नारी के शब्दों में ही सुनिए—"पति और पुत्र के मर जाने के बाद जेठ-जेठानी ने मुझे घर से बाहर निकाल इसी झोपड़े में बाकी जिन्दगी गुजारने को कहा। मैंने अधीर होकर जीने-खाने की बात पूछी तो उन्होंने बड़ी रुखाई से जवाब दिया—मिट्टी खोद-खोद कर खाना।

तब सब तरफ से निराश हो मैं किसी-किसी खेत से कभी चने की, कभी मटर, खेसारी, सरसों, बथुआ, मूली वगैरह की भाजियाँ खुटक-खुटक कर लाने और उन्हें ज्यों-त्यों कच्चा पका खाने लगी। कभी झाड़ियों से झड़बेर झाड़ लाती; कभी करौंदे, कंद या गाजर इसी तरह लगभग बारहों मास फलाहार, एकादशी करते-धरते बिता देती।

हाँ, तो जेठ-जेठानी की बात कर, कभी-कभी, भूख लगने पर, गुस्से से तिलमिला कर, मैं मिट्टी खा लेती थी, फिर एक तरह की लत-सी हो गई। अरे एक दिन तो मिट्टी मुझे खाएगी ही, फिर उससे डरना क्या? मैं अभी से उसे खाती जाती हूँ—कुछ दिन और खा लूँ।" (पृ० १३१-१३२)

इस छोटे से संस्मरण से स्पष्ट है कि शास्त्री के कवि में कैसा अद्भुत संस्मरणकार छुपा हुआ है! वह जितनी स्पष्टता और पूर्णता से अपने धुरबचपन को देखते हैं वह आश्चर्य-चकित करने वाला है। वे एक-एक ब्योरे को इस तरह उरेहते हैं कि उससे लगी-सटी कोई बात छूटने नहीं पाती और इसके साथ जो सबसे बड़ी चीज, उनके दिल की कसक है, वह भी जहाँ-तहाँ पूरी मार्मिकता और प्रभाव से व्यक्त हो जाती है। तभी तो वह पिता के प्रसंग में कहते है—'देखते-देखते कितने ही पापड़ बेलने वाले, भले लोगों की देह गर्द-बर्द कर कर पर चलने लगे, धर्मशाला के बरामदे में ठोढ़ी-घुटने जोड़-सिकोड़ कर रात बिताने वाले पंचतल्ले पर रेडियो का एरियल फिट कराने लगे।' (पृ० १२६)लेकिन शास्त्री जी के पिता जानबूझ कर महत्तर के लिए 'बृहत्तर' या 'उच्चत्तर' का त्याग करते रहे।

ऐसे कठोर पिता के मन में भी पुत्र के प्रति नेह-छोह था इसे भी शास्त्री जी ने स्पष्ट करना आवश्यक समझा है—"एक दिन मास्टर साहब ने मुझे इतना पीटा कि मेरी पीठ फट गई, लहू के धब्बे कुर्त्ते पर उग आए। किन्तु उनके डर से मैंने पिता जी को कुछ न कहा। तो दूसरे दिन जाने किस प्रकार उन्होंने यह दृश्य देख लिया। फिर क्या था? आग-बबूला हो गए और ग्राम्य-भद्र विशेषणों से मास्टर साहब को विभूषित करते हुए स्कूल चले आए। रास्ते में सहानुभूति के अश्रुत स्वर से मुझे उस निरर्थक पढ़ाई से बचा लेने का आश्वासन भी देते रहे। स्कूल खुला था, लड़के और दूसरे शिक्षक उपस्थित थे, उस समय वहाँ मेरे मास्टर साहब मौजूद न थे। पिता जी शरत-काल के बादल की तरह गरज-तरज कर घर लौट आए।" (पृ० १३६) ऐसे स्नेही और वत्सल पिता की एक और छवि शास्त्री जी

ने आंकी है—"मैं पिता जी की उन मानसिक व्यथाओं का किसी भी प्रकार साक्षी नहीं हो सकता। फिर भी एक मैंने उनकी करुण चीत्कार सुनी है, मिट्टी के रोएँ-रोएँ को सिहरा देने वाला उनका बेज़ार बिलखना देखा है। पिताजी जिस समय सावित्री का शव हथेलियों पर रख कर, मरे बछड़े वाली बूढ़ी गाय की तरह अंग-अंग के तंतु-तंतु पर पूरी ताकत लगा, रँभाते हुए, अपने घुमड़ते-घहड़ाते स्वरों से आसमान के सूनेपन को भरते ऊबड़-खाबड़ पगडंडियों पर डगमग पग धरते नदी के किनारे की ओर बढ़ रहे थे, उस समय बार-बार मुझे रोहित के कफन का टुकड़ा मांगते—शैव्या के विलाप प्रलाप से झनझनाते श्मशान में खड़े हरिश्चन्द्र की याद आ रही थी। अभी उस दिन राष्ट्रपति की शवयात्रा को चित्रपट पर देखकर भी सभ्य-सुसंस्कृत लोगों के बीच में आँखें मींच कर रोने लग गया था, किन्तु गँवई-गाँव के कतिपय सजातीय सज्जनों से घिरे—नन्ही-सी मक्खन की पुतली को चट्टान की तरह कांपते हाथों से उठाए अपने पिता की वह असह्य दुख-दर्द-भरी दशा देखकर मुझे काठ-सा मार गया था, उस समय चीर कर भी मेरी रेतीली आँखों की कोर से आंसू की दो बूँदें नहीं निकाली जा सकती थीं।' (पृ० १२३)



यह तो शास्त्री जी का स्मृति के वातायन से अपने आपको, अपने अतीत को देखना हुआ। अब यह देखना रोचक और आनन्ददायक होगा कि स्मृति के वातायन से उन्होंने अपने समकालीनों, लेखकों और कलाकारों, को किस रूप में देखा है। स्मृति के वातायन में निराला, प्रसाद, शिवपूजन सहाय, नलिनविलोचन शर्मा और उदयशंकर भट्ट विषयक संस्मरण हैं। इनमें निराला और प्रसाद तो हिन्दी साहित्य के गौरव-शिखर ही हैं। आचार्य शिवपूजन सहाय भी एक दूसरी दृष्टि से महत्त्व के अधिकारी हैं क्योंकि हिन्दी के विकास में उन्होंने नींव के पत्थर का काम किया है। इन तीनों की अपेक्षा नलिनविलोचन शर्मा और उदयशंकर भट्ट को लोग कुछ कम जानते हैं। लेकिन शास्त्री जी की विशेषता है कि उन्होंने इन पाँचों के बारे में जिस प्रकार लिखा है, उससे लगता है कि ये पांचों ही हिन्दी के पंचरत्न हैं। यहाँ शास्त्री जी की सहृदयता का कायल होना पड़ता है कि छोटे-बड़े सभी साहित्यकारों को वे तुलसीदल ही समझते हैं। शास्त्री जी के इन संस्मरणों को पढ़कर हम मुश्किल में पड़ जाते हैं, 'को बड़ छोट कहत अपराधू' वाली स्थिति हो जाती है।

निराला से शास्त्री जी इतने जुड़े हैं कि एक जगह उन्होंने अपने इस जुड़ाव को 'मियां की दौड़ मस्जिद तक' कहकर व्यक्त किया है। लेकिन निराला से जुड़ाव होने पर भी प्रसाद या शिव जी या नलिन जी का उदय शंकर जी से उनका जुड़ाव और लगाव कम नहीं है। और तो और, जिसके संस्मरण शास्त्री जी नहीं लिख सके हैं उन्हें भी समय-असमय उन्होंने इस ढंग से, इतनी आत्मीयता से, इतना प्रीतिपूर्वक स्मरण किया है कि लगता है इन पर शास्त्री जी ने ठीक इसी प्रकार, ऐसे ही प्रभावशाली ढग से लिखा होगा। उदयशंकर भट्ट पर लिखते हुए वे कविवर सुमित्रानन्दन पंत के बारे मे लिखते हैं—"मेरी गीत-गंगा उनके प्रतापातप से सूख गई थी, मोटी अवल लट कर लकुटी हो गई थो जिसे टेक कर जैसे-तैसे डग तो भरा जा सकता था, मगर उढ़क कर छलांग नहीं लगाई जा सकती थी। सँवार-सँभाल कर रखे हुए कुछ नए-पुराने शीलवान गीत मैंने नैवेद्य की भांति निवेदित कर दिए। अवश्य, प्रसाद पाने के लिए हाथ नहीं लपकाया। यों उस अम्लान मुखमण्डल एवं अति द्युतिमान दृष्टि ने मुझे क्या नहीं दिया था? ज्ञान का ताना और कर्म का बाना बुनते हुए उन्होने जिस पावन प्रकाशकेतन का निर्माण किया है वह उनके व्यक्तित्व के सौंध पर सदा लहराता है।" (पृ० ९८) शास्त्री जी की यह दशा तब हुई थी जब पहली बार स्वयं सुनने के लिए चल कर आए हुए पंत जी ने उन्हें कुछ सुनाने कहा था।

जब उदयशंकर भट्ट शास्त्री जी से पूछते हैं— "आपको दोनों का स्नेह प्राप्त है, आप दोनों की प्रतिभा और सहृदयता से अभिभूत हैं, अन्यथा न समझें तो अपने अनुभवों के आधार पर निराला और पंत का अन्तर बताएँ।" (पृ० ९९) शास्त्री जी एक वाक्य में जवाब देते है— 'जीवन ही नहीं, कविता में भी निराला औघड़ हैं, पंत संत; निराला स्वच्छ है, पंत परिमार्जित क्या यह काफी नहीं?" (पृ० ९९) यहां समझ जाते हैं कि पंत जी को भी, शास्त्री जी कितनी दूर तक, और कितना सही सही, समझ सके हैं। पंत जी के परवर्ती काव्य को लेकर आलोचकों में विरोध और विवाद है। लेकिन शास्त्री जी मानते हैं कि 'पंत जी का शिल्प तो जैसा यौवन में अछूता था, वैसा ही आज भी है। सिकता की सस्मित सीपी पर अब भी मोती की ज्योत्स्ना विचरती जान पड़ती है। अब भी चपल तारक-दल जल का अन्तस्तल ज्योतित कर विस्फारित और निश्चल नयनों से कुछ खोजते हुए से दिखते हैं।" (पृ० १०१) वे केवल यह कह कर ही नहीं रह जाते। अपनी बात को सम्पुष्ट करने के लिए उनकी बाद की पुस्तक 'किरणवीणा' से उदाहरण भी देते हैं :—

फिर किशोर क्वाँरे स्वप्नों का
कचनारी सौन्दर्य बरसता
दिङ मुकुलित कर अन्तर
फालसई तूली से किरणें
नव शोभा की स्वरलिपि लिखतीं
जीवन के आँगन पर

यह शब्द—श्री पंत की कला की प्राणवन्त दिगन्त छवि है। यदि यह शब्दों का मेघाम्बर है तो कहना चाहिए, काव्य के भीतर से कला की ज्योति और कहीं नहीं विच्छुरित हुई।" (पृ० वही) शास्त्री जी को, पंत जी की कविताओं में, आधुनिक हिन्दी कविता की अमिताभ–सुमेरु-कला के दर्शन होते हैं।

पंत की यह चर्चा अवान्तर है। सोचिये, यदि शास्त्री जी पंत जी पर एक भरा–पूरा संस्मरण लिखते, तो क्या-क्या न लिखते ! कैसा न लिखते !

केवल पंत या अन्य शिखर-रचनाकारों की बात ही नहीं है शास्त्री जी जब नेपाली की याद करते हैं, तो सवाल उठाते हैं। हिन्दी संसार ने नेपाली को देखा है। कहां है वह मस्ती ? वह रिमझिम ? वह विस्फोट ? बिहार की बात चलने पर कहते हैं —'बिहार यों ही जिया-मरा है, उसने हिन्दी का कर्ज अदा किया है। वह यह नहीं कहता कि जो तकदीर में बदा था वह मिल गया। वह अपना फर्ज नहीं भूलता। आज जो रफ्तार है, वह अपना प्राप्य प्राप्त कर आगे—और आगे बढ़ेगा। वह विनय से सिर झुकाता है, बौना नहीं है।" (पृ ५८) शास्त्री जी नलिन जी की आधुनिकता और शिव जी की प्राचीनता में बिहार की साहित्यिक चौहद्दी पूरी होने का दावा करते हैं।

शास्त्री जी के संस्मरणों में सुख और दुख के प्रसग हां मुख्य हैं। सच उन्हें अपनी गुलगुली उंगलियों से यों छू देते हैं कि मन उस छुअन तक फैलता चला जाता है। वे सोचते हैं, ढेर सारी बातें ऐसी ही होतीं तो आदमी का मन जाने कितना बड़ा होता लेकिन मानव जीवन में ऐसे प्रसंग बहुत अधिक नहीं होते। दुख के प्रसंगों के बारे में शास्त्री जी बताते हैं— "कोई-कोई बात अपने नोकदार नाखून यों चुभो देती है कि मन उस चुभन के गिर्द गोल-गोल घूमने लगता है। जिन्दगी की सारी बातें सुइयां ही सुइयां होतीं तो मन का मनका आप फिरता रहता" (पृ.३) लेकिन सुख दुख के ये प्रसंग एक दूसरे पर हावी नहीं होते तभी तो मन कभी गहरे पैठता है, कभी ऊँची उड़ाने लेता है।" शास्त्री जी के संस्मरणों में यह पैठ और उड़ान दोनों है। बात पर

बात आ जाती है तो वे कह देते है। इसे ही वे "अपनी सखुनसाजी का राज बताते हैं। सम्पूर्ण विह्वलता को वे अपनी अटपटी स्मृतियों की सहज ध्वनि मानते हैं। वे पलस्तर किये हुए प्रतिमानों का मुँह नही जोहते। उनके अप्रकाशित उच्छ्वास किसी बहुप्रकाशित विश्वास का पिष्टपेषण नहीं होते। उनके संस्मरण आत्म विभोर वेदना के आनन्द-प्रकाश हैं। उनके संस्मरणों में नाद स्वर की लपट पर लपट उठाते अक्षर अपना अक्षय प्रकाश फैलाते हैं। वे क्षयिष्णु अंधकार के सहारे देर-देर तक भ्रांत दायरे नहीं टेरते।" कभी वे भावों से भर देते हैं कि पलकें झपकना भूल जाती है, रक्तकण आनन्द-छन्द में नाच-नाच उठते हैं। और कभी-कभी वे ऐसा अवसाद बटोर लाते हैं कि सारे रास्ते अँधेरे में मुँद जाते हैं और हम मुँह जहर किए बुझी हुई ज्योति में विश्वास का वृत्त बनाते खड़े रह जाते हैं।" (पृ. ४) उनकी कोई स्मृति सान्ध्य गगन में म्लान किरणों से गुँथी मेघ माला सी गैरिक उदासी सुलगाती है, तो कोई प्रात-वात से कम्पित चम्पक लता-सी सुरभित सपनों के गुच्छे झुलाती है।" (पृ० ५) ऐसा इसलिए हो पाया है कि शास्त्री जी को जीवन का कड़ुवा मीठा अनुभव खूब है। वे अनुभव में पगी ऐसी मार्मिक उक्तियाँ कह जाते हैं—"भाड़ में भड़भड़ाते शब्दों के लावे तबीयतदार रेत की तपन बुझाते हैं और तपौनी का गुड़ खाए लोग फाँड़ा बाँध कर मीन-मेख निकालनेवालों का कचूमर निकालने निकल पड़ते हैं।" (पृ० ५)

शास्त्री जी ने अपने संस्मरणों को 'स्मृति के वातायान' से छनकर आई मानस-मूर्च्छना का सुर कहा है। इसीलिए माना जा सकता है कि स्मृति के वातायान से शास्त्री जी का कवि ही झांकता है, गद्यकार नहीं। शास्त्री जी गद्य अच्छा लिखते हैं लेकिन वह गद्य कवि का गद्य है। जब उनका कोई स्नेही मित्र उनके घर आता है तो उनकी फुलवारी का तृण-तृण उल्लास से लास्य कर उठता है। मौलिश्री के फूल झर-झरकर उनकी मौलि की विशालता के संयोग में अपनी श्री बढ़ाते हैं, जवा और कनेर के तोरण झूम-झूम उठते हैं। फालशे की छांव में जब वे क्षणभर अतिथि के साथ बैठते हैं तो अपराह्‌ण समीरण व्यंजन झलता है। छोटी-बड़ी बातें निस्तन्द्र आन्तरिकता को चित्रों में उभारती हैं। ऐसी कोई बात नहीं होती जिससे चेतना के पसीजने की जगह बुद्धि को पसीना आता हो।

किन्हीं दो स्नेही मित्रों को मिलते देख शास्त्री जी की दया कुछ ऐसी हो जाती है—"जैसे कपास के गोले को हवा के झीने-झकोरे ने गन्ध की उँगलियों से भरपूर छू दियो हो; जैसे हरी-भरी पत्तियों के झूमर से किसी

के दिये की लौ झिलमिला उठी हो, मेरे अन्तर के रोएँ-रोएँ पुलकित हो रहे थे।" (पृ० ४८) जब निराला जी पहली बार शास्त्री जी के बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावास के कमरे में आकर उनसे मिलते हैं तो शास्त्री जी को निराला जी के विदा होने के बाद जो अपूर्व अनुभव होता है, उसे उन्होंने इस प्रकार शब्दबद्ध किया है—"काल, पल भर अपना प्रखर प्रवाह निविड़ आनन्द के कगारों से बँध जाने दे। देश, अपना अखण्ड प्रसार इस पथरीले छत के नीचे के आकाश में क्षण भर सिमट जाने दे। मैं अपने उन्मत्त हृदय की यह अननुभूत वेदना तेरे हवाले न करूँगा। आनन्द के इस नील नभ लोभित किरण की तीक्ष्णता मैं हवा को न चुराने दूँगा।

अरी ओ मिट्टी, तेरी उर्वरता की सौगन्ध, मैं आनन्द के ये अश्रुकण यहाँ-वहाँ न बिखेरूँगा।

अरे, ओ आकाश, तेरी नीरवता की शपथ—मैं इस क्षण की सघन समग्रता को युगों तक सँजो-जुगो कर रखूँगा।

यह अनाघ्रात वेदना किन्हीं गीत-स्वरों का व्यंजन बनेगी। यह अनास्वादित आनन्द किन्हीं छवियों का बन्दी बनेगा।" (पृ० ७५) ये थोड़े से उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि शास्त्री जी का मिजाज कैसा है। वे सही में कवि हैं। उन्होंने अपने को 'सुई की नाक में ऊँट समोनेवाला' 'बड़ी मौज से टक्कर लेनेवाला घास का तिनका', 'हवा में गाँठ बाँधनेवाला' आदि न जाने क्या-क्या कहा है। यह सब उन्होंने यों ही नहीं कहा है। वे अपने कवि स्वभाव को अच्छी तरह जानते हैं। इसीलिए उन्होंने, संस्मरणों में अपने को पोर-पोर खोलने की कोशिश की है।

शास्त्री जी अपने संस्मरणों में न तो अपने को गौरवान्वित करते हैं और न पाठकों के मन में करुणा जगाने की कोशिश करते हैं। बचपन के प्रसंगों को लेकर आप शास्त्री जी पर करुणा और दया कर सकते हैं, लेकिन जब शास्त्री जी बताते हैं कि "स्कूल में मैं सबसे भोंदू विद्यार्थी समझा जाता था। मेरा नाम कक्षा में अन्तिम रहता था और मास्टर साहब मुझे अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। एक तो मेरी उमर बहुत छोटी, तिस पर सात-आठ साल तक मैं बुरी तरह तुतलाता था। 'क' को 'त' कहता था और संयुक्त वर्णों के उच्चारण के समय हकलाने और थर-थर काँपने लगता था।" (पृ० १३६) तो आपको यह स्वाभाविक लगने लगता है कि "खजूर की छड़ी से पिटना रोजमर्रा में दाखिल हो गया था, फिर कान, उमेठने और चांटे जड़ने

की तो बात ही क्या।" (पृ० वही) यहाँ अपने को उघाड़ने और नंगा करने की जो चेष्टा है वह शास्त्री जी के संस्मरणकार की अनन्य विशेषता है।

वह लेखक ही क्या जो अपनी खोज-खबर न ले, अपने पर व्यंग्य न करे, अपनी दुर्बलता न उघाड़े। दूसरों के बारे में बताने के क्रम के में; अपने बारे में कुछ कहना/बताना सहज स्वाभाविक है। लेकिन जहाँ दूसरों के बारे में अच्छी बातें कही जाती हैं वहाँ यदि अपनी भी विशेषताएँ ही गिनाई जाएँ; तो हम कहना क्या चाहते हैं, यह समझना मुश्किल हो जायेगा। इसीलिए सस्मरणकार बहुधा दूसरों की अच्छाई बताते वक्त अपनी त्रुटियाँ ही बताते हैं जिससे कि वर्णित व्यक्ति की अच्छाई कनट्रास्ट विधि से अधिक प्रभावशाली ढग से, सामने आये और पाठक यह समझ जाये कि लेखक दूसरों के ब्याज से अपनी बात नहीं कहना चाहता, वरन् दूसरों के प्रसग में अपनी न्यूनताएँ व्यक्त करता है, या आत्मसाक्षात्कार करता है। जब 'सुधा' के सम्पादकीय में एक बार निराला जी ने कालिदास पर एक टिप्पणी लिखी तो शास्त्री जी ने उसका प्रतिवाद लिख भेजा। लेकिन जैसे ही उन्हें मालूम हुआ कि वह टिप्पणी निराला जी की है तो शास्त्री जी की स्वीकारोक्ति है—'टिप्पणी उन्हीं की थी, मालूम होने पर जैसे मेरी विद्या की कश्ती ढलान पर आकर टेढ़ी हो गई।" (पृ० १४) अपने उस समय के अहंकार को याद करते हुए शास्त्री जी कहते हैं—अहं की कैद किसी फंदे या पिंजरे की कैद से कम नहीं होती। वे स्वीकारते हैं कि निराला ने उनके अबोध अस्तित्व को प्रबुद्ध आत्मीयता दी थी। तब की अपनी प्रेरणा के बारे में शास्त्री जी बताते हैं कि वह कभी तीर घाट होती, कभी मीर घाट। अब इससे बड़ा मजाक और क्या होगा कि तब मैंने अंग्रेजी, बंगला और उर्दू में भी कविताएँ लिखने की कोशिश की थी।" (पृ० २२) उस समय शास्त्री जी हिन्दी में जो कुछ भी लिखते थे, उसे वे लगभग 'अनुकृति की विकृति' मात्र मानते हैं।

इस समय के अपने साहित्यिक ज्ञान की चौहद्दी के बारे में उनका ख्याल है कि वह ब्लैक होल की याद दिलानेवाली है। वे अपनी सीमाओं को अत्यन्त निर्मम होकर याद करते हैं। उनके सामने आदर्श बराबर निराला का ही रहा है। तभी तो वे कहते हैं—"ज्योतिपत्र पर चिरन्तन वेदना उकेर सकता तो निराला न होता?"

जिन महानुभावों ने शास्त्री जी को उनकी त्रुटि बतलाई है उनसे वे पिनके नहीं हैं। एक बार 'राका' के किसी अंक में शास्त्री जी ने अपनी दो रचनाएँ प्रकाशित कर दीं। इस पर आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने उन्हें

एक पत्र लिखा। शास्त्री जी ने वह पत्र तो नहीं छपवाया है पर इस प्रसंग में लिखा है—"उनके समान वरिष्ठ पत्रकार को यह असह्य हो गया कि नैवेद्य के थाल में लार चू पड़े। उन्होंने दुरमुस उठाया और कूट-पीट कर मुझे मटियामसान कर दिया।" (पृ० ९१) लेकिन इसके साथ वे भी लिखते हैं—"मगर मुझे सिखावन देना सांभर के इलाके में नमक भेजने के बराबर है।" (पृ० वही)

शास्त्री जी ने इन संस्मरणों में अपने जीवन की कठोर समीक्षा की है। जहाँ उन्होंने अपनी दुर्बलताओं को दुलराया नहीं है, वहाँ वस्तु स्थिति का बड़ा सधा सच्चा आकलन किया है। यह शास्त्री जी ही हैं जो लिख सकते हैं कि "आधी जिन्दगी जंजीरें बजाते गुजर गई। फूँक मारकर चिनगारी में लपट न उठा सका, सांसें जरूर फुला लीं। (पृ० १०९) इस प्रकार अपने अतीत को अपने वर्तमान की कसौटी पर कसना सबके वश की बात नहीं है। लेकिन बिना कसौटी पर कसे स्वर्ण कुन्दन भी नहीं हो सकता।

संस्मरणकार के बारे में, एक जगह शास्त्री की कही हुई उक्ति का ही उपयोग किया जा सकता है। उदय शंकर भट्ट के बारे में लिखते हुए उन्होंने कहा कि उनमें दूसरों के व्यक्तित्व में पैठते समय अपने संस्मरणों को स्थगित करने की सामर्थ्य थी। यह विशेषता एक संस्मरणकार में भी होनी चाहिए। यदि आप अपना व्यक्तित्व लिये-दिये ही किसी पर ढह पड़ें, तो उसको क्या और कितना खोलेंगे। होना तो यह चाहिए कि संस्मरणकार अपने को स्थगित रखे और संस्मरणीय को धीरे-धीरे पूरे आब और रूआब के साथ खुलने दे जैसा कि भट्ट जी शास्त्री जी के साथ करते है—"मुझे गुम्बद पर तनहा परेवे की तरह पंख फड़फड़ाते देख भट्ट जी ताली नहीं बजाते थे, बहुत हुआ तो मोतियों से गुँथते दांतों की किरण से चेहरे पर चिपकी उदासी खुरच देते थे।" (पृ० १०८) यह 'खुरचन की कला' शास्त्री जी में बहुत अधिक नहीं है। वे जब भी किसी स्नेही मित्र, या विराट् व्यक्तित्व के सामने खड़े होते हैं, तो उसे देखते हैं या फिर अपने आपको। अपने आप को देखकर उनके मन में ऐसे ख्याल आते हैं—"मुझ–सा फरामोश तो बस लंगर डालकर अँधेरे समुंदर में पड़ा-का-पड़ा रह जाता है। उसे कोई भी लखलखा होश में नहीं ला पाता।" (पृ. ११६) लेकिन जब अपने को नहीं देखते, सामने देखते हैं, तो ऐसी पंक्तियाँ लिखते हैं—"भट्टजी जिस पीराना अंदाज से काफूरी शमा जलाते थे उसमें धुएँ से ज्यादा खुशबू होती थी।" (पृ. ११७) लेकिन कभी-कभी ऐसा भी होता है गो कि कम होता है कि

वे 'स्व' और 'परे' को साथ-साथ देखते हैं। और तब उनके निष्कर्ष कुछ यों होते हैं—"मेरी कठोर भावुकता उनकी तरल बौद्धिकता के समानान्तर खड़ी हुई थी, कभी आसन जमाने की अशिष्टता न की थी; मेरी मुखर चंचलता उनकी निश्शब्द गम्भीरता को घूरती भर थी, हिलकोरने का कौतुक तक न था।" (पृ० ६६) ऐसे स्थलों पर शास्त्री जी में एक अद्भुत संतुलन देखा जा सकता है। जहाँ वे किसी के आमने-सामने, बिल्कुल रू-ब-रू खड़े होते हैं, वहाँ उनकी क्षमता देखते ही बनती है—चाहे वे प्रसाद जी हों, निराला जी हों या नलिन जी। उन्होंने जो लिखा है कि डेढ़ टके के लिवास में बड़-बड़ों के बीच धँस पड़ता था या धुरन्धर दिग्गजों के बीच दाँतों में तिनका लेकर खड़ा हो जाता था, या चुप्पी साधना अपने वश का रोग नहीं है, वह काफी हद तक सच है। तभी तो वे प्रसाद जी से बहस करते, संस्कृत नाटकों की स्वाभाविकता की बात करते हैं, कालिदास की प्रशंसा करते हैं। यहाँ शास्त्री जी दिखाते हैं कि प्रसाद जी उन्हें यह कह कर कि उन्हें कालिदास से भारवि अधिक पसन्द हैं, निरुत्तर कर देते हैं; पर यहाँ शास्त्री जी को प्रसाद को समझने की कुंजी भी मिल जाती है, उनके बहुतेरे संशयों का समाधान भी हो जाता है।

शास्त्री जी शास्त्रों को रेगिस्तान नहीं मानते, अब ओस चाटकर प्यास बुझाने वालों को वे कब्रिस्तान ही जान पड़े, तो वे उनसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहते। इसलिए शास्त्री जी की शास्त्रीयता की जैसी परख है वह हिन्दी में कम लोगों को है। वे नलिन जी की आधुनिकता की विशेषता समझ सके थे जो उनके अनुसार, सघन शास्त्रीयता से फूटी थी। शास्त्रीयता को शास्त्री जी ने खूब परखा है। एक जगह वे स्वीकारते हैं कि शास्त्रों की दिल्ली में बारह बरस भाड़ झोंकने का काम उन्होंने भी किया है। इसीलिये वे शास्त्रीयता की सीमाओं से भी परिचित हैं। उन्होने स्पष्टतः तो नहीं लिखा है; लेकिन उनके सम्पूर्ण लेखन की ध्वनि यही है कि शास्त्रीयता और आधुनिकता का संगम होना चाहिए। जिसके भी कृतित्व और व्यक्तित्व से यह संगम सम्भव हुआ है वह शलाका-पुरुष हो गया है। नलिन जी के प्रति शास्त्री का आकर्षण मुख्यतः इसी आधार पर टिका मालूम पड़ता है। इसीलिए बिहार के शैलीकारों में वे दो ही का नाम लेते हैं शिवपूजन जी का और नलिन जी का।

शास्त्रीयता और आधुनिकता में रचनात्मक संतुलन होना चाहिए, इस पर शास्त्री जी एकाधिक बार जोर देते हैं। प्रसाद का रहस्य समझाते हुए वे यही बात कहते हैं—"कोरी समकालीनता टुच्ची और पोली है, सौन्दर्य-

विहीन शक्ति विध्वंसात्मक और श्मशान की ऊष्मा लिए होती है।" (पृ. ४७) प्रसाद की विशेषता शास्त्री जी इस रूप में स्वीकारते हैं कि उन्होंने शास्त्रीयता को रचना और जीवन में उतारकर उसे सरल और सहज बनाने की कोशिश की। वे प्रसाद को शंकराचार्य और विवेकानन्द के समान आत्मद्रष्टा और शील और संस्कृति के अलौकिक सृष्टा मानते हैं। उनके शब्द हैं—"प्रसाद का 'आनन्द' निरा शास्त्रीय सिद्धांत नहीं, उनकी तरल अनुभूतियाँ से छनकर सद्यःस्नात–सा गीला और ताजा है।" (पृ० ४०).... "इच्छा, ज्ञान और कर्म की समरसता उनके संतुलित जीवन की नींव थी। उनकी उदात्त कल्पनाएँ ऊँचे आचरण के आभिजात्य से ऐश्वर्य प्राप्त करती थीं। उनकी अडिग आस्था शान्त और सुन्दर में गहरे गहरे धँसी हुई थी, तभी तो वह अपने सुख को विस्तृत कर सबकों सुखी बनाने का संदेश दे सके कि जैसे किसी की मीठी मुस्कान देख कर हिमालय की हंसी निर्झर के रूप में फूट कर बह चले।" (पृ. वही) इस प्रकार स्पष्ट है कि शास्त्री जी शास्त्रीयता को एक नितान्त लचीली अवधारणा मानते हैं। वह ऐसी नहीं है कि उसको लेकर अड़ा या अकड़ा जाय।

अब थोड़े में शास्त्री जी की भाषा और शैली-शिल्प आदि पर भी विचार कर लें। शास्त्री जी का गद्य कवि का गद्य है जिसमें वर्णन की अद्वितीयता और मौलिकता है। वे निराला को 'पहाड़-सा ऊँचा समुद्र' और 'समुद्र सा गहरा पहाड़' कहते हैं; दूसरी जगह उन्होंने निराला को डोलता हुआ पहाड़' और 'निस्तरंग सागर' कहा है. निराला को देखना बादल राग का दर्शन करना है। "निराला ने क्षमता की भट्ठी में प्रतिभा को पिघलाया, नित नये सांचों में ढाला, दर्प से दर्द सहा, व्यक्ति को जलाकर व्यक्तित्व निखारा, कवि को मार कर कवित्व का स्तर ऊंचा किया।" उसी प्रकार प्रसाद की कविता का चरित्र विश्लेषण करते समय शास्त्री जी की भाषा का रंगरूप कुछ इस प्रकार का है—"काव्य की नीलिमा एवं दर्शन की पीतिमा ने नीर-क्षीर की तरह घुल-मिल कर प्रसाद की हरियाली उजाली की।" (पृ० ६०) लेकिन जहाँ वे ऐसी, कवियों सी, रंगीन भाषा लिखते हैं वहाँ सधी भाषा में संगत सवाल भी उठाते हैं—"क्या प्रसाद का कवि मूलतः भोगी था, जिसे योगी बनाते-बनाते वह टूट गए? क्या प्रसाद का मन विशुद्ध सौंदर्योपासक था, जिसे कल्याणी करुणा और समरसता न पची और वह बिखर गया?' (पृ० वही) ऐसे सवालों का थोड़े में उनका जवाब भी बहुत मार्के का है। प्रसाद के सम्बन्ध में उनका यह कहना कितना सही है कि "मन मे कैलास बसा कर तन कितने दिन धूल की मलीनता सहता"

ऐसे अवसरों पर उनकी भाषा कचोट पैदा करनेवाली और व्यंग्यमिश्रित हो जाती है जैसे शिवपूजन सहाय के प्रसंग में यह कहना कि "कुछ दिन 'हिमालय' को भुजाओं पर उठाये रहे, पर किसी 'भण्डार' में हिमालय कब तक खड़ा रहता ?" (पृ० ५८)

शास्त्री जी की भाषा साधारणतः कोमल और धीर ललित है, पर कभी-कभी वह सतेज और ओजस्वी भी हो जाती है जैसे "शिवजी किसी शिवाजी की तलवार न थे, जो सरकारी म्यूजियम में सजेंगे। न वह किसी राजा का प्रण थे जिसकी पूर्ति किसी भामाशाह के सर्वस्व दान के बिना संभव ही न हो।" (पृ० ६०) पर ऐसे स्थलों पर भी उनक भाषा को नम्र होते देर नहीं लगती, जैसे यहीं तुरत लिखते हैं—"काल ने जो खेत जलाया है, उनमें शिव की विभूति रह गई है। अगली बरसात बतलाएगी; नई पौद आसमान में सिर उठाकर कहेगी : जमीन कैसी उपजाऊ है!" (पृ० वही)।

शास्त्री जी की भाषा उनकी दृष्टि का अनुगमन करती है। ज्यों ज्यों दृष्टि गहरी होती जाती है भाषा गोताखोर की तरह विषय और प्रसंगों मे अवगाहन कर मोती निकाल ले आती है। इसीलिए जहाँ पहली दृष्टि मे उन्हें शिवपूजन की साधुता दिखती है वहीं दूसरी दृष्टि में निष्कम्प जलकण मे जीवन का अविनश्वर सागर दिखता है और तीसरी दृष्टि मे यश की जलन और अपयश की धूल झाड़कर कूल पर खड़ी शीतल पुरुषोत्तमता दिखाई देती है। यहाँ तीन दृष्टियों का उल्लेख है, पर दृष्टि एक ही है, ये इसके तीन निक्षेप हैं।

शास्त्री जी की भाषा कहीं-कहीं पर इतनी नपी-तुली है कि आश्चर्य होता है कि एक कवि ऐसी भाषा में कैसे लिख सका। जैसे 'नलिन जी क्या गये, विद्या के साथ विवेक गया, ज्ञान के साथ मौन गया, शक्ति के साथ क्षमा गई" या "निराला की मुस्कान मासूम थी, प्रसाद की भावभरी और नलिन की निस्तल।" यहाँ भाषा मे जो कसाव, व्यंजना और प्रभाव है, दर्शनीय है।

शास्त्री जी की कहीं-कहीं शास्त्रीय विषयों या शब्दों का उल्लेख कर भी अपनी शैली को व्यंजनापूर्ण बनाते हैं। जैसे, उनका यह कथन कि "नलिन जी ने वह तान छेड़ी कि मैं अपना ध्रुपद-धम्मार भूल गया, संगीत के ज्ञान के बिना ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। इसी प्रकार ताड़न रागिनी पूरे आलाप-कलाप और मीड़-मूर्च्छनाओं समेत यथा समय सुनाई देती रही।" (पृ० १४३) में भी संगीत की शब्दावलियों द्वारा अपने मनोभावों को व्यंजित

करने की चेष्टा है। इसी प्रकार अपनी 'दाई माँ' के बारे में यह कथन कि– "अत्युक्ति अतिशयोक्तियों को स्वभावोक्ति में परिणत कर उन्होंने अज्ञात रूप से 'अलंकार शास्त्र' में एक उद्‌भट क्रांति की थी।" (पृ० १३८) में अलंकार शास्त्र का उपयोग है।

शास्त्री जी की भाषा बहुरंगी और बहुभंगी है। एक ही पृष्ठ पर जहाँ वे यह लिखते हैं कि 'उसने सर्वज्ञ होकर मौन रहने की साधना की है, और मैंने अल्पज्ञ होकर भी रससिद्ध बातुल बनने की।" (पृ० १३३) वहीं यह भी लिखते हैं—'यह जो अँधेरा उजाले पर हावी हो जाता है, यह जो दोस्ती और मुहब्बत के सीने में भोथी छुरी भोंक दी जाती है, उसकी तरफ से नजर फेर लेना मुझे कुछ जँचता नहीं है।" (पृ. वही। इससे स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार की शैली या शब्द भंडार से उन्हें परहेज नहीं है। लेकिन यह न तो प्रदर्शन के लिए हुआ है और न बनाव सजाव के लिए। शास्त्री जी की भाषा बड़े नैसर्गिक ढंग से अपनी भंगिमा बदलती है, इसलिए बदलाव अखरता नहीं, स्वाभाविक मालूम होता है। उदयशंकर भट्ट के सम्बन्ध में कही गई शास्त्री जी की यह उक्ति कि—"शांति और क्रांति के दो दरबों में न बन्द कर, कुदरत ने, उनके दिलोदिमाग के एक ही खाते में सहेज दिया था।" (पृष्ठ ९५) उनकी भाषा पर खूब लागू है।

शास्त्री जी अपने मनोरम गद्य लेखन में यथावसर कविताओं, शेरों और श्लोकों का प्रयोग कर प्रभाव और जायका दोनों बढ़ा देते हैं। आम-फहम उर्दू भाषा के चुटकीले शेर वे इस प्रकार गूँथते हैं कि पाठक वाह भी कर उठता है और आह भी। इसके साथ बंगला कविताओं की छोटी-छोटी पंक्तियों का भी उपयोग होता है—विशेषकर रवि बाबू की कविताओं की पंक्तियों का, और सबसे बढ़कर अद्‌भुत विशेषणों के प्रयोग जैसे सुन्दरकांडी छलांग, पसली उभार दुर्बलता, विङ्नागी भुजाएँ, दर्प-डँसे लेख, सजल संकल्प नंगी आत्मनिष्ठा, श्वेताम्बरी प्रवचन, गुलगुनी गम्भीरता, कुन्दन प्रतिभा, क्रियाशील मौन, निष्कम्प निष्कर्ष, वज्र-समीक्षा, मैकबेथियन आकांक्षा, पद्‌मसिंही विचित्र मित्र, शीलवान गीत, चन्दनगंधी अस्तित्व, लश्करी बोली, घोंघाकार चिन्तन, विदूषक सा प्रपंची आचरण, प्रौढ़ाई जवानी, रेतीली आँखें, दिव्य दयनीयता। इसके साथ ही विशेष्य विशेषणों की विशेष पदावलियों जैसे गंधभरी कुलांचे लेता मन का मृगछौना, जिसे कहीं पहुँचने की जल्दी न हो; ऐसी निर्मल नील झील में झिर-झिर तिरती-सी जिन्दगी, जैसे जुगनू

आवत्थ की फुनगी धू-धू कर धरती पर गिर पड़े या मध्य सप्तक का निषाद एक ही सांस में मन्द्र सप्तक के निषाद पर उतर आये; ऐसे दुर्वह भार से होते सूने पल, चीख सी तीखी अवाक् किलकारियाँ, ऊँची-ऊँची लाल हरी फुनगियों पर हल्के पाँव उतरता पिछले पहर का सूरज, बिच्छू की पूँछ सी आधुनिक सभ्यता, विषधर की चाल चलने वाली राजनीति, हाथी दाँत को सोने मँढ़वाने वाला समाज, अकेला डंक फुफकार झेलता सोने का जहर पीता निराला, अन्धे महीनों में कभी-कभी निकल आता कोई सूर्योदयी दिन, मुलायम रेत और खुरदरे पत्थर के नुकीले टुकड़ों से गुजरा मन, हिम-डूबे शिखरों और धुंध-भरी घाटियों की सैर कर, डूब उतरा कर किनारा लगा मन, नील निर्जन ताल में स्वर्ण नीरज-सा खिला हुआ दुपहर का सूरज, आकाश-पाताल में भावात्मक एकता सी स्थापित करती हुई धूल, आकाश खंड सी विशाल आँखें, मन के खोखल में दुबका हुआ पंखों की प्रतीक्षा करता विश्वास, डेढ़-टके के लिबास में बड़े बड़ों के बीच धँस पड़ते शास्त्री, धुरंधर दिग्गजों के बीच दाँतों में तिनका लेकर खड़े उन्नीस वर्षीय जानकीवल्लभ बाज के चंगुल में बुलबुल की भाँति बलखाती निराला के पंखे सी नीली नसों वाले शांतिप्रिय द्विवेदी की पतली कलाई, सोम की जुन्हाई में न्हाई सी मस्त हुई कान और आँख की एकाग्रता, हिन्दी गद्य की ऊँचाई के अटूट स्तम्भ शिवपूजन सहाय, अकारण तने सिर को अनजाने झुका देने वाली सरापा सादगी, यश की अगस्त्यी प्यास, मन की सुरसाई भूख, तह की तह रूई के फाहे सी अन्तस्तल में जमी व्यंग्य-विनोद-वृत्ति, भावनाओं से लिपटी अनुभूतियों में सिमटी लाजवन्ती लता सी विद्या, अपने दफ्तर के पर्दों पर आये दिन कितने ही सूरज-चाँद पेंट कराते, इनकम टैक्स बचाने के लिए घाटे पर चलनेवाले साहित्यिक पत्रों के खर्वपति मालिक, रेवड़ियों की तरह सम्मतियाँ तथा शुभकामनाएं बाँटते शिवजी, रत्न बना अंगार, तिड़ी विड़ी होती, ताव दे तो तालू से सटती जीभ, ब्लैक होल की याद दिलाती साहित्यिक ज्ञान की चौहद्दी, बिना छन्द लय के उन्मुक्त गीत जैसा उद्गार, गोधूलि के मटमैले आँचल पर अपना अन्तिम राग बिखेरता थका हुआ सूरज, किसी फूलों वाली डाली से झोंको से झड़कर महमहाते हुए फूलों से उड़ आये पहला गन्धभरा पत्र, आँखों की झील में डूबता हर्ष, जल के तट पर तेल की तरह तिर रहा मोरपंखी विषाद, कार्पेट की तरह लपेट कर मन के खाली कोने में डाल दिया गया मद्धिम दैन्य, मिट्टी के रोयें-रोयें को सिहरा देने वाला बेजार बिलखना, दूनी सूनी आँखों की उदासी मनहूसियत

बरसाते सहमे चौकन्ने से मकान, मोहपगा विवेक, विकल वात्सल्य, दुराई दुनिया की पथराई डगर, लड़खड़ाते सम्हलते पाँव, बचपन का किमाकार संस्कार गगन से अधखुले नयनों में अंजन लगा रहे खंजन, अचेतन सुख में डूबी विसुध व्याकुलता के अचल चरणों में मंजरियों की मंजीर, प्रीति प्रतीति की कुंकुमी स्मृतियों की खिड़कियाँ, रेतीले टीले की तरह ऊपर उठकर भी भीतर से सूखा और खोखला जीवन, रीते खुले में स्वर सरगम साधते सुन्दर विहंग, अगनित ध्वनि तरंगो की वीणा सा मौन, हवा में उड़ते को मन्द पद उतरने का नीलाभ निमन्त्रण देता आकाश-प्रकाश, चाँद के रूपहले किनारे सी मेहरावदार मुस्कान, सुवास का आकाश और रंगीन उमंगों की धरती, खुशहाल पंछी की चहक में बदलता भीड़-भाड़ का काट खानेवाला अकेलापन, मन के गहन गगन की छाती चीरती, उन्मुक्त उड़ती भावना की विहंगिनी, निश्शब्द पीड़ा सी फैलाती हवा, अपरिचय के अवगुंठन में झपककर छिपता किसी का सस्मित मुखमंडल, रेतीली धमनी में दौड़ता हुआ हरा रुधिर आदि न जाने कितनी उक्तियाँ हैं, जो पाठक के चित्त को बाँध-बाँध लेती हैं।

पंतजी के बारे में शास्त्री जी की उक्ति कि "ज्ञान का ताना और कर्म का बाना बुनते हुए उन्होंने जिस पावन प्रकाशकेतन का निर्माण किया है वह उनके व्यक्तित्व के सौध पर सदा लहराता रहता है।" (पृ० ६८) उनके अपने लेखन और जीवन पर भी खूब लागू होता है।

गोड्डा कॉलेज, गोड्डा
(सिंहभूम)

●

ललित संस्मरण के अद्वितीय शिल्पकार : आचार्य शास्त्रीजी

☐ डॉ० रंजन सूरिदेव

संस्मरण, अविस्मरणीय व्यक्ति का केवल आस्थारंजित इतिहास ही नहीं होता, अपितु प्रत्यग्दर्शन-शैली में उसके जीवन-दर्शन का प्रभावक प्रत्युद्भावन भी होता है, जिसमें संस्मरणकार की आत्मानुभूति की अभिव्यंजना तो रहती ही है, संघर्षरत वर्तमान और भावी पीढ़ियों के लिए जिजीविषा और गति-सातत्य के निमित्त प्रेरणा तथा मार्ग-दर्शन के अनेक आयाम भी संवलित रहते हैं।

संस्मरण में, चूँकि संस्मरणकार और संस्मरणीय के जीवन की तदात्मकता अनिवार्य होती है, इसलिए उसमें दोनों के आवृत्त का अनावरण भी आवश्यक होता है, अतएव, इस विधा में संस्मरणकार जहाँ अपने जीवन के रहस्यों को अनावृत्त करता है, वहीं संस्मरणीय के जीवन-गोपन को भी उद्घाटित करता है। यही कारण है कि संस्मरण, साहित्य की रचना-विधाओं में अपना विशिष्ट एवं वरेण्य महत्त्व रखता है। और इसीलिए, संस्मरण का लेखन अनायास साध्य तो होता ही नहीं, सायास साध्य भी नहीं होता, वरन् वह संस्मरण लेखक की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभाओं के समेकित सामर्थ्य पर निर्भर रहता है।

साहित्यिक विधाओं में संस्मरण का मूल्य कभी-कभी उपन्यास से भी अधिक बढ़ जाता है; क्योंकि उपन्यास के तत्त्व इतिहास से अधिक कल्पना पर आधृत और दूराहार्य होते हैं, किन्तु संस्मरण के तत्त्व पूर्णतया ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से अनुभावित जीवनगत ज्ञाताज्ञात वस्तुसत्य या यथार्थ को प्रत्यक्ष

उपस्थित कर देते हैं। संस्मरण में संस्मरणीय के जीवन के अनेक अज्ञात पक्षों का प्रकटीकरण रहता है, इसीलिए अज्ञात की जिज्ञासा से उत्पन्न कुतूहल की शान्ति की खोज पाठकों की सहज और सामान्य मानसिक प्रवृत्ति होती है, अतएव संस्मरण-साहित्य के प्रति, जिसकी हिन्दी में आज भी अपर्याप्तता बनी हुई है, उनका रुचि-उद्रेक असहज नहीं। कुल मिलाकर, साहित्य की रचना-विधाओं में संस्मरण जितनी अधिक दुष्कर और दुःसाध्य विधा है, उतनी ही अधिक जनप्रिय भी है।

अनेकमुखी प्रतिभा के अधीश्वर कविचक्र-चूड़ामणि आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने 'स्मृति के वातायन' (प्रकाशन-काल, प्रथम संस्करण, सितम्बर, १९६८ ई०) नाम से ललित संस्मरणों के सग्रह की प्रस्तुति द्वारा संस्मरणकारों में कूटस्थता आयत्त की है। इस संग्रह में ललित भावों की सृष्टि करने वाले कुल सात संस्मरण-सुमन परिगुम्फित हैं। १. 'निराला-दर्शन', २. 'प्रसाद की याद', ३. 'अजातशत्रु शिवजी', ४. आचार्य नलिनविलोचन शर्मा', ५. 'श्री उदयशंकर भट्ट', ६. पितृदेव तथा ७. 'अजन्ता की ओर'। ये सभी संस्मरण भाषागत लालित्य-योजना और अर्थगत भावप्रौढ़ि की दृष्टि से ललित निबन्ध की गरिमा का संवहन तो करते ही हैं, शास्त्रीजी की बहुश्रुत महाप्राज्ञता का शत-सहस्रमुख डिण्डिमघोष भी करते हैं।

वश्यवाक् शास्त्रीजी की शब्द-साधना अतिशय गम्भीर है। इसीलिए भाषा उनकी वंशवदा है और भाषा-सृष्टि के अपर प्रजापति के रूप में उन्होंने अपने ललित या सुकुमार कोमल भावों को लावण्यदृप्त भाषा में स्वेच्छानुसार विभिन्न चारियों में नचाया है। उनका हिन्दी भारती का वैदुष्य संस्कृत भारती की विशाल सम्पदा से प्रौढ़ और समृद्ध है। इसीलिए, उन्होंने 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' जैसी चुनौती भरी उक्ति को सहज स्वीकार कर गद्य रचना के क्षेत्र में अपनी पार्यन्तिक प्रतिभा का परिचय दिया है और 'स्मृति के वातायन' में तो कहीं-कहीं उल्लास-चटुल प्रवाह-प्रांजल और अलंकृत-ललित गद्य की सृष्टि की दृष्टि स सुख-दुखात्मक रसवादी बाणभट्ट की परम्परा में अपना आधुनिक पुनरधिवास प्राप्त किया। इस सन्दर्भ में 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण (विशेषत: पृ० १३१) द्रष्टव्य है।

शास्त्रीजी ने अपने पितृदेव से कठोर वात्सल्य के प्रति जो श्रद्धाविगलित उद्गार व्यक्त किये हैं, उन्हें पढ़ते समय 'कादम्बरी' के कथा-प्रारम्भ में शुक द्वारा कही गई आत्मकथा की आत्मा मन में दुहरने लगती है। विरोधात्मक

मानसिकता की स्थिति में भी शास्त्रीजी ने पिता के प्रति अभिवादनशीलता और वृद्धोपसेविता जैसे मनु द्वारा निर्दिष्ट आदर्श को जो मूल्य दिया है, उससे सिद्ध है कि वह पुरातन-आदर्शोन्मुख मानवतावादी जीवन दृष्टि के कृतिकार हैं। कहना न होगा कि यथाकथित सात संस्मरणों में 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण ही इस संग्रह का हृदय है, जिसमें मार्मिकता और मनोज्ञता का युगपत् समावेश हुआ है, जो शास्त्रीजी के कथ्य और शिल्पगत रचना-नैपुण्य की पारगामिता का आक्षरिक प्रमाण बन गया है।

शास्त्रीजी की प्रज्ञापूत वैज्ञानिक नैबन्धिक प्रतिभा ध्यातव्य विशेषता यह है कि वह जो कहते हैं; उसे तर्क और प्रमाण या फिर अर्थान्तरन्यास से पुष्ट करते चलते हैं। निरालाजी के संस्मरण में निराला की कला के विषय में उन्होंने अपनी मान्यता अंकित की है : निश्शब्द अर्थवत्ता ही निराला की कला है। इसके समर्थन में वह कहते हैं : 'निराला के दर्प से दर्द सहा, शून्य को शक्ति बना डाला। कला उनकी वेदना के निगूढ़ दर्शन मे निश्शब्द अर्थवती हो गई।' (पृ० ३१) यही कारण है कि निश्शब्द अर्थवत्ता ही निराला की कला है।

इसी प्रकार, शास्त्रीजी ने आचार्य शिवजी के संस्मरण में उनके बारे में लिखा : 'अब कहूँ; उनकी नरमाई बड़ी सख्त थी।' इस कथन में शास्त्री जी का तर्क या अर्थान्तरन्यास इस प्रकार है : 'लोगों को उसकी नरमाई ही मिली। सबने समझा, वह परिमल पराग के मग पर पग रखता था, कीचड़ और काँटे साफ बचा जाता था। पर, वह नरमाई अपने अजातशत्रु अहं के प्रति कड़ाई और रुखाई रखने पर ही स्थायी रूप पा सकी थी, ऐसा मैं समझता था।" (पृ० ६३) इसीलिए उनकी नरमाई बड़ी सख्त थी।

निःसन्देह, विदग्धहृदय शास्त्रीजी अमूल या अनपेक्षित कुछ नहीं लिखते। बिना प्रमाण और तर्क के फतवा देने के आधुनिक सिद्धांत को वह दग्ध दृष्टि से देखते हैं। शास्त्रीजी की तर्कक्षमता उनकी भाषा-भणिति की ही देन है। शास्त्री जी इस अर्थ में अटूट आस्था और अडिग विश्वास से सम्पन्न लेखक हैं कि धर्मबुद्धि और सहज सौन्दर्य-प्रेरणा मानव का अन्तर्निहित सत्य है। अतएव गद्य में या पद्य में शास्त्रीजी का सौन्दर्य बोध और धर्मभाव सदा सर्वत्र उद्ग्रीव रहता है। वह अपने संस्मरणीयों के मूल्यांकन क्रम में आत्म-आश्वस्त रहते हुए भी बार-बार आत्मालोचन के प्रति तत्पर हैं और बिना किसी द्वेषभाव के अधूरे और अवरोधी सत्यों का खण्डन लीलामात्र से करते

दिखाई पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त, उन्होंने अपनी दुर्बलताओं को महनीय बनाने का यत्न नहीं किया है और न अक्षमताओं को गौरव देने के लिए तर्काभासों का सहारा लिया है, न ही संस्मरण का अपने व्यक्तित्व के सम्प्रेषण का माध्यम बनाने की अनपेक्षित लोलुपता प्रदर्शित की है।

यह शास्त्री जी की बहुज्ञता का प्रमाण है कि एक विषय को छूते ही उनकी चित्तवृत्ति पर अनेक विचार इस प्रकार मुखर हो उठते हैं, जिस प्रकार वीणा का एक तार छूते ही उसके बाकी सभी तार झंकृत हो उठते हैं। उनकी सम्पूर्ण विचार-शृंखला आत्म-विश्वास और व्यक्तिगत निष्ठा के आलोक से आभासित है। वह शास्त्र को जनजीवन से जोड़ने के लिए व्यग्र हैं, तो संस्कृत को हिन्दी पर न्यौछावर करने के लिए उत्कण्ठित। अपने संस्मरणीयों के जो बिम्ब वह उठाते हैं, वे साधारण होते हुए भी जाने कितनी वस्तुओं और विचारधाराओं को जोड़ने का माध्यम बन जाते है। अवश्य ही उनकी ललितवाणी ज्ञान की काव्यभाषा बन गई है।

शास्त्रीजी के संस्मरणात्मक निबन्धों में भारतीय एवं भारतीयेतर वाङ्मय के इतने अन्तस्तत्त्व अनुस्यूत हैं कि बिना इनके ज्ञान के उनके उन निबन्धों को ठीक से समझ पाना सम्भव नहीं है। यह तथ्य है कि शास्त्रीजी क ललित निबन्धोपम संस्मरणों के पूरे आस्वादन के लिए विशिष्ट प्रकार की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक संस्कार आवश्यक है। किन्तु जो इससे वंचित हैं, वे भी शास्त्रीजी के संस्मरणों को पढ़कर असन्तुष्ट नहीं होंगे। यह उनके सहज ललित भाषाशिल्प की निजी विशेषता है। उनके इन निबन्धों में भारतीय मनीषा की, चाकचिक्य उत्पन्न करनेवाली ऐसी छवि है, जिससे सामान्य पाठकों की आँखें चौंधियाने लगती हैं और एक ही छवि को विभिन्न रूपों में देखकर पाठक विस्मयाभिभूत हो उठते हैं। किन्तु, जिन प्रबुद्ध पाठकों की आँखें उस छवि को पहचानती हैं, वे आनन्दातिरेक से गद्गद हो जाते हैं और एक ही भावभूमि के भंगिमा-वैविध्य को बार-बार निहार कर भी उनकी चैतसिक आँखें थकती नहीं, अपितु एक अपूर्व मसृणता से मुग्ध हो उठती हैं, साथ ही एक विशेष प्रकार की तृप्तिकर अनुभूति एवं बारम्बार आवृत्ति के आग्रह से भर जाती हैं। इस सन्दर्भ में 'निराला-दर्शन' एवं 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण द्रष्टव्य हैं। 'पितृदेव' शीर्षक संस्मरण का विशेषकर 'डायन माँ' वाला प्रसंग तो मनोवैज्ञानिक गहनता और उसकी विचित्रता की दृष्टि से नितान्त मोहक एवं ततोऽधिक हृदयावर्जक है। कहना न होगा

कि यह प्रसंग जैनेन्द्र कुमार के उपन्यास में प्राप्य विशिष्ट मनोवैज्ञानिक भूमिका का अतिशायी बन गया है।

शास्त्रीजी की भाषा शैली की उल्लेखनीय उपलब्धि यह है कि वह एक ही वस्तु को विभिन्न सन्दर्भों और आसंगों में उपन्यस्त कर उसमें विशिष्ट अर्थवत्ता भर देते हैं—नया आकर्षण उत्पन्न कर देते हैं। उनमें आवृत्ति कहीं भी नहीं है। यह बात दूसरी है कि 'निराला-दर्शन', 'आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, 'श्री उदयशंकर भट्ट', और 'अजन्ता की ओर' शीर्षक व्यक्तिव्यंजक और यात्रापरक संस्मरणो में आचार्य शुक्ल की भाँति बौद्धकता कुछ अधिक है, फिर भी अनुभूतियों की तीव्रता के कारण उनमें रूमानी धरातल पर प्रतिष्ठित गीत्यात्नक तत्त्वों का सुष्ठु समावेश अतिशय हृदयकारी बन पड़ा है। जब कोई बात शास्त्री जी की प्रतिभा को उकसा देती है, तब बहुत सारी बातें उनकी ललित लेखनी से सहज ही फूटती चली जाती हैं और वह उन्हें मर्मवेधक कलावरेण्य पदशय्या में सजते जाते हैं और इस प्रकार उनकी रचना एक विशिष्ट रूप ले लेती है और फिर इसी अर्थ मे वह गीत्यात्मक कही जा सकती है। एक वाग्गेयकार कवि होने के नाते गीति-क्षमता शास्त्रीजी की काव्य-प्रतिभा का असाधारण पक्ष है। राजशेखर ने ऐसे ही काव्यपुरुषों को 'वाग्देव्या रसवल्लभः कहा है।

साहित्य, संगीत, कला और विशेषतया धर्म दर्शन विषयक चूडान्त पाण्डित्य-प्रकर्ष के बावजूद शास्त्रीजी के व्यक्तित्व में सौजन्य और सादगी या साधारणता है। स्वयं उनका जीवन संघर्ष से उत्थान या अन्धकार से ज्योति की ओर अग्रेसर रहनेवाला अथक पथिक रहा है। इसलिए, उन्होंने अपने संस्मरणीयों में वैसे ही व्यक्तियों को अपना आश्रय बनाया है, जिनमें उक्त आदर्श व्यावहारिक रूप में सार्थक हुआ है। कल्पना की ऊँची उड़ान या साधारण-सी बातों को असाधारण बनाकर कहने की शैली को देखकर जनवादी पाठक या समीक्षक शास्त्रीजी को अतिरेचनवादी या 'फैण्टास्टिक' समझने की भूल कर सकता है, किन्तु ऐसी बात नहीं। शास्त्रीजी धरती से नाता तोड़कर आकाशचारी बन जाना या हवा में गाँठ बाँधना कभी नहीं चाहते, दृश्य जगत् के प्रश्नों या समस्याओं से आँखें मूँदकर चिन्मय की महत्ता नहीं समझाते। बल्कि, इसके विपरीत, वह अदृश्य जगत् में विचरनेवाले को पराजित मनोभाव से पीड़ित समझते हैं और आकाश-पाताल में भावात्मक एकता की स्थापना करनेवाली धूल को राग-पराग मानते हैं।

हर साहित्यकार या कलाकार को मजदूर का दरजा देने का जनवादी दृष्टिकोण तो सर्वथा एकांगी है। शास्त्रीजी भी मनुष्य, श्रम और भूख की

बात करते हैं, किन्तु बौद्धिक परिवेश और संस्कार की समस्या को भी वह मूल्यांकित करते हैं। इस सन्दर्भ में उनकी यह अवधारणा सोलहों आने सही है कि 'मछुए और कलाकार एक ही दृष्टि से समुद्र को नहीं देखते। चाँद में धब्बा है, मगर हर धब्बेदार को चाँद नहीं कहते।' (पृ० ३२) सच बात तो यह है कि शास्त्रीजी बेपरवाह मन से साम्राज्यवादियों को ललकारते हैं और उस व्यवस्था के विरुद्ध अपनी आवाज उठाने से नहीं चूकते, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम सामाजिक वैषम्य है। इसीलिए, वह, स्वार्थग्रस्त समाज में शिश्नोदर की समस्या को निर्लज्ज भाव से सुलझानेवाले आधुनिक मनुष्य और मनुष्यता का यथार्थ चित्रण करते हुए लिखते हैं : "यों तो आत्मसंयम सहिष्णुता आदि ऐसे सर्वमान्य धर्म हैं कि जिनके अभाव में मनुष्य को मनुष्य कहलाने का ही अधिकार नहीं है; किन्तु आधुनिक युग के साये में आये हुए मनुष्य ने इतनी चालाकी अच्छी तरह सीख ली है कि वह साफ-सुथरी भाषा से गिरे-गन्दे भावों को, धुली-भड़कीली पोशाक से मैले-ओछे दिल को ढक रखने में हमेशा कारगर हो जाता है। कतरनी की तरह चलती उसकी जबान इतनी तेज और चोखी होती है कि वह अपने बड़प्पन की इमारत बुलन्द रखने के लिए उस पर मनुष्यता की अनुकूल परिभाषा की सुफेदी जल्दी जल्दी पोत सकता है।' (पृ० १२०)

इस प्रकार, शास्त्री जी के यथाप्रस्तुत संस्मरण संस्मरणीयों के न केवल आस्थारंजित इतिहास हैं, अपितु इनमें उन्होंने उनके जीवनगत अनेक ज्ञाताज्ञात वेधक-आह्लादक पक्षों का समुद्रमन्थन किया है और इसी क्रम में भारतीय साधना और संस्कृति के विभिन्न आयामों की विवेचना भी उपस्थापित की है, जिनके द्वारा संस्मरणीयों की अन्तरंगता से परिचय के ब्याज से पाठकों ने ज्ञानकोष की रिक्तता की पूर्ति भी होती है। कुल मिलाकर, यह संस्मरण-ग्रन्थ स्मृतियों के वातायन ही नहीं प्रस्तुत करता, अपितु ज्ञानलोक के भी नये-नये क्षितिजों को संकेतित करता है। निश्चय ही, शास्त्रीजी द्वारा लिखे गये संस्मरण अन्य संस्मरणों से भिन्न अपनी पहचान बनाते हैं। संस्मरणों द्वारा भारतीय जीवन की जातीय संस्कृति पर प्रकाश डालना उनका लक्ष्य है।

अनेकभाषाविद् शास्त्रीजी की व्यंजनागर्भ हिन्दी-भाषा सातिशय प्रभावक तो है ही, किन्तु जहाँ व्यंग्यगर्भ हो उठती है, वहाँ उसके तेवर का तीखापन कुछ और ही होता है। वस्तुतः, शास्त्रीजी की साहित्य-रचना भाषासाधना का पर्याय है। संस्कृत की रसमयता, अँग्रेजी की पौढ़ता, बंगला

की मिठास और उर्दू की चुस्ती से चित्र-विचित्र उनकी भाषा का चरम लक्ष्य है भावों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति। बेशक व्यंग्य की शिष्टता और वक्रोक्ति की विच्छित्ति से विमण्डित शास्त्रीजी की भाषा में शास्त्रीय विवेचन और लोकजीवन की भाषाओं का अद्‌भुत समाहार दृष्टिगत होता है, फिर भी उनकी भाषा इन दोनों प्रकारों की भाषाओं से भिन्न कुछ और ही शोभा का संवहन करती है। व्यंग्य और वक्रता के वैभव से विभूषित सानुप्रास एवं सूक्तिसिक्त भाषा के आवर्जक सन्दर्भ 'स्मृति के वातायन' में पदे-पदे दृष्टिगोचर होते हैं। मुहावरेदारी की कारीगरी तो कोई शास्त्रीजी की भाषा से सीखें !

'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इस औपनिषदिक वाणी का पुनर्विन्यास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के रूप-वर्णन में द्रष्टव्य है : "अंग-रंग से मिलते-जुलते रेशमी कुरते के हिरण्मय आभरण-जैसे आवरण से उनके सत्य का मुँह नहीं ढकता था।" ('निराला-दर्शन', पृ० ११) इस प्रकार, अनेकत्र शास्त्रीजी ने प्राचीन वैदिक और दार्शनिक वाङ्मय की तथ्योक्तियों का अपनी रसभरी भाषा में पुनराख्यान किया है। पाश्चात्य साहित्यशास्त्रियों ने शिष्ट व्यंग्य को 'आयरनी' कहा है, जिसके कतिपय मर्मस्पर्शी उदाहरण 'स्मृति के वातायन' से यहाँ आकृष्ट हैं :

'यों निराला बिकाऊ बैल की तरह खरीदार की खोज में कभी सरे बाजार खड़े न रहे। भटकी भेड़ों को झटपट अपने रेवड़ में मिला लेनेवाले गड़ेरिए ने कभी उनकी तरफ ताकने की भी हिमाकत नहीं की।' ('निराला-दर्शन'; पृ० ३६)

'मैं शास्त्रों को रेगिस्तान नहीं मानता, अब ओस चाटकर प्यास बुझाने-वालों को वे कब्रिस्तान भी जान पड़ें, तो भटकती रूहों की सौगन्ध, मैं उन्हें छेड़कर शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता।' ('प्रसाद की याद' : पृ० ५२)

'साहित्य, संस्कृति और कला के पहरुए या तो अपनी सामर्थ्य का उपयोग राजपद के लिए कर रहे हैं या फिर सेठ-साहूकारों के संरक्षण की गरमाई में मक्खन की टिकिया की तरह पिघल रहे हैं। मलय-समीर के झोंकों में बिजली की कड़क की कहानियाँ गढ़ रहे हैं। प्रकाशक हैं, जो अश्लील गल्प या तृतीय श्रेणी की पाठ्य-पुस्तकों की बटुतोषिणी टीकाएँ माँगते हैं। उच्च कोटि के ग्रन्थ अब भी अमूल्य मुद्रण के मुँहताज हैं। पत्र-पत्रिकाएँ गुटों की चारदीवारी खड़ी कर विश्व-साहित्य पर प्रवचन पिला रही हैं।' ('श्रीउदय-शंकर भट्ट' : पृ० १०५)

'आपकी आँखों में पैनी प्रज्ञा की चमक है, किन्तु आपने साहित्य, संस्कृति और कला के क्षेत्र में कभी अपने को एक्सपर्ट नहीं घोषित किया; व्यंग्यपूर्ण मुस्कुराहट के साथ कभी दूसरे प्रतिभाशालियों पर बाज-सी दार्शनिक दृष्टि नहीं डाली; ऐसा घोंघाकार चिन्तन भी नहीं दिया, जो उच्छिष्ट मौलिक और संकीर्ण विश्वजनीन होकर एकमात्र आपके ही महत्त्व पर सोद्देश्य प्रकाश डालता।' (उपवित् : पृ० १०५-६)

"उपर्युक्त घटना के बाद भी उनकी ताड़न-रागिनी पूरे आलाप-कलाप और मीड़-मूर्च्छनाओं-समेत यथासमय सुनाई देती रही।"

शास्त्रीजी का व्यंग्यकार इस अर्थ में श्लाघ्य है कि यह दूसरों को व्यंग्य का लक्ष्य तो बनाता ही है, अपने आपको भी नहीं बख्शता है। दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं।

"वस्तुतः मेरा बाल मन बालपन की वास्तविकता से प्रसन्न न हो, कल्पित वयस्कता का अतिरंजित प्रमाण-पत्र पाकर फूला न समाता था। लेन-देन का लेखा-जोखा रखनेवाले और डण्डी मारकर सौदा बेचनेवाले खुद मान-प्रमाण बटोरते फिरते थे, वे मुझे क्या देते? इस तरह जब दिमाग आसमान पर चढ़ा होता, तब ऐसा नहीं मालूम होता कि मैं किसी के पाँव तले की चींटी हूँ।' (निराला-दर्शन' पृ०-२१)

"उन्होंने दुरमुस उठाया और कूट-पीसकर मुझे मटियामसान कर दिया। मगर मुझे सिखावन देना साँभर के इलाके में नमक भेजने के बराबर है। मेरा भेजा परकार से नापकर नहीं बनाया गया, खुरदुरा और अनगढ़, शायद इन्हीं दो शब्दों से उसकी नोकें नापी गयी होंगी।"

(आचार्य नलिनविलोचन शर्मा, पृ०-९१)

इसी प्रकार रूपक और बिम्बधर्मी सौन्दर्योद्‌बोधक विलक्षण टकसाली शब्दावलियों के प्रयोग भी वागर्थविशेषज्ञ शास्त्रीजी की भाषाप्रौढ़ि के निदर्शक हैं। यथा: 'ककरेजे कगारों पर', टुच्ची-खुरची अनुभूतियाँ (पृ०-९); चलते-चलते कुछ होते चलने का अकल्पित आनन्द' (पृ०-२१), नृम्ण और तेज के काव्यपुरुष, (पृ०-२४), 'आशी-अभिलाषी' (पृ०-४७), 'गलाफाड़ भाषण' (पृ०-४९); 'सरापा सादगी' (पृ०-५७); 'अगस्त्यी प्यास' 'सुरसाई भूख' (पृ०-५८); 'सबकी खीसें में जड़ देते थे' (पृ०-६२); 'अंगार शृंगारी आँखों से' (पृ०-६३); 'हल्केपन की आसूदगी' (पृ०-६९); 'जीभ तिड़ी-बिड़ी होने लगे, ताव दे तो तालू से सट जाय' (पृ०-७०); 'स्फारित-स्फुरित दृष्टि'

(पृ०–७६); 'कनकैये का गगन-विहार' (पृ०–८४); 'पद्मसिंही' विचित्र मित्रों से (पृ०–८७); 'मटियामसान' (पृ०–९१); 'सर्पाकार साये' (पृ०–९३); 'मोर पंखी विषाद' (पृ०–९३); 'जेहन के खंडहर को' (पृ०–९४); 'अन्धी यातनाओं से सँवलाये-से चेहरे पर' (पृ०–९६); 'मोटी अक्ल लटकर लकुटी हो गई थी (पृ०–९८); 'घोंघाकार चिन्तन' (पृ०–१०६); 'चाह की लचती बेल' (पृ०–१०७); 'इकहरे विश्वस्त व्यवहार का' (पृ०–१०८-९); 'सिद्दीक यथार्थ' (पृ०–११७); 'हकीकत को कीमत की आरजू' (पृ०–१३३); प्रक्षोलित अन्तरंग' (पृ०–१३५); 'बेधक वाग्वाणों को ओज सकना' (पृ०–१५०); 'फजूल की बमचख मचाये रहता है' (पृ०–१५५); 'अपरिचय के अवगुण्ठन में' (पृ०–१६३); 'टुच्ची ढोढ़िया' (पृ०–१६३); 'सड़ा बुसा खाकर' (पृ०–१६४); 'विरज आनन्द' (पृ०–१६५) आदि।

निस्सन्देह, कविर्मनीषी शास्त्रीजी ने काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, संस्मरण, यात्रावृत्त आदि अपनी विभिन्न प्रकार की सर्जनात्मक रचना विधाओं की चेतोहर सृष्टि से यह सिद्ध कर दिया है कि वह अप्रतिम शब्दकार हैं। उनके समग्र साहित्य के विशिष्ट प्रयोगों को एकत्र किया जाय, तो उनसे एक सम्पूर्ण 'शास्त्री शब्दकोष' ही रूपायित हो जाय और ऐसा होना ही चाहिए। आधुनिक शोधकर्त्ताओं के लिए यह कार्य तात्त्विक शोध (फण्डामेण्टल रिसर्च) का उत्तम निदर्शन सिद्ध होगा।

●

पी० एन० सिन्हा कालोनी
भिखना पहाड़ी, पटना–८००००६

शास्त्री जी का कहानी-संसार : भाव-द्वार से झाँकता यथार्थ

□ डॉ० रामविनोद सिंह

आज की हिन्दी कहानी जिस दौर से गुजर रही है उसमें समय, जीवन और समस्या अपने विस्तार की अपेक्षा तीक्ष्णता में व्यंजित है। सामाजिक विषमता ने जीवन को अधिक सवेदनशील बना दिया है। इसलिए आज का कथा-लेखक भी घटना से अधिक संवेदना को महत्त्व देता है। इन कहानियों में सीमित परिवेश के सीमित अनुभव को सम्वेदना के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। हमारा जीवन टुकड़ों में विभाजित है। अत: कहानी-लेखक इन टुकड़ों के सहारे ही जीवन को व्यंजित करता है। कहानी-लेखन में शास्त्री जी की दिलचस्पी भी घटना-सृजन की विशालता और निरन्तरता में नहीं है बल्कि भाव को संश्लिष्ट बनाने में है। इसीलिए इनकी कहानियों में भाव का आवेग, अन्तत: सौन्दर्य और शील में बदल जाता है। सम्भवत: यह भी एक कारण है कि इनकी कहानियों को पढ़ते समय प्रसाद जी की कहानियाँ पाठक के मानस में दौड़ने लगती हैं, क्योंकि प्रसाद जी की कहानियों के पात्र भी अपनी भावना का भोग करते हुए कुछ आन्तरिक समस्याओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं। उनकी कहानियों में भावना का भोग विशुद्धत: रोमांटिक दृष्टि का परिणाम है, जिसमें प्रेम का हर अनुभव व्यक्तित्व को समृद्ध करता हुआ दिखलायी पड़ता है। इसलिए प्रसाद जी की कहानियों की समस्या प्रेम और सौन्दर्य की है। शास्त्री जी की कहानियों का भावना-संसार सामाजिक जीवन के तटों को स्पर्श करने का प्रयत्न करता है। प्रसाद जी की कहानियों की दृष्टि जहाँ रोमांटिक है, वहाँ शास्त्री जी की दृष्टि मानवतावादी है।

मैं अपनी बात को थोड़ा विस्तार देना पसन्द करूँगा। रचना में जब भावात्मकता सामाजिक जीवन के यथार्थ को ढकेल कर हाशिए पर खड़ा कर

देती है, तब वह पूरे रचना-कर्म को निरर्थक बना डालती है। लेकिन जब वह जीवन के आवश्यक अंग के रूप में रचना में स्थान पाती है, तब वह रचना को समाजोन्मुख बनाने में उपयोगी बन जाती है। शास्त्री जी को कहानियों में भावात्मकता सृजनात्मक आवश्कता का अंग बनकर आती है। लगभग इसी रूप में प्रेमचन्द के प्रारंभिक दौर की कहानियाँ भी मिलती हैं जिसमें भाव सामाजिक बोध का सहायक तत्त्व बन जाता है। प्रेमचन्द की 'शतरंज के खिलाड़ी'', ''परीक्षा'' जैसी कहानियाँ भी इसी कोटी में आती हैं। सच्चाई तो यह है कि शास्त्री जी की कहानी कला प्रसाद जी की भाव परकता तथा प्रेमचन्द जी की सामाजिकता के सन्धिस्थल पर निर्मित है। इसीलिए ''आकाश दीप'' की चम्पा, ''पुरस्कार'' की मधूलिका, ''सालवती'' की सालवती भाव-जगत् की प्रतिमायें हैं लेकिन शास्त्री जी की ''कानन'' की कानन ''भाई-बहन'' की शान्ति, ''गंगा'' की गंगा सामाजिक दर्द के साथ रचना संसार में खड़ी हैं। इनकी कहानियाँ चतुरसेन शास्त्री, रायकृष्ण दास जैसे कहानीकारों की कहानियों की तरह सामाजिक यथार्थ को कुतरती नहीं हैं, बल्कि उनके सामने जाने का प्रयास करती हैं। अतः इनकी कहानी, कला के लिए भावनानुभूति तथा जीवनानुभूति का सृजन आवश्यक हो गया है। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न कौंध जाता है कि जिस दौर की कहानियों में दांपत्य जीवन की चरमराहट या फिर तीसरे के प्रवेश जैसी ''फार्मूलाबद्ध'' कहानियों में सामाजिक यथार्थ को खोजने का जैसा प्रयास किया गया था क्या उनकी अपेक्षा शास्त्री जी की कहानियाँ सामाजिक जीवन की पीड़ा के निकट नहीं हैं? मुझे तो ऐसा प्रतीत होने लगा है कि आगामी शताब्दी के प्रथम दौर में हिन्दी कहानी पुनः जिन्दगी के उस दौर में लौट जाएगी, जहाँ व्यक्ति की अन्तरग जिन्दगी में आते हुए परिवर्तन के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन की गति की पहचान की जाने लगेगी। व्यक्ति की स्वच्छन्दता को लेकर राजनीतिक बदलाव की वापसी को असम्भव कैसे कहा जा सकता है!

प्रो० मारुतिनन्दन पाठक ने शास्त्री जी पर एक अच्छी पुस्तक का संपादन किया है। इधर के वर्षों में ऐसी सम्पादित पुस्तक देखने को नहीं मिली है। इसमें शास्त्री जी की कहानियों पर एक निबन्ध है, यह निबंध केवल उलझन बुनता है, क्योंकि इसमें जिन कहानियों में केवल भाव की प्रधानता देखी गयी है, क्या वे हिन्दी की कुछेक वैसी कहानियों की तुलना में कमजोर हैं जो वर्तमान से बचकर बार-बार अतीत में लौट आती हैं। लूकाच कहता है कि मार्क्स के अनुसार रचना के लिए अतीत उतना उपादेय नहीं होता, जितना वर्तमान होता है। इसलिए मैं पहले उन कहानियों के रचना-

बोध पर विचार करूँगा, जिनको भाववादी अपने भीतर के संसार को बाहर करने में हिचकते नहीं हैं। वे अपनी पीड़ा या सामाजिक अनुभव को अतीत की घटना में कैद नहीं करते हैं, बल्कि उनको वर्तमान के खुलेपन में शामिल करते हैं। ये भीतर से बाहर आने के कारण हिन्दी की मनोवैज्ञानिक कहानियों से भिन्न हो जाती हैं, जो बाहर से भीतर की ओर उन्मुख रहती हैं। इतना जरूर है कि इन कहानियों के पात्र क्रियात्मक स्तर पर जागरूक प्रयास करते हुए देखे नहीं जाते हैं। उनके जीवन-साधन या साधन की प्राप्ति के लिए प्रयास की सूचना भी कहानियों में नहीं मिल पाती है। लेकिन यह हकीकत है कि अपनी भावनाओं के प्रति सचेष्ट रहने वालों को किसी न किसी प्रकार का अलगाव झेलना पड़ता है।

"कानन" संकलन की पहली कहानी "कानन" है। प्रेम त्रिकोण से बनी इस कहानी की लीला भाव-आवर्त्त से निकल नहीं पाने के कारण मर जाती है। उसकी मौत रचना में करुणा उत्पन्न नहीं कर पाती है क्योंकि भाव की मौत से मानवीय जीवन की सच्चाई की मौत नहीं होती है। लेकिन भाववादी सम्बन्धों के खिलाफ संघर्ष करने की क्षमता से लैश होने के कारण ही ललित कानन के रिश्तों से बंधा नहीं रह पाता है। कानन ललित से प्रेम करती है। ललित की शादी की खबर पाकर वह जीवन की सच्चाई का सामना करती है। किन्तु तब आपकी कानन आज की जैसी नहीं, निरी गधी होती, और आप उसे किसी भी धोबी को सुपुर्द कर सुख की नींद सो सकते थे। "कानन" जीवन-सम्बन्धों के ढीलेपन और ललित के मायावी प्रेम-व्यवहार को समझ पाती है। अतः वह भाव के समुद्र से निकलकर अनुभव के तट पर खड़ी हो जाती है। जाहिर है कि लीला भाव-जगत् की देवी है तो कानन और ललित अनुभव के संसार की प्रतिमायें हैं। अतः इस कहानी में प्रेमानुभूति और जीवनानुभूति का अद्भुत संघर्ष है। "भाई-बहन" में भी भाव-तरगें मिल जाती हैं। लेकिन इन तरंगों की तलहट में अनुभव के कंकड़ हैं। विधवा शान्ति समाज की ईर्ष्या, कामातुर दृष्टि और सामंतवाद के स्वार्थ प्रेरित प्रेम-संस्कार को समझ लेने में भूल नहीं करती है। वह अपने अस्तित्व के प्रति सचेष्ट भी है। अपने अस्तित्व के प्रति सजग व्यक्ति भाव-लहरियों को काटकर अनुभव के आधार पर जीवन का परिणाम निकालता है। अनुभव जीवन-संघर्ष का परिणाम होता है। फिर भी यह कहानी प्रेमचन्द की सामाजिक सरहट तक पहुँचने के पहले समाप्त हो जाती है।

प्रेमचंद के पास सामाजिक अनुभव-बोध को आत्मसात करने का स्वनिर्मित धरातल है। "दोस्त" कहानी में जीवन के आरोह-अवरोह की अधिकता के कारण ऐसा लग सकता है कि कहानी जीवन की कठोर वास्तविकता को नकारने के अवसर की तलाश करती है। वास्तविकता के इन्कार से भरावट-प्रसंग की उद्भावना की सम्भावना बढ़ जाती है। लेकिन सूक्ष्मता से देखने पर विदित होता है कि राजकुमार तथा आनन्द शंकर के अनुभवों, यातनाओं, विभ्रमों के अपने-अपने संसार है। "राजकुमार भाग्यवादी था सही, पर आलसी नहीं था। साफ रास्ता पाकर मंजिल तक पहुँचने का प्रयत्न करने लगा।" इसके विपरीत आनन्द शंकर कर्म-फल पर विश्वास करता था। "देखो. उद्योग के आदर्श का फल। अब भी मान लो कि हम स्वयं अपनी किस्मत के बनाने-बिगाड़ने वाले हैं। मैं मानता हूँ कि मुझे बड़ी कड़ी मिहनत करनी पड़ी, लेकिन उसका नतीजा भी तो बड़ा अच्छा हुआ"—यह कर्म-दृष्टि न तो अनिश्चयवादी मानसिकता की देन हो सकती है और न विशुद्ध भाववादी दृष्टि का परिणाम हो सकती है। इसमें अनुभवों का संश्लिष्ट स्वरूप बोलता है। भाववादी दृष्टि तो निराशा या अवसाद का अंग बनकर निष्प्राण हो जाती है। केसरी जी ठीक कहते है कि 'कोरा यथार्थ साहित्य के काम का नहीं होता है।' इसमें कहानी का भाव-बोध प्रेरणादायक स्थिति में डूबा हुआ है। अत: इसको प्रेरणात्मक भाव-बोध की कहानी कह सकते हैं। किसी के जीवन का अनुभव अनुकरणीय नहीं भी हो, तो वह प्रेरणादायक हो सकता है। अत: यह कहानी जीवन की वास्तविकता के परिपार्श्व में खड़ी है।

"ईश्वर" कहानी में भाव का दवाब अन्त तक बना रहता है, लेकिन यह सामाजिक जीवन के क्रूर व्यवहार मध्यवर्गीय हिपोक्रेसी को व्यंजित करने का प्रयास करती है। नरेन का विद्रोही तेवर, उसकी माँ की बदलती हुई मानसिकता एवं सामाजिक आस्था के विरुद्ध उसकी तल्ख आवाज इस कहानी को एक मजबूत धरातल देती है। "आज ही ईश्वर मेरे घर जायेगा, और नरेन उसी के साथ खेलेगा, कल से फिर स्कूल जायेगा, देखती हूँ आप क्या कर लेते हैं।" जाहिर है कि मूल्यवादी विद्रोह केवल अभाव से उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह सहज जीवन से भी पैदा होता है। मार्क्स के सारे दर्शन अभाव की स्थिति से निकले हैं, लेकिन गाँधीवादी चिन्तन तो अभावहीन परिस्थिति की देन है। इस कहानी में भाव के जल प्लावन के बीच विद्रोह या परिवर्तन का द्वीप निकलता नजर आता है। "पंडितजी" भाववादी संस्कार और

जीवन सत्य का 'धूपछाहीं' विश्वास है। गरीबी अभिशाप भी है और साहस भी। जगमोहन जिस धरातल पर खड़ा है, वह सामंतवादी परिवेश ऐसे साहसी मानस को खिलौने की तरह इस्तेमाल करता है। "हां, अभी पिछले ही साल उसका बाप मरा है, घर में बूढ़ी माँ और एक अधेड़ विधवा बहन भर है। कम्बख्त किसी की एक नहीं सुनता। पेड़ की ऊपरी-से-ऊपरी डाल पर पासी की तरह खर्र-खर्र चढ़ जाता है। और तैरने में तो पूछिए मत, कमाल ही करता है। एक पैसा करीमन सांई ने दे दिया, बस, हँसता-हँसता उसी का सामान लिए तैरता चला जा रहा है। अभावग्रस्त व्यक्ति में धन का आकर्षण अधिक होता है। सुविधाभोगी वर्ग इसका उपयोग करता हुआ गरीब के साहस का अपने हित में उपयोग करने में हिचकता नहीं। अत: यह कहानी गरीब के लाचार मन और सुविधा भोगी वर्ग के आत्म केन्द्रित चरित्र का उद्‌घाटन करती है। अत: यह कहानी भाव-वादी परिवेश से अधिक यथार्थवादी अधिग्रहण के प्रति सचेष्ट है।

कल्पित घटनाओं के सहारे कहानी में जिन्दगी की हकीकत को पहचाना नहीं जा सकता है। जिन्दगी की सही पहचान के लिए सही घटनाओं का आयोजन होता है। इसके अभाव में कहानी मनोरंजन तो कर सकती है, लेकिन स्थायी प्रभाव नहीं छोड़ सकती है। "जीवन-मरण", 'अर्पण' आदि कहानियों को लेकर ऐसा निष्कर्ष चौंकाने वाला नहीं हो सकता है। क्योंकि किसी भाववादी विचार को अनुभव का पर्याय बनाकर प्रस्तुत करना जटिल रचना-व्यापार है। इन कहानियों में ऐसा प्रयास देखने में नहीं आता। सहज जीवन न तो वास्तविक जीवन में सुलभ होता है, न रचना में। फिर ऐसी सहजता से कहानी गढ़ लेने से लेखक-कर्म पूरा नहीं होता है।

इन कहानियों से भिन्न शास्त्री जी ने अपनी कुछ कहानियों को अधिक समाजोन्मुख बनाने की चेष्टा की है। यदि "ईश्वर", "कानन", "जीवन-मरण", "अर्पण" जैसी कहानियाँ सामाजिकता के तल का स्पर्श करती हुई जान पड़ती हैं तो "गंगा", "मीना", "दो-बहन" जैसी कहानियों में सामाजिकता प्रवाह बन गयी है। यह ठीक है कि इन कहानियों में भी जीवन-व्यापार की भरीपूरी तस्वीर नहीं है, फिर भी ये सब पाठक के सामाजिक मानस को झकझोरती हैं। इनकी सामाजिक कही जाने वाली कहानियों में जीवन की वास्तविकता, विविध रंगों के साथ व्यंजित तो नहीं होती हैं, लेकिन

प्रेमचन्द के अन्तिम दौर की कहानियों की तरह निम्न वर्ग अपनी विविधता और कभी-कभी आक्रोश के साथ दिखलायी पड़ जाता है। इन कहानियों की एक विशेषता यह है कि इनकी काल्पनिक घटनायें यथार्थ से शासित हैं। "गंगा" में यथार्थ का शासन सहजता से दृष्टिगोचर हो जाता है। रेणु जी की कहानी में वातावरण मुखर है, प्रेमचन्द में सामाजिकता गतिशील है और शास्त्री जी में परिस्थिति की महत्ता व्यक्त है। इस दृष्टि से "मीना" की रचनात्मक कसावट आकर्षक बन गयी है।

"गंगा" अच्छी सेहत की एक कहानी है जिसमें सामाजिक सन्दर्भ भावनाओं के भीतर आकार ग्रहण करता है। इसमें जीवन-प्रसंगों का बड़ा तीखा अनुभव है। इस कहानी का 'मैं' जितना आत्मकेन्द्रित, दब्बू और आदर्श-निष्ठ है, गंगा उतनी ही मुखर, स्पष्ट एवं साहस से परिपूर्णनारी है। उसके भीतर भी जीवन की उद्दाम इच्छाएँ हैं, लेकिन परिस्थितियों के दबाव ने उसकी दिशा और गति को बदल दी है। फिर भी उसके निराश मन के तह में एक अपराजित प्राणशक्ति है जो परिस्थितियों के भोग को स्वीकारने में सहायक है। वह आर्थिक दबाव से मुक्ति पाने के लिए अपनी देह पर अवांछित एवं अनुमान की भी लकीर खींचने की सुविधा देने में पीड़ा या हिचक का अनुभव नहीं करती है। अपनी देह की अपवित्रता के सवाल पर वह कहती है—"फिर सब तो समझते ही हैं आप। लेकिन विश्वास तो कीजिए मेरा कोई कुसुर नहीं, मैंने हर तरह से मजबूर होकर ही····"। मजबूरी में किसी के साथ देह की यातना को भोगना और मन के साथ किसी को देह समर्पित करना बिल्कुल अलग क्रिया है। लेकिन किसी सिद्धान्तवादी आस्था से प्रभावित 'मैं' उसके जीवन से दूर जाने की बातें कहता है। इस पर वह विचलित नहीं होती, बल्कि व्यंग्य की ओट से उसके साहसी मन को ललकारती है। "माफ कीजिए मुझे। कुछ नहीं तो तमाशे ही देखिएगा। किस तरह लुटती हूँ, सताई जाती हूँ, चीखती हूँ, चिल्लाती हूँ!" वह आगे कहती है कि "अगर इतने से भी जी न भरे, तो देखिएगा—किस तरह यार लोग बाजार छोड़-छोड़कर सस्ती रेट में बढ़िया माल पाने यहां आते हैं। यह नहीं तो भावनात्मक प्रतिक्रिया है और नहीं आक्रोश का कोरा बयान है, बल्कि सामंतवादी मानसिकता से प्रभावित समाज के चरित्र का यथार्थवादी उद्घाटन है। "गंगा" के लिए व्यक्ति से अधिक अर्थ की प्रधानता है। अर्थ प्राप्ति के सहारे वह संकटापन्न स्थिति से मुक्त होना चाहती है तथा इस

स्थिति के कारण उसकी एक देहवादी पहचान भी है। सामंतवादी मानसिकता में नारी-देह का इससे उत्तम उपयोग भी क्या हो सकता है? लेखक ने सभ्य-समाज की मानसिकता पर गहरा व्यंग्य किया है। सामाजिक संरचना में नारी की बिडम्बना है कि पुरुष इसको प्राप्त कर सकता है लेकिन वह अपनी इच्छा के अनुसार पुरुष नहीं पा सकती है। यह "गंगा" की नारी परतंत्रता का नग्न हिस्सा है। लेखक भाव को पीड़ा और फिर पीड़ा को सम्वेदना में पर्यवसित करके इस कहानी को काफी जीवन्त बना देता है। "विनाश के पथ पर" भी सामाजिक यथार्थ-बोध के आसपास की कहानी है। आवश्यक विस्तार, गीता का उपदेश कहानी को कमजोर बनाता है। सुबासिनी के चरित्र में यथार्थवादी सामाजिक स्पन्दन है। यह अच्छी कद-काठी की रचना है। "वेश्या" में भी सामाजिक अनुभवों के गुंजलों का चित्र है।

"मीना" भाववादी संस्कार से विदा होकर सामाजिक दर्द के संसार में प्रवेश करती है। कथा और शिल्प की दृष्टि से यह कहानी शास्त्री जी की अन्य कहानियों से विलग हो जाती है। कथा के धरातल पर दर्द की टीस से भरी इस कहानी में निजी और भीतरी रिश्ते बदल जाते हैं। सामाजिक असंतुलन आत्मीय सम्बन्धों को क्रय-विक्रय की वस्तु में बदल देता है। जीवन के प्रत्येक क्षण का अलग-अलग अनुभव होता है। किन्तु परिणाम के स्तर पर हर क्षण बिकाऊ है। आर्थिक सुविधा से प्रभावित चाचा को पक्षी और आदमी की मौत में फर्क नजर नहीं आता। "गंगा" और "मीना" कहानियों में भौतिक सुविधाओं से आत्मीय रिश्ते के बदलने का दर्द है। गंगा को सामाजिक परिवेश में रखकर एक भोक्ता, नारी के मानस को रखा गया है। इसलिए गंगा की जीवनगत समस्याएँ उन तमाम नारी-समाज की हैं जो आर्थिक विषमता में जीवन व्यतीत करती है। गंगा ने अनेक पुरुषों के सम्पर्क में आकर समझा है कि मानवीय सम्बन्धों के अपने-अपने रूप-रंग होते हैं और अपनी-अपनी विवशताएँ और व्यर्थताएँ होती हैं। "मीना" भी सम्बन्धों की रिक्तता को समझती है। यह प्रेमचन्द के अन्तिम दौर की कहानियों की याद दिलाती है। अगर लेखक इस थीम को अधिक विकसित कर देता, तो निश्चय ही कहानियों की चर्चा के केन्द्र से शास्त्री जी को विलग करना एक अपराध होता। तब शायद प्रेमचन्द को कहने का मौका नहीं मिल पाता "आँख मूँदकर लिखने का इरादा हो तो कविता लिखिए, आँख खोलकर लिखने की ख्वाहिश हो तो कहानी।"

अब तक की प्रकाशित कहानियों में "बाँसों का झुरमुट" को शास्त्री जी की अन्तिम कहानी कह सकते हैं। आलोच्य कहानी उनके कहानी-लेखन की तीसरी मंजिल है। रेणु जी अपनी कहानियों में परिवेश को प्रधानता देते हैं। शास्त्री जी अपनी अन्तिम कहानी में बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों के भिन्न-भिन्न टुकड़े गढ़ते हैं। रेणु जी में परिवेश और पात्र एकात्म चाहें नहीं भी हों, परन्तु मिल जाते हैं। शास्त्री जी की इन कहानियों में पात्र पहली नजर में यह स्पष्ट रिपोर्ताज लग सकता है। इनमें धार्मिक और सामाजिक विश्वासों पर व्यंग्य किया गया है। रेणु जी के रिपोर्ताज में भावना की एक छोटी दुनिया बन जाती है। शास्त्री जी के इस प्रयोग में भावना या विचार बन नहीं पाता। अतः रपट और रिपोर्ताज से विलग यह कोलाज लगता है। जाहिर है कि इस कहानी में वे शिल्प प्रयोग के प्रति सचेष्ट हैं। इतना स्पष्ट है कि प्रेमचन्द की तरह शास्त्री जी कहानी-लेखन में लम्बी दूरी तय नहीं कर पाते हैं।



हिन्दी विभाग,
मगध विश्वविद्यालय
बोधगया (गया)

गद्यकार आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

—डॉ०कमला कुमारी

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री हिन्दी के एक विशिष्ट गद्यकार हैं, जिनकी पहचान अलग और अपनी तरह की है। उनकी कविता पर आरम्भ से ही आलोचनात्मक दृष्टि से लिखा जाता रहा है, किन्तु उनके गद्य-साहित्य पर बहुत कम लिखा गया है जबकि कविता के साथ और समानान्तर स्तर पर वह गद्य में भी आरम्भ से ही लिखते रहे हैं और उन्होंने अनेक बहुमूल्य कृतियों के माध्यम से हिन्दी गद्य की विभिन्न विधाओं को समृद्ध किया है। उन्होंने गद्य को एक ऊँचाई प्रदान की है। उनकी समग्र गद्य-रचनाओं को देखने पर इस निर्णय में थोड़ी कठिनाई का अनुभव होता है कि वह कवि-रूप में आगे हैं या गद्यकार के रूप में। यह एक विरल संयोग है कि एक ही व्यक्ति के दोनों रूप समान स्तर पर विशिष्ट हों, ऐसा संयोग कम बन पाता है।

जब कोई कवि गद्य के क्षेत्र में आता है तो उसकी काव्यात्मक विशेषता गद्य में भी आती है, फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह अच्छा गद्यकार भी हो। किन्तु शास्त्री जी के गद्य की विलक्षणता यह है कि गद्य की तमाम शर्तों के साथ उसमें काव्यात्मक प्रवाह आया है, जिससे वह समीक्षात्मक ठोसपन के अतिरिक्त पठनीयता के गुणों से भी पूर्ण होता है जो एक रचनात्मक और काव्यात्मक आनन्द के प्रवाह में पाठक को बहा ले जाता है। कुल मिलाकर शास्त्री जी के गद्य में लालित्य का पक्ष सबसे प्रबल है। मुझे यह कहने में कोई झिझक नहीं है कि शास्त्री जी ललित गद्य के अद्वितीय लेखक हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि यह लालित्य लक्ष्य के रूप में नहीं, अपितु आन्तरिक गुण और स्वभाव के रूप में है इसलिए यह उनके गद्य की सभी विधाओं में व्यापक रूप में मिलता है।

गद्य की सबसे बड़ी विशेषता यह मानी जाती है कि वह सूक्ष्मतर भावों और धूमिल चित्रों को भी स्पष्ट करने में समर्थ हो। यह सामर्थ्य उनके गद्य को अद्भुत रूप में प्राप्त है। गहनता और विस्तार के संतुलन के साथ परिदृश्य को पूरी तरह उपस्थित कर देने में शास्त्री जी के गद्य की क्षमता शीर्ष पर है जो हिन्दी के लिए एक उपलब्धि-रूप में है। यह विशेषता और क्षमता उनके गद्य की सभी विधाओं में देखी जाती है। पर्यवेक्षण की शक्ति गद्य को धार देती है। यह शक्ति शास्त्री जी में इतनी प्रचुर मात्रा में है कि छोटी-से-छोटी रेखा को भी वह छूटने नहीं देते और उसे इतनी सफाई तथा महत्त्व के साथ खूबसूरत जगह देते हैं कि उसे अपने सन्दर्भ में पूरी अर्थवत्ता मिल जाती है। छोटी बातों पर भी ध्यान देना लेखक की दृष्टि के पैनापन का लक्षण है, जो शास्त्री जी में खूब है।

उनके गद्य की कई कोटियाँ हैं। जब वह आलोचना लिखते हैं तो उनका गद्य आचार्य-कोटि का होता है, पूरी शास्त्रीय और गहन दृष्टि के गुण और शक्ति लिये हुए गंभीरता से चलता है। ऐसा विशेषतः तब होता है जब वह शास्त्रीय विषय पर लिखते हैं, किन्तु जब कृति और कृतिकार की समीक्षा करते हैं तब रचनात्मकता बढ़ जाती है। वैसे उनकी आलोचना में रचनात्मकता की मात्रा सर्वत्र मौजूद रहती है, भाषा का ललित रूप वहाँ भी पीछे नहीं रहता। विवेचन और प्रस्तुति में एक आचार्य की सूक्ष्मता और सबल तर्क के अतिरिक्त भावक की प्रांजलता और रसवत्ता भी रहती है जिस कारण विषय, कृति और कृतिकार के आन्तरिक स्वरूप को समझने में पाठक को भी आसानी होती है। उनके ये गुण सम्भवतः कवि होने के कारण हैं क्योंकि उन्हें रचना-प्रक्रिया से गुजरने और रचनात्मक बिन्दु के साक्षात्कार का अनुभव है। इस दृष्टि से उनके पूरे आलोचना-साहित्य को देखा जा सकता है, अलग से प्रमाण प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं है। 'साहित्य दर्शन, 'चिन्ताधारा, 'त्रयी' आदि पुस्तकों में विषयगत विविधता में भी उनकी शैली और प्रस्तुति की अलग पहचान स्पष्ट दिखाई देती है।

शास्त्रीजी ने पचास से अधिक कहानियाँ लिखी हैं, इसलिए उनका एक रूप कहानीकार का भी है। कहानियाँ चौथे और पाँचवें दशक में लिखी गई थीं, जो उनके रचनात्मक जीवन का प्रथम चरण है। इन कहानियों का गद्य एक अलग कोटि का है, जो परिवेश और चरित्र से जुड़कर चलता है और जिसका सम्बन्ध भावना तथा यथार्थ दोनों से है। यह शास्त्री जी के रचनात्मक

गद्य की पहचान के लिए आरम्भिक ठोस आधार है, जिससे उनकी शक्ति और सम्भावना का पूरा संकेत मिल जाता है। आगे चलकर उनके गद्य में कला और उभरती चली गई है तथा सामर्थ्य भी सीमान्त को छूने में सफल हुई है।

जब वह उपन्यास के क्षेत्र में आते हैं तब उनका गद्य कई रूपों में उभरता है। इसका कारण है विषय की भिन्नता। इसलिए शास्त्री जी के हर उपन्यास की भाषा भिन्न हो जाती है। 'एक किरण सौ झाइयाँ' आख्यायिका की परम्परा का अधुनातन प्रयोग है, जिसका प्रचलित नाम उपन्यास ही हो सकता है, किन्तु उस परम्परा से जुड़ने का ख्याल कहीं-न-कहीं लेखक के मन में था, इसलिए उसकी भाषा काव्यात्मक हो गई है, क्योंकि इस विद्या में कलात्मक भाषा का ही प्रयोग होता था। फिर भी, इस दृष्टि से भी, शास्त्री जी ने उसे एकांगी होने से बचा लिया है, तत्सम से भिन्न प्रचलित शब्दों को आने की छूट दी है और छोटे वाक्यों को भी सहज रूप में आने दिया है, जबकि वह ऐसा नहीं भी कर सकते थे, क्योंकि संस्कृत पर उन्हें असाधारण अधिकार है और हिन्दी में लम्बे वाक्य लिखने की अपूर्व क्षमता हासिल है, जिसका प्रमाण उसी उपन्यास में मिल सकता है। 'दो तिनकों का घोंसला' की भाषा इससे भिन्न है क्योंकि उसके विषय और वर्ण्य दोनों भिन्न हैं,। वहाँ आन्तरिक विश्लेषण की अपेक्षा बाह्य घटनाएँ और परिवेश प्रबल हैं। वहाँ रचना आत्मगत अभिव्यक्ति की अपेक्षा वस्तुगत अभिव्यक्ति की अधिक माँग करती है। 'कालिदास' ऐतिहासिक उपन्यास है तथा एक महाकवि के जीवन पर आधारित है, इसलिए उसका गद्य उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ग्रहण किए हुए है, क्योंकि उसी के साथ उसे चलना है और उसी का विवेचन करना है। जैसा कि शास्त्री जी की भाषा में उर्दू, अरबी, फारसी और अंग्रेजी शब्दों को अपेक्षानुसार आने की पूरी छूट है, वह छूट वहाँ नहीं मिल सकती, फिर भी समीपी तद्भव को थोड़ा स्थान मिल गया है, जो औपन्यासिक गद्य को आत्मीयता और विश्वसनीयता प्रदान करने में सहायक सिद्ध हुआ है।

शास्त्री जी के गद्य का एक बड़ा भाग आत्मकथा, संस्मरण और यात्रावृत्त के रूप में है। परिमाण में यह जितना अधिक है विविधता भी उसमें उतनी ही अधिक है। नाट्यसम्राट् पृथ्वीराज कपूर, हंसबलाका', 'कर्मक्षेत्रे-मरुक्षेत्रे, 'अष्टपदी' आदि इस विविधता की दृष्टि से ध्यातव्य हैं। खूब मुहावरेदार. विविध भाषाओं से सरक आनेवाले अजोज शब्दों का समावेश, वर्णन और परिवेश से जुड़े आंचलिक शब्दों का उदारतापूर्वक ग्रहण, वाक्य-विन्यास

में जटिलता और सहजता की छटा, वाक्य-रूप खूब लम्बा भी और खूब छोटा भी, अनुप्रास की मिठास, कविता का प्रवाह, कहानी की चुस्ती, महाकाव्य का फैलाव तथा सौंदर्य की उदात्तिता इस गद्य की अनोखी विशेषता है। जो उदात्तता, कहीं एकबारगी आकर्षित करती है। यह विविध भूमियों—कहीं क्लासिकल, कहीं भावप्रवण, कहीं ठोस जमीन पर दिखाई पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह कि वर्ण्य या अभिधेय की छान-बीन में कोई कसर नहीं रखता। इसलिए विविध रूपता की गुंजाइश यहाँ बनती है।

शास्त्री जी के गद्य को देखकर ऐसा लगता है यह विविध घाटियों से गुजर कर आया है और इसमें तरह-तरह के फूलों की खुशबू मिली हुई है। यही आकर्षण का सबसे बड़ा केन्द्र है। ऐसा गद्यकार हिन्दी को मिला है तो यह बड़े सौभाग्य की बात है। विविध दृष्टियों से शास्त्री जी के गद्य की बारीकियों और विशेषताओं को विश्लेषित करने पर अनेक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन हो सकता है, जिन पर अभी तक दृष्टि नहीं गई है।



हिन्दी विभाग,
जे० जे० कॉलेज,
गया

एक असाहित्यिक की डायरी : साहित्य की विरल उपलब्धि

□डॉ० जगदीश विकल

'एक असाहित्यिक की डायरी' आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की ऐसी कृति है जो डायरी होकर भी महज डायरी नहीं है, क्योंकि इस कृति की अभिव्यक्ति के आयामों में अनेक कालजयी रचनाकारों का विस्तृत विश्लेषण भी किया गया है और मूल्यांकन भी। 'एक असाहित्यिक की डायरी' यह शीर्षक विचारणीय है। आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री ने अपने अध्ययन, मनन, चिन्तन, दृष्टि-विस्तार और साधना की समग्रता से साहित्य के इतिहास के पृष्ठों को गौरव का आकार दिया है। 'एक असाहित्यिक की डायरी' शास्त्री जी के संस्मरणों की अभिव्यक्ति है, लेकिन इस कृति में मात्र संस्मरण नहीं हैं।

जो रचनाकार कारयित्री प्रतिभा की प्राणवत्ता से भरा-पूरा होता है उसमें व्यक्ति ही नहीं अव्यक्त रूप से भी किसी भी कृति में कविता की महत् उदात्तता निरूपित करने की क्षमता रहती है। इस कृति में, अगर मुक्त मन और खुली आँखों से पढ़ने का, कृति में निहित अभिव्यक्ति की सूक्ष्मता, बारीकी और कथ्य संयोजन के प्रतीकार्थ को आत्मसात करने का प्रयास किया जाय तो स्पष्टतः कविता की एक लुभावनी और प्राणभूत अन्तर्धारा प्रवाहित होती हुई, शीतलता और उदात्तता बाँटती हुई मिलेगी। यह कृति यानी 'एक असाहित्यिक की डायरी' भी अपवाद नहीं है। इसमें काव्यात्मकता की जीवन्त गतिशीलता बार-बार स्पर्श करती हुई, मन की रिक्तता को गीतों की हार्दिकता से परिपूर्ण करती हुई मिलेगी। काव्यात्मक अनुभूति और संवेदनाएँ इसमें हर कहीं रचनाकार के काव्यात्मक व्यक्तित्व की क्षमता का उत्कर्ष प्रकट करती हैं।

इस गौरव कृति में शास्त्री जी महज मनुष्य के रूप में उपस्थित हैं—जहाँ रचनाकार होने का अहंकार और दम्भ क्या, मामूली स्वाभिमान भी नहीं है।

बस एक करुणा दया और आत्मीयता जो कुलिश की समग्र कठोरता को पिघला देने की व्यापक संवेदना से तर-बतर है। 'आऊँ माँ' शीर्षक में निहित मानवीय संवेदना की छलछलाहटों का संवेदित क्षण अनुभव किया जा सकता है।

'एक असाहित्यिक की डायरी' के प्रारंभ में ही 'काँच की छतरी' में शास्त्री जी स्वीकार करते हैं—"सो निजता बचाने की कीमत चुकानी पड़ी–अंधेरी तनहाइयों में रहकर; उथली गहराइयों में ऊभ-चूभकर। बुनियादी सरोकारों से सुलह संभव न हुई।" यह निर्विवाद सत्य है, कि अपनी निजता की जीवन्तता के आकार में ही कोई रचनाकार सृजन का मौलिक आयाम सृजन-धर्मिता की संवेदना को दे पाता है। निजता या अपने स्व की रक्षा के निमित्त किए गए संघर्ष की उत्पन्न शक्ति से भी बेहतर रचनाओं की अभिव्यक्ति और उनका असरदार सृजन संभव होता है। तुलसी, सूर और मीरा जैसे रचनाकारों ने अपनी निजता के लिए जो संघर्ष किए उनसे तो बेहतर रचनाओं का सृजन संभव हुआ ही, लेकिन निजता की रक्षा कर लेने के बाद ही उनके द्वारा शाश्वत रचनाओं को रच पाना संभव हुआ। मूलतः यही वह मूल वजह है जिसके कारण शास्त्री जी सबसे पहले निजता का अनिवार्य प्रश्न उठाते हैं। निजता की पहचान और उस पहचान की विशिष्टता सृजनकर्त्ता को अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है।

सबसे पहले शास्त्री जी ने इस ग्रंथ में महाकवि निराला की भव्यता, विराटता और उनके व्यक्तित्व के उन पक्षों को उजागर किया है, जिनको जाने बिना निराला जी को जानना संभव नहीं है। शास्त्री जी लिखते हैं—"निराला को देख लेने पर भावान्तर हो गया है। अब अपनी दृष्टि का विश्वास कुहासे की तरह उड़ता दीख पड़ता है। निराला की उल्लवण पदावली, बंकिम वाक्य-विन्यास एवं निगूढ़ ध्वनियों वाली रचनाएँ चाहे जैसी समृद्ध हों, सामान्य जनों को वह सहसा स्वीकार्य न होंगी। लीक पीटने वाले, पूर्वग्रह ग्रस्त, अहम्मन्य आलोचकों को भी नहीं क्योंकि वह देशी-विदेशी सरणियों को ही दुहराते रहने के अभ्यासी होते हैं। *समीक्षा को भी नए-नए उन्मेषों की प्रतीक्षा होती है, उन्हें इसकी आंशिक चिन्ता भी नहीं होती। जैसे प्रत्येक रचनाकार से उसके निजी नए तेवर की अपेक्षा होती है, ठीक उसी प्रकार समीक्षक से भी मौलिक उद्भावनाओं की अपेक्षा रचनाकार को होती है।*"

सच तो यह है कि प्रत्येक अकृत्रिम रचनाकार को आलोचकों की चिन्ता रहती है। प्रत्येक काल खंड में रचनाकार और रचनाओं को आलोचकों की दृष्टि-हीनता, एकांगिता और पक्षधरता का शिकार होना पड़ता है। महाकवि निराला को भी हिन्दी आलोचना की क्रूरता और दृष्टिहीनता का शिकार होना पड़ता है। यहाँ यह अप्रासंगिक होने के बाद भी कहना गैरजरूरी नहीं है कि हिन्दी आलोचना अब तक शास्त्री जी के प्रति न्यायोचित नहीं हो सकी है।

इस ग्रन्थ में सचमुच शास्त्री जी ऐसे दुर्लभ संस्मरणों को हमें सौंपते हैं, जिनसे छायावाद के खास और अनिवार्य रचनाकारों के व्यक्तित्व, उनकी रचना-शीलता और उनके दृष्टिकोण एवं भंगिमाओं को प्रामाणिकता से समझने की शक्ति प्राप्त होती है और सौन्दर्य के उदात्त क्षणों से हमारा साक्षात्कार भी संभव होता है। रचना-कर्म में अभिव्यक्ति के कुछ ही क्षणों में इतनी क्षमता होती है कि सदियों तक वे सृजन क्षण जीवित रहते हैं। साक्ष्य के रूप में निराला जी और शास्त्री जी की वार्ता का एक उदाहरण मैं यहाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

'साकेत' में भी सजल सात्त्विकता है, ऊर्म्मिला वाली आनुषंगिता के बावजूद आपके 'तुलसीदास' में तो उन दोनों से कहीं अधिक है वह,

देखा शारदा नील वसना
है सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरयात्री,
वीण वह स्वयं सुवासित स्वर
फूटी तर अमृताक्षर-निर्झर,
वह विश्व हंस, है चरण सुघर जिस पर श्री।

—जैसी दिव्य और उदात्त एक भी छवि दोनों प्रबन्ध काव्यों में नहीं है। किन्तु यही बात आपकी 'जुही की कली,' प्रसाद जी के 'आँसू' के लिए नहीं कही जा सकती। पंत जी के काव्य को तो सौन्दर्य की किरण-कलिकाओं से सजे एक ईरानी गुलदस्ते अधिक कुछ मानने को जी नहीं चाहता। सुन्दर केवल सुन्दर····।" यद्यपि ऊपर संकलित उदाहरण संस्मरणात्मक हैं, लेकिन निराला, प्रसाद जी, पंत की सृजन-धर्मिता की मूल संवेदनाओं एवं सौन्दर्य प्रतिमानों तक पहुँचने का उससे दिशा-संकेत भी मिलता है।

निराला जी ने उत्तर दिया—"यह दृष्टिकोण मध्य युगीन है। आपको अभी नए युग की हवा नहीं लगी। आपने यूरोप के रोमैंटिक कवियों को भी नहीं पढ़ा। मन लगाकर पढ़ने पर हम लोगों की कविता समझने में मदद मिलेगी। पन्त का स्वर इधर लगातार बदल रहा है····।" इस ग्रन्थ में अभव्यक्ति विचारों से निराला की काव्यात्मक सम्वेदना और उनकी रचना-प्रक्रिया का भी बोध होता है। सबसे बड़ी बात कि निराला, पन्त जैसे रचनाकारों की मूल प्राणवत्ता तक पहुँचने का दिशा संकेत तो होता ही है, उस काल के उन विदेशी रचनाकारों की भी जानकारी मिलती है, जो बड़ी शक्ति और प्राणवत्ता से निराला, पन्त जैसों को भी प्रभावित कर रहे थे।

शास्त्री जी यहाँ एक अत्यन्त ही अनिवार्य सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं और इस प्रस्तुति के द्वारा शास्त्री जी की दृष्टि, सोच और रचनात्मक मूल्यों की जानकारी भी होती है। शास्त्री जी लिखते हैं—नया युग नई सभ्यता, नई संस्कृति गढ़ता हुआ आता है। इसमें प्राचीन का आत्यन्तिक परिहार नहीं होता, परिष्कार अवश्य होता है।" यह निर्विवाद रूप से स्वीकार्य तथ्य है कि कोई भी जीवन और बड़ा रचनाकार परम्परा से सम्पृक्त होकर ही रचना-धर्मिता का अक्षय संस्कार ग्रहण कर सकता है। परम्परा की शक्ति से ही प्रगति और विकास की दृष्टि को आलोक और रचना-पथ मिलता है। यही कारण है कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने परम्परा को नजरअंदाज नहीं किया, वरन् उसका सम्यक अध्ययन कर उससे अपने रचना-संस्कार को नयी शक्ति दी। फलत: वे अपनी रचनात्मक सम्वेदना के व्यापक आयामों के द्वारा कालजयी सिद्ध हुए। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री ने साफ-साफ रवीन्द्रनाथ के काव्यात्मक उत्कर्ष के सन्दर्भ में स्वीकार किया—"रवीन्द्रनाथ कालिदास से, कबीर और चंडीदास—विद्यापति तक की सुदीर्घ परम्परा को कामधेनु के समान दुहते हैं। विदेशी कवियों का चारा डालकर उसका दूध भी बढ़ाते हैं और दूध में नया स्वाद भी पैदा करते हैं। ऐसा सभी करते हैं। कबीर, तुलसी, सूर-सब परम्परा से शक्ति प्रदान कर आगे बढ़े हैं।"

प्रसाद जी से वार्त्ता के क्रम में उनकी कहानी की भाषा-शक्ति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए शास्त्री जी ने कहा है :—"कठोर हृदय-धरणी के वक्षस्थल में यह छोटा-सा करुण-कुंड बड़ी सावधानी से प्रकृति ने छिपा रखा है। इस एक मामूली उदाहरण से ही प्रसाद जी के भाषा-सौन्दर्य, भाषा-शक्ति और

संस्कार की जीवन्तता का बोध हमें हो जाता है । निराला जी की विशेषताओं को अभिव्यक्त करते हुए शास्त्री जी कहते हैं "सो जो हो, निराला के दर्शन मात्र से साहित्य साधना का अर्थ अर्थान्तर-सङ्क्रमित हो गया है। आत्म-विश्वास के कैलास को प्रतिकूल हवाएँ नहीं हिला सकतीं; शनि की अशनि-किरणें श्यामल नहीं कर सकतीं । ध्रुव-दृष्टि तथागत का साक्षात्कार सारी प्राचीन विचार-परम्पराओं को हिलाए दे रहा है" । निराला के व्यक्तित्व और उनके रचनात्मक सौन्दर्य को आत्मसात करना हमारे संस्कार का एक गहन दायित्व होना चाहिए और शास्त्री जी इस दिशा में एक अनिवार्य मददगार के रूप में आज भी हमारे लिए साधना-रत हैं ।

इस पुस्तक के दूसरे खंड में शास्त्री जी घर लौटने के उपक्रम में स्टेशन, भीड़, रिश्ता कायम करने के लिए अपरिचित गाँव और फिर साहित्य के अनेक अनिवार्य और अविस्मरणीय क्षणों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं । किसी भी काल खंड में बेहतर मनुष्य का होना मनुष्यता के अनलिखे इतिहास का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है । हम आज कौमी इतिहास के एक खूँखार निर्मम और मानवीय मूल्यों के विघटन के अत्यन्त ही विद्रूप काल में जीने को लाचार हैं । नेता, देश भक्त, कवि, लेखक, पत्रकारों में भी वे ही बहुसंख्यक हैं जो राष्ट्र की परम्परा, संस्कृति और अस्मिता को विनष्ट करते हुए विजेता की हँसी हँस रहे हैं । अपने अनुभव में शामिल ऐसे अनेक प्रतिबद्ध बुद्धिजीवी और रचनाकारों एवं रहबरों को जानता हूँ, जिनकी कमीनगी के आगे कमीनगी भी मात हैं । हत्या, बलात्कार, लूट और हिंसा की इस नव्य संस्कृति में हम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं और किन लोगों से हमारे रिश्ते जुड़े हैं, यह सवाल क्या अपनी अहमियत नहीं रखता ?

चने चुराने के आरोपित सन्दर्भ को उजागर करते हुए शास्त्री जी एक बेहतर प्राणी हमें सौंपते हैं । एक कम उम्र की लड़की ने समझ और संस्कार की उच्चता से शास्त्री जी को चोर मानने से अस्वीकार किया । इस संवेदना को भी संवेदित करने वाले क्षण की चर्चा करते हुए आचार्य शास्त्री जी की टिप्पणी है—"यथेष्ट शिक्षित होने का दावा करने वाले भी अशिक्षितों को असंस्कृत नहीं प्रमाणित कर पायेंगे । भारत का यह सहज धर्म-दर्शन आँखें खोलने वाला है ।" दुखद स्थिति यह है कि संवेदना को भी गति और आकार देने वाली यह मानवधर्मिता आज विलुप्त होती जा रही है । मेरी दृष्टि में मानव के भीतर मृत्यु के अंधेरे में जी रहे राक्षस को शमित करना और देवता

की दिव्यता को उजागर करना रचनाशीलता का आज सबसे बड़ा दायित्व है। एक छोटी-सी लड़की के माध्यम से शास्त्री जी ने मानव-धर्म और मनुष्यता का बोध तो कराया ही, हमें भीतर झाँकने के लिए प्रेरित भी किया है।

शास्त्री जी की कारयित्री प्रतिभा में गीतात्मकता की गहन व्यापकता है। इसलिए उनके व्यापक रचनात्मक अनुभव संसार में अभिव्यक्ति की संवेदित तरलता क्षणों को भी गीतात्मकता बाँटती रहती है। समय से हम बहुत कुछ पाते हैं, यद्यपि पूर्वजों का ऋण भी हमारे रक्त संस्कार में जीता रहता है और प्रवाहित रहता है। शास्त्री जी एक असाहित्यिक की डायरी के पृष्ठ चौंतीस पर लिखते हैं, "मैंने उत्तराधिकार स्वरूप जो भी प्राप्त किया है—धर्म, दर्शन, कला या साहित्य, वह सब का सब पूर्वजों का ही दिया हुआ नहीं है, उसमें मेरा हरदम मरता जीवन और समसामयिकों का ऋण भी कम नहीं है। टेढ़ी भवों में अटके तिनके और मिचमिचाती आँखों की किरकिरी ने मेरे अन्तर्मन में कुछ कम अँखुए नहीं उगाए हैं।" ऊपर उद्धृत सन्दर्भ से यह बोध स्पष्टतः ध्वनित होता है कि परम्परा और पूर्वजों के दाय को स्वीकारते हुए भी शास्त्री जी अपने समय के सत्य, मनुष्य, संभावना, उपलब्धि और संवेदना के आयामों की महत्ता को अस्वीकार नहीं करते। उनकी कलात्मक उपलब्धियों के मूल्यांकन के क्रम में समय-सापेक्ष संवेदन को खोजा और प्रतीकित किया जा सकता है।

समीक्ष्य पुस्तक के खंड दो में शास्त्री जी धर्म, संस्कृति, राम और कृष्ण जैसी हमारी धरती की आत्मा से सम्पृक्त सन्दर्भों की विभाजक रेखाओं को बड़ी बारीकी, सूक्ष्मता और वस्तुनिष्ठता से अलग करते हैं। उनके अन्तर को स्पष्ट करते हुए चिन्तन का आयाम प्रदान करते हैं। वे लिखते हैं—"मेरा मन कहता है कि धर्म वनस्पति के समान है और संस्कृति वृक्ष के समान। धर्म में फूल-सी सुकुमारता सिरजने की शक्ति नहीं है। कठोर और रूखे तने में ठोस फल लगते हैं। संस्कृति में कलाओं के सुकुमार कुसुम भी खिलते हैं, सदाचार और सद्विचार के मधुर फूल भी लगते हैं।

× × ×

धर्म लालित्य नहीं है, लालित्य संस्कृति की देन है। "राम धर्म हैं; कृष्ण सकल कलाओं की स्नातस्विनी संस्कृति" सहज सुलभ वार्त्ताओं में धर्म, संस्कृति, सभ्यता और मनुष्यता-जैसे कठिन विषयों को भी शास्त्री जी सूत्र-

बद्धता का आकार देकर एक दुर्लभ विश्वास हमें देते हैं। संभवतः किसी बड़े कवि या रचनाकार का अनुभव जीवन और पुस्तक दोनों में व्यापक और विस्तृत होना चाहिए, लेकिन मौलिक दाय की अपनी सुगंध होती है और शास्त्री जी की सृजन क्षमता में इस त्रय का घुला मिला असंभव के बराबर कठिन संयोग है। शास्त्री जी सभ्यता और संस्कृति की मूल्यवत्ता को और अधिक स्पष्ट करते हुए अपना विचार इस तरह अभिव्यक्त करते हैं–"सभ्यता वाह्य विकास और संस्कृति आन्तर प्रकाश है। सभ्यता यांत्रिकता के सहारे पनपती है और संस्कृति मूलभूत आदर्शों की जननी है। कहना न होगा यांत्रिक उन्नति सांस्कृतिक अभ्युदय के लिए आवश्यक और अनिवार्य नही है। एक शब्द में सभ्यता संस्कृति की सहयोगिनी नहीं है।" सचमुच मुझे ऐसा लगता है कि विकसित सभ्यता मानव मानव के बीच विभाजक रेखाएँ खड़ी करता चलता है। सम्भवतः सभ्यता की परिधि में कबीर के ढाई आखर की कोई सार्थकता नहीं है और संस्कृति का अस्तित्व उसके बगैर क्षण भर भी नहीं ठहर सकता।

शास्त्री जी सभ्यता और संस्कृति की परख और विशिष्टता उजागर करने हुए उनकी विभाजक रेखाओं को कालिदास जैसे कालजयी रचनाकार का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए एक प्रश्न इसी क्रम में उठाते हैं—साहित्य का प्रश्न। साहित्य के इस प्रश्न के निमित्त शास्त्री जी गीतिकाव्य की रचना प्रक्रिया का प्रश्न भी प्रस्तुत करते हैं। उनकी अभिव्यक्ति है—"आधुनिक प्रवक्ता साहित्य की स्वतंत्र सत्ता नहीं स्वीकारते और गीतिकाव्य का विषय व्यक्तित्व की ही सार्वभौम अभिव्यक्ति है, ऐसे कवि-व्यक्तित्व की, जो स्वतंत्र चिन्तन के धरातल पर अपनी भावना, कल्पना और अनुभूति को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करने की सामर्थ्य रखता हो। अवश्य इसका यह अर्थ नहीं है कि शेली जैसे क्रान्तिकारी कवि का काव्य मानक गीतिकाव्य नहीं है। न ही इसका यहाँ यह अर्थ है कि समाज, राजनीति और समकालीन परिस्थितियों से गीति कविता प्रेरित प्रभावित नहीं होती, वह निरा वैयक्तिक उद्‌गार, अतिरंजित किन्तु सरस प्रलाप है। नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है।"

यहाँ यह ध्यातव्य है कि हमारी चेतना की समग्रता का निर्धारण हमारी परिस्थिति से होता है। शास्त्री जी का सोच इस चिन्तन परिधि की परिसीमा से परे नहीं है कि परम्पराशीलता को समाज प्रभावित नहीं करता। इस तथ्य को हम भला कैसे नजरअंदाज कर सकते हैं कि जो अक्षर शब्द, ध्वनि संकेत या प्रतीक हम इस्तेमाल करते हैं, उसके निर्माण

कर्त्ता हम स्वयं नहीं है। हमारी अनुभूतियों के संयोजन में भी समाज की एक बड़ी भूमिका रहती है। सामाजिक परिस्थितियाँ तो कभी-कभी रचनाशीलता, अभिव्यक्ति, अनुभूति और सोच के आयामों को अनुकूलित कर लेती हैं। एक हत्यारे और एक कवि की चेतना के अन्तर के मूल मे सामाजिक चेतना के प्रभाव और दबाव का ही अन्तर है। रचनात्मक अभिव्यक्ति अनुभूति और उसका सरोकार समाज-सापेक्ष ही होता है। इसीलिए गीति काव्य व्यक्तित्व की सार्वभौम अभिव्यक्ति कहलाने की सुखद परिकल्पना के बाद भी सामाजिक जीवनधारा से अलग-थलग नहीं है। उन मुश्किल क्षणों में जब चाँदनी रात में सर्प-दंश झेलने की विवशता हो, चन्द्रमा क्या प्यारा और शीतल लगेगा ?

शास्त्री जी ने गीति काव्य बनाम गीत काव्य के द्वारा इन दोनों प्रवृत्ति, संस्कार और रचना प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। साहित्य के गभीर पाठकों में रचना के लिए समझ पैदा करने की खातिर भी यह स्पष्टता विचारणीय है। शास्त्री जी ने गीत और गान का भी अन्तर स्पष्ट किया है, ताकि इन दोनों की आत्मा के अन्तर और इनके स्वभाव सस्कार के अन्तर को लेकर कोई भूल करने की गुन्जाइश नहीं रहे। महाकवि निराला के गीतों की एक बड़ी विशेषता मेरी समझ में यह है कि मनुष्यता और राष्ट्रीय अस्मिता के पक्ष में अनुभूतियों का व्यापक विस्तार किया गया है। निराला जी के गीत विविध विषयों को आत्मसात कर अपनी विशिष्ट पहचान बना सके हैं। ऐसी विविधता शास्त्री जी के गीतों में भी है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि रचना धर्मिता की दृष्टि से शास्त्री जी का अपना व्यक्तित्व सर्वथा मौलिक है। उनके गीतों पर किसी का भी प्रभाव नहीं है। यह सुखद आश्चर्य है कि महाकवि निराला के प्रभाव से भी शास्त्रीजी का रचनाकार मुक्त है। शास्त्रीजी के गीतों की खासियत एक यह भी है कि उनके गीतो में चिन्तन और उद्देश्य भी निहित है। गीति काव्य के सन्दर्भ में उन्होंने अपनी इन पंक्तियों को उद्धृत किया है—

> मेरा भी अपना देश है !
> मैं लक्ष्यहीन चल रहा नहीं,
> मेरा अलक्ष्य संदेश है !

इस बहुस्तरीय कृति यानी 'एक असाहित्यिक की डायरी' में एक अभिव्यक्ति आलेख है—प्रकाश पर्व। दरअसल यह अपनी अभिव्यक्ति प्रक्रिया में

आलेख नहीं,, शब्द चित्र है। शब्द चित्र में अनलिखी कविता या गीतात्मकता भी निहित होती है और इस महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति के अध्ययन के क्रम में काव्य बाध का सहज ही बोध होता है। इस शब्द चित्र में शास्त्री जी का स्वर प्रगतिशील और तेवर क्रांतिकारी ही नहीं, आक्रामक भी हो गया है।

शास्त्री जी की मानवेतर करुणा आज के संश्लिष्ट युग के लिए हमारी आर्ष-परम्परा की खुली चुनौती है। आज का यंत्र-मानव अपनी भावना पर अपनी शुष्क बौद्धिकता का झण्डा गाड़ देने में ही अपनी सार्थकता समझ रहा है। शास्त्री जी ने विश्व को, मानवीय करुणा को बौद्धिक संवेदना की व्यापकता दी है। इस शताब्दी के वे प्रथम साहित्यकार हैं, जिन्होंने इस महान् कृति में मनुष्य के सच्चे संस्कार का साक्षात्कार दिया है। 'एक असाहित्यिक की डायरी' हमारी जातीय साहित्य की सर्वोपरि उपलब्धि है।

अलमस्त निवास,
बलुआटाल,
मोतीहारी (पूर्वी चम्पारण)

एक किरण : सौ झाइयाँ : एक अध्ययन

☐ डॉ० अरुणा ठाकुर

अधुनातन हिन्दी साहित्य में आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री एक विशिष्ट एवं ख्याति-प्राप्त हस्ताक्षर के रूप में प्रसिद्ध हैं। संस्कृत भाषा से हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण करने के उपरान्त अपनी विलक्षण काव्य-संरचना के कारण इन्होंने छायावादी काव्य धारा को समृद्धि प्रदान की। 'राधा' नामक महाकाव्य से इनकी अनूठी काव्यात्मक सृजन-क्षमता का बोध होता है। प्रो० केसरी कुमार ने इन्हें 'बिहार का सबसे विद्वान् कवि' की संज्ञा से विभूषित किया था। मूल रूप से कवि होकर भी कहानी, उपन्यास, आलोचना, नाटक, संस्मरण, आत्मकथा, ललित निबन्ध आदि विधाओं में इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है। साहित्यशास्त्र, दर्शनशास्त्र के साथ संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में इनका बहुआयामी व्यक्तित्व परिलक्षित होता है।

जहाँ इनके काव्य में सौन्दर्य भाव की प्रधानता है, वहीं इनकी गद्य-रचनाओं में सामाजिक यथार्थ के साथ मनोवैज्ञानिक भावनाओं को अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। 'एक किरण : सौ झाइयाँ' शास्त्री जी का प्रथम उपन्यास है, जो मूल रूप से एक गद्यकाव्य-जैसा है, जिसमें सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक स्तर पर संघर्षरत चरित्रों द्वारा विभिन्न मानवीय सम्वेदनाओं को मूर्त किया गया है।

इसकी कथावस्तु असीम नामक निर्धन युवक और धनी युवती नीहाररंजना की जीवन-शैली पर आधारित है। निर्धनता और ऐश्वर्य के दो विपरीत सोपानों के मध्य प्रवाहित होती कथा अनेक सामाजिक और व्यक्तिगत समस्याओं से अवगत कराती हुई उनका सही समाधान भी प्रस्तुत करती है। असीम नीना का अतिथि बनता है पर जब उसे अपनी निर्धनता के उपहास का

आभास होता है, वह आत्मसम्मान की रक्षा हेतु गाँव छोड़कर शहर आ जाता है। शहर में बूढ़े माली जग्गन से शुरू हुई उसकी यात्रा बाल विधवा हिरणी से विवाह पर समाप्त होती है। नीना आधुनिक जीवन पद्धति की विसंगतियों के मध्य भी अपनी परम्परागत मान्यताओं और आदर्शों का पालन करने के कारण आजीवन एकाकीपन का सन्त्रास झेलने को विवश है। अन्य पात्रों में हिरनी, किरण, रुमा, श्यामा, गजराज, महन्त आदि ,आदर्श और यथार्थ की भावभूमि पर उपस्थित होकर जीवन के विविध पहलुओं को पाठकों के समक्ष साकार करने का प्रयास करते हैं।

इस उपन्यास का सर्वाधिक सबल पक्ष इसकी चरित्र योजना है। असीम प्रमुख पुरुष पात्र है और उसके जीवन के उतार-चढ़ावों के मध्य यह कथा आंदोलित होती रहती है। असीम मामा-मामी के आश्रय में पलनेवाला स्नेह-हीन पर स्वाभिमानी और कर्मठ युवक है। निर्धनता से आक्रांत हो वह मामा के घर से भाग कर स्वतंत्र जिन्दगी की चाह में शहर आता है। यहाँ नौकरी की तलाश के क्रम में जब उसे चपरासी से अधिक ऊँचे पद के योग्य नहीं समझा जाता है, तब उसे कपड़े की सभ्यता, जातिगत भेदभाव, सिफारिश और ज्ञानहीन उपाधि से वितृष्णा हो जाती है। अपने स्वाध्याय को निरर्थक मानते हुए वह स्वीकार करता है—"मैंने बिना पैसों की विद्या के पथ की एक लम्बी दूरी तय की है..........नंगे पाँव चलकर। मगर पैसों से पाई जानेवाली डिग्री की छलनी ने मेरी सारी उपलब्धि छानकर छूँछी प्रमाणित कर दी है।"

नीना के आतिथ्य को अस्वीकार करना और बूढ़े माली जग्गन की सहायता द्वारा उसके स्वाभिमान और सहृदय स्वभाव का परिचय मिलता है। उसकी दृष्टि में गरीब का सबसे बड़ा धन ईमान है और सबसे बड़ी ताकत चरित्र है। इसी कारण श्यामा को अपनी बहन मानने पर भी उसकी चरित्र-हीनता से दुःखी और क्रोधित हो वह माली से मिले बिना उसका घर छोड़ देता है। वह कुछ बनना चाहता है पर उसे उसकी विधि मालूम नहीं है। अन्ततः आदर्श और आवश्यकता में आवश्यकता को महत्त्व देकर वह मठ के महन्त की नौकरी स्वीकार कर लेता है। उसकी लेखकीय क्षमता और वक्तृता से प्रभावित होकर महन्त उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित करते हैं पर वह धार्मिक आडम्बर का विरोध करते हुए मठ छोड़ देता है। प्रतिक्रिया स्वरूप महन्त उसे रुपये चुराने के आरोप में जेल भिजवा देते हैं पर धर्मदास और एक नेता के सहयोग से वह आरोप से मुक्त हो जाता है। निर्दोष

धर्मदास को अपना अपराध स्वीकार करते देखकर भी वह उसका प्रतिकार नहीं कर पाता है, यहाँ उसके चरित्र का दुर्बल और स्वार्थी पक्ष प्रकट होता है। पुन: वह एक साम्यवादी पार्टी का सदस्य बन राजनीतिक छिछोरेपन और पार्टी के सिद्धांतों में उलझकर अपने आदर्शवाद का चोला उतार फेंकता है। उसकी इस परिवर्तित मन:स्थिति पर व्यंग्य करती हुई नीना कहती है– "यकीन करो, तुम्हारी आत्मा बिक गयी, भावना लुट गयी और आदर्श मिट गया।" संघर्ष भरे पथ से सफलता की मंजिल तक पहुँचने वाली असीम के मन में वैवाहिक जीवन के प्रति कोई आस्था नहीं है, किन्तु जब हिरणी की सुरक्षा का प्रश्न उठता है, वह उसके वैधव्य को स्वीकारते हुए उसे जीवन-संगिनी की गरिमा प्रदान कर अपने उदात्त रूप का आभास कराता है। इस प्रकार शंकर, सुकरात, गैरिबाल्ड और नेपोलियन के आदर्शों पर चलनेवाला यह पात्र पूर्णत: मानवीय है।

वैभवशाली जमीन्दार परिवार की अविवाहिता और बाईस वर्षीय पुत्री नीना उपन्यास की प्रमुख पात्रा है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से दर्शनशास्त्र में एम० ए० तक की शिक्षा प्राप्त यह अन्तर्मुखी और भावुक युवती अपने पारिवारिक और सामाजिक परिवेश में अपने आपको ढालने में असमर्थ पाती है। उसकी आस्था नैतिकता में है। उसका रूप चन्दन और शील अक्षत है। हिरणी और किरण के विपरीत विचारों के मध्य वह अन्तर्द्वन्द्व का शिकार होती रहती है। जहाँ हिरणी से उसे चारित्रिक शुद्धता की प्रेरणा प्राप्त होती है, किरण उसकी आस्था भंग करने हेतु उसके नारीत्व की पूर्णता पर चोट करती है—"नीना कोल्ड है, दार्शनिक नहीं, बीमार है। उसमें अल्हड़ तरुणाई का उन्माद कहाँ से आए, वह तो Frigidity की शिकार है।" मर्माहत होने पर भी नीना अपने सिद्धांत पर अडिग रहती है। वह मानती है कि "प्रत्येक शीलवती युवती कोल्ड ही होती है। उन्माद उन्माद है, धन का हो या यौवन का।" उसकी सबसे बड़ी चारित्रिक उपलब्धि यह है कि किरण के साहचर्य का उस पर कोई प्रभाव नहीं,पड़ता है, किरण की काम-कला उसकी गरिमा के आगे गौण पड़ जाती है। अपनी सहेली माधवी और उसके भाई मिहिर की उच्छृंखलता से क्षुब्ध हो वह कहती है—शील का किनारा तोड़ देने पर चरित्र का पाट चौड़ा हो सकता है तो क्या जीवन की गहराई का कोई मूल्य नहीं? शील के मूल्य पर मुझे कुछ नहीं चाहिए। देश, समाज या कला की सेवा के कैसे भी बहाने शील के सत्य को कदापि सह्य नहीं।" वह नि:स्वार्थ भाव से समाज सेवा करना चाहती हैं पर स्त्री होने की विवशता

और परिवेशगत बीभत्सता पर खीझ उठती है—"रूप और यौवन पर प्रणय का प्रलयघन न घिरता तो मैं समाज और राजनीति में भी खुलकर भाग लेती पर ऊँचे लोगों की नीच हरकतों, डरावनी मुद्राओं और घिनोने संकेतों ने मुझे घर के दायरे में स्वप्नों में खोई रहने के लिए विवश कर दिया। वर्तमान व्यवस्था में मुझे कोई निष्कंटक मार्ग नहीं सूझता, जिससे चलकर मैं समाज या देश की सेवा में अपने को खपा सकूँ। अभी बाहर की ओर झाँकने पर आँखों में गर्दोगुबार ही भरते देखा गया है—एक हिरणी, सौ शिकारी।" असीम के पलायन के पीछे अपनी गलती का भान और अछूत रुमा से निस्संकोच क्षमा माँगना उसकी सहृदयता एवं उदारता का सबसे बड़ा प्रमाण है। उसका मन-प्रांगण सूना है, क्योंकि उसे कृपापूर्वक घरजमाई बनने वाले पति से नफरत है। वह एक सीमा तक असीम के प्रति आकर्षित है पर अपने आदर्शों से विमुख हो जाने पर उसे वह अपनी दृष्टि से गिरा देती है। वह रानी माँ का दाह-कर्म करना चाहती है पर गजराज द्वारा पालित पुत्री होने की वास्तविकता जान वह अध्यात्मरामायण के पारायण या आत्महत्या पर अपनी दृष्टि केन्द्रित कर लेती है।

हिरणी अर्थात् हिरण्मयी मिश्रा जाति और विद्या से ऊँची, पर माता-पिता के स्नेह से वंचित एक बाल विधवा है जो हर जगह धोखा खाने के बाद जीविका हेतु नीना के चौके मे महाराजिन का काम करती है। वह मन के निग्रह पर बल देती हुई त्यागपूर्वक भोग और अनासक्ति को वैराग्य मानती है। उसकी आत्मा सबल है और निष्काम अध्यात्म ही उसके लिए आनन्द है, उपलब्धि है। जब नीना उसे अपने ऐयाश प्रवृत्ति के मामा के पास जान बूझ कर भेजती है तो उसका विश्वास और मनोबल टूट जाता है। वह अपने शील एवं सम्मान की रक्षा हेतु असीम को अपना पति स्वीकार कर लेती है। उसके रहस्यमय व्यक्तित्व की तुलना ऐसे पत्र से की गई है--"जिसके आरम्भ और अन्त की कुछ अत्यन्त आवश्यक पंक्तियाँ मिट गयी हों, और जो मजमून बच रहा हो, वह और कुछ नहीं, किसी घिसी-पिटी पौराणिक कहानी का अनाकर्षक अंश भर हो।" वह स्पष्टवादी होने के कारण नीना की अन्तरंग सहेली है। उसकी महत्ता नीना के शब्दों में इस प्रकार आँकी जा सकती है—"तूने ही मुझे जीवन का अर्थ संघर्ष नहीं, शांति और सन्तुलन बताया; कर्म का अर्थ घटनाएँ नहीं, ज्ञान की क्रियाशीलता समझाया और उपलब्धि का अर्थ

ऐश्वर्य की प्राप्ति नहीं, आत्मा की मुक्ति है, यह भी आँखें खोलकर दरसा दिया।"

हरिजन युवती रुमा बचपन में ही सगाई टूट जाने के कारण बाल विधवा मानी जा रही है। वह बी० ए० फाइनल की छात्रा और नीना की सहेली है। उसके निर्धन और अभिशप्त जीवन में सवर्णों द्वारा किये गये शोषण से उत्पन्न उत्पीड़न की झलक मिलती है।

अन्य नारी पात्रों में जग्गन माली की पोती श्यामा जहाँ दुश्चरित्रता के लिए निर्धनता का आवरण ओढ़ती है, वहाँ नीना के मामा की चहेतियों में एक किरण आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने के बावजूद स्वेच्छा से अनैतिकता की राह पर बढ़ती है। वह चिरकुमारी है और सेक्स उनके जीवन की मूल प्रेरणा है। विद्यावती, गुणवती और रूपवती होने पर भी वह सच्चाई और अच्छाई के रास्ते पर दो कदम चलने का दावा नहीं कर सकती है। रानी माँ अपने अधेड़ पति की अवहेलना कर पच्चीस वर्ष की उम्र में ही नौकर गजराज से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, क्योंकि एक आदर्श और सरस पत्नी होते हुए भी उनके भीतर की नारी भूखी और सूखी है। उसके दोहरे व्यक्तित्व से अभिजात वर्ग का खोखलापन प्रकट होता है, जो पूजा-पाठ जैसे वाह्याडम्बर को प्रधानता देता है पर भीतर व्यभिचार को प्रश्रय देता है। क्षमा और रमा भौतिक सुविधाओं हेतु अपने सतीत्व का सौदा करती फिरती हैं। इसी प्रकार जमींदार पुलिन बाबू की चारित्रिक भ्रष्टता पर चोट की गयी है जो अपनी नपुंसकता छिपाने हेतु विलास का नाटक खेलते हैं और शादी के नाम पर कई कुमारियों की जिन्दगी बर्बाद करते हैं। गजराज भी एक घृणित पात्र है जो कृतघ्नता की सारी सीमाएँ पार कर चुका है। महन्त राघवानन्द गिरि एक ओर धर्मगुरु और धर्मोपदेशक के रूप में प्रतिष्ठित है पर धर्म और दर्शन के प्रति उनके कथनी और व्यवहार में विरोधाभास है। धर्म उनके लिए साध्य नहीं, वरन् साधन रूप में है। धन के लिए झूठी गवाही, झूठे ताबीज, जड़ी देने में तथा अबलाओं का शीलहरण करने में उनकी आत्मा नहीं काँपती है। अपने अस्तित्व को असुरक्षित देख असीम को झूठे आरोप में फँसाना उनके नरपिशाच रूप का द्योतक है। जग्गन स्वामिभक्त और दयावान है। नीना के मामा भी सामन्ती सभ्यता के प्रतीक पात्र हैं। धर्मदास का व्यक्तित्व असीम की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है क्योंकि महन्त के निर्देश पर वह असीम को फँसा तो देता है किन्तु बाद में प्रायश्चित्तस्वरूप

वह स्वयं निर्दोष होते हुए भी चोरी का अभियोग अपने ऊपर ले लेता है। इस प्रकार केन्द्रीय पात्र से लेकर सामान्य पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं के उद्घाटन द्वारा उपन्यासकार की उत्कृष्ट रचनात्मक क्षमता का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इस उपन्यास में विविध पात्र-पात्राओं की रचना के द्वारा वैविध्यपूर्ण चरित्रों का सटीक आकलन प्रस्तुत किया गया है।

सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत उच्च वर्ग, मध्यम वर्ग और निम्न वर्ग के सही रूपों का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। अछूतों की बस्ती किसनपुर के ग्रामीण परिवेश द्वारा भारत के एक आम गाँव और उसमें व्याप्त जातिगत और वर्ण-व्यवस्था से प्रभावित मानव-समुदाय की पीड़ा को सजीव रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की गयी है। समाज में धार्मिक भावना की प्रधानता दिलाते हुए, इसकी आड़ में किए जाने वाल कुकृत्यों और निर्धनों के शोषण को घृणित सिद्ध करते हुए, धर्म का सच्चा स्वरूप निम्नलिखित रूप में उद्घाटित किया गया है—"किसी मठ या मन्दिर की ऊँचाई धर्म की ऊँचाई नहीं है। धर्म कोई असूर्यम्पश्या राजकुमारी नहीं, जिसे किसी मालदार मठ की मजबूत चहारदीवारी चाहिए। मठ के द्वारा धर्म का व्यवसाय चलाया जा सकता है, धर्म नहीं। जो आवासहीन हैं त्रिदोष और निमोनिया में फुटपाथ पर पड़े हैं, जो अदना सी दवा के बिना दम तोड़ देते हैं, जन्मजात प्रतिभा के बावजूद बगैर फीस के ऊँची तालीम नहीं पा सकते हैं, जो बेरोज-गार हैं और गुमराह हुए जाते हैं, इन सबकी प्रचुर मदद करना ही धर्म है।"

स्वतन्त्र भारत की विषम सामाजिक स्थिति के संदर्भ में शिक्षा के प्रति छात्रों की अरुचि और लाखों युवकों के अन्धकारमय भविष्य पर चिन्ता प्रकट की गयी है। इसमें निर्दिष्ट किया गया है कि पहले के युवकों का लक्ष्य गुलामी की जंजीरें तोड़ना था, जबकि आज उनके सपने अधूरे और लक्ष्यपूर्त्ति असम्भव है। इस परिस्थिति से जूझने के लिए इस उपन्यास में कर्म की ओर अग्रसर होने का लेखकीय सन्देश उपलब्ध होता है।

व्यक्तिवाद और साम्यवाद के तुलनात्मक चित्रण के क्रम में व्यक्तिवाद में बौद्धिक वाद-विवाद की संभावनाओं पर नीना के शब्दों में इस प्रकार बल दिया गया है, जबकि साम्यवाद भौतिक होने के साथ एक प्रकार का एका-धिकारवाद है—"तुम्हारा साम्यवाद भी बहिर्मुख है। वह बाह्य विकास को प्राथमिकता देता है। मेरा व्यक्तिवाद अन्तर्मुख है। वह आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विकास को ही विकास मानता है। निष्पाप सांस्कृतिक साम्य को मैं वांछनीय समझती हूँ, कोरे राजनीतिक और आर्थिक साम्य को नहीं।"

दार्शनिक रूप में जिन्दगी और मौत के मध्य एक सूत सांस का फासला माना गया है। श्वास धरती है, उच्छ्वास आकाश। जीवन और मरण आत्मा की अनन्त यात्रा के छोटे बड़े पड़ाव हैं। इसी क्रम में कहा गया है-- "वासना का स्वाद षड्रस व्यंजन का स्वाद है और वैराग्य का स्वाद विरस भोजन का, प्राणधारण से अधिक जिसका प्रयोजन नहीं; राग तन से मन तक दौड़ लगाता है, यह विराग ही है जो आत्मा का दरवाजा खटखटाता है।"

प्रस्तुत औपन्यासिक कृति में प्राकृतिक सौन्दर्य-सुषमा, कंचनपुर गाँव के माध्यम से गाँवों और कस्बों की जीर्ण-शीर्ण सभ्यता के साथ शहर की चकाचौंध भरी जिन्दगी का चित्र खींचा गया है। कलकत्ता के दक्षिणेश्वर, बेलूर के शान्त वातावरण और परमहंस देव की प्रशांत मूर्त्ति द्वारा होने वाली पवित्र अनुभूति का सार इन शब्दों मे व्यक्त किया गया है--"समष्टि से प्रेम किये बिना व्यष्टि से भी प्रेम नही किया जा सकता और समष्टि का अर्थ समाज या जनता न होकर ईश्वर है।"

मूल रूप से गद्य-रचना होते हुए भी भाषा के सन्दर्भ में इसमें सर्वत्र काव्यात्मक वाक्यों का प्रयोग किया गया है। शास्त्री जी की कहानियों में भाषा गद्य की ठोस जमीन पर स्थिर रहती है पर इस उपन्यास की भाषिक प्रकृति संस्कृत से आयी कथा-आख्यायिका की परम्परा की भाषा-जैसो प्रतीत होती है। अलंकृत शैली, पत्र-शैली और सस्कृतनिष्ठ शब्दों के प्रयोग के साथ ही भावाभिव्यक्ति की क्षमता के कारण उनकी यह पद्यमय भाषा सक्षम, सशक्त एवं जीवन्त प्रतीत होती है।

निष्कर्षत: इस उपन्यास का उद्देश्य समाज को परिवर्तित होती जीवन-धारा के चित्रण और प्राचीन संस्कारों के मध्य प्रगतिशीलता के नये प्रतिमानों की स्थापना करने में निहित है।

वस्तुत: कथ्य और शैली के नये प्रयोगों की दृष्टि से आचार्य शास्त्री का प्रस्तुत उपन्यास वर्तमान हिन्दी उपन्यासों के मध्य अपना एक विशेष स्थान बनाने में समर्थ होता है।



रोसड़ा,
समस्तीपुर (बहार)

बाँसों का झुरमुट : मानवीय संवेदनाओं का आलेख

□ डॉ० विपिन विहारी ठाकुर

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री अधुनातन हिन्दी साहित्य के एक अतिशय मूर्धन्य एवं वरेण्य रचनाकार हैं। इनका साहित्यिक व्यक्तित्व बहुआयामी है। इन्होंने काव्य के साथ ही गद्य साहित्य की विविध विधाओं में भी अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सशक्त कृतियों की रचना की है। इस सन्दर्भ में विशेष रूप से यह उल्लेखनीय हो सकता है कि इन्होंने हिन्दी कहानी-लेखन की दिशा में भी अपनी विशिष्ट रचनात्मक सृजनशीलता का परिचय दिया है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री के चार कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं—

कानन (१६४० ई०), अपर्णा (१६४१ ई०), लीला कमल (१६५५ ई०) और 'बाँसों का झुरमुट'। यद्यपि 'बाँसों का झुरमुट' इनका नवीनतम कहानी-संग्रह है जिसका प्रकाशन आज से मात्र बारह वर्ष पूर्व ही हुआ है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इस कृति में संकलित कहानियों का रचनाकाल १६३५ ई० तक का है। इस तरह ये कहानियाँ आचार्य शास्त्री के युवाकाल की रचनात्मक अनुभूतियों की परिचायक मानी जा सकती हैं। यह शास्त्री जी की चारित्रिक विनमृता ही है कि वे अपनी कहानियों के सन्दर्भ में कोई गर्वोक्ति प्रस्तुत नहीं करते, प्रत्युत् बड़ी सहजता के साथ अपनी धारणा व्यक्त करते हैं। उनकी निम्नलिखित उक्ति उनके कथाकार रूप की इसी विनमृता का बोध प्रदान करती है—

"मैं कोई कहानीकार नहीं हूँ, जो जब-तब रचनात्मक गद्य का एक ऐसा प्रकार प्रस्तुत करता रहा हूँ जिसे कदाचित् कहानी कहा जा सके।"
('लीला कमल' की भूमिका से)

आचार्य शास्त्री ने 'बाँसों का झुरमुट' नामक कहानी-संग्रह की भूमिका 'बैन अटपटे' के अन्त में निम्नलिखित धारणा प्रस्तुत की है—

'—आँख मूँद कर लिखने का इरादा हो तो कविता लिखिए, आँख खोलकर लिखने की ख्वाहिश हो तो कहानी।'

शास्त्री जी की इस उक्ति के माध्यम से उनकी कहानियों की यथार्थवादी प्रकृति का बोध भी निश्चय ही हो जाता है। इस संदर्भ में यह स्थापना दी जा सकती है कि शास्त्री जी की कहानियों की रचना के पीछे उनका प्रत्यक्ष अनुभव और यथार्थ-बोध निहित है। परिणामतः इनकी कहानियों में जीवन के वैविध्यपूर्ण यथार्थ-सन्दर्भों का बड़ा ही विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक अंकन हुआ करता है। दूसरे शब्दों में, इस संकलन की कहानियाँ रचनाकार के व्यापक अनुभवों और मौलिक वैचारिकता से संयुक्त हैं। वस्तुतः कथ्य की वास्तविकता भी इन कहानियों की मूल शक्ति मानी जा सकती है।

'बाँसों का झुरमुट' में ग्यारह कहानियाँ संकलित की गई हैं जिनका कथा-पटल काफी व्यापक है और जिनमें अनेक विध सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और राजनीतिक समस्याओं पर मौलिक अवधारणाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। 'मीना' और 'ईश्वर' शीर्षक कहानियों की मूल संवेदना सामाजिक जीवन में व्याप्त विषमताओं से जुड़ी हुई है। 'मीना' शीर्षक कहानी में मीना नामक तोता के माध्यम से एक ब्राह्मण लड़की मुन्नी के मन की सरलता और भावुकता को उभारा गया है, किन्तु इस कहानी का कथ्य और भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मुन्नी का दुर्भाग्य यह है कि वह एक गरीब, किन्तु आदर्शवादी पिता की पुत्री है जिसकी अकाल मृत्यु से वह परिवार बिल्कुल ही दारिद्रय की स्थिति में पहुँच गया है। मुन्नी की विधवा माँ ने एक कायस्थ के घर में भोजन बनाने का कार्य शुरू कर दिया है। वह अपनी पुत्री के पालन-पोषण और शिक्षा-दीक्षा के निमित्त अपने जाति गौरव के परम्परागत संस्कार को भी झटककर तोड़ देती है जिसके पीछे स्वावलम्बी जीवन जीने का उसका संकल्प ही निहित है। इस सन्दर्भ में उसकी मानसिकता इस रूप में प्रकट होती है—

'बहुत दिनों से मेरी यह साध थी कि जात का झूठा गौरव झटक दूँ, भूख-प्यास से बिलबिलाकर न मरूँ, दुनियाँ पर बोझ बनकर न रहूँ, मिहनत-मजदूरी करके गुजर-बसर करूँ।

यह कहानी अन्तिम रूप से यह प्रभाव छोड़ती है कि आज के परिवेश में मनुष्य के सगे-सम्बन्धी भी प्रतिकूल व्यवहार कर सकते हैं किन्तु पशु-पक्षी उसके प्रति हमेशा सात्त्विक प्रेम का प्रदर्शन किया करते हैं :—

'राम-सीता को घर से किसने निकाला था ?............और जटायु सीताजी को बचाने के लिए अपनी जान पर खेल गया था या नहीं ?

'ईश्वर' शीर्षक कहानी का मूल कथ्य वर्ण-व्यवस्था के कारण उत्पन्न सामाजिक विषमता पर आघात करना है। नरेन ऊँची जाति का सम्पन्न लड़का है जिसकी दोस्ती अपने ही वर्ग के सहपाठी ईश्वर से हो जाती है। जब नरेन के पिता को यह ज्ञात होता है कि ईश्वर भीखन भंगी का बेटा है तब यह क्रोधावेश में उसे पिटवा कर अपने घर से निकाल देता है। इस घटना का बड़ा ही प्रतिकूल प्रभाव नरेन के मन पर पड़ता है और वह ज्वर-ग्रस्त हो जाता है। पिता की अनुपस्थिति में नरेन की हालत बिगड़ती चली जाती है और इसी परिस्थिति में जब नरेन के संतोष के लिए ईश्वर को बुलाया जाता है तब वह यहाँ आने के बावजूद भयवश दरवाजे से ही भाग खड़ा हो जाता है। इस स्थिति से अवगत होने पर नरेन का मानसिक संताप और भी बढ़ जाता है और इस मनःस्थिति में उसके कंठ से जो शब्द निकलते है उनसे भी वर्तमान समाज में व्याप्त जाति भेद की व्यंजना ही होती है।

'बागमती के किनारे', 'बरगद के साये में' और 'रोदन का राग' शीर्षक कहानियों में प्रेम और विवाह की अनुभूतियों को तीव्र संवेदनशीलता के साथ उभारा गया है।

'बागमती नदी के किनारे' शीर्षक कहानी में एक उच्च कुलीन सदाचारी युवक रामचन्द्र के अविवाहित जीवन से उत्पन्न अतृप्ति का अंकन किया गया है। बढ़ती हुई उम्र के कारण रामचन्द्र की शारीरिक शिथिलता भी बढ़ती चली जाती है। विडम्बना यह है कि शारीरिक शिथिलता के बावजूद अविवाहित रह जाने की पीड़ा इस व्यक्ति को भीतर ही भीतर तोड़ती रहती है। एक दिन संध्या में नदी किनारे भगवान का ध्यान करते हुए उसकी दृष्टि बाढ़ के पानी में बहकर आयी हुई एक युवती की लाश पर पड़ती है। वह देखता है कि उसकी माँग में सिन्दूर नहीं है और वह उसके गाँव

की भी नहीं है, वह भागकर घर आता है जहाँ वह ठाकुर जी की गंगा जल से धुली हुई मूर्तियों को पनाले में फेंक देता है, कंठी तोड़ देता है, 'रामायण' और 'सुख सागर' जैसे ग्रन्थों को जलाकर राख बना देता है और अपने एक-मात्र टीन के सन्दूक में पड़े कुछ संजोये हुए लाल पीले कपड़े, माँ के दो-चार टूटे फूटे गहने और सिन्दूर की डिबिया लेकर नदी किनारे पहुँचता है। वह बड़े परिश्रम से उस मृत युवती का शृंगार करता है। उसकी माँग में पाँच बार सिन्दूर भरता है स्वयं पीली धोती पहन उससे गठबन्धन करता है और फिर उसे अपने कलेजे से चिपका कर आँसू बहाने लगता है। यद्यपि प्रस्तुत कहानी की यह परिणति असामान्य जैसे प्रतीत होती है, किन्तु इसके माध्यम से नायक के अनब्याहे रहने की अतृप्ति की तीव्रता की अनुभूति भी प्राप्त होती है। वस्तुतः इस कहानी की विशिष्टता इस रूप में उभरकर प्रकट होती है कि यह नायक के मानसिक द्वन्द्व को बड़ी तीक्ष्णता के साथ प्रस्तुत करती है। इसी तरह 'बरगद के साये में' भी मूलतः एक प्रेम कहानी ही है जिसकी संवेदनशीलता हमें बहुत ही प्रभावित करती है। इस कहानी में राजकुमार नामक एक चौदह वर्षीय किशोर अपनी बुआ के गाँव आता है जहाँ तारा नामक एक किशोरी उसे देखती है और उसके मन में अनुरक्ति का भाव जग जाता है। सात वर्षों के अन्तराल के उपरान्त बी. ए. का छात्र राज-कुमार फिर अपनी बुआ के गाँव आता है और एक दिन संध्या में घूमने के क्रम में देखता है कि एक झोपड़े के सामने एक काली-कलूटी अर्द्ध नग्न अवस्था की औरत को एक मोटा आदमी डण्डे से पीट रहा है। औरत की पीटाई कर रहे उस व्यक्ति को रोकने के बाद राजकुमार को यह ज्ञात होता है कि वही स्त्री तारा है जो मात्र उसे देखने अथवा उससे मिलने के लिए ही ग मी के महीनों में अपने नैहर आ जाया करती है। पति के द्वारा प्रताड़ित किये जाने के बाद तारा की मृत्यु होती है। राजकुमार को जब यह ज्ञात होता है। कि तारा के मन में उसको लेकर आकर्षण और अनुराग का भाव निहित रहा है तब वह हतप्रभ हो जाता है। फिर कई वर्षो के बाद जब वह बुआ के श्राद्ध के अवसर पर इस गाँव में आता है और बरगद के पेड़ के नीचे मन बहलाने के लिए लेटता है तो उसे तारा से सम्बद्ध करुण अतीत याद आने लगता है। इस अवसर पर तारा के मन की प्रेमानुभूति उसके हृदय को अवसाद और करुणा से भिगोने लगती है। इस कहानी की अन्तिम पंक्तियाँ प्रेम की करुण परिणति को बड़ी संवेदनशीलता के साथ उभारती हैं : 'बरगद के एक-एक पत्ते से जैसे किसी का करुण–राग फूटा हो। एक-एक चिड़िया

जैसे अपना जीवन संगीत भूल बैठी हो, उदास, मनहूस वातावरण—सब ओर सायं-सायं, झायँ-झायँ ।' पृ०–४३

'रोदन का राग' संकलन की बड़ी सशक्त कहानी है, जिसमें बाल-विवाह के कुप्रभाव को बड़ी तीव्रता के साथ उभारा गया है। जब ललन अपने मामा के घर पहुँचता है तो बारह-तेरह वर्ष की नन्दरानी से उसका परिचय होता है। नन्दरानी का ब्याह दस-ग्यारह वर्ष की अवस्था में ही हो गया था और अब तीन वर्ष के उपरान्त सत्तू-संक्रान्ति की रात उसकी गौने की बिदाई होने वाली है। माँ के द्वारा सिखलाये जाने पर वह रोने का अभ्यास तो करती है लेकिन राग में रो पाने में वह सफल नहीं हो पा रही है। उसकी ससुराल से एक पत्र आता है, जिसका आशय यह है कि उसका पति प्रमोद सख्त बीमार होकर गया के बड़े अस्पताल में पड़ा हुआ है और एक बार अपनी पत्नी नन्दरानी से मिलने की जिद कर रहा है। चूँकि प्रचलित प्रथा के अनुसार बहू गौने के पहले ससुराल नहीं जा सकती, इसीलिए गया के अस्पताल में ही पति-पत्नी के मिलने की बात तय होती है। जब शाम चार बजे पालकी में बैठकर नन्दरानी गया की यात्रा पर निकलने को होती है तब नकछेदी तिवारी अपने साथियों के साथ शोरगुल करते हुए आते हैं और जबरन नन्दरानी को पालकी से उतार कर घर में बन्द कर देते हैं। धर्म के नाम पर किए गए इस बल प्रयोग के चलते नन्दरानी का अपने पति से मिलना नहीं हो पाता है और अगले ही दिन गया से प्रमोद के मर जाने की खबर आती है। वैधव्य की इस पीड़ा के कारण नन्दरानी बड़े ही करुण स्वर में रोने लगती है। यह कहानी अपने कथ्य के धरातल पर जहाँ एक ओर बाल-विवाह की कुप्रथा की विषमता की ओर संकेत करती है, वहीं दूसरी ओर धर्म के नाम पर अपना वर्चस्व बनाये रखने वाले रूढ़िवादी लोगों की अमानवीय कारगुजारियों पर भी चोट करती है।

'नेता', 'पंडित जी' और 'पैसे की पहचान' शीर्षक कहानियों की मूल संवेदना व्यंग्यात्मकता से युक्त है। 'नेता' शीर्षक कहानी समाज में व्याप्त आर्थिक वैषम्य और शोषण को बेनकाब करती है। इस कहानी में यह दिखाया गया है कि राय बहादुर दमड़ी साहू के भवन निर्माण के सिलसिले में युवा मजदूर सुधुआ की मृत्यु हो जाती है और इसके बावजूद मकान मालिक राय साहब के द्वारा उसके परिवार को कोई मजबूत आर्थिक सहायता नहीं की जाती, बल्कि पैसे के बल पर मजदूरों को अपने प्रभाव में लेकर मामले को रफा-दफा कर दिया जाता है। सुधुआ की इस मौत को राय साहब

के समर्थकों एवं मजदूरों के द्वारा भाग्य का खेल बताया जाता है। सुधुआ की युवा पत्नी अपने रिश्ते के देवर के साथ नयी गृहस्थी बसा लेती है, किन्तु उसकी बूढ़ी माँ असहाय और लाचार बनकर रोती रह जाती है। राय साहब जहाँ अपने पैसे के बल पर सुधुआ की मौत से होने वाले मजदूरों के विरोध को दबाने में सफल हो जाते है, वहीं वे मजदूर नेताओं को भी प्रभावित कर लेते हैं, जिसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सुधुआ की माँ के पक्ष में ये मजदूर नेता भी कोई कदम नहीं उठा पाते और इस ग्रामीण क्षेत्र से अपने संगठन के लिए केवल चन्दे की उगाही की बात ही सोचने लगते हैं। यह कहानी जहाँ एक ओर राय साहब के द्वारा भजदूरों के ऊपर किये जाने वाले शोषण पर चोट करती है, वहीं दूसरी ओर स्वयं मजदूर नेताओं की दायित्वहीनता का भी पर्दाफाश करती है। इन दोनों ही स्तरों पर कथाकार की कथन-भंगिमा व्यंग्यात्मक पैनेपन से युक्त हो गयी है।

'पंडित जी' शीर्षक कहानी में बुद्धिदीन की चारित्रिक दुर्बलताओं पर चोट की गयी है। संध्या में तम्बाकू की पत्ती खत्म हो जाने पर पंडित जी की बेचैनी बढ़ गयी है और वे अपनी इसी जरूरत की पूर्ति के लिए नदी के पार दुखहरण की दुकान से तम्बाकू ले आने का आदेश जगमोहना नामक लड़के को देते हैं। बरसात के मौसम में बाढ़ से उफनती हुई नदी पार करने में पहले तो जगमोहना को हिचकिचाहट होती है किन्तु बाद में वह इसके लिए तैयार हो जाता है। जब तपेश्वर दौड़कर पंडित जी को जगमोहना के डूब जाने की बात कहता है तो वे उसके लिए अपशब्दों का प्रयोग करते हुए अपने दो पैसे बर्बाद हो जाने की चिन्ता व्यक्त करने लगते हैं किन्तु जब जगमोहना नदी पार करके किसी तरह उनके पास पहुँच जाता है तब वे उसकी प्राण-रक्षा के मूल में अपने ही आशीर्वाद का महत्त्व जतलाने लगते हैं। इस कहानी में पंडित बुद्धिदीन की क्षुद्र मनोवृत्ति के जरिए लोभी और स्वार्थी ब्राह्मणों पर यंग्यात्मक चोट की गयी है।

'पैसे की पहचान' शीर्षक कहानी का मूल कथ्य मनुष्य की स्वार्थवृत्ति का पर्दाफाश करना ही है। इस कहानी का नायक अपने छात्र-जीवन के चार-पाँच वर्षों के उपरान्त जब पुनः काशी पहुँचता है तब काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अपने पुराने साथियों के परिवर्तित व्यवहारों को देखकर खिन्न हो जाता है। उसे यह देखकर निराशा होती है कि ब्रह्मदेव, राजकिशोर, रेखाशंकर, कुँवर नक्षत्र राय, विन्ध्याचल आदि उसके सभी

पुराने मित्र उसके सहयोग और उपकारों को पूरी तरह भुला बैठे हैं। जहाँ इन मित्रों की स्वार्थमयता उनके मन को खिन्नता से भर देती है, वहीं दस बारह वर्ष की भिखारिन लड़की के उल्लास को लक्ष्य कर वह प्रसन्नता का अनुभव करता है, क्योंकि उसकी याचना में भी उसे एक आत्मीय लगाव का बोध होता है।

'नचिकेता' इस संकलन की एक अतिशय महत्त्वपूर्ण कहानी मानी जा सकती है जिसकी विशिष्टता दार्शनिक और आध्यात्मिक चिन्तन में निहित है। इस कहानी में जहाँ वाजश्रवस उद्दालक के रूप में एक क्रोधी और अविवेकी पिता का चित्रण किया गया है, वहीं नचिकेता के रूप में एक निस्पृह और निष्ठावान तपस्वी बालक का चरित्र उभारा गया है। नचिकेता के प्रति पहले जो यमराज बड़े ही स्नेह भाव का परिचय देते हैं और फिर अपनी ओर से तीन वर देते हुए उसे जीवन के गूढ़ रहस्यों का ज्ञान भी प्रदान करते हैं। यमराज के कथन के माध्यम से कहानीकार शास्त्रीजी इस तथ्य पर बल देते हैं कि सत्य और शान्ति के लिए आत्मा की पहचान अपेक्षित हुआ करती है। सम्पूर्ण जीवन को ही सफल जीवन की संज्ञा दी जा सकती है। अखण्ड सम्पूर्णता में ही जीवन की सार्थकता का सूत्र निहित है। प्रस्तुत कहानी का मूल प्रतिपाद्य नचिकेता के प्रति यमराज के निम्नलिखित कथन में निहित माना जा सकता है

'सम्पूर्णता भौतिक सुख-दुःख के विवेक से आती है। जीव और परमात्मा की एकता का ज्ञान ही सत्य ज्ञान है। तब जीवन के साथ मरण, ज्ञान के साथ अज्ञान, शुभ के साथ अशुभ—सब आनन्द की तरल तरंगों—जैसे हो जाते हैं। क्योंकि तब यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि सुख का ही एक रूप दुःख है, हानि का एक दूसरा नाम लाभ है, पराजय का ही एक क्षणिक मनोरंजक स्वांग विजय है।'

'बाँसों का झुरमुट' प्रस्तुत संकलन की अंतिम कहानी है, जिसमें विविध घटनाओं के माध्यम से ग्रामीण परिवेश में पुरानी और नयी मान्यताओं के संघर्ष को उभारा गया है। ग्रामीण वातावरण में पुराण-पंथी लोगों का जाल फैला हुआ है, जिसके परिणामस्वरूप नये विचारों का उदय सम्भव नहीं हो पा रहा है। यह पुरानी पीढ़ी ही है जो धर्म के व्याज से झग्गू का बौद्धिक और आर्थिक शोषण करना चाहती है जो कानू सेठ और उसके लड़के की हत्या को भी भाग्य का विधान घोषित करती है, यह पुरानी पीढ़ी ही है

जो पंडित गोपीनाथ के माध्यम से धर्म के नाम पर आधुनिक युग की वैचारिक मान्यताओं का विरोध करती है। इस कहानी की विशिष्टता इस रूप में उभरकर प्रकट होती है कि इसके माध्यम से अंधविश्वासों और रूढ़ियों का निषेध और नये जीवन-मूल्यों का समर्थन किया गया है।

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री जी का इन कहानियों में जहाँ व्यापक और वैविध्यपूर्ण जीवन-यथार्थों और मानवीय अनुभूतियों एवं संवेदनाओं का अंकन हुआ है वहीं इनमें शिल्प की बारीकियों के भी प्रयोग उपलब्ध होते हैं। आचार्य शास्त्री जी के कथा-शिल्प की उत्कृष्टता को लक्ष्य करते हुए छायावाद के क्रान्तदर्शी कवि महाप्राण निराला ने अपनी धारणा निम्नलिखित रूप में व्यक्त की है—

'कहानियों की भाषा मँजी हुई, वाक्य-विन्यास, बातचीत, स्थल और घटनाओं का वर्णन, उठान, पूर्ति और परिसमाप्ति की कलात्मकता लिए हुए, ध्वनि और अलंकारों से सज्जित हैं।'

आचार्य शास्त्री की इन कहानियों की भाषा-योजना का एक वैशिष्ट्य काव्यात्मकता के रूप में उभरकर प्रकट होता है। ध्यातव्य है कि अनेक स्थलों पर कहानियों की भाषा काव्यात्मक प्रभाव से युक्त हो जाती है। इस दृष्टि से निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हो सकती हैं—'सूरज-चाँद के दिए जलाकर जीवन से मृत्यु तक फैले अन्धेरे रास्ते पार करने वालों ने ऐसे ही अपनी सूखी-गीली अनुभूतियाँ सुनाई हैं और उनका श्रोता सोता रहा है। उष्ण उच्छ्वास युग-युगान्तर तक बादल बनकर मरु में बरसें, यही उनकी नियति है।' पृ०–६

कहानीकार ने अपनी भाषा-संरचना में नये-नये अप्रस्तुतों का भी विधान किया है। नयी अप्रस्तुत योजना की दृष्टि से निम्नलिखित दो प्रयोग देखे जा सकते हैं—

(क) 'आँखें सुर्ख और आँसुओं से डलबल थीं, जैसे जल भरे ग्लास में दो लाल मछलियाँ तैर रही हों।' पृष्ठ - ३

(ख) लड़के कृष्णपक्ष के आकाश में कचपचिया तारों की तरह बढ़ते ही जाते हैं। पृष्ठ - ४७

प्रस्तुत कहानी-संग्रह का नामकरण भी अपनी सार्थकता सिद्ध करता है। कहानीकार ने प्रस्तुत संकलन का नामकरण भी विशेष प्रतीकात्मक दृष्टि से

किया है। इसमें बड़े बाँसों का वर्णन पुराने पक्षधर लोगों को प्रतीकित करने के लिए किया गया है। नयी पीढ़ी के सदस्य नागेश्वर ने अपनी संतुलित वैचारिकता की अभिव्यक्ति के लिए 'बाँसों का झुरमुट' का प्रतीकात्मक प्रयोग इस रूप में किया है—'उसे शास्त्र-पुराण बखानने वाले लोग बड़े-बड़े बाँसों-जैसे लगते हैं, जो समय-समय पर कटते रहते हैं, और कुछ ही दिनों में फिर बढ़ जाते हैं। इन पीले बाँसों के झुरमुट से नया वैज्ञानिक सत्य झलकियाँ मारता रहता है जिसे पौराणिक पण्डितों का झुरमुटी ढोंग पूरी तरह खुलने नहीं देता। अब समय आ गया है कि ज्ञान और विज्ञान कंधे से कंधा मिलाकर एक ही रास्ते चलें। पुराणों की कथा-कहानियों से वैज्ञानिक युग बहलने से रहा।'

पृष्ठ - ६९

निष्कर्षतः 'बाँसों का झुरमुट' नामक यह कहानी-संकलन आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की उत्कृष्ट कहानी-कला का परिचायक है। हमारे लिए निश्चय ही यह प्रसन्नता और गौरव का विषय है कि आज से पाँच दशक पूर्व लिखी इन कहानियों में जीवन-यथार्थों की व्यापकता, अनुभूतियों की गहनता और अभिव्यक्ति की सशक्तता आदि अतिशय महत्त्वपूर्ण विशिष्टताएँ उपलब्ध होती हैं।

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
हिन्दी विभाग
उ० रोसड़ा कॉलेज
रोसड़ा (समस्तीपुर)



बाँसों का झुरमुट : सामाजिक विद्रूपता का चरित्रांकन

□ राजेन्द्र साह

किसी भी रचनाकार की सर्जनात्मक विविधता उस रचनाकार की व्यापक अनुभूति एवं सूक्ष्म दृष्टि का प्रमाण है। आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री कविता के चरम शिखर पर आसीन तो हैं ही; साहित्य की अन्य विधाओं—गीतिनाट्य, निबंध, आलोचना, संस्मरण, उपन्यास तथा कहानी में भी उन्होंने अपने प्रातिभ व्यक्तित्व को रेखांकित किया है। उन्होने अपने कथ्य की संवेदना एवं औदात्य तथा शिल्प-सौष्ठव की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति से साहित्य की विविध विधाओं को विशिष्ट गरिमा प्रदान की है। छीजती हुई सास्कृतिक परम्परा को नयी चेतना और ऊर्जा देनेवाले साहित्यकारों में आचार्यश्री अग्रगण्य हैं।

'बाँसों का झुरमुट' उनकी १९३५ ई० से १९४१ ई० तक की लिखी ग्यारह कहानियों का संग्रह है। आज से चार दशक-पूर्व हमारा जो परिवेश था, हमारी जो मानसिकता थी, उसका संवेद्य संस्पर्श हम इन कहानियों में पाते हैं। इन कहानियों की मनोभूमि सामाजिक विद्रूपताओं से ऊभ-चूभ है।

शास्त्री जी की ये कहानियाँ प्रेमचद युगीन यथार्थ के आग्रही हैं। १९३६ ई० से भारतीय समाज एवं साहित्य में प्रगतिशील विचारों का जो प्रवेश हुआ, उसके कतिपय भावसूत्र इनमें विद्यमान हैं। यद्यपि शास्त्री जी इन कहानियों को किसी वाद-विशेष से प्रतिबद्ध नहीं मानते। अप्रतिबद्धता भी कहीं-न-कहीं, किसी- न-किसी रूप में किसी प्रतिबद्धता का ही द्योतक है। फिर, रचना-प्रक्रिया में लेखक किसी वाद का आग्रही भले ही न हो, किन्तु उसकी संवेदना और

अनभूति किसी वाद के समानान्तर तो हो ही सकती है। इस परिप्रेक्ष्य में प्रेमचंद की परम्परा के कहानीकार न होते हुए भी शास्त्री जी उसी परम्परा की कहानी-रचना से जुड़े लगते हैं।

शास्त्री जी ने अपने और अपने आस-पास की जिन्दगी के दुःख-दर्द को वाणी दी है। युगीन सामाजिक चेतना से स्पंदित आलोच्य कहानी-संग्रह में टूटते हुए रिश्ते, मनुष्यता को खंडों में बांटनेवाली वर्ण-व्यवस्था, स्त्री-जाति का शोषण, धार्मिक पाखंड, स्वार्थ, दंभ एवं अवसरवादिता, कृतघ्नता, अकर्मण्यता तथा विघटित मानववादी मूल्यों का बड़ा ही यथार्थ रेखांकन उन्होंने किया है। समाज में धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक परिदृश्य अपनी दृष्टि-हीनता के कारण जिस बौनी दुनिया का निर्माण कर रहे हैं, उसे 'बाँसों का झुरमुट' में देखा जा सकता है।

'संबंध' व्यक्ति की वैचारिक उदात्तता तथा हृदय की व्यापकता का द्योतक है। किन्तु, इस भौतिक और अर्थयुग में उसका आधार अर्थ ही बनता जा रहा है. जहाँ रक्त-संबंधों या सामाजिक रिश्ते-नातों का टूटना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। एक निकटस्थ पारिवारिक सदस्य यदि दारिद्रय के दौर से गुजर रहा है तो वह दूसरे समृद्ध सदस्यों की दृष्टि में उपेक्षा एवं घृणा का शिकार बनता है। 'मीना' शीर्षक कहानी में रक्त का संबंध कहने-भर के लिए अपनों का संबंध है। मुन्नी के ताऊ तथा ताई से मुन्नी की माँ का संबंध इसलिए अच्छा नहीं है कि वह छोटी है और उसका पति जीवित नहीं है. अपितु इसलिए संबंध टूट चुका है कि वह दीन-हीन है, और इससे मुक्ति पाने के लिए वह उच्च वर्ण की होने पर भी अपने से निम्न जाति वालों के यहाँ मेहनत-मजदूरी करने जाती है।

वर्णाश्रम धर्म को व्यवस्था आरंभ में भले ही व्यक्ति के कल्याण एवं समाज के विकास के लिए की गयी हो, किन्तु परवर्ती युग में उसका विकृत एवं अकल्याणकारी स्वरूप ही प्रकट होने लगा। विभेदपूर्ण वर्ण-व्यवस्था के कारण कुछ वर्णों को सामाजिक उत्पीड़न, अत्याचार एवं शोषण का शिकार होना पड़ा। छुआछूत, ऊँच-नीच के भेद-भाव से यह वर्ण-व्यवस्था कुत्सित होती चली गयी। आज भी इससे हमारा समाज सामाजिक रूप से ही नहीं, मानसिक रूप से भी कम आक्रान्त नहीं है। समाज में वर्ण-व्यवस्था का प्रचंड स्वरूप कैसे बरकरार रहता है, इसका भी ज्वलंत प्रतीक है 'ईश्वर' शीर्षक कहानी। ऐसी गर्हित एवं ढकोसलापूर्ण वर्ण-व्यवस्था, जहाँ एक आदमी की छाया से दूसरों को छूत लग जाती है, किन्तु पैसे का लोभ हो तो उसके घर तक पहुँचने में छूत नहीं लगती। निम्न वर्ण का लड़का होकर उच्चवर्ण के लड़के के साथ

मित्रता करने तथा उसके घर में प्रवेश कर जाने की वजह से ईश्वर को नरेन के पिता ने कई घूँसे, कई मुक्के लगाकर, लतियाकर, धकेलकर बाहर निकाल दिया और बड़ी तत्परता से उनके खुशामदी पड़ोसी कमरा धुलवाने लगे। धर्म बनाम ढोंग का पर्दाफाश करते हुए कहानीकार ने 'मीना' कहानी मे भी स्पष्ट किया है कि अछूत के घर पूजा-पाठ कराने में छूत नहीं लगती, किन्तु अछूत के घर किसी प्रकार का कार्य करने में छूत लग जाती है। अमर के बड़े भाई इसी प्रकार के पाखंडी हैं।

कुत्सित वर्ण-व्यवस्था का ही शिकार है 'बाँसों का झुरमुट' शीर्षक कहानी का झग्गू, जिसका तरह-तरह से भूत-प्रेत तथा अंध-विश्वास के नाम पर शोषण किया जाता है। विष्णु, महेश, शालिग्राम, राम, लक्ष्मण तथा भरत जी आदि ऊँची जाति के लोग भूत का भ्रम-जाल फैलाकर झग्गू को अपनी टोली से ही भगाना चाहते हैं। उसे अपने घर में आग लगा देने, सारी जमीन दान कर देने और बाहर से कमाकर लाये पैसों को ब्राह्मण भोज में खर्च कर देने की नसीहत देते हैं। बड़ी बात तो यह कि झग्गू के लिए उसकी जमीन 'भुतहा' थी, उन लोगों के लिए तो नहीं।

शोषण का धरातल सिर्फ वर्णाश्रम-व्यवस्था ही नहीं, अपितु लिंग–भेद भी है। पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर अनवरत अत्याचार होता आ रहा है। पुरुष चाहे कितना भी अनैतिक एवं अमर्यादित कर्म करे, उस पर किसी प्रकार का का कोई प्रतिबंध नहीं, वह स्वच्छद है; किन्तु स्त्रियों को तो पतिव्रता ही होना चाहिए। उसे चाहे किसी भी प्रकार की, जितनी भी यातनाएँ दी जायँ, वह 'चूँ' भी नहीं कर सकती। 'बरगद के साये में' की तारा एक ऐसी ही ग्रामीण युवती है, जिसे मात्र ऐकांतिक सात्विक प्रेम तथा सौन्दर्य के कारण उसका पति मार-मार कर मौत के मुँह में सदा के लिए सुला देता है।

स्त्री-जाति के शोषण का ही एक अंग है—बाल-विवाह, जो समाज की विवेकहीनता और उसके क्षुद्र स्वार्थ को मुखर करता है। बाल-विवाह की गर्हित परिपाटी ने 'रुदन का राग' की नन्दरानी को विधवा बना दिया। पुरुष-प्रधान समाज, अस्पताल में पड़े अपने बीमार पति से नन्दरानी के मिलने जाने का सख्त विरोध करता है। ऐसा लगता है जैसे रीति-रिवाज, परम्परा या या मान्यताएँ स्त्रियों के लिए ही बनी हैं। वे बंद कमरे में ही रह सकती हैं। स्वच्छन्दता में उन्हें पुरुषों की समता करने का कोई अधिकार ही नहीं। वस्तुतः, रीति-रिवाज समाज के लिए उपयोगी नहीं, तो अनुपयोगी भी न हो। जहाँ रीति या परम्परा व्यक्ति या समाज के विकास के लिए घातक एवं उसके

मार्ग को अवरुद्ध करनेवाली बन जाती है, वहीं रीति कुरीति बन जाती है। इन कुरीतियों में पड़कर व्यक्ति निस्सहाय एवं अपंग बन जाता है। ऐसा लगता है जैसे इस प्रकार की मान्यताएँ टूटने के बजाय अपने अटूट पाश में समाज को और अधिक जोरों से जकड़ लेती हैं। "गौना से पहले बहु ससुराल नहीं जा सकती"—समाज की यह कुरीति नंदरानी को आबद्ध कर लेती है। पति के यहाँ से बुलावा आने पर भी वह पति को देख नहीं पाती और उसका पति मर जाता है।

धार्मिक विद्रूपता का भी शास्त्री जी ने यथार्थ चित्रण किया है। धर्म व्यक्ति और समाज के परिष्कृत स्वरूप का परिणाम है किन्तु जब धर्म का उपयोग स्वार्थबद्ध हो जाता है तो उसमें जड़ता आने लगती है और धर्म कुछ खास लोगों में केन्द्रीभूत हो जाता है। तब उन खास लोगों में स्वेच्छाचारिता आ जाती है और धार्मिक ठेकेदारी आरंभ हो जाती है, जिसका नतीजा यह होता है कि धर्म पाखंडियों के भोग-विलास का उपकरण मात्र बन जाता है। शास्त्री जी ने 'मीना' कहानी में बड़े ही गहरे एवं कटु सत्य का उद्घाटन किया है कि धर्म, वस्तुतः अमीरों का सौदा मात्र बन कर रह गया है। उसे वह ढाल के रूप में ही इस्तेमाल करता है। ऐसी विषम स्थिति में जो धर्म के वास्तविक एवं सच्चे स्वरूप को आत्मसात् करता है, वही तो सबसे ज्यादा संत्रस्त होता है। अमर आजीवन धर्म के सात्त्विक रूप पर अटल रहा, परिणामतः वह दरिद्रता में ही रहकर संसार से विदा हो गया।

जिस समाज में मंदिर का ठेका होता हो, जहाँ पर लुच्चों, लफंगों, गुंडों तथा आवारागर्दों का साम्राज्य हो, जहाँ गँजेड़ियों, भँगेड़ियों तथा जुआड़ियों का अड्डा हो; और जिस समाज में भ्रष्टाचार का केन्द्र ही मंदिर हो, उस समाज की क्या गति हो सकती है? 'बाँसों का झुरमुट' कहानी में ठनठन सिंह को बुढ़वा मंदिर की ठेकेदारी मिली है। सुर्खाबी मूँछों पर ताव देते हुए वह कहता है—"परिआग बाबू से बुढ़वा मंदिर का ठेका हम न लेते तो देखते, कैसे ये जवान अमल-पानी करने यहाँ इकट्ठे होते। बस उस टोले वालों की तरह कहीं बसवारी में छिपकर दम मारते। अब यहाँ का ठाठ ही निराला है। शंकर का दरबार है—काँटा लगे न कंकड़! छूटकर भाँग घोंटो, दम लगाओ, तम्बाकू की पीक फेंको। ठट्ठा करो या हाथा-पाई या मारपीट, कोई रोकनेवाला नहीं। किसी की बहू-बेटी नदी में नहाने उतरे, उसे एकटक निहारो, आनी-बानी बोलो, कोई मना करे तो इसी चौरे पर दे मारो, ढेले से मुँह थूर दो। किसी के बाप की मजाल

नहीं कि टेंरियई करने की हिमाकत करें।" और खड़े-खड़े उड़ते नजारों पर नजर गड़ा कर कहकहे लगाते—हाय ! कैसी-कैसी झूलती झुलनियाँ ! हंस की, मोरनी की, मुर्गी की-सी चालें।" यह है हमारा हिन्दू समाज, जहाँ मंदिर ही गुंडागर्दी का केन्द्र बना हुआ है।

हिन्दू-समाज में नरबलि या पशुबलि की जो प्रथा थी, उसका प्रच्छन्न रूप आज भी विद्यमान है। धर्म के नाम पर बलि धर्म की विकृति का पर्दाफाश है। शास्त्री जी ने 'नचिकेता' शीर्षक पौराणिक कहानी के माध्यम से आज की हिंसात्मक धार्मिक प्रवृत्ति पर गहरा आघात किया है। धार्मिक संकीर्णता एवं असहिष्णुता किसी धर्म के अकल्याणकारी स्वरूप को ही प्रकट करती है। शास्त्री जी ने ग्रामीण परिवेश की विकृति को बड़ी ही सफलता के साथ बेनकाब किया है। गाँवों में तथाकथित शास्त्र-प्रवक्ताओं, पंडितों की कमी नहीं जो किसी भी घटना की तोड़-मरोड़ कर शास्त्रीय समीक्षा प्रस्तुत करते हैं। 'बाँसों का झुरमुट' कहानी के ईसर बाबू, परमेश्वर पंडित, गोपीनाथ जी, सुधाकर भाई, किसुनी आदि ऐसे ही विविध चरित्र हैं जो कानू सेठ तथा उसके पुत्र मनहर की हत्या के कारण को लेकर न जाने कितनी थोथी दलीलें प्रस्तुत करते हैं।

कहानीकार ने समाज के उन चरित्रों को भी उकेरा है जो घोर स्वार्थी, अकर्मण्य, अवसरवादी एवं दंभी हैं। 'मीना' में तथाकथित उन ऊँचे वर्ण के लोगों पर करारा प्रहार है, जो अपने दारिद्र्य की चरमावस्था मे होते हुए भी ऊँची जाति में होने का झूठा दंभ भरते हैं और अकर्मण्य बने रहते हैं। भूख-प्यास से बच्चे सहित स्वयं बिल-बिलाते रहें, दुनिया पर बोझ बनते रहें किन्तु मेहनत-मजदूरी करने पर उन्हें 'पाप' लगता है। 'पंडित जी' कहानी में भी एक ऐसे घोर स्वार्थी, अवसरवादी पंडित के मिथ्या आशीर्वचन एवं उसके ब्राह्मणत्व के मायावी दंभ का पर्दाफाश किया गया है, जिसे 'जीव की जान जाने पर भी उस जीव का स्वाद ही अच्छा नहीं लगता।' अपने स्वार्थवश अपने को सबसे बड़ा आशीषदाता कहता है किन्तु स्वार्थ सध जाने पर लात मारकर भगा देता है।

मानव में ही दानवी प्रकृति के लोग भोले एवं निरीह इंसानों की अस्मिता को किस प्रकार ध्वस्त कर देते हैं, इसका दानव-मानव के प्रतीक-रूप में 'बकरे की माँ' में भी स्पष्ट चित्रण मिलता है।

जनसाधारण ही चारों ओर से पिसा जाता है। उसकी कोई जाति नहीं होती। उसका सिर्फ सामाजिक, आर्थिक एवं धार्मिक ही शोषण नहीं होता,

अपितु उसे राजनीतिक शोषण का भी शिकार बनना पड़ता है। विभिन्न राजनीतिक तंत्रों में एक समाजवाद भी है। 'समाजवाद' संपूर्ण समाज के लिए कल्याणकारी हो या न हो, इतना अवश्य है कि इसमें दलितों को त्राण मिलता है। किन्तु, समाजवाद का ढिंढोरा पिटनेवाले तथाकथित समाजवादी नेता ही अपने स्वार्थ एवं विलास के कारण समाजवादी व्यवस्था से अलग-थलग रहे। समाजवाद की विफलता का एक बड़ा कारण यह भी रहा। समीक्ष्य संग्रह की 'नेता' कहानी इसी सच्चाई को उपस्थित करती है। इसमें थोथे समाजवाद की धज्जियाँ उड़ायी गयी हैं और समाजवाद बनाम मजदूर-संगठन में पूँजीपतियों और कथित मजदूर-नेताओं द्वारा फूट डालकर अपना-अपना उल्लू सीधा करने का पर्दाफाश किया गया है। समाजवाद पर जितना ही लम्बा-चौड़ा और जोशीला गर्म भाषण होता जाता है, समाज में विषमता की खाई पटने के बजाय उतनी ही बढ़ती जाती है।

समाचार-पत्रों में समाजवाद पर ज्यादा जोरदार एवं वजनदार लेख छापना तो पूँजीपतियों के एकाधिकार में हैं। प्रलोभन के शिकार ये तथाकथित मजदूर नेता पूँजीपतियों के पिट्ठू होते हैं और चंदे के नाम पर मजदूरों का शोषण करते हैं। समाजवाद पर पुरजोर भाषण मारनेवाला, सामाजिक समानता का विशुद्ध सिद्धान्त बघारनेवाला तथा समाजवाद का फतवा देनेवाला ही दरअसल समाजवाद का घोर शत्रु है; जो कहता तो बहुत कुछ है, किन्तु स्वयं रंचमात्र भी उसे अपनाने का प्रयत्न नही करता। चंदे, मीटिंग तथा प्रगतिशील पत्र आदि के द्वारा सामाजिक क्रान्ति एवं बदलाव के नाम पर ठगी हुई जनता ही कभी दूसरों से, कभी अपनों से बार-बार ठगी जाती है।

आज 'निर्दोष' पराक्रमियों का सबसे सस्ता और सुलभ साधन है, जिसे वह कभी अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करता है तो कभी ढाल के रूप में और कभी वही निर्दोष उसके पौरुष-प्रदर्शन का शिकार भी बन जाता है। सामाजिक संत्रास, घुटन एवं ऊब के पीछे व्यक्ति का अविचारित कर्म तथा निर्दोष पर पौरुष का प्रदर्शन भी है। 'नचिकेता' में कहानीकार ने यमलोक और मृत्युलोक में अन्तर स्पष्ट करते हुए मृत्युलोक पर तीखा व्यंग्य किया है—"जहाँ (यमलोक) मृत्युलोक के समान अविचारित कर्म नहीं किया जाता। ·····यम भी किसी निर्दोष पर पौरुष का प्रदर्शन करें तो उनमें और उनके सुलभ आहार मनुष्य में क्या अन्तर हो ?"

ग्रामीणों में फैली अशिक्षा, गाँवों के प्रति सरकार की उपेक्षित दृष्टि पुलिस-विभाग की निष्क्रियता, अभावग्रस्त वात्सल्य, पुरुष-विवाह की समस्या आस्तिक से नास्तिक होने के कारण तथा दो पीढ़ियों की टकराहट आदि का बड़ा ही जीवंत चित्रण शास्त्री जी ने किया है।

समाज में अशिक्षा एवं मूढ़ता, विशेषकर स्त्री जाति में व्याप्त है। 'मीना' में मुन्नी की ताई लड़कियों का स्कूल जाना समाज के लिए कलंक मानती है। उसकी दृष्टि में लड़कियों का स्कूल जाना 'कुलटा' होना है। इसलिए वह मुन्नी को दुत्कारती हुई उसके स्कूल जाने का कड़ा विरोध प्रकट करती है।

आलोच्य कहानियों में गरीबी, महामारी, दुर्भिक्ष, छीना-झपटी, हत्या, लूट-खसोट, छल-प्रपंच आदि का जो वातावरण चित्रित है, उससे गाँवों के प्रति सरकार की उपेक्षित दृष्टि का भी पता चलता है। पुलिस-विभाग का निष्क्रियता एवं उसमें व्याप्त भ्रष्टाचार का भी संकेत 'बाँसों का झुरमुट' कहानी में देखने को मिलता है। किसी की हत्या हो जाने पर भी कोई विशेष तत्परता उसमें नहीं दीखती। अपनी शानोशौकत तथा ऐशोआराम में ही वे अपना बड़प्पन समझते हैं।

संतान के उज्ज्वल भविष्य के सक्रिय अरमानों के टूटते स्वरूप का भी बड़ा ही मार्मिक चित्रण 'मीना' में है। मुन्नी की माँ का अभावग्रस्त वात्सल्य अत्यन्त कारुणिक है। भीतर-ही-भीतर वेदना है, दर्द का उच्छ्वास है, 'अंदर-अंदर ही हिचकियाँ हैं, रुँधी रुलाई है, किन्तु उसे वह अपनी संतान पर प्रकट होने नहीं देती।

समाज में व्याप्त समस्याओं में सिर्फ स्त्री-विवाह ही नहीं, पुरुष-विवाह भी एक गंभीर समस्या है। समाज की दृष्टि कितनी निम्न होती जा रही है, जहाँ उसकी नजर बाह्य रूप-रंग एवं चाक-चिक्य पर ही टिकती है, अन्तर तक पैठने की कोशिश नहीं करती, और जहाँ गुण से अधिक प्रदर्शन को प्रश्रय दिया जाता है। 'बागमती के किनारे' का रामचन्द्र एक ऐसा ही यथार्थवादी चरित्र है, जिसने जितना पढ़ा-लिखा, जीवन में सदा उसी के अनुरूप आचरण किया। जिसे किसी प्रकार का दुर्व्यसन नहीं था, जिसमें प्रतिशोध की भावना भी नहीं थी और जिसका शारीरिक स्वास्थ्य भी उत्तम था। किन्तु तीस-पैंतीस की अवस्था पार करने के बावजूद वह समाज में विवाह के योग्य नहीं समझा गया। कहानीकार ने ऐसे समाज पर बड़ा ही तीक्ष्ण व्यंग्य किया है कि समाज में वैभव सम्पन्न तथा प्रदर्शन-प्रेमी युवकों को

ही सामाजिक माना जाता है, साज-बाज के साथ उसका ब्याह रचाया जाता है, उस खुदगर्ज, क्रूर एवं पतित समाज ने कुलीन रामचन्द्र ऐसे चरित्रवान, विनयी एवं सरल व्यक्तित्व वाले को भी नादान और निकम्मा समझ उसके मामूली-से अरमान (विवाह) को पूरा नहीं होने दिया। 'बिलायती चर्बी वाले साबुन से दामन के धब्बे अँधेरे-अँधेरे धोनेवाले समाज' ने उसे विवाह का सुख नहीं प्राप्त होने दिया। ऐसी बात भी नहीं कि लड़कियाँ समाज में थीं ही नहीं। आज तो समाज में लड़कियों का वैवाहिक प्रश्न पर मन जितना चढ़ा हुआ होता है, उससे कहीं ज्यादा लड़कियों के माता-पिता का मानस शिखर पर होता है। इस मानसिकता तथा भौतिकता के प्रति सघन आकर्षण एवं गहन आसक्ति ने ही रामचन्द्र को उपेक्षित छोड़ दिया।

आस्तिकता और नास्तिकता व्यक्ति की परिस्थिति-जन्य अनुकूलता एवं प्रतिकूलता का प्रतिफल है। वस्तुत: कोई भी व्यक्ति न तो पूर्णत: आस्तिक होता है और न पूर्णत: नास्तिक। परिस्थितिवश वह आस्तिकता और नास्तिकता के मध्य डोलता रहता है। जीवन की अद्भुत सफलता या असंभावित विफलता ही उसे आस्तिकता या नास्तिकता के सन्निकट ला देती है। 'बागमती के किनारे' का रामचन्द्र इसी विषम परिस्थिति का क्रीत दास है। ईश्वर के प्रति अटूट विश्वास रखने के बावजूद जीवन की विफलता एवं परिस्थिति की प्रतिकूलता के कारण उसकी आस्था खंडित हो जाती है, वह घोर नास्तिक हो जाता है। पचपन वर्षों तक अविवाहित होने की जो कसक सदाचारी रामचन्द्र में भीतर-ही-भीतर थी, वह दर्द से क्षोभ में परिणत होती चली गयी। वह स्वयं अपनी अस्मिता पर प्रश्न-चिह्न लगाने लगता है। यहाँ तक तो कुछ हद तक सह्य था किन्तु बागमती के किनारे एक कुँवारी युवती का बाढ़ के पानी में डूब जाना — यह कहाँ तक ईश्वर का न्याय है? यहीं उसका विश्वास चूर-चूर हो जाता है। वह ठाकुर जी की मूर्त्तियों को पनाले में फेंक ही नहीं देता, कंठी ही नहीं तोड़ता, अपितु रामायण और शुक सागर में आग भी लगा देता है।

दो पीढ़ियों की टकराहट जब कभी होती है तो उसके मूल में नयी सूझ-बूझ के साथ जड़ीभूत मान्यताएँ भी होती हैं। पुरानी पीढ़ी अपने साथ बाह्याडम्बर, ढोंग, कुरीति आदि के सहारे नयी पीढ़ी का विरोध करती है, जबकि नयी पीढ़ी नवीन वैज्ञानिक दृष्टि द्वारा गलित एव गर्हित मान्यताओं को ढोनेवाली पुरानी पीढ़ी का विरोध प्रदर्शित करती है। यह भी सच है कि जड़ परम्पराओं की जड़ इतनी मजबूत होती है कि इसके झोंकों में नयी

मान्यताओं के पैर उखड़ने लगते हैं। 'ईश्वर' कहानी में नरेन के पिता नयी सभ्यता का विरोध इसलिए करते हैं कि स्कूल में ब्राह्मण-चमार, भाट-भाँड़, तेली-तमोली, डोम-मेहतर—सब एक ही घाट का पानी पीते हैं, किन्तु नरेन इन क्षुद्र मान्यताओं पर स्थिर नहीं रह पाता। यह कहा जा सकता है कि वह तो अभी बालक है, उसे सामाजिक परिवेश की यथार्थता का बोध कहाँ ? किन्तु पुरानी पीढ़ी का उसका यह दुर्बल एवं निष्फल प्रतिकार कहीं-न-कहीं नयी पीढ़ी की नूतन जीवन-दृष्टि एवं पद्धति का संकेतक अवश्य है। 'बाँसों का झुरमुट' में भी पुराने पोंगा-पंडितों एवं नयी वैज्ञानिक दृष्टि रखनेवाले युवकों के बीच टकराव है। इसी प्रकार 'रुदन का राग' में ललन जहाँ नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ नकछेदी तिवारी पुरानी पीढ़ी का। नूतन जीवंत दृष्टि रखनेवाला ललन नंदरानी को उसके पति से मिलवाने के लिए ले जाने को तैयार है किन्तु नकछेदी तिवारी 'गौने के पहले बहु का पति से मिलने' को परम्परा के प्रतिकूल मानते हुए जबरदस्त प्रतिरोध करते हैं। 'नचिकेता' में भी दो पीढ़ियों का संघर्ष माना जा सकता है। वाजश्रवस अपने पुत्र नचिकेता की मंगल-कामना के लिए गर्हित कर्म भी करने के लिए तैयार है किन्तु पुत्र, पिता द्वारा किये गये इन कुकृत्यों के दुर्वह भार को वहन करने में असमर्थता ही प्रकट नहीं करता, अपितु हठपूर्वक विरोध कर इससे मुक्ति पाने के लिए व्यग्र भी हो उठता है।

सामाजिक विद्रूपता का विस्तृत आयाम प्रस्तुत करते हुए कहानीकार ने चापलूसी, पाश्चात्य शिक्षा-जन्य विकृति तथा अहंवादी साहित्यिक प्रवृत्ति को भी अपनी कहानियों का वर्ण्य-विषय बनाया है। चापलूसी द्वारा एक ओर जहाँ चाटुकारों की स्वार्थ-सिद्धि का सीधा मार्ग प्रशस्त होता है, वहीं दूसरी चाटुप्रिय लोगों के विघटन का भी। 'बकरे की माँ' में शास्त्री जी की मान्यता है कि आजतक जितने जाने-माने घरानों की बर्बादी हुई है, उसके मूल में चापलूसी है। किस प्रकार चाटूक्तिप्रिय लोगों की मानसिकता निम्न एवं संकीर्ण हो जाती है और चाटुल्लोल उन्हें विपरीत दिशाओं में उन्मुख कर अपना स्वार्थ साधते हैं, इसके बड़े ही यथार्थपरक प्रतीकात्मक चरित्र हैं—इस कहानी के पात्र। इसके माध्यम से कहानीकार ने निश्चय ही दरबारी संस्कृति की विकृति को अनावृत किया है। आलोच्य कहानी में इस संस्कृति से प्रतिबद्ध व्यक्ति की विषम मनःस्थितियों का भी सूक्ष्म अंकन है, जहाँ उसे अपने मन के प्रतिकूल होने पर भी दरबारी मन के अनुकूल ही चलना पड़ता है।

पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता व्यक्ति के विकास की सहायिका हो सकती है किन्तु इसी में अपने को रमाकर अपनी संस्कृति को नकारना बड़प्पन का सूचक नहीं हो सकता। पाश्चात्य सभ्यता के सतही-रूप से प्रभावित हमारे नवयुवकों में शिक्षा का वास्तविक अर्थ गौण पड़ता जा रहा है। 'पैसे की पहचान' कहानी में पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की चकाचौंध में चौंधियाए युवकों पर तीखा प्रहार है, जो उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बावजूद अपने अस्तित्व को, अपनी संस्कृति को तथा अपनी परम्परा एवं मान्यता को विस्मृत कर बैठे हैं, कृतघ्न होते जा रहे हैं, जिनके हृदय में मानवता नाम की कोई चीज नहीं। आखिर, इस प्रकार की ऊँची शिक्षा का क्या प्रयोजन है? गैरों ने लेखक को पहचान लिया, किन्तु तथाकथित अपने कहे जानेवाले न पहचानने का स्वांग रचकर, मुँह फेर कर चलते बने।

'अहं' किसी भी व्यक्ति को दिग्भ्रमित कर सकता है। साहित्यिक क्षेत्र में अहंवादी प्रवृत्ति किसी भी रचनाकार की मूल साहित्यिक ऊर्जा को विनष्ट कर देती है। 'पैसे की पहचान' में ही हिन्दी-साहित्यकारों की विकृत मानसिकता को उकेरा गया है जो अपने को ही सर्वोपरि मानते हैं। वाद-विवाद में उलझी मानसिकता किसी भी साहित्यकार की क्षेत्र-विशेष तक की सिमटी विचारधारा एवं मान्यता को अभिव्यक्त करती है।

१९३५ ई० से १९४१ ई० के बीच लिखी आलोच्य संग्रह की कहानियाँ युगबोध की तीव्रता से अनुप्राणित तो हैं ही, उनकी प्रासंगिकता आधी सदी बाद आज भी उतनी ही है। छल-कपट तथा कुटिल आचरण करनेवाले का ही आज समाज में वर्चस्व है, उसी की धाक है। आज जो जितना ही धूर्त है, वह उतना ही 'तेज' माना जाता है। 'मीना' के अमर ने अपने को सच्चे ज्ञानी एवं ब्रह्मवादी ब्राह्मण मानते रहने के कारण कोई ऐसा कर्म नहीं किया, जिससे समाज के साथ धोखा होता, जिसके कारण वह आजीवन दरिद्र का-दरिद्र ही बना रहा। वहीं दूसरी ओर उसके अग्रज अपने कुटिल और कपटी आचरण द्वारा दोनों हाथों धन बटोरते रहे। अमर-जैसे लोग आज भी काफी पढ़े-लिखे होने के बावजूद मात्र गरीबी और सीधेपन के कारण उपहास के पात्र हैं। सदाचार और उत्तम आचरण करनेवाला बेवकूफ माना जाता है। पैसे की पहचान करनेवाले रेवाशंकर, कुँवरनक्षत्र राय तथा विन्ध्याचल जैसे नवयुवकों का भी आज अभाव नहीं, जिन्हें व्यक्ति की पहचान व्यक्ति के कारण नहीं, पैसे के कारण रहती है, और पैसे का संबंध टूटने पर व्यक्ति को पहचानने से इन्कार कर देते हैं। 'बकरे की माँ' के मौलाना

जैसे चापलूसों की कमी नहीं जो दूसरों की आँखों में धूल झोंककर अपना मतलब गाँठते हैं। समाज की गलित परिपाटी को अपने बाहु-पाश में जकड़े नकछेदी तिवारी जैसे लोगों से हमारा समाज आज भी मुक्त नहीं हो पाया है जो डंडे के जोर पर तथाकथित 'धर्म' की रक्षा करते हैं। आज भी 'बाँसों का झुरमुट' के बुढ़वा मंदिर की तरह मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारे तथा चर्च आतंकवादियों और असामाजिक तत्वों का केन्द्र बन गया है। धर्म को लोग ढो ही नहीं रहे हैं, बल्कि धर्म का स्वरूप ही बदल गया है। धर्म राजनीतिक चाल-भर बनकर रह गया है। पुलिस-विभाग की निष्क्रियता आज भी उसी रूप में देखने को मिलती है। आज कहीं साम्प्रदायिक दंगे होते हैं तो गुंडे एवं तथाकथित बड़े लोग बच जाते हैं, किन्तु फुटपाथी जिन्दगी बसर करनेवाले ही मारे जाते हैं। मुन्नी, ईश्वर, रामचन्द्र, तारा, सुधुआ, नन्दरानी, जगमोहना तथा झग्गू जैसे चरित्र आज भी हमारे समाज में हैं, जो सामाजिक शोषण, उत्पीड़न एवं उपेक्षा के शिकार हैं, और नरेन के पिता, पंडित बुद्धिदीन तथा दमड़ी साहू आदि चरित्रों की भी कमी इस समाज में नहीं, जो अपने स्वार्थवश लोगों का रक्त चूसते हैं, ढोंग रचते हैं तथा लम्बा-चौड़ा प्रगतिशील भाषण मारते हैं।

आलोच्य कहानी-संग्रह जिन्दगी की व्यापक विद्रूपता को समेटे हुए है। जिन्दगी की बेचैनी और छटपटाहट से हर कोई ग्रस्त है। कोई समाज की कुत्सित परम्परा से पीड़ित है तो कोई नयी सभ्यता से आक्रांत; कोई ऊँची जाति के अत्याचार से दलित है तो कोई पुरुषों की प्रताड़ना से मूक; कोई अपनी ही जाति के लोगों से संत्रस्त है तो कोई अपने ही रक्त-संबंधियों से व्यथित। निश्चय ही, समीक्ष्य कहानी संग्रह शास्त्री जी की विशद और विस्तृत जीवनानुभूतियों का जीवंत दस्तावेज है।

अनुसंधाता (यू० जी० सी०)
हिन्दी विभाग, बिहार विश्वविद्यालय,
मुजफ्फरपुर

बाँकपन पहचान है तेरी

□ मृत्युंजय मिश्र 'करुणेश'

बहुआयामी कृतित्व-व्यक्तित्व के धनी, कविर्मनीषी आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री साहित्य जगत् की एक विरल-विमल विभूति हैं, समस्त हिन्दी भाषा-भाषियों, साहित्य प्रेमियों के लिए एक गौरव-गुमान हैं, इसमें रंचमात्र संदेह नहीं। क्या गद्य, क्या पद्य सब पर इनका समान अधिकार है जो अपने आप में असाधारण तो है ही, अनूठा भी है। संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् और कृतिकार के रूप में जब इनकी सिद्धि-प्रसिद्धि हो रही थी और काकली, बन्दी मन्दिरम्, लीला पद्‌मम् आदि कृतियों से उजागर हो रहे थे तभी महाप्राण निराला की पारखी दृष्टि ने इन्हें परख लिया। वह 'फूल की पहचान सरस-सुवास केवल' के कवि को ढूँढ़ते हुए अनजानते ही खिंचे चले आये।

सर्वविदित है कि निराला ही शास्त्री जी को हिन्दी में लाए। निराला का यह कार्य ऐतिहासिक, गौरवमय, महान् और दूरदर्शितापूर्ण तथा तुलसी की शैली और शब्दावली में 'अबस सराहन जोगू' ही कहा जायेगा।

निराला की पंक्ति 'दुख ही जीवन की कथा रही' से शास्त्री जी का जीवन भी अलग अछूता नहीं रहा। उनका बचपन, विद्यार्थी जीवन और यौवन किन-किन कँटीले रास्तों, कैसे-कैसे विषम संघर्षों, कैसी-कैसी बीहड़ परिस्थितियों से होकर गुज़रा है और कैसे-कैसे वे इनसे उबरे-उभरे हैं, यह तो स्वयं उनका भुक्तभोगी मन ही जानता होगा। उनके इस संघर्ष को बहुत कुछ उनके समकालीन सहपाठी, मित्र, परिवार के सदस्य और सहयात्री जानते होंगे। इससे अनजान-अपरिचित रहने वालों को बहुत कुछ इसका संकेत, इसकी झलक, इसका आभास उनके गीतों में भी मिल जायगा। और उनकी आत्मकथा-

संस्मरण मूलक पुस्तकों—हंसबलाका, कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे आदि से तो हर संभव जानकारी मिल जायगी। यदि निराला अपने भोगे संघर्ष को 'दुख ही जीवन की कथा रही' के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं तो जानकीवल्लभ का कवि भी अपने संघर्ष को 'मेरे पथ में न विराम रहा' के माध्यम से अभिव्यक्त करता है।

दुख-दर्द प्रत्येक समर्थ कवियों का सहारा रहा है, संगी-साथी रहा है, सृजन और प्रेरणा का स्रोत रहा है। छायावाद के चारों स्तंभ प्रसाद, निराला, पत और महादेवी ने अपने-अपने ढंग से दुख की व्याख्या की है। प्रयोगवाद के प्रवर्तक अज्ञेय ने भी 'दुख सबको माँजता है' कहकर इसे गौरव प्रदान किया है, ऊँचा आसन दिया है। और, महाकवि जानकीवल्लभ जी ने तो दुख को अपना अभिन्न मित्र, सखा, बन्धु, परिवार का दरजा देते हुए हर क्षण उसके सुख-दुख का ख्याल रखा है। 'रे दुख' शीर्षक अपने गीत में कवि ने दुख के दुख का जो सजीव चित्र खींचा है, वह अपने आपमें अद्भुत है, बेमिसाल है। कवि दुख को दुखी देख उसे सांत्वना देता है, आश्वस्त करता है कि मेरे रहते तुझे दुखी होने का सवाल ही नहीं उठता, हर क्षण मैं तेरे साथ हूँ, तू फ़िक्र मत कर। अरे पगले, एक तू ही तो मेरा अपना है इस दुनिया में, और कौन दूसरा है भला तेरे सिवा? मैं हर संकट झेलने को तैयार हूँ, पर, तेरा मुख मलिन, उदास मैं नहीं देख सकता। बड़ा मार्मिक, संवेदनशील और हृदय-स्पर्शी भाव है इस कविता में। पूरी कविता उद्धृत कर रहा हूँ—

और अभी खारा पानी है आँखों में
कुछ मुरझे फूल झुकी सूखी शाखों में
कर सकता अब भी मैं पूजा
रे दुख, क्यों तेरा मुँह सूजा?

मत विसर तू, अपना क्या कोई दूजा?
तुझे चुना था मैंने पगले, लाखों में
जीवन का कहाँ क्या ठिकाना
टेढ़े पथ से आना-जाना

रक्त सुखा, स्वेद गला, पत्थर पिघलाना
सोऊँगा मैं न दुबक सुख की पाँखों में

शास्त्री जी हिन्दी के अद्वितीय गीतकार के रूप में सिद्ध-प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अबतक लगभग डेढ़-दो हजार गीतों की रचना की है। सन् १९८६ में

प्रकाशित गीत-संग्रह 'धूप-तरी' की सूचना के अनुसार अबतक उनके पाँच सौ गीत ही पुस्तकाकार प्रकाशित हो पाये हैं, शेष अभी प्रकाशन की बाट जोह रहे है। अबतक प्रकाशित गीत-पुस्तकों में रूप-अरूप, तीर-तरंग, मेघगीत, हंस किंकिणी, शिशिरकिरण, सुरसरि, उत्पलदल और धूपतरी प्रमुख हैं। उनके अन्य महत्त्वपूर्ण काव्य-ग्रन्थों में शिप्रा, अवंतिका, गाथा आदि उल्लेख्य हैं। पाषाणी, तमसा, पांचाली उनके विशिष्ट और प्रतिष्ठित गीति नाट्य हैं। सात पर्वों में प्रणीत 'राधा' महाकाव्य अपनी क्लासिक ऊँचाई के कारण प्रसाद की 'कामायनी' के बाद की सबसे उच्च-स्तरीय कृति के रूप में परिगणित किया जा रहा है। शास्त्री जी ने एक ओर 'कानन' और 'अपर्णा' जैसे सफल कहानी संग्रह हिन्दी-जगत को दिये तो दूसरी ओर 'एक किरण सौ झाइयाँ' तथा 'दो तिनकों का घोंसला' जैसे उपन्यास भी। एक ओर यदि साहित्य दर्शन, चिंताधारा, प्राच्य साहित्य, त्रयी जैसे उच्चकोटि के समीक्षा-ग्रन्थ दिये तो दूसरी ओर 'स्मृति के वातायान', 'मन की बात', 'एक असाहित्यिक की डायरी', 'कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे' तथा 'हंसबलाका' जैसे आत्मकथा-संस्मरणमूलक गौरव ग्रन्थ भी। 'निराला के पत्र' और 'अभिनय सम्राट् पृथ्वीराज' जैसे दो मानक गौरव ग्रन्थ लिखकर उन्होंने दो अद्भुत विराट विभूतियों द्वारा अपने ऊपर की गयी अहैतुकी कृपा के प्रति एक सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की, एक सार्थक आभार प्रकट किया। अपने अथक श्रम, त्याग और तपस्या से अनवरत 'बेला' का प्रकाशन-सम्पादन कर उन्होंने विशुद्ध और स्तरीय साहित्यिक पत्र के खल रहे अभाव की पूर्त्ति की। 'बेला' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित महाकवि कालिदास के जीवन पर आधारित नया उपन्यास 'कालिदास' उनका एक क्लासिक और अद्वितीय उपन्यास सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं। शास्त्री जी अनेक दृष्टियों से हिन्दी-संसार के एक गौरव-शिखर हैं। उन्हें तमाम शीर्षस्थ साहित्यकारों-महापुरुषों का सहज सम्पर्क सुलभ रहा, उनके साथ उठने-बैठने, साहित्यिक संलाप, काव्य-शास्त्र-विनोद का हर संभव सुयोग-संयोग मिला। फिर, उनकी अपनी प्रखर प्रतिभा और पैनी दृष्टि तो थी ही। इन सबका उनके अप्रतिम और सर्वतोमुखी व्यक्तित्व-निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। भगवान ने उन्हें जैसी प्रतिभा दी है, जैसा स्वरूप गढ़ा है, जैसा गीतकार का संस्कार दिया है, वैसा ही सुरीला कंठ और सुमधुर स्वर भी दिया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह कहना कि 'जानकीवल्लभ शास्त्री के समान सुदृढ़ साहित्यिक आधार और विशाल सांस्कृतिक परम्परा विरले को ही प्राप्त होगी'

तथा आचार्य शिवपूजन सहाय का यह कथन कि 'वह हिन्दी के लिए गर्व-गौरव की वस्तु है' अपना महत्त्व और अर्थ रखता है। आचार्य नलिनविलोचन शर्मा का यह मूल्यांकन कि 'प्रसाद-निराला-महादेवी के बाद मुझसे पाँचवां नाम हठात् लेने को कहा जाय तो वह नाम जानकीवल्लभ का ही होगा। बहुत सर खुजलाने के बाद भी पाँचवां नाम यही रहेगा, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है' काफी सोच-विचार और ठोक बजाकर ही किया गया होगा। आचार्य केसरी कुमार ने उनके पूरे व्यक्तित्व की गहराई और बारीकी से छानबीन के उपरान्त ही 'मुख पर विषाद की घनी रेखा और चंचल आँखों में सबको भूल कर आगे बढ़ने की अभिमान भरी साध' वाली टिप्पणी जड़ी होगी, चित्र उकेरा होगा।

आज भी इस नये जमाने में नई पीढ़ी के जागरूक, जिज्ञासु और ज्ञान पिपासु प्राध्यापकों, शोध-कर्त्ताओं को शास्त्री जी रचित आलोचना ग्रथ-साहित्यदर्शन, चिन्ताधारा आदि देखने-पढ़ने को मिल जाता है तो वे एक साथ सहसा चौंक पड़ते हैं, विस्मित, रोमांचित, विमुग्ध और अभिभूत हो उठते हैं। उनकी जानकारी में अभिवृद्धि होती है, उनका स्तर ऊँचा हो जाता है। यह बात मैं वैसे लोगों से हुई बातचीत के आधार पर कह रहा हूँ।

उनके अनेकों गीत-गजलों की पंक्तियाँ सहज छू लेने वाली, दिल में गहरे पैंठ जाने वाली, जुबान पर जादू जैसी चढ़ जाने वाली हैं। उदाहरण के तौर पर—'गागर भरने की बेला हौले बीती जाती है', 'प्यास तुम्हारी कंठ-कंठ में, रूप तुम्हारा नयन-नयन में', *'किसने बाँसुरी बजायी', 'चाँद का फूल खिला ताल में गगन के', 'जिन्होंने हो तुम्हें देखा, नयन वे और होते हैं', 'तीखे काँटों को फूलों का श्रृङ्गार बना दो तो जानू", '*पार नहीं, पतवार नहीं, झकझोर रही पुरवैया', 'जीना भी एक कला है', 'जिन्दगी की कहानी रही अनकही', 'धूप तरी तिरती कुहरी की झील में', 'और कसो तार, तार सप्तक में गाऊँ', 'मैं मगन मझधार में हूँ, तुम कहाँ हो', 'उतर रेत में, आक-जवासा भरे खेत में पागल बादल, शून्य गगन में व्यर्थ मगन मडराता है' आदि गीत-पंक्तियाँ मेरे उपर्युक्त कथन के पुष्ट प्रमाण हैं।

इस कवि का गीतकार और आचार्य जितना सशक्त-समर्थ है, गद्यकार भी उतना ही सशक्त-समर्थ है, जरा भी कम या उन्नीस नहीं। बीस हो जाय तो आश्चर्य भी नहीं। हृदय और मस्तिष्क का ऐसा धनी व्यक्तित्व हमारे बीच है, हमारे आस-पास है, हमारा-आपका है, यह गर्व-गौरव का विषय तो है ही,

एक विरल संयोग भी है। जानकीवल्लभ जी के गद्य और पद्य दोनों पर समान अधिकार रखकर अपनी अलग पहचान बना लेने के मूल में उनकी अथक-अनवरत साधना के साथ-साथ प्रारम्भ से ही पंडितराज जगन्नाथ जैसा गद्यकार और जयदेव जैसा कवि बनने की उत्कट ललक और अरमान भी एक बड़ा कारण रहा है। शास्त्री जी स्वाभिमान के धनी और वक्ता तो अपने ढंग के अकेले हैं। उनका कृतित्व-व्यक्तित्व इतना विराट् और बहुआयामी है कि उनपर सहस्र-सहस्र पृष्ठ लिखे जाने पर भी कमी बनी ही रह जायगी, मूल्यांकन शेष ही रहेगा।

जो हो, शास्त्री जी विद्वान् और महान् तो अपनी जगह हैं ही, इंसान भी वह आले दरजे के हैं जिसके सम्बन्ध में गालिब ने कहा है कि 'आदमी को भी मयस्सर नहीं इंसा होना'। शास्त्री जी का कृतित्व-व्यक्तित्व किसी परिचय का मोहताज नहीं, वह आप उजागर है।

अंत में, शास्त्री जी के सम्बन्ध में शास्त्री जी की ही पंक्ति उद्धृत कर मैं अपनी लेखनी को विराम देता हूँ कि—'बाँकपन पहचान है मेरी, सिफारिश हो, न हो !'

❀

6/209 हनुमान नगर
लोहियानगर, पटना–800 020
(बिहार)

आचार्य–रचनावली

संस्कृत

१. काकली
२. वन्दीमन्दिरम्
३. लीलापदमम्
४. सा
५. प्राच्यसाहित्यम्

हिन्दी

कविता

१. रूप–अरूप
२. तीर तरङ्ग
३. मेघगीत
४. शिप्रा
५. अवन्तिका
६. गाथा
७. राधा : सात पर्वों में
८. संगम
९. उत्पलदल
१०. हंसकिङ्किणी
११. धूप–तरी

कहानी

१. कानन
२. अपर्णा
३. लीलाकमल
४. बांसों का झुरमुट
५. चलन्तिका

नाटक

१. अशोकवन
२. सत्यकाम
३. जिन्दगी

संगीतिका

१. पाषाणी
२. समसा
३. इरावली

निबन्ध

१. साहित्य दर्शन
२. चिन्ताधारा
३. त्रयी
४. प्राच्य साहित्य
५. मन की बात

संस्मरण

१. स्मृति के वातायन
२. हंसबलाका
३. कर्मक्षेत्रे मरुक्षेत्रे
४. एक असाहित्यिक की डायरी
५. अष्टपदी
६. नाट्य सम्राट पृथ्वीराज
७. अनकहा निराला

उपन्यास

१. एक किरण : सौ झाइयां
२. दो तिनकों का घोंसला
३. अश्वबुद्ध
४. कालिदास



आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री की साहित्य साधना